

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालजी-महाराज-

विरचितम्

हिन्दी-गुर्जर-भाषाऽनुवादसहितम्

॥ श्रीलोकशाहचरितम् ॥

नियोजकः

संस्कृत-प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात-प्रियव्याख्यानि

पाण्डितमुनि-श्रीकन्हैयालालजी-महाराजः

प्रकाशकः

श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धारसमितिप्रमुखःश्रेष्ठि-

श्रीबलदेवभाई डोसाभाई पटेल-महोदयः

मु० अहमदाबाद-१.

प्रथम-आवृत्तिः

प्रत १०००

वीर-संवत्

२५०९.

विक्रम-संवत्

२०४०

ईसवीसन्

१९८३

आ.श्री. कैलासमागर मृरि ज्ञान

मूल्यम्-रु० ३०-००श्री महावीर जैन आराधना कन्द्र,

सा क्र.

Published by :
Shri Akhil Bharat S. S.
Jain Shastroddhara Sami,
Sthanakasi Jain Upasraa,
Outside Nikoli gate,
Sarashpur, AHMEDABAD-18.



भूख्य ३१. ३०-००

मुद्रक : जयंतिलाल मणिलाल शाह
पूजा प्रिन्टर्स अेन्ड ट्रेडर्स
महेंदीकूवा चार रस्ता,
शाहपुर, अहमदाबाद-१

श्री वीतरागाय नमः

भूमिका

श्री जैनधर्मदिवाकर, शास्त्रोद्धारक, पंडितरत्न न्यायालंकार प. पू. आचार्यदेव श्री घासीलालजी म. रचित लोकाशाहचरित नामक महाकाव्य जो अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति ने प्रसिद्धि के उद्देश्य से छपवाया है उसकी भूमिका लिखने के लिए समिति के कार्यकर्ताओं ने मुझे विनंती करने से जब भूमिका लिखने की आवश्यकता उपस्थित हुई तो मन एकदम संकोच से भर गया मैं सोचने लगा कि सामान्य ज्ञानवान् ऐसा मैं इतना महान् कार्य किस प्रकार कर सकूंगा ? परंच क्षणांतर में ही देवगुरु कृपाका सहारा याद आया । फिर यह भी विचार किया कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययनकर मनन करने के साथ साथ गुरु गुणसंकीर्तन का मौका मिलेगा । इस प्रकार सोच समझकर ग्रन्थ को पढ़ा तो ऐसा रसप्रद लगा कि मानो मन काव्यमें डूबा जा रहा है । यह स्थिति निश्चित ही आत्महित साधक है । क्योंकि कवि विहारी ने कहा है—

या अनुरागी चित्तकी, गति समुद्धे नहीं कोय ।
ज्यों ज्यों बूढ़तु शाम रंग, त्यों त्यों उज्वलु होय ॥

अर्थात् इस अनुरागी चित्त की गति कोई समझ नहीं सकता, यह जैसे जैसे शाम रंग में डूबता जायेगा । वैसे वैसे उज्वल होता जायेगा । डूबना शाम रंग में और होना शुभ्राति-शुभ्र । यहाँ कविने शाम-उज्वल ये दो विरोधी शब्द लेकर अलंकारिक चमत्कृति निर्माण की है । लेकिन शाम कृष्ण को भी कहते हैं । आशय यह है कि हमारा मन श्री कृष्णभक्ति के रंग में अर्थात् भगवत् भक्ति के रंगमें जितना अधिक लीन होगा, वैसे आत्मा अधिकाधिक उज्वल बनती जायेगी ।

लेकिन यह आत्मा के उज्वलताकी साधना, उसके शुद्ध स्वरूपकी उपलब्ध करना, उसे उसके स्वभाव में स्थिर करना इतना सरल नहीं है । इसके लिए सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य इन तीन महान् रत्नों को प्राप्त करना होगा और इसके लिए संयम और त्याग के मार्गपर चलकर तपःसाधना तक पहुँचना होगा ।

संयम का अर्थ है—स्वयंका स्वयंपर अंकुश लगाना । पाँचों इंद्रियों पर काबू पाना । तृष्णाको बाँधना । क्रोध,मान, माया, लोभ इन कषायों को लगाम लगाना । अहो ! संयम का महत्त्व कितना है ? भ०महावीर स्वामीने कहा है—“जो अपने मनको संयम की दिशा देता है,

वह इस लोक में और परलोक में भी सुखी हो सकता है।" इस प्रकार के संयमद्वारा संतोष धन पाकर तिजोरी के धन को त्यागना है। हिंसा छोड़ अहिंसा को अपनाना है। झूठ, फरेब आदि दुर्व्यवहारों को छोड़ना है। दुर्गुणों का कचरा फेंककर सद्गुणों को जीवन में उतारना है मतलब कुछ लेना तो कुछ छोड़नाभी है। अगर कुछ ग्रहण करना है तो कुछ त्यागना छोड़ना ही है। संत कबीरने कहा है—

चींटी चावल ले चली, बिचमें मिल गयी दाल ।

कहे कबीर दोऊ ना मिले, इक ले दूजी डार।।

हुआ यह कि एक चींटी चावल का कण लेकर चली थी। रास्ते में उसे दालका कण पड़ा दिखाई दिया। उसे वह कण लेने की इच्छा हुई। कबीर बोले—'अरी पगली ! तुझे दोनों नहीं मिल सकते। दाल लेना हो तो चावलको छोड़ना होगा। उसी प्रकार कषायों का कचरा फेंके बगैर हृदय में भगवान् को स्थान कैसे दिया जा सकेगा ?

एक भिखारी सम्राट के दरवाजे पर आया है। महादानी सम्राट अंजलीभर मोहरें देने को तैयार खड़ा है। भिखारी की झोली अगर पत्थरों से भरी हो, तो क्या वह मोहरें ले सकेगा ? पहले झोली रिक्त करनी होगी, तबही मोहरें लेना संभव होगा। इसी तरह भगवान् को हृदय में बसाना है तो साफ सफाई आवश्यक है। विषय कषायों से संपूर्ण रिक्त होना आवश्यक है।

एक बार राधाने श्री कृष्णसे पूछा—'प्रिय, तुम्हें बाँसुरी मुझसे भी अधिक प्रिय क्यों है ? उसे तुम सदा पासमें रखते हो ? होंठों पर या कमर-बंधमें।' श्री कृष्णने उत्तर दिया—'बाँसुरी पोली है, पूरीतरह रिक्त है। उसके पास अपना कोई सुर नहीं है। पूर्णतःमेरा सुर भर लेती है। इसलिए मुझे वह प्रिय है '

सत्य है संयम और त्याग के आधार से आत्मा के विभावों को दूर करने सेही—बाँसुरी-वत् संपूर्ण रिक्त होने से ही—आत्मा स्वभाव में स्थिर हो सकेगी। परमात्मा बन सकेगी।

लेकिन देवदुर्लभ मानव—जीवन पाकर भी भीतर बसेहुए को भूलकर मानव भटक गया है। काँटोंभरे भयानक जंगल में खो गया है। अब गुरुबिन कौन बतावे बाट ?

फिर भी जरा भी चिंता करने की जरूरत नहीं है। हम जैनों के लिए गुरु दुर्लभ नहीं है। यह विश्वविख्यात है कि जैन साधुसंस्था की वरावरी करनेवाली तथा आचार, विचार और प्रचार इन तीनोंमें श्रेष्ठ संन्यस्त संघीयता विश्वमें दूसरी कोई नहीं है। केवल अपनी आत्माके कल्याणकी नहीं, परकल्याणकी—हमारे कल्याणकी भी इन्हें चिंता होती

है। येही हमारे महान गुरु है और हम जैनोंके सद्भाग्यसे ये हमें सहज प्राप्य है। हमें इनके कहे अनुसार चलें तो जीवनका सोना हुए बगैर नहीं रहेगा।

हमारी आत्माका परमात्मास्वरूप प्रगट करवानेमें सतत प्रयत्नशील ये गुरु कबेरा उमदेश नहीं करते। प्रत्येक सिद्धान्तको पहले अपने जीवनमें उतारते हैं और बादमें हमें कहते हैं। दूर क्यों जाएँ ? इसी ग्रंथमें कहा है—

रत्नत्रयं पंचमहाव्रतानि गुप्तित्रयं वा समितील्लिकालम् ।

ये पालयन्त्यादरतो मुनिस्तानाश्रित्य भव्या भवपारगास्ते ॥

(सर्ग १३ गाथा २२)

अर्थात् जो रत्नत्रयको, पाँच महाव्रतोंको, तीन गुप्तियोंको और पाँच समितियोंको त्रिकाल-सदा-आदरपूर्वक धारण करते हैं, ऐसे मुनिजनोंका आश्रय पाकर वे भव्यजन भवसे पार हो जाते हैं। ऐसे ये मुनिवर्य-हमारे गुरु हमारे लिए महान मार्गदर्शक होते हैं। श्रेष्ठ आदर्श होते हैं। गुणरत्नोंका भंडार होते हैं। कबीरने ठीक ही कहा है—

सात समुंदरकी मसि करूँ, लेखनि करूँ बनराय ।

सब धरती कागद करूँ, गुरु गुन लिखान जाय ॥

इस प्रकार हमारे गुरुदेव, जोकि गुणोंके सागर हैं हमें भव सागर पार करानेमें सक्षम होते हैं। हमें आत्मा और परमात्माके मानों सही रूपमें साक्षात्कार कराते हैं। इसलिए तो कबीर भगवानसे भी पहले गुरुको नमस्कार करना चाहते हैं। कहते हैं—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय ?

बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दिगो बताय ॥

हमारा महान सद्भाग्य है कि इस चरित महाकाव्य द्वारा हमें श्वेताम्बर स्थानकवासी समाजके उत्तमप्राय मार्गको पुनः प्रगट करनेमें पथ प्रदर्शक श्रेष्ठतम गुरुदेव श्री लौकनाथके जीवन और कार्य का परिचय मिलेगा। संस्कृत काव्य मंदाकिनी द्वारा इस चरित्र का मधुर निर्मल जल प्रवाहित करनेवाले प. पू. आचार्य घासीलालजी महाराज हैं। आपकी योग्यता भी बहुत ऊँची थी।

आप का जन्म मेवाड़ प्रान्त के वैश्रव समाज का प्रसिद्ध तीर्थस्थल कांकरोली के समीप एवं राजसमुद्र के उत्तर में आठ मील की दूरी पर छोटासा 'बनोल' नामक गाँव में वि. सं. १९४१ में रामानंद संप्रदाय मानने वाले एक सामान्य ब्राह्मण प्रभुदत्त और विमलाबाई के कोख से हुआ था। बारह बरसके होते होते आप माता पिता विहीन अनाथ हो गये, तो एक सेठके यहाँ मामुली नोकरी करने लगे। इन्हीं

दिनों परम श्रेय आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान सुने। इससे अहिंसा प्रेम और वैराग्यभाव ऐसा जगा कि बालक घासीलाल आचार्यश्री के साथ ही रहने लगा और संवत् १९५८ में मुनि-दीक्षा धारण कर ली। ऐसे भीतर से उपजे स्वाभाविक वैराग्य के धनी आगे चलकर इतने प्रख्यात हो गये कि दसों दिशाएँ आपकी कीर्ति-गाथा से भर गयीं।

प्रारंभमें तो चार दो श्लोक कंठस्थ करनेमें दस पाँच दिनों का समय लग जाता, किन्तु सतत अध्ययन, मनन और चिंतन तथा साथ ही उपवासादि तपस्या आदि से ज्ञान-वरणीय कर्मबंध ऐसे हटे कि कोई श्लोक कंठस्थ होने के लिए एकवार पढ़ना काफी होने लगा और आगे चलकर आप एक महान पंडित हो गये। यह कोई चमत्कार नहीं है। जैन सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान कहींसे ऊपरसे नहीं आता, वह भीतर ही है। ज्ञान जीवका मूल स्वभाव है। जैसे कर्मबंधों का क्षय होता जाता है, वैसे ज्ञानशक्ति प्रगट होती जाती है।

इस के बाद आपश्रीने समग्र जैन आगमों का एवं दूसरे मौलिक दार्शनिक ग्रंथों का ऐसा गहरा अध्ययन किया कि मानो सरस्वति आप की जिह्वापर नाचने लगी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, उर्दू आदि सोलह भाषाएँ आपको आती थी, और इसी कारण ज्ञानका खजाना इनमें से किसी भाषा में हो, वह आप की पहुँचके भीतर आ गया।

बहत्तर वर्षों के दीक्षा पर्यायमें आप अंतिम सोलह वर्ष अमदाबादमें स्थिर वासमें रहे। शेष ५६ वर्षोंमें आपश्रीने कभी चैन की साँस नहीं ली। समाज प्रबोधन का ऐसा तगड़ा और तूफानी कार्य चलाया कि जिनका वर्णन शब्दातीत है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि किसी भी भाषामें आपश्री का वक्तव्य अत्यंत प्रभावी एवं मुग्धकारी होता था। लोग बड़ी संख्यामें आते थे। अजैन भी आकर्षित होते थे। आपश्रीने अमदाबाद जैसे बड़े शहरों के साथ हिवड़ा, चिंचवड़ जैसे छोटे गाँवोंमें भी चातुर्मास किये। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश एवं महाराष्ट्रमें दूर दूर तक विहार किया। आपकी दृष्टि परम उदार थी। जातिवाद और उच्च नीचता का आपने सदा कट्टर विरोध किया। इसलिए तो करांची जैसे मुसलमान बहुल संभागमें भी आप का चातुर्मास अत्यंत प्रभावी, उष्कारक एवं प्रशंसनीय रहा और उदयपुर के राणा साहब, कोल्हापुर नरेश, अनेक सरदार, ठाकुर एवं अधिकारी ऐसे अनेक अजैन भी प्रभावित हुए हैं तथा आचार्यश्री के कथना-नुसार अनेकबार अमारि हुक्म प्रसारित किये गये। आपश्री के उपदेश से अनेक स्थानोंके देवी देवताओं के सामने होनेवाली पशु-बलि-प्रथा बंद हुई। हिवड़ा (महाराष्ट्र) क्षेत्रमें भयंकर अकाल की स्थितिमें हजारों भूखोंको आपश्रीने अन्नदान करवाया है। घोड़नदी

(महाराष्ट्र) क्षेत्रमें प्लेग जैसे भयंकर छूत के रोग के फैलनेपर सैंकड़ों बीमारों की सेवा की और करवायी है। मानवता के किसी कार्य के लिए प्रेरणा निर्माण करने का आपश्रीमें प्रचंड बल था—मानो कोई जादू था।

आपश्री का जीवन स्वच्छ, तपःपूत, कठोर संयमी और सत्यनिष्ठ था। आपश्रीने जीवनभर ज्ञान साधना की और शुद्धात्मवाद को समझाते हुए सबको खुलकर ज्ञान दिया। वि. सं. १९९० के सेमल (राजस्थान) चातुर्मास के बाद आपको अखिल भारतीय कीर्ति प्राप्त हो गयी और आगे चलकर लोगोंने आपको आग्रहपूर्वक आचार्यपद प्रदान किया।

महामहिम प. पू. आचार्य श्री घासीलालजी म. सा. के ऊँची विद्वत्ता, की जिसमें प्रकर्षतः अभिव्यक्त हुई है, जैसे विशिष्ट सर्वोत्तम कार्य का उल्लेख तो अभी बाकी ही है। यह है आपश्री का आगमोद्धारका कार्य।

एक बार क्या हुआ कि आपके गुरुदेव प्रख्यात आचार्य प. पू. जवाहरलालजी म. सा. एक आगम ग्रंथ पढ़ रहे थे। पढ़ते पढ़ते इस विचार से आपकी आँखों में आँसू सड़ने हो गये कि देखो हमें अभीतक श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों के ग्रंथों का आधार रखना पड़ता है। उसी क्षण आपश्री ने जैन दिवाकर प. पू. घासीलालजी म. सा. को बुलाकर आगमोद्धार का कार्य सौंपा। आपश्री ने प्रथम दशवैकालिक सूत्र पर टीका की रचना का कार्य कर के गुरुदेव के सामने रखा। आचार्यश्री ने उसे बहुत पसंद किया और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। लेकिन कई कारणों से यह कार्य विशेष आगे न बढ़ सका। अंततः वि. सं. २०१३ में अमदावाद के सरसपुर उपाश्रय में स्थिर वास में रहने का निर्णय इसी कार्य के लिए किया गया। सोलह वर्ष अथाक परिश्रम लेकर आपने श्वेताम्बर स्थानकवासी मान्यता के बत्तीस आगमों का संपादन किया। उनकी विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण संस्कृत टीकाएँ लिखी तथा हिन्दी और गुजराती अनुवाद प्रस्तुत किया गया। आज ये सभी विशाल आगम-ग्रंथ छपे रूप में उपलब्ध हो गये हैं। यह कार्य केवल विशाल ही नहीं, श्रेष्ठतम भी है, ऊँची विद्वत्ता का निदर्शक है। अपने आप में विशिष्ट है और सुलझा हुआ विवरण तथा सरल भाषा शैली के कारण युगों युगों के लिये उपकारी है।

इस महत्त्वपूर्ण प्रशंसनीय विशाल कार्य के साथ आगमोद्धारक आचार्य श्री घासीलालजी म. सा. ने कुछ स्वतंत्र मौलिक ग्रंथों की भी रचना की है। कुछ निम्नलिखित है—

१. कल्पसूत्र (आपश्री की स्वतंत्र रचना)

२. तत्त्वार्थ सूत्र (" " ")

३. प्राकृत कौमुदी (व्याकरण)
४. आर्हत व्याकरण (संस्कृत-लघु सिद्धान्त कौमुदीके समकक्ष ग्रंथ)
५. आर्हत व्याकरण (संस्कृत-सिद्धान्त कौमुदी के समकक्ष ग्रंथ)
६. श्री लाल नाममाला कोष ।
७. नानार्थोदय सागर कोष ।
८. शिव कोष (अमर कोश की तरह का ग्रंथ)
९. गणधरवाद ।
१०. गृहि धर्म कल्पतरु ।
११. जैनागम तत्त्वदीपिका ।
१२. तत्त्वप्रदीपिका ।
१३. मोक्षपद (धम्मपद की तरह का ग्रंथ ।)
१४. लोकाशाह महाकाव्य । (जो प्रसिद्ध हो रहा है)
१५. शांति सिन्धु महाकाव्य ।
१६. श्री लक्ष्मीधर चरित्र ।

संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण के आप बड़े अधिकारी विद्वान् थे । उपरोक्त व्याकरण ग्रंथों के अलावा आपश्री ने ऊँची धार्मिक परीक्षोपयोगी खास छात्रों के लिए भी कुछ व्याकरण ग्रंथों की रचना की है । ऊपर १३ से २५ क्रमांक पर उल्लिखित रचनाएँ आपश्री के काव्य ग्रंथ है । इन के अलावा आपश्री ने सैंकड़ों स्तुति-स्तोत्र-स्तवनादि की रचना की है, जो समय समय पर पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हुई हैं । ऐसी पुस्तिकाओं की संख्या १८ है ।

इतने विवेचन के बाद यह सूर्य प्रकाशसा स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ' श्री लोकाशाह चरित महाकाव्य ' कितने बड़े अधिकारी विद्वान् एवं कवि श्रेष्ठद्वारा रचा गया है । इस की उत्तमता, श्रेष्ठता एवं सुंदरता असंदिग्ध है ।

चौदह सर्गों में विभाजित १६०० श्लोक प्रमाण कलेवरवाले इस काव्य में श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के महान् क्रांतिकारी पथप्रदर्शक प. पू. लोकाशाह का चरित्र वर्णित है । आपश्री १६ वीं शती विक्रमी में हुए । इस समय जैन समाज तथा जैन यति एवं मुनिवर्ग शिथिलाचारी हो गया था । शास्त्रोक्त मार्ग को छोड़कर मिथ्या मार्ग पर चलने लगा था । बाह्याडंबरों को अत्यंत महत्त्व आ गया था । सच्चित्त अचिन्त का विवेक सूटी पर टाँग दिया गया था । उत्सववाजी इतनी बढ़ गयी थी कि ढोल के ढमकों में महावीर

वाणी डूबसी गयी थी। योग साधना का दुरुपयोग होता था और चमत्कार, मंत्र, भेषजादि द्वारा राजा-महाराजा, सेठ-साहुकार, इत्यादि को लूटा जाता था। यति और मुनि उपाश्रय बनाकर रहने लगे अथवा चैत्यवासी हो गये। ये अपनी नवांगी पूजा तक करवाने लगे थे। आहार पानी छेने पालखी में बैठकर जाते, खूब बी चोपड़ और मेवे खाते तथा द्रव्य भी स्वीकारते। देखिए, इस संदर्भ में कितनी मार्मिक बात कही है—

ते निर्भयीभूय गजेन्द्र तुल्या इच्छानुकूलासुविशिष्ट भक्ताः ।

वायुप्रकोपेन च पुष्टदेहा, इतस्ततो वा विचरन्त्यविज्ञाः ॥

(सर्ग १३ गाथा ५२)

अर्थात् ये (यति जन) कि जिन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल विशिष्ट आहार प्राप्त हो जाता था और बात के प्रकोप से जिनका शरीर स्थूल रहा करता था, निर्भय होकर गजराज की तरह विचरण करते थे।

इस तरह उस समय जैन मार्ग में आडंबर और शिथिलाचार की ऐसी अति हो गयी थी कि विवेकी मनुष्यों को घृणा होने लगे। और यह बात शत प्रतिशत सत्य है कि जब किसी बात की अति होती है, तो उस बात की स्वाभाविक प्रतिक्रिया उसके भीतर से ही निपजती है। क्रांतिकारी परिवर्तन की तीव्र संभावना निर्माण हो जाती है, और ऐसे समय साहस के कदम उठानेवाला कोई महा पुरुष जनमता है तो आमूलाग्र परिवर्तन आही जाता है।

उस समय युग प्रवर्तक परमोद्धारक प. पू. श्री लोंकाशाहने कार्य किया। रत्नों की परख-पहचान करनेवाले इस जोहरी ने बिगड़े समाज की नब्ज पहचान ली। ग्रंथों की नकल उतारते २ आगम प्रणित सिद्धान्तों को गहराई से जान लिया। मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उस घटना के कारण वैराग्यभाव जाग गया था और बादशाह का कोषाध्यक्षपद त्याग करके यति बन गये और अपने शास्त्रपूत विचार लोगों के सामने रखने लगे।

मंगलाचरण, तीर्थकर-गणधर-प्रणति, सज्जन दुर्जन प्रवृत्तियाँ आदि के बाद कविवर श्रद्धेय आचार्य श्री घासीलालजी म. सा. ने जैन भूगोल की दृष्टि से जम्बूद्वीप क्षेत्र और भरतक्षेत्र का जिक्र करते हुए राजस्थान गौरव का सुंदर एवं प्रभावी वर्णन चित्रात्मक ढंग से किया है। फिर कवि सिरोही संभाग और वहाँ के नगर वर्णन पर उतरते हैं और वहाँ के वैभव और धर्मानुराग से भरे प्रसन्न वातावरण का चित्र आकर्षक पद्धति से रखते हैं। इसके बाद कविश्रेष्ठ तृतीय सर्ग के मध्य में युगान्तरकारी श्री लोंकाशाह के माता-पिता गंगादेवी और सेठ हेमचंद्र का जीवन चित्रण करते हैं। इन दोनों का रूप, परस्पर प्रेम, धर्मशील सदाचारी जीवन, गुरुदेव के प्रति अटूट श्रद्धा प्रवचन श्रवण, सामायिक और प्रति-

क्रमग नियमित रूप से करना, उपवासादि तपों का अंगिकार आदि बातों द्वारा इनके आदर्श जीवन के चित्रण में कविवर ने बड़ा रस लिया है। जैन दर्शन के सिद्धान्तों के निरूपण में यहाँ संभाषण शैली को अपनाया गया है। यहाँ गुरुदेव-हेमचंद्र संवाद और हेमचंद्र गंगादेवी संवाद ऐसी योजना है। इस कारण यह विवरण बड़ा प्रवाही, जीवंत और नाटकीय बन पड़ा है। गंगावती की गर्भधारणा, शुभ स्वप्न देखना, अपने तबीयत की द्विफाजत, अत्यंत उदार होकर दान देना, धर्माराधना में अधिकाधिक लगना आदि बातों का यथातथ्य वर्णन कविवर आचार्यश्री ने किया है। सेठ हेमचंद्र भी गंगावती की तबीयत का बहुत खयाल रखते हैं। फिर लोकचंद्र का जन्म और जन्मोत्सव का वर्णन मन को प्रसन्न करनेवाला है। यहाँ तक कविश्रेष्ठ नौवें सर्ग तक पहुँच गये हैं और दसवें सर्ग के प्रारंभ में लोकचंद्र का चन्द्रसमान बढ़ना और बालक्रीडा का ऐसा वर्णन है कि मानो संत सरदास बालकृष्ण का लीलागान कर रहे हैं। अब लोकचंद्र बड़े हो जाते हैं। युवक बनकर माता-पिता की अच्छी सेवा करते हैं। वे होशियार और सुस्वरूप हैं। धर्मप्रेमी और आदर्श हैं। योग्य समय आने पर सुशील सुस्वरूप कन्या से विवाह हो जाता है। यहाँ ग्यारह सर्ग पूर्ण हो जाते हैं।

बारहवें सर्ग में सरल कथात्मक शैली में लोकचंद्र का व्यवहार कुशल होना और व्यवहार व्यापार में अच्छा यश प्राप्त करना वर्णित है। उनका उज्ज्वल यश और कुशलता देखकर मातापिता पूरी जिम्मेवारी पुत्र पर सौंपकर वैराग्य धारण कर लेते हैं। कुछ अंतराल के बाद लोकचंद्र व्यवसाय के लिए अमदावाद आ जाते हैं। उनकी होशियारी देखकर उस समय के गुजरात के बादशाह मुहम्मदशाह उन्हें अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त करते हैं। वे इस पद पर दस वर्षोंतक अत्यंत कुशलता से कार्य करते हैं। और काफी लोकप्रिय हो जाते हैं तथा बादशाह का पूर्ण विश्वास अर्जित कर लेते हैं। लेकिन इसी सर्ग के आखिरी भाग में चरित नायक के जीवन धारा के महत्त्वपूर्ण मोड़ का विवरण (गाथा ८७ से १०३ तक) आया है। बादशाह के मृत्यु की विचित्र घटना के कारण उनके मन में क्षणभंगुरता के विचार तीव्र हो जाते हैं और वे निरागी बन जाते हैं। अपने पद का इस्तिफा देकर पाटण चले जाते हैं और मुनि मुमति विजयजी के पास जाकर यतिदीक्षा धारण कर लेते हैं। यहाँ तक के साव्य रचना का विचार करें तो दीखता है कि हेमचंद्र-गंगावती के जीवन वर्णन से प्रारंभ कर श्री लोकचंद्र के सांसारिक जीवन की समाप्ति तक के वर्णन-विवरण की व्याप्ति १२ वें सर्ग के अंत तक है। चरित्रचित्रण विस्तार से और सुंदर हुआ है।

इसके आगे का धर्मप्राण प. पू. लोंकाशाह का अध्ययनादि द्वारा गंभीर एवं विशाल ज्ञान प्राप्त करना और उसके बाद का ३०-३५ वर्षों की अवधि में किया गया युगांतरकारी कार्य, इनका सभ्य वर्णन केवल १३ वें सर्ग की सीमा में समाया हुआ है। इसमें वे कैसे मोह माया को त्यागकर त्यागी-तपस्वी बने, कैसे खड़तर जीवन और परिश्रमों से न डरनेवाले हुए, कितना और कैसा अध्ययन किया, कैसे समस्त विद्याएँ और उपविद्याएँ ग्रहण की और श्रेष्ठ विद्वान और चिंतक बने इसका विवरण आया है। आपत्ती जैन यतियों का शिथिलाचार देखकर दुःखी हुए और फिर यतियों को समझाना प्रारंभ किया। मुनि-दीक्षा के बाद पुनः गंभीर अध्ययन किया। आपके विचार धारा की पाटण में प्रसिद्धि फैलने लगी। आनेवालों की संख्या बढ़ने लगी और वे सब आपकी देशना चित्त में धारण करने लगे।

फिर यतिवर्य अमदावाद पधारे। वहाँ झवेरीवाड में चातुर्मास किया। वहाँ का समस्त जन समुदाय आप का अनुरागी हो गया और वहाँ के सभी यति मुनिदीक्षा लेकर उत्तम आचारवान् बन गये। एक दिन अणहिलपुर पट्टण के लखमसीभाई नामक एक विद्वान श्रावक आये। धर्मोपदेश सुना। एकान्त में बैठकर चर्चा भी की। अत्यंत हर्षित होकर देशना जनता समक्ष रखने की प्रार्थना की। इसके बाद एकवार भिन्न भिन्न स्थानों के नागजीभाई, रामजीभाई, दलीचन्द्रभाई, मोतीचंद्रजी ऐसे चार समाजमान्य मुखिया आये। इनके साथ और अनेक थे। देशना सुनकर सब मंत्रमुग्ध हो गये। सब अनुयायी बन गये। क्योंकि-

इत्थं स्वचित्ते परिभाण्य सर्वैस्तदैव तैर्ज्ञातमयं तपस्वी।

अजेयशक्तिं जिनमार्गगामी न चान्यथा वाद्यथ धर्मवेदी ॥

(सर्ग १३ गाथा १००)

अर्थात् इस प्रकार अपने चित्तमें विचार करके उन सबने जान लिया कि यह तपस्वी अजेय शक्तिवाला है, जिनमार्गगामी है, धर्मवेत्ता है और जिनसूत्र के विपरीत प्ररूपणा नहीं करते।

इसलिए आपको बहुत बड़े गुरु (आचार्य समान) मान लिया गया और संघ में अब इनकी आज्ञा प्रमाणभूत मानी जावेगी ऐसी घोषणा कर दी।

प्रस्तुत चरित-काव्य-ग्रंथ में चरित्र विषयक तथ्यों का विवरण प्रायः यहाँ पूर्ण हो जाता है। आगे चौदहवें सर्ग में केवल कुछ धर्मतत्त्वों की चर्चा है।

वास्तव में परमज्ञानी श्री लोकाशाहने संवत् १५०९ में यतिदीक्षा ली। १५-२० वरस खूब अध्ययन किया। जैनों के भयंकर आडंबर एवं यति वर्ग के शिथिलाचार का बहुत सूक्ष्म निरीक्षण और चिंतन किया। वि. सं. १५२० के बाद धीरे धीरे आपश्री के विचारों का प्रभाव पड़ने लगा होगा, क्योंकि संवत् १५२७ में इस गच्छ के लिए 'लोकगच्छ' नामकरण हो गया था। आपश्री ने मुनि-दीक्षा १५३६ में धारण की। इसके बाद या शायद संवत् १५३०-३२ से ही आपश्री दूर दूर तक अपने मत का प्रचार करने लग गये होंगे। आपश्री को हजारों अनुयायी मिल गये। क्योंकि पं. रूपेन्द्रकुमारजी लिखित 'जैनाचार्य जैनधर्म दिवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज का जीवन-चरित्र' में पृ० ११७ पर लिखा है—“आपके ४०० शिष्य और लाखों अनुयायी बन गये। अमदावाद से दिल्ली तक आपने धर्म का जयघोष गुंजा दिया।”

यह बिलकुल सत्य बात है कि गुजरात और राजस्थानमें आपश्री के विचारोंने तलहका मचा दिया था। समग्र जैन समाजमें विचार मंथन की लहर बड़ी वेगवती होकर फैली थी। विरोध भी बहुत हुआ। स्थान स्थानपर आपश्री की निंदा की जाने लगी। बदनामियाँ फैलायी गयी। तरह तरह के आरोप लगाये गये। झूठा, पाखंडी, बहकानेवाला आदि निषेध शब्दों का प्रयोग किया गया। विपरीत कहानियाँ और घटना प्रसंग गढ़े गये तथा प्रचारित किये गये।

इस प्रकारका कार्य—विस्तार, प्रभाव और दूसरी ओर प्रचंड विरोध ये बातें तो प्रतिभावान् कवि के लिए भावविह्वल एवं रोमांचित करनेवाली हैं। लेकिन हमारे कविवर की लेखनी इसके लिए मौन है। यति-दीक्षा से लेकर स्वर्गवासतकका ३५-३६ वर्षों के जीवन-चरित्र का विवरण बहुत ही अल्प और मामूली दिया गया है। इस विषयपर केवल एक ही तैरहवाँ सर्ग है। इसलिए हमारा तीव्र उत्सुकता भरा मन निराश हो जाता है।

प्रस्तुत लेखक की राय से इसके दो कारण हो सकते हैं।

एक तो यह कि ऐतिहासिक तथ्यकी अधिकांश बातें काल के प्रवाहमें खो चुकी हैं। प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है या जवानी बोला जाता है, वह पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। एक-दूसरे के विरोधमें आवेश से बहुतसा मनमाना गढ़ा गया है। धर्मप्राण जैन दिवाकर प. पू. श्री घासीलालजी महाराज जैसा श्रेष्ठ विद्वान् संतश्रेष्ठ ये सब बातें सत्य कैसे मान सकता है? सुनी-सुनाई बातों के लिए आपश्रीने ग्रंथके प्रारंभमें स्पष्टीकरण भी दे दिया है। यथा—

यथाप्रसिद्धं चरितं मयैतच्छ्रुतं यथा वच्मि तथैव चाहम् ।
श्रुतेऽनुभूते भवतीति भेदो ग्राह्या त्रुटिर्नात्र भवेद्यदीह ॥

(सर्ग १ गाथा ८)

अर्थात्—जिस रूपसे यह चरित्र प्रसिद्ध है और जैसा इसे मैंने सुना है मैं उसीतरहसे इसे ग्रथित करूँगा । यदि कथनमें किसी तरहका अंतर प्रतीत हो तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं मानना चाहिए, क्यों कि सुनी गई बातमें और देखी गई—अनुभव की गई—बातमें अंतर आही जाता है ।

इससे भी महत्त्वपूर्ण कारण आपथ्री का उच्च कोटि का समताभाव होना चाहिए । आपथ्री बड़े सतर्क हैं कि कहीं निंदा झूठ आदि का दोष न लग जाय । दुष्ट शब्द जिह्वा पर न आवे, यहाँ तक कि ऐसे विचार दिमाग में तक न आया । मुहम्मदशाह की मृत्यु का दुष्टता भरा प्रसंग तथा उसी तरह का युग प्रवर्तक प. पू. लोंकाशाह की । स्वर्गवास की घटना और उसके कारण इतिहास को ज्ञान होते हुए भी आपथ्रीने इन प्रसंगों का उल्लेख तक नहीं किया । जो हुआ सो हुआ । कार्य महत्त्वपूर्ण है । उच्च शास्त्रोक्त मार्ग का अनुसरण महत्त्वपूर्ण है । शेष बातें भूलने की हैं । अभिमान का विषय है कि इस संदर्भ में ठीक भ० महावीर कीसी प्रवृत्ति प्रगट हुई है । भ० महावीर के समय ३६३ भिन्न भिन्न पंथ उपपंथ प्रचलित थे । यज्ञादि कर्मकाण्डों का प्रभाव तो जन जीवन पर बहुत था । धर्म के नाम पर निर्घृण हिंसा हो रही थी । किन्तु भगवान महावीर ने कभी किसी की निंदा नहीं की । वे केवल अपनी बात कहते थे ।

कविश्रेष्ठ आचार्यप्रवर श्री घासीलालजी महाराज ने इस काव्य में जैन दर्शन के अनेक मूलतत्त्वों का निरूपण किया है । इसमें जीव अजीव आदि नौ तत्त्व, अजीव के भेद, जीव का स्वरूप और उसके भेद, प्रकृत्यादि बंध के चार प्रकार, प्रमाद योग, अविरति आदि बंधके पाँच कारण, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठ प्रकृतिबंध एवं इनके भेद प्रभेद आदि अनेक तत्त्वों का सुस्पष्ट विवेचन ग्रथित है । कर्मबंधों का बंधना और आराधना तथा व्रतादि से उनका विरल होना बतलाते हुए आश्रव संवर, निर्जरा की प्रक्रिया का विवरण भिन्न भिन्न पहलुओं को लेकर अनेक बार आया है । हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाँच पापों से और क्रोध, मान, मायादि चार कषायों से बचने के लिए शरंवार आवाहन किया गया है तथा कषायों को मंद करनेवाली तपस्या के लिए प्रोत्साहित किया गया है । तीन गुणियाँ, पाँच समितियाँ, उत्तम क्षमा आदि धर्मों से और एकत्र लोक बोधिदुर्लभ भावना आदि बारह भावनाओं से किस तरह आत्मशुद्धि

होती है उसका स्थान स्थानपर विस्तार से वर्णन आया है, तथा इन सब गुणों और लक्षणों से युक्त साधु-जीवन के श्रेष्ठता की प्रशंसा की गयी है। जीव और देहका स्वरूप तथा उनके परस्पर संबंध का विवेचन करते हुए चार्वाकमत, बौद्धमत, नैयायिक और सांख्यमत इत्यादि का खंडन करके जैन सिद्धान्त का तर्कशुद्ध मंडन किया है। इससे कवि-श्रेष्ठ का अन्य मतों के शास्त्रों का अध्ययन कितना गहरा था इसकी प्रतीति होती है।

हम जानते हैं कि जैन धर्म में सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य का कितना और कौसा सर्वोपरी महत्त्व है। इन तीन रत्नों को अपनाते हुए प्रत्येक जैन का जीवन उच्च बने इस भावना से इन का बारबार वर्णन करते हुए कविराज आचार्यश्री की लेखनी नहीं अघाती। बारबार कहा गया है कि महावीर-वाणी पर श्रद्धा हो तो ये त्रिरत्न प्राप्त हो सकेंगे, लेकिन साथ ही कहा है कि श्रद्धा अंध न हो। श्रद्धा ज्ञान सहित हो और धर्माचार को भी जागृत करें, क्योंकि क्रिया बिना ज्ञान भी अर्थहीन है। विद्वान् वही है, जो क्रियावान् है।

यह सारा अनेक उदाहरण, घटना, प्रसंग, उपमा, रूपक आदि द्वारा सरल और सुस्पष्ट किया है। रोचक शैली द्वारा कुतुहल को बढ़ाते हुए संतोष और प्रसन्नता बढ़ाई गयी है।

अहिंसा और दया का महत्त्व भी प्रभावी रूप से रखा गया है। इस के निरूपण के क्रम में आठवें सर्ग में गुणपाल कन्या विषा की कथा दी गयी है, तथा आगे प्यासा बृद्ध और पनिहारिन का प्रसंग दिया गया है। यह प्रसंग तो बहुत ही मार्मिक है। इस प्रसंग द्वारा दया भावना के साथ यह भी सुझाया गया है कि छुआछूत को महत्त्व देकर उच्च नीच का भेद मानना एकदम गलत है।

जिनेन्द्र उपासना के महत्त्व की प्रशंसा स्थान स्थानपर की है और धर्ममार्ग की प्रशंसा करते हुए धार्मिक जीवन के स्वरूप का बहुत ही सुंदर और विस्तृत विवेचन बारहवें सर्ग के प्रारंभ में आया है। यह विवेचन पढ़ते पढ़ते मन आनंदित हो जाता है। कितना सुंदर ! कितना सुस्पष्ट !

धर्माचार के अनेक गुणधर्म, अनेक लक्षण और प्रत्यक्ष आचार सेठ हेमचंद्र, गंगादेवी और लोकचंद्र के जीवन में मौजूद थे ही। श्रेष्ठ कविराज आचार्यश्री ने इनका चित्रण करते हुए ध्यान रखा है कि इन तीनों का आदर्श जीवन सब के लिए अनुसरण योग्य महसूस हो।

इस तरह प्रस्तुत काव्य ग्रंथ में जैनधर्म-दर्शन-आचार का विवरण गाथा गाथा में भरा पड़ा है। इन में जल्प नहीं, कल्प है; मनोरंजन की कथा नहीं, क्षणभंगुरता की व्यथा है; संसार सुख और चैन नहीं, कर्मबंध की बेचैनी है; सुवर्ण सिंहासन नहीं, अलोकाकाश

शिला है। भूमिका के इस लेख में कहाँ तक बतावें ? बताना संभव भी नहीं और योग्य भी नहीं। मूल-ग्रंथ—यह काव्य—पढ़ने को सामने है ही। मैं संक्षेप में संकेत देकर इतना ही कहना चाहता हूँ कि महामहिम आचार्यवर का मुख्य उद्देश्य जैन धर्म और दर्शन का विवरण प्रस्तुत करते हुए और उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए धर्ममय आचार का उपदेश देना है। इसलिए आवश्यक सारी बातें अत्यंत स्पष्ट हुई है। सुंदर शैली में अभिव्यक्त हुई है। पाठक के मन पर इनका अच्छा प्रभाव पड़ता है। अपने उद्देश्यपूर्ति में आपश्री को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इसलिए तो मैंने कहा है कि यह चरित्र निर्माण का काव्य है।

लेकिन चरित्र निर्माण के गीत गाते गाते आपश्रीने काव्य को दुर्बोधि और भारी नहीं होने दिया। विवेचन पद्धति अत्यंत सुबोध, सरल और सुस्पष्ट है। दर्शन के तत्त्व बहुत सरल करके कहे गये हैं। स्पष्टता के लिए अनेक प्रसंग, अनेक उदाहरण और कुछ कथाएँ और अनेक उपमा रूपकों की योजना की गयी है। इन सबके कारण सरलता बढ़ी है और रोचकता भी। अलंकारों का तो इस काव्य में खजाना भरा पड़ा है। उपमा और केवल रूपक नहीं, साङ्ग रूपक भी, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, व्यतिरेक, उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तर न्यास, विभावना आदि अलंकारों के बीसों उदाहरण मिलेंगे। इन से काव्य अत्यंत श्रेष्ठ और प्रभावी बन गया है। उसकी शोभा भी बढ़ गयी है। अलंकारों के बिना काव्य की शोभा कैसी ? कवि केशवदासने कहा है—

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त ।

भूषण बिना न सोहइ, कविता वनिता मिल ॥

अर्थात् कविता वनिता और मित्र भले ही उच्च जाति के हो, उत्तम लक्षणों से मंडित हो, अच्छे वर्णवाले हो, श्रेष्ठ हो और कीर्ति प्राप्त हो किन्तु अलंकारों के बिना वे शोभा नहीं देते।

फिर भी अलंकार काव्य का सर्वस्व नहीं है। मुख्य है रस। इस काव्य में रसाभिव्यक्ति उत्कृष्ट रीति से हुई है। कविश्रेष्ठ संन्यस्त होने पर भी शृंगार रस को अभिव्यक्ति हेमचंद्र, गंगादेवी और लोकचंद्र के गृहस्थ जीवन के संदर्भ में यथास्थान हुई है। सुंदर है। लेकिन इस काव्य का मुख्य रस शान्त है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। निर्वेद के लिए इस काव्य में पूरी पार्श्वभूमि उपलब्ध है, क्योंकि इसकी प्रत्येक गाथा का मुख मानो मोक्ष मार्ग की ओर ही है। नायक लोकचंद्र मुनि हो जाते हैं और शुद्ध साधुत्व के लिए क्रांतिकारी कार्य करते हैं। साधु—शिथिलाचार को हटाकर वैराग्य की उच्च

भूमिका बनाते हैं। अतः स्पष्ट है कि निवेद की व्याप्ति और अभिव्यक्ति अत्यंत यशस्वी और प्रभावी है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा संस्कृत है। अनेक गाथाएँ ऐसी मिलेंगी कि जो सरलता के कारण सहज ही समझमें आ जाती है। उसी प्रकार इस काव्य की शब्द योजना देखकर कविवर के भाषा प्रभुत्व की यथार्थ प्रतीति हमें होती है। साथ ही अर्थ गौरव की दृष्टिसे भी रचना प्रशंसनीय है। थोड़े शब्दों में भरपूर आशय व्यक्त होने के गुण को साहित्यमें अर्थ गौरव कहते हैं। उपमा अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरण देखकर और अर्थ गौरव का गुण पाकर विख्यात संस्कृत कवि कालिदास और भारवि की याद आती है। प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य, भारवेः अर्थ गौरवम् ।

प्रस्तुत काव्यमें दोनों के ये दोनों गुण यथार्थ रीति से समाविष्ट है।

ऐसे इस श्रेष्ठ काव्य की रचना संवत् २०२९ में पूर्ण हुई है, किन्तु इसका प्रकाशन दस ग्यारह वर्षों बाद अभी हो रहा है। यह प्रकाशन हिन्दी और गुजराती भाषाओं सहित है। इसलिए संस्कृत भाषा न जाननेवाले सामान्य जनों के लिए भी इसका अवगाहन सहज सुलभ होगा। हर कोई इसके काव्य रस का आस्वादन कर सकेगा और धर्माचरण का उपदेश पाकर धन्य हो सकेगा। ॐ शान्तिः

गुरु चरणकमलानुरागी
पं. कन्हैयालाल मुनि

आभार प्रदर्शन

यह लोकाशाह महाकाव्य छपके तैयार होने के पश्चात् समिति के कार्यकर्ताओं ने सोचा कि पूज्य गुरुदेव के इस काव्य की भूमिका पूज्य गुरुदेव के सुशिष्य परम विद्वान् शास्त्रवेत्ता, बाल ब्रह्मचारी प. पू. कन्हैयालालजी म. सा. लिखयेजे तो ओर उत्तम ही, ऐसा सोचकर समिति के कार्यवाहकों ने पूज्य म. सा. कन्हैयालालजी की नम्र विनंती की जिसे स्वीकार कर उपरोक्त भूमिका म. सा. ने चानुर्भाव के धर्मकरणी में प्रवृत्तिशील होने पर भी अवकाश लेकर आपने अथाक परिश्रम कर लिख भेजी है अतः समिति पूज्य म. सा. कन्हैयालालजी का हार्दिक आभार मानती है।

अ. श्री. श्वे. स्था. जैन
शास्त्रोद्धार समिति

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य श्री घासीलालजी-महाराज विरचितम्
श्रीलोकाशाहचरितमहाकाव्यम् हिन्दी-गुर्जर-भाषानुवादसहितम्

॥ श्रीलोकाशाहचरितम् ॥

प्रथमः सर्गः

श्रियं क्रियाद्यस्य नतेन्द्रसेन्द्र-मौलप्रभारंजितपादपीठम्
बभौ सभायामुदुराजराजचव्यु तं नमः खण्डमिवाग्रजो वः ॥१॥

हिन्दी अनुवाद

अर्थ-समवसरण में जिनका पादपीठ नमस्कार करते हुए इन्द्रों और देवों के मुकुटों की कान्ति से रंजित हुआ ऐसा जान पड़ता है कि नक्षत्रराजि से सुशोभित आकाश का एक खण्ड ही ! (निरावलम्ब होनेके कारण) यह यहां गिरा हुआ पड़ा है ऐसे वे आदि जिनेश्वर हमलोगों की रक्षाकरें ॥१॥

गुर्जराती अनुवाद.

पहेलो सर्ग

समवसरणुमां ज्ञेयानुं पादपीठं नमस्कार करनारा इन्द्रादि देवाना मुकुटानि कांतीथी रंगार्थने ज्ञेयुं शोभे छे के नक्षत्र पंक्तिथी सुशोभित आकाशने जेक भाग न अवलम्बन विनाने होवाथी अहीयां पडेले ज्ञेयुय छे जेवा ते आदिजनेश्वर अभाइ रक्षायु करे ॥१॥

चन्द्रप्रभुनौमि यदोयकान्तिं विलोक्य चन्द्रोऽपि विलज्जितोऽभूत्
न लज्जितश्चेत्किमसावुदेति रात्रौ दिवानेति विचारयन्तु ॥२॥

अर्थ-जिनके शरीर की कान्तिको देखकर चन्द्रमाभी लज्जित हो गया. ऐसे उन चन्द्रप्रभु भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं इसके लज्जित होने में प्रमाण यही है कि वह दिनमें न निकल कर केवल रात्रि में ही निकलता है । लज्जित हुआ व्यक्ति दिन में नहीं निकलता है किन्तु रात्रि में ही निकल कर अपना कामकाज किया करता है ॥२॥

ज्ञेयाना शरीरनी कान्तिने जेकने चन्द्रमा पणु शरभार्थ गया जेवा जे चन्द्रप्रभु भगवानने हुं नमस्कार करे छुं. जे चन्द्र लज्जित न थयो होय तो दिवसमां उभे अहार आवता नथी ? अर्थात् शरभ पामेल व्यक्ति दिवसमां अहार निकलता नथी. परंतु रात्रे न अहार नीकणीने पोतानुं कामकाज करता रहे छे ॥२॥

शुद्धं स्वरूपम् मुनिवृन्दसेव्यं सुरासुरैर्वन्दिपदारविन्दम् ।

वीरंजिनेन्द्रं प्रणमामि नित्यं भवार्तिनाशाय सुयोगशुद्धया ॥३॥

अर्थ-मैं अपनी भवार्तिकेनाश-भवरूपी व्याधि के विनाश के निमित्त उन अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीरप्रभुको मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक नमस्कार करता हूँ कि जिसके द्वारा संसार में सर्व प्रकार से आनन्द आनन्द बरसा और जिन्हें मुनिजन एवं सुर असुर मिलकर नमस्कार करते और जिनके चरण कमलोंकी सेवा में निरत रहते ॥३॥

हुं आ पोतानी भवार्ति-भवरूपी व्याधिने विनाश करवाना हेतुथी ते छेवला तीर्थंकर श्री महावीर प्रभुने मन वाणी अने कायानी शुद्धि पूर्वक नमस्कार करे हुं, के जेभना द्वारा आ संसार सर्व रीते आनंद आनंद थय रह्यो छे. अने जेभने मुनिगणु अने सुर अने असुरे वंदन करे छे. अने जेभना यरणु कमणोनी सेवा भाटे तत्पर रहे छे. ॥३॥

तं गौतमं विश्वजननीवृत्तिं जिनेन्द्रमुद्राङ्कितचारुवेषम् ।

नमामि यः संसृतिसंस्थितानाम् वीरोक्तवार्णीं विशदीचकार ॥४॥

अर्थ-मैं उन गौतम गणधर को नमस्कार करता हूँ कि जो प्रभुके पद चिन्हों पर चलते रहे और जिनका प्रत्येकव्यवहार विश्व कल्याणकी भावनासे हुआ। वीर प्रभुने जो संसारके भव्य प्राणियों को सन्मार्ग पर चलनेका उपदेश दिया उसे ही जिन्होंने विशेष रूपसे स्पष्टकर के संसार के समक्ष रखा ॥४॥

जे गौतम गणधरने हुं नमस्कार करे हुं, के जेभने प्रभुजे निर्दिष्ट करेला मार्गनुं अवलम्बन करीने प्रवर्तमान रह्या. अने जेभने हरेके व्यवहार समय विश्वना कल्याणुनी भावनाथी थयो. वीर प्रभुजे संसारना अव्युत्थाने सन्मार्गे याखवाने जे उपदेश आप्यो तेने जे विशेष प्रकारथी स्पष्ट करीने जेभणे जगत समक्ष प्रकाशित कर्यो छे. ॥४॥

यथामतीदं चरितं च लोकाशाहस्य साधोगुणरत्नराशेः ।

स्वल्पावबोधोऽपि तथापि किञ्चिच्छक्त्याऽनुरूपं च वदामि भक्त्या ॥५॥

अर्थ-मैं अब सम्यग् ज्ञान दर्शनादि रूप महनीय गुणरत्नों की राशिवाले ऐसे मुनिराज श्री लोकाशाह के चरित्र का अपनी बुद्धि के अनुसार निर्माण करता हूँ, यद्यपि मैं अल्पबोधवाला हूँ इसलिये इनके पूर्ण गुणों का वर्णन तो नहीं कर सकूंगा पर जो कुछ भी इस चरित्र में चित्रण करूंगा वह भक्ति के बल होकर शक्ति के अनुसार इनके मार्ग के अनुरूप ही कहूंगा ॥५॥

हने दु' सम्यक् ज्ञान दर्शनादि महान् शुष्ण रत्नाना ढगदाश्च मुनिराज लोकाशाठना यरित्रनी भारी युद्धि प्रभाषे स्थना कश्' छुं, जे के दु' अल्प मति छुं जथी तेमना संपूर्ण शुष्णानुं वार्धुन तो दु' करी शक्रीश नहीं परंतु आ यरित्र यित्रणुमां जे कांछ यित्रित करीश ते तेमना प्रत्येनी लक्षितने आधिन थर्धने भारी शक्ति प्रभाषे तेमना मार्गने अनुश्च करीश. ॥५॥

महात्मनाऽनेन मया विलोभय स्वच्छानुरूपां स्वमनोऽनुवृत्तिम् ।

तपस्विनां शास्त्रमनादि रूप मास्थानकं भव्य परिष्कृतं तत् ॥६॥

अर्थ—महात्मा मैं ने तपस्वि साधुओं की स्वच्छानुसारी संकुचित मनोवृत्ति को देखकर स्थानकवासि सिद्धान्त का प्रतिपादक अनादि भूत शास्त्र को अच्छी तरह परिष्कृत कर व्याख्या की है ॥६॥

महात्मा लोकाशाठे अने में साधुओंनी स्वेच्छायारी अने संकुचित मनोवृत्ति जेधने तपस्वी साधुओं माटे स्थानकवासी सिद्धांत अनुसार अनादि शास्त्रनुं सारी रीते अवलोकन करीने व्याख्यान करैल छे ॥६॥

मतं तदेतद्धयगमत्प्रसिद्धिं श्वेताम्बरस्थानकवासिनाम्ना ।

काश्चिं गतं यत्प्रभव प्रभावाद्देवादिमौढयं खलु मानवानाम् ॥७॥

अर्थ—लोकाशाहजी महाराज के द्वारा जो अनादिकालसे प्रचलित स्थानकवासी सिद्धांत था उसको प्रकाशित किया गया वह गुजरात आदि प्रदेशों में श्वेताम्बर स्थानकवासी इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ इसके प्रभावसे जो देवकी मान्यतासे प्रतिमापूजा आदि के—सम्बन्ध में मनुष्यों में मूढता थी वह धीरे धीरे कम होने लगी ॥७॥

लोकाशाहजी महाराज द्वारा अनादि काण्ठी प्रचलित जे स्थानकवासी संप्रदाय हतो तेने जे प्रकाशित करैल छे जे गुजरात विगेरे प्रदेशोमां श्वेताम्बर स्थानकवासी जे नामथी प्रसिद्धिने पावेल छे, आना प्रभावथी जे देवनी मान्यता अने भूर्तिपूज विगेरेना संबंधमां जनतामां मूढ पक्षु हतुं ते धीमे धीमे कम थयेल छे. ॥७॥

यथाप्रसिद्धं चरितं मयैतच्छुतं यथा वचिम तथैव चाहम् ।

श्रुतेऽनुभूते भवतीति भेदो ब्राह्म्य त्रुटिर्नात्र भवेद्यदीह ॥८॥

अर्थ—जिस रूप से यह चरित्र प्रसिद्ध है और जैसा इसे मैंने सुना है मैं उसी तरह से इसे ग्रथित करूंगा यदि कथन में किसी तरह का अन्तर प्रतीत

हो तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं मानना चाहिये, क्यों कि सुनी गई बातमें और देखी गई-अनुभवकी गई-बात में अन्तर आही जाता है ॥८॥

जै रीते लोकाशाहनुं यस्मिन् प्रसिद्ध छे, अने जै रीते तेने में सांभणेल छे. जे ज प्रमाणे हुं तेनी रचना करीश, जे मारा कथनमां डोछ प्रकारनो केशर जणाय तो तेमां मारो कंठ ज दोष मानवो नहीं. केम के-सांभणेल बातमां अने दृष्टेल-अनुभव करेल बातमां अन्तर आवी ज अथ छे. ॥८॥

काले कलौ तथ्यवृषोपदेष्टा प्रायो न लभ्योऽस्ति यतो हि पुण्यात् ।

खद्योतवत्प्रावृषि भासमानः प्रलभ्यतेऽसौ क्वचिदेव साधुः ॥९॥

अर्थ-इस काल में-पंचमकाल में-सत्यधर्म का उपदेष्टा साधु प्रायः मिलना ही नहीं है, क्यों कि यह तो पुण्योदय से ही प्राप्त होता है वर्षाकाल में जिस तरह (अगिया) खद्योत कहीं २ चमकते हुए दिखलाई देते हैं ऐसे ही ये भा कहीं २ ही चमकते हुए दिखलाई देते हैं सर्वत्र नहीं ॥९॥

आ पंचम काणमां सत्य मार्गनो उपदेश करनार साधु प्रायः भगता नथी, कारणु के जे तो पूर्व पुण्यना उद्यथी ज प्राप्त थाय छे. योभासामां जै रीते आगियां कयांक कयांक ज यमकता जेवामां आवे छे. सर्वत्र दृष्टाता नथी. ॥९॥

क्वैतत्पवित्रं विपुलं चरित्रं क्वैषाल्पबोधा मलिना मतिर्मे

तथापि तद्भक्त्यनुरागपुण्यात्पूता तदाख्यातुमसौ समर्थः । १०॥

अर्थ-यह पवित्र विस्तृत चरित्र तो कहां, और मलिन अल्पबोधवाली मेरी मति कहां फिर भी वह चरित्र नायक की भक्ति के अनुराग से जन्य पुण्य से पवित्र होकर उसे कह सकने में समर्थ हो जावेगी ॥१०॥

आ पवित्र जेवुं लोकाशाहनुं यस्मिन् कयां अने अल्प बोधवाणी मलीन जेवी मारी बुद्धि कयां ? तो पणु जे यस्मिन् नायक प्रत्येनी लक्तिना अनुरागथी प्रगटेल पुण्यथी पवित्र थरने ते कही शकवामां समर्थ थशे. ॥१०॥

साधोश्चरित्रं खलु पापहारि जेगीयमानं सुकृतं ददाति ।

स्वभ्रस्यमानं ह्यभयप्रदायि सशान्ते स्थितं तच्छिवदं वदन्ति ॥११॥

अर्थ-पूर्वाचार्योका ऐसा मन्तव्य है कि सुना गया साधु पुरुष का-महान् पुरुष का-चरित्र पापों का विनाशक होता है भक्ति के बश होकर पाठ करने वाले को वह पुण्य का दाता होता है और जो इसे अपने मन में धारण करता है उसे वह सर्व प्रकार से कल्याण का पात्र बना देता है ॥११॥

पूर्वाचार्योंने जी भी मान्यता छे डे-सांख्यवाभां आवेल साधुपुरुषनुं यत्रि पापेनुं विनाशक होय छे. लक्ष्मिथी तेनो पाठ करनारने ते पुण्य करक थाय छे. अने ज तेने पोताना मनमां धारणु करे छे तेने अे सर्वा प्रकाशथी कल्याणुनुं पात्र अनावी हे छे. ॥११॥

श्राव्यं भवेत्काव्य मद्रूपणं यन्न निर्गुणं क्वाप्यवधार्य मन्ये ।

गुणान् जिघृक्षोः खलु सज्जनान्तद्दोषांश्च गृह्णन् खल एव साधुः ॥१२॥

अर्थ-जो काव्य निर्दोष होता है वही श्राव्य सुनने के योग्य होता है पर जो निर्गुण काव्य होता है, वह कहीं पर भी सुनने के योग्य नहीं होता इस प्राचीन उक्तिको चित्त में धारण करके मैं ऐसा मानता हूं कि केवल काव्य के गुणों को ही ग्रहण करने वाले सज्जन की अपेक्षा काव्यगत दोषों को ग्रहण करने वाला खल-दुर्जन ही अच्छा है ॥१२॥

जे काव्य दोष रहित होय ते ज सांख्यवा योग्य होय छे. परंतु जे निर्गुण काव्य होय छे ते काई रीते सांख्यवा वायक होतुं नथी. आ प्राचीन उक्तिने चित्तमां धारणु करीने हुं अेवुं मानुं छुं डे- डेवण काव्यना गुणुने ज अहणु करनारा सज्जन करतां काव्यमां रहेला दोषेने अेनारा अर-दुर्जन ज सारा छे. ॥१२॥

अहो खलस्यापि महाप्रभावो भियैव यस्यास्ति कविः सुवृत्तः ।

चकास्ति गोभि सवितेव यस्य मनोनुकूला कविता सुकान्ता ॥१३॥

अर्थ-देखो-दुर्जन का भी बड़ा प्रभाव होता है क्यों कि इसी के भय से कवि अपनी कविता में सुवृत्त-सुन्दर निर्दोष छंदों की रचना करता है तथा जिस प्रकार सविता सूर्य अपनी किरणों से चमकता है उसी प्रकार उस कवि की कविता रूपी कामिनी भी अपनी वाणी से सबके मनको अनुकूल होती भाती रहती है ॥१३॥

आश्चर्य छे डे दुर्जनोना पणु भोटो प्रभाव होय छे. डेभडे तेभना ज लयथी कवियो पोतानी कवितामां सुंदर निर्दोष छंदोनी रचना करे छे. तथा ज प्रमाणु सूर्यनारायणु पोताना किरणुथी प्रकाशे छे, अेज प्रमाणु ते कविनी कविता रूपी कामिनी पणु पोतानी वाणीथी सौना मनने अनुकूल थडने प्रसन्नता उपजवे छे. ॥१३॥

सतः प्रकशे खल एव हेतु स्तस्मिन् ध्रुवे तस्य गुणप्रकर्षः ।

काचं विना नैव कदापि कुत्र मणे. प्रतिष्ठा भवतीति सम्यक् ॥१४॥

अर्थ-सज्जन पुरुषों की विख्याति में यदि कोई कारण है तो वह दुर्जन ही है-क्योंकि उसके सद्भाव में ही उनके गुणों का प्रकर्ष होता है सो यह बात

ठीक है काच के बिना मणि की प्रतिष्ठा नहीं होती है—काचके सद्भाव में ही मणिकी प्रतिष्ठा होती है ॥१४॥

सञ्जन पुरुषोनी प्रसिद्धिमां जे कंठ पणु कारणु होय तो ते दुर्जन न छे. उमडे तेमना अस्तित्वथी न सञ्जनोना गुणोना प्रकर्ष थाय छे. जे वात सत्य न छे डे— कायना विद्यमान पणुथी न मणिनी प्रतिष्ठा थाय छे ॥१४॥

दूरस्ति यस्मात्सुजनस्य दुष्टो जनोऽथवा दूरगतोजनोऽस्मात् ।

इत्थं निरुक्त्या स गतः प्रसिद्धिं समस्ति लोके किल दुर्जनोऽयम् ॥१५॥

सज्जन जिससे दुःखित होते हो वह अथवा दुष्ट जो नर है वह, या जिससे सामान्यजन भी दूर रहते हों वह दुर्जन है. इस प्रकार से यह दुर्जन की निरुक्ति है. इससे दुर्जन शब्द की सिद्धि होती है ॥१५॥

सञ्जनो जेनाथी दुःखी थाय ते अथवा दुष्टजन ते अगरे जेनाथी सामान्य जन पणु दूर रहेता होय ते दुर्जन छे; आ प्रमाणे जे दुर्जननी निरुक्ति कही छे. आनाथी दुर्जन शब्दनी सिद्धि थाय छे. ॥१५॥

सरस्वती सैव मुखं तदेव सैवास्ति जिह्वा रचनाऽपि सैव ।

तथाप्यहो पश्यत दुर्जनस्य कृन्तति मर्माणि वचांसि चोक्तौ । १६॥

अर्थ—जिन शब्दों को सज्जन बोलता है उन्हीं को दुर्जन बोलता है जैसा मुख सज्जन का है वैसा ही मुख दुर्जन का है, जो जीभ सज्जन की है वही जीभ दुर्जन की है शब्दों के बोलने की रचना जैसी सज्जन की है वैसी ही वह दुर्जन की भी है परन्तु पता नहीं पडता है कि एक के तो बोल मर्मस्थानों में पीडा नहीं पहुचाते और दुर्जन के बोल मर्मस्थानों को काट देता है ॥१६॥

जे शब्दानुं उच्यारणु सञ्जन करे छे. जे न शब्दो दुर्जन बोदे छे. जेपुं सञ्जननुं भुष छे. जेपुं न दुर्जननुं भुष छे जेवी लस सञ्जननी छे. तेवी न लस दुर्जननी पणु छे. बोखवाना शब्दानी रचना जेवी सञ्जननी छे तेवी न दुर्जननी छे. परंतु अपर पडती नथी डे सञ्जनोना शब्दो आनंदप्रद होय छे त्यारे दुर्जनना शब्दो मर्म स्थानोमां धा लागवा जेवा नशाय छे. ॥१६॥

अहो कर्मन् तव सृष्ट सृष्टौ बभूव कष्टैकफलाज्ञतेयम् ।

यदेणमुष्के सृग्नाभिसृष्टिः कथं न साहा विहिता खलास्ये ॥१७॥

अर्थ—हे कर्मन् ! आपके द्वारा रची गई इस सृष्टि में आपसे एक बडीभारी भूल हो गई है जो जीवों को पद पद पर अभीतक कष्ट में डाले हुए हैं वह

आपकी भूल यह है कि आपने जो कस्तूरी की रचना की वह बिचारे हिरण के अण्डकोश में की, दुर्जन के मुख में नहीं की, हे कर्मन् ! आपके द्वारा रची हुई इस सृष्टि में आपने यह कष्टप्रद भूल कैसे कर दी—जो दुर्जन के मुख में न बनाकर हिरण के अण्डकोशों में कस्तूरी बनाई ॥१७॥

हे कर्मन् तमे रथेक्ष आ सृष्टिमां आपनाथी अेक गंभीर भूल थयेक्ष ज्ञायै छे. हे भूल प्राणियोने उगवे उगवे आण पर्यन्त दुःखकारक थाय छे. ते भूल अे छे हे आपे कस्तूरीनी उत्पत्ति भियारा उरणाओनी नासिमां करी छे, दुर्जनोना भुषमां करैक्ष नथी. हे कर्मन् आपे रथेक्ष आ सृष्टिमां आपे आ दुःख भूल डेवी रीते करी ? हे दुर्जनोना भुषमां अनाववा लायक कस्तुरी भृगनी नासिमां उत्पन्न करी ? ॥१७॥

तटस्थपाती नदवह्निनादी भुजङ्गकैः सेवितपार्श्वभागः ।

पद्माकरैर्वर्जित संगमोऽसौ खलः सदा विभ्रमवान् सपङ्कः । १८॥

अर्थ—इस श्लोक द्वारा कवि ने दुर्जन को नद के साथ उपमित किया है नद-शोण आदि नद-जिस प्रकार तटस्थ-तट पर स्थित वस्तुओं को बहा ले जाता है उसी प्रकार दुर्जन भी तटस्थ-मध्यस्थ-व्यक्ति को पतित कर देता है—उन्हें कष्ट देता है शोणनद-नदी जिस प्रकार निनादी प्रवाह के आने पर व्यर्थ की आवाज किया करता है उसी प्रकार दुर्जन भी व्यर्थ का बकवाद किया करता है “भुजङ्गकैः सेवितपार्श्वभागः” नदके पार्श्वभाग में जिस प्रकार सर्पों का अड्डा बना रहता है उसी प्रकार दुर्जन के आस पास भुजंगक चुगुल-खोर आदिकों का जमघट जमा रहता है. शोणनद जिस प्रकार “पद्माकरैर्वर्जितसंगमः” पद्माकर कमल समूह के संगम से हीन होता है उसी प्रकार दुर्जन भी लक्ष्मीपतियों की संगति से वंचित रहा करता है. शोणनद में जिस प्रकार सदा विभ्रमवान् भंवरें पानी में उठा करती है, उसी प्रकार दुर्जन में सदा अज्ञान रूपी ज्ञान बना रहता है “सपङ्कः” नद जिस प्रकार सपङ्क-कीचड से युक्त होता है. उसी प्रकार दुर्जन भी पापों से युक्त होता है ॥१८॥

आ श्लोकमां डविअे दुर्जनने नदनी साथे सख्यावेक्ष छे. शोण विगेरे नद जे प्रभाणु तट पर रहेक्ष वस्तुओने पाणीमां वही जथ छे. अेज रीते दुर्जन पणु तटस्थ-मध्यस्थ व्यक्तिये पतित करे छे. अर्थात् तेने दुःख उपजवे छे. शोणनद-नदी जे प्रभाणु प्रवाह आवे तयारे नकामा अत्राज कर्या करे छे, अेज प्रभाणु दुर्जन पणु नकामे अकवाह कर्या करे छे. ‘भुजङ्गकैः सेवितपार्श्वभागः’ नदना पडप्पाना लागमां जम सर्पोना अड्डा अनेक्ष रहे छे, अेज प्रभाणु दुर्जननी आणुआणु पणु भुजंगक-याडियाओ विगेरेना अड्डा

અભેલા રહે છે. શોણનદ જે પ્રમાણે 'પદ્માકરૈ વર્જિતસંગમઃ' કમલ સમૂહના સંગમથી રહિત હોય છે, એજ પ્રમાણે દુર્જન પણ લક્ષ્મીપતિઓના સંગથી રહિત હોય છે. શોણનદમાં જેમ અંચળ ભરેલા પાણીમાં ઉડી આવે છે, એજ પ્રમાણે દુર્જનોમાં સદા અજ્ઞાન રૂપી ભંવરે ઉડ્યા કરે છે, 'સપક્ક' નદ જેમ કાદવતાળો રહે છે એજ પ્રમાણે દુર્જન પણ પાપ-રૂપી કાદવથી યુક્ત રહે છે. ॥૧૮॥

कचिच्च मुन्नास्ति कदापि तस्मात्प्रधावती तं प्रविलोक्य वाणी
समुत्कटास्ता विपदो भवन्ति जगन्ति पापानि समुद्रहन्ति ॥१९॥

અર્થ-દુર્જન વ્યક્તિ સે કિસી મી કાલ મેં કિસી મી ઠૌર જીબોં કો આનન્દ નહીં મિલતા હૈ પ્રત્યુત ઉસ દુર્જન કા સાન્નિધ્ય પાકર લોગોં કી બોલતી બન્દ હો જાતી હૈ, યહાં તક કિ હસકે આતંક સે વે વે ભયઙ્કર આપત્તિયાં પ્રકટ હો જાતી હૈં જો સંસાર મેં કહર બરસા દેતી હૈં ઉસ સમય હસકે હી પ્રભાવ સે જગત પાપોં કે નીચે દબ જાતા હૈ. ॥૧૯॥

દુર્જન વ્યક્તિ પાંસેથી કોઈ પણ કાળમાં કોઈ પણ જીવને આનંદ પ્રાપ્ત થતો નથી. પરંતુ અરેખર એ દુર્જનનો સંગ મેળવીને માણસની વાણી જ અંધ થઈ જાય છે. તે એટલે સુધી કે તેના દુઃખ કારક વ્યવહારથી એવી એવી ભયંકર આપત્તિઓ આવી પડે છે કે જે જગતમાં કેર વરસાવે છે, તે વખતે તેના જ પ્રભાવથી જગત પાપોની નીચે દબાઈ જાય છે, ॥૧૯॥

सतो विदूरीकृतदुर्जनश्चा जडाशयो धावति पृष्ठभागे ।

यथा तथा संमुखमागतस्य विदूरभावं भजते मयादयः ॥२०॥

અર્થ-સજ્જન પુરુષ કે દ્વારા વહુત દૂર તક સ્વદેહ દિયા ગયા યહ દુર્જન રૂપ કુક્તા દુરાશયવાલા બનકર ઉસકી પીઠ કે પીઠે હો ભોંકતા હુઆ ચલતા આતા હૈ. પરન્તુ જબ ઉસકા સામના કિયા જાતા હૈ તો વહ ભયમીત હોકર ફિર સ્વયં હી દૂર ભાગ જાતાહૈ ॥૨૦॥

સજ્જન પુરુષ દ્વારા ધણે દૂર સુધી ભગાડી મૂકવામાં આવેલ આ દુર્જન રૂપી કુતરા દુષ્ટાશય વાળા બની તેમને તેની પીઠ પાછળ જ ભસતા આવે છે, પરંતુ અ્યારે તેનો સામનો કરવામાં આવે ત્યારે તે ડરીને પોતે જ દૂર ભાગી જાય છે, ॥૨૦॥

परापत्रादेन विना न तृप्तिर्भवेच्च दुष्टस्य कदापि कुत्र ।

तथाहि शस्यान् परिमुच्य भुङ्क्ते रसान् वराहोऽशुचिवस्तुजातम् ॥२१॥

अर्थ-दुर्जन का यह स्वभाव है कि जब तक वह दूसरों कि निंदा नहीं करलेता तब तक उसे चैन नहीं पडती देखो-सुअर के समक्ष कितने ही सुन्दर र रस क्यों न रख दिये जावें तब भी वह उन्हें छोडकर केवल अशुचि-अप-वित्र-पदार्थ का ही भक्षण करता है ॥२१॥

दुर्जनने जे स्वभाव छे डे- ज्यां सुधी जे भीअज्यानी निंदा करतो नथी त्यां सुधी जेने चैन पडतुं नथी. जम डे- लु'डोनी सामे डेटलाय सारा सारा भोजन पदार्थो राभ्या हाय तो पशु ते तेने छोडीने केवण अपवित्र जेवा पदार्थ'तुं जे लक्षणु करे छे. ॥२१॥

अयोभिसंसर्गवशाद् यथाग्निः परोपघातं सहते करालम् ।

खलं खलु प्राप्य तथा यमात्मा जगत्प्रहारं सहते समन्तात् ॥२२॥

अर्थ-जैसे अग्नि लोहे की संगति से विकट घनकी चोटों को सहन करती है, उसी प्रकार यह आत्मा दुष्ट की संगति से सर्व तरफ से जगत के अप वादरूप प्रहार को सहन करता है. ॥२२॥

जम अग्नि दोष'डोना संग थवाथी दुःखद धाणुने भार सहन करे छे जेज प्रमाणु आ आत्मा दुष्टना संसर्ग'थी अधी रीते जगतना अपवाद्दृष्य प्रकारेने सहन करे छे. ॥२२॥

स्व दोषराशि प्रविलोकनेऽसौ खलो यथान्धो न तथाऽपरस्य ।

स्वदुर्गुणान् गणयगुणान् प्रजल्पन् मनस्विनो गणयगुणान् जल्पन् ॥२३॥

अर्थ-खल जन जिस प्रकार अपने में विद्यमान दुर्गुणों के देखने में अन्धा रहता है उस प्रकार वह दूसरों के दुर्गुणों को देखने में अन्धा नहीं होता दूसरों के माननीय गुणों को तो वह दुर्गुणरूप से मानता है और अपने दुर्गुणों को गणनीय गुण समझता है ॥२३॥

अस पुश्च जम पोतानामां रडेस दुर्गुणुने जेवामां अन्ध हाय छे, तेम जे भीअना दुर्गुणुने जेवामां अन्ध हाता नथी. भीअना सन्माननीय गुणुने तो ते दुर्गुणु माने छे, जेने पोताना दुर्गुणुने माननीय गुणु गणु छे. ॥२३॥

परेण सम्पादित धर्म्यकृत्ये मलोद्भिज्जते केवल मीर्षयाऽसौ ।

विलोकयन् दोषत्रयं समन्तात् करोति बाधां प्रतिबोधितोऽपि ॥२४॥

अर्थ-सज्जन पुरुष निर्दोष कोई भी यदि धार्मिक कृत्य करता है. तो यह दुर्जन पुरुष उसमें ईर्ष्या के वश होकर दोषों को ही देखता है और समझाने पर भी हरतरह से उसमें बाधा ही उपस्थित किया करता है. ॥२४॥

સજ્જન પુરુષ નિર્દોષ એવું કોઈ પણ ધાર્મિક કાર્ય કરે તો પણ આ દુર્જન પુરુષ તેમાં પણ કેવળ ઈર્ષ્યાને વશ થઈને દોષોને જ દેખે છે, અને સમજાવવા છતાં પણ દરેક રીતે તેમાં વિઘ્ન જ નાખે છે, ॥૨૪॥

પરાપવાદેન સ તોષિતાત્મા પરાપકૃત્યૈઃકટિવદ્ધકક્ષઃ ।

વિગર્હિતાત્મા પ્રતિકૂલવર્તી પરોપતાપી કિમસૌ ત્રિસૃષ્ટઃ ॥૨૫॥

અર્થ—હે કર્મ ! મને આદમિયોં કા નિન્દા કરને મેં જિસે આનન્દ આતા હૈ દૂસરોં કે અપકાર કરને મેં હી જિસકી કમર કસી રહતી હૈ, એસે ઉસ નિન્દિત આત્માવાલે દુર્જન કો કિ જો સદા પ્રતિકૂલ હી પ્રતિકૂલ રહતા હૈ ઓર હર-એકકો દુઃખિત કિયા કરતા હૈ તૂને ક્યોં બનાયા ॥૨૫॥

હે કર્મ ભલા માણસોની નિન્દા કરવામાં જેને આનંદ થાય છે, બીજાના અપકાર કરવામાં જ જેની કમર કસાયેલ રહે છે, એવા તે નિન્દિતાત્મા દુર્જનોને કે જ સદા પ્રતિકૂળ જ રહે છે, અને દરેકને દુઃખી કર્યા કરે છે, તે શા માટે બનાવ્યા ? ॥૨૫॥

કલઙ્કમુક્તસ્સદ પૂર્વચન્દ્રો દિવાપિ વિસ્તારિતકૌમુદઃ સન્ ।

દોષોઙ્ગિતોઽસૌ વિતનોતિ જીવં જીવં પ્રતિ હર્ષમરં મહાન્તમ્ ॥૨૬॥

અર્થ—સજ્જન પુરુષ કે વિષય મેં ક્યા કહા જાયે વહ તો એક શ્રેષ્ઠ અપૂર્વ ચન્દ્રમાહી હૈ. ક્યોં કિ પ્રસિદ્ધચન્દ્રમા કલઙ્કી હૈ ઓર સજ્જન સદા કલઙ્ક સે ચાર હાથ દૂર રહતા હૈ—પ્રસિદ્ધ ચન્દ્રમા રાત્રિ મેં હી કુમુદોં કા વિકાશક હોતા હૈ. તબ કિ યહ “દિવાપિ” દિન મેં બી “કૌમુદઃ” પૃથિવી મે આનન્દ ભરતા રહતા હૈ, પ્રસિદ્ધ ચન્દ્રમા દોષા+ઉઙ્ગિત” દોષા—રાત્રિ સે ઉઙ્ગિત પરિ-ત્યક્ત નહીં હોતા—તબ કિ યહ દોષોં સે દુર્ગુણોં સે પરિત્યક્ત હોતા હૈ. પ્રસિદ્ધ ચન્દ્રમા સબ પ્રકાર સે જીવં જીવં પ્રતિ ચકોર પક્ષી કો હર્ષ કા દાતા નહીં હોતા, ક્યોં કિ રાત્રિ મેં ચકોર કા ચકોરીસે વિયોગ હો જાતા હૈ, તબ કી યહ જીવ કે પ્રતિ અધિક સે અધિક આનન્દ કા દેને વાલા હોતા હૈ । ઇસ તરહ સે કવિને ઇસ શ્લોક દ્વારા પ્રસિદ્ધ ચન્દ્રમા કી અપેક્ષા ઇસ સજ્જન રૂપી ચન્દ્ર-મા મેં અપૂર્વતા પ્રદર્શિત કી હૈ ॥૨૬॥

સજ્જન પુરુષોને વિષે તો કહેવાનું જ શું હોય તેવો એક અપૂર્વ ચંદ્રમા જ છે, કેમ કે—પ્રસિદ્ધ ચંદ્રમા કલંકિત છે, અને સજ્જનો સદા કલંકથી દૂર રહેવાવાળા હોય છે, પ્રસિદ્ધ ચંદ્રમા રાત્રે જ કુમુદોના વિકાશક હોય છે, જ્યારે આ દિવાપિ દિવસે પણ કૌમુદઃ પૃથ્વીમાં હર્ષ જનક જ હોય છે, પ્રસિદ્ધ ચંદ્રમા દોષા + ઉઙ્ગિતા રાત્રે ત્યજાયેલ હોતો નથી. જ્યારે આ દોષોથી અર્થાત્ દુર્ગુણોથી ત્યજાયેલ હોય છે. પ્રસિદ્ધ ચંદ્રમા બધી રીતે

‘ जीवं जीवं प्रति ’ यंडार पक्षीने उर्षोत्पादक होतो नथी, डेम डे रात्रे यंडार पक्षीने यंडोरीथी वियोग थळ ज्य छे. ज्यारे ज्या सज्जन दरेक ज्जवने वधुमां वधु ज्यानंद ज्यापनार पने छे. आ रीते कविजे ज्या श्लोक द्वारा प्रसिद्ध यंड्रमाना करतां ज्या सज्जन इपी यंड्रमां अपूर्वता पतावी छे. ॥२६॥

जना वदन्तीत्यमृतप्रदोहि हिमांशु गौगस्ति न सत्यमेतत् ।

तथ्यं परं त्वामृतदायिनीयं गोरेव भव्याय सतोऽस्यशश्वत् ॥२७॥

अर्थ—लोग ऐसा कहते हैं. कि चन्द्रमाकी किरणों से अमृत झरता है. सो ऐसा उनका कहना मेरी दृष्टि से सत्य नहीं है. सत्य तो केवल एक यही है कि संत पुरुष की वाणी ही भव्य जीवों के लिये अमृत प्रद-मोक्षदात्री-होती है. अतः उसकी वाणी से ही मोक्ष अमृत-झरता है. ॥२७॥

बोडा ज्येवुं कडे छे डे-यंड्रमाना किरणोमांथी ज्यमृत जरे छे. ज्येवुं तेमनुं कथन भने तथ्य लागतुं नथी. सायुं तो डेवण ज्येव छे डे सत्पुरुषोनी वाणी ज् ज्येव ज्जवने ज्यमृत-प्रद-मोक्ष ज्यापनारी होय छे. तेथी तेमनी वाणीथी ज् मोक्ष इपी ज्यमृत जरे छे. ॥२७॥

हरिर्मुनारिस्त्रिपुरारिरुप्रो हरिण्यगर्भः कलहंसवाहः ।

सेन्द्रश्च संक्रन्दनपारवश्यश्चेन्द्रोऽपि शत्रुर्नमुचेर्न तुल्यः ॥२८॥

अर्थ—इसी तरह हरि उग्र हिरण्यगर्भ देव और इन्द्र ये भी सज्जन की समता में नहीं उतरते हैं. क्यों कि हरि-सुरनाभक राक्षस के अरि है, महादेव त्रिपुर दैत्य के विध्वंसक है, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कलहसंवाहक-लडाई जगडे में फसे रहते है. देवसंक्रन्दन पारवश्य हैं-इन्द्रकी अधीनता में रहते हैं-अथवा रोने धोने में लगे रहते हैं और इन्द्र नमुचि का विरोधी है. तब कि संत पुरुष ऐसे नहीं होते अतः ये सब भी सज्जन की समानता की कोटि में नहीं आ पाते है. ॥२८॥

हरि, उग्र ज्येवुं हरिण्यगर्भ देव ज्येवुं इन्द्र ज्येवुं पणु सज्जननी परोपरीमां ज्यवता नथी. डेम डे-हरि-सुरनाभना दैत्यना अरि ज्यथीत् शत्रु छे. महादेव त्रिपुरना विध्वंसक छे. हरिण्यगर्भ ब्रह्मा कलहंस वाडक-जगडां क्षायेक्षा रहे छे. देवो संक्रन्दन ज्यथीत् इन्द्रने ज्यधीन छे. ज्येवुं इन्द्र पणु नमुचि दैत्यनो विरोधि छे, ज्यारे संत पुरुषो ज्येवुं होता नथी तेथी ज्या ज्येवुं संत पुरुषनी समानतामां ज्यवता नथी. ॥२८॥

अहो विचित्रं सुमनः सुवृत्तं विभेदितं यन्न विकारमेति ।

विनिद्रितं सद् भ्रमराहितं सा मोदं विधत्ते ननु काननं च ॥२९॥

अर्थ-सन्त पुरुषों का आचार पुष्प के आचरण से भी विचित्र होता है. जो इस प्रकार से है-जब पुष्प खिलता है-तब यह यद्यपि भ्रमरों को हितकारी होता है और जिस स्थान पर वह खिलता है चाहे वह जंगल भी क्यों न हो उस स्थान को वह अपनी परिमल से भर देता है, परन्तु जब वह अपने स्थान से भ्रष्ट होता है तब वह विकृत हो जाता है-कुम्हला जाता है. परन्तु सन्त पुरुष कर्मोदय से दुःखित होने पर भी विकृत नहीं होते यही इसमें पुष्प की अपेक्षा विचित्रता है. सन्त पुरुष मोह की निद्रा से विहीन होते हैं उनमें से मिथ्या ज्ञान रूप भ्रम निकल जाता है. अतः वे कानन-कुत्सित आनन वाले अपने विपक्षियों को दुर्जनों को भी सामोद-प्रसन्न कर लिया करते हैं। इस प्रकार विनिद्रित विभ्रम रहित सामोद और कानन इन पदों की संगति पुष्प और सन्तपुरुष ठीक बैठ जाने पर भी विकाराभाव की लेकर पुष्प की अपेक्षा सन्तपुरुष में विशेषता स्पष्ट हो जाती है. ॥२९॥

संत पुष्पेनो आचार पुष्पना कर्तां पशु विचित्र होय छे. जम डे पुष्प अ्यारे भीदे छे त्यारे ते लभराओने डितावड होय छे अने ज स्थान पर ते भीदे छे याहे ते जंगल पशु डेम न होय ते स्थानने ते पोताना रजःकण्ठोथी सुगुंथित करी दे छे. पशु अ्यारे ते पोताना स्थानथी पतित थाय छे त्यारे ते विकृत अर्थात् करमाई अय छे. परंतु संत पुष्प कर्मोदयथी दुःभी थवा छतां पशु विकृतिने पाभता नथी अेज तेओमां पुष्पना कर्तां विशेषता छे. सन्तपुष्प मोह निद्राथी रहित होय छे. तेओमांथी मिथ्या ज्ञानरूप भ्रम नीकणी अय छे तेथी तेओ कानन-कुत्सित आनन-मुष्य वाणा पोताना विशेषिओने पशु सामोद प्रसन्न करी ले छे. आ रीते विनिद्रित विभ्रम रहित, सामोद अने कानन आ शण्डानी साथे संगति अशेअर थछ जवा छतां पशु विकार आवने लईने पुष्पना कर्तां संत-पुष्पमां विशेषता स्पष्ट थई अय छे. ॥२९॥

धन्यावनिः साध्युषिता सुसद्भिर्गाशे यदीया परिशीलितास्ताः

खलैर्हितं तुष्टिदं दुहन्ति नवं नवं सूक्तिरसं सुनम्राः ॥३०॥

अर्थ-जिनकि वाणी रूप गाय खल द्वारा परिशीलित होकर हितप्रद तुष्टि-कारक नवीन नवीन सूक्ति रूप रस को देती है. ऐसे सन्त पुरुषों द्वारा सुसे-वित वह भूमि धन्य है. यहां खल शब्द का अर्थ गाय पक्षमें खरी है-जिसे खाकर गाये खूब दूध दिया करती है रस शब्द का अर्थ दूध है ! सन्त पुरुषों की वाणी दूर्जनो द्वारा जब परिशीलित होती है तो वह सूक्तिरूपी रस को प्रदान करती है. और गायों को जब खरी दी जाती है तब वे बहूत दूध देने लग जाती हैं। इस तरह यहां खल का प्रभाव प्रकट किया गया है ॥३०॥

अग्नेयी वाणी इय गाय अक्ष द्वारा सेवित थर्ष ने छितकारक तुष्टिइय नवी नवी सूक्तिइय रस आपे छे, अवा संतपुइयो द्वारा सेवती ते भूमि धन्य छे. अही अक्ष शब्दनेो अर्थ गायपक्षमां भरी छे, अटवे ड भोजनने आधने गाथो भूष्य दूध आपे छे. संतपुइयोनी वाणी दुर्जनो द्वारा न्यारे परिशीलित थाय छे, त्यारे ते सूक्तिइपी रस आपे छे. अने गाथो ने न्यारे आशु देवामां आवे छे, त्यारे ते धलुं न दूध आपवा म डे छे. आ रीते अही अक्षनेो प्रभाव प्रगट करवामां आव्यो छे. ॥३०॥

यदीयत्राणी सुमनोभिरामा प्रकाण्डजुष्टा सुरसार्थ सेव्या ।

लतेव कल्पस्य ददाति सौख्यं मनोऽनुकूलं सततं जनेभ्यः ॥३१॥

अर्थ—सन्त पुरुषों की वाणी विद्वज्जन मनोमोहक होती है. प्रकाण्ड जुष्ट-अनेक अध्यायों में वह विभक्त होती है और सुरस और अर्थ से वह सेव्य होती है अतः वह कल्पलता के समान मनुष्यों के मनको रुचती है और उससे उन्हें निरन्तर सुख की प्राप्ति होती रहती है. यहां सन्त पुरुषों की वाणीको कल्पलता के समान प्रकट की है, कल्पलता सुमनों से—पुष्पों से सुन्दर लगती है तब कि सज्जनों की वाणी विद्वज्जनों के मनको मोहित करनेवाली होती है प्रकाण्ड शब्द का अर्थ लता पक्षमें उस भागका है, कि जहां से अनेक मूल शाखाएँ उत्पन्न होती हैं वाणी पक्षमें इस शब्द का अर्थ अध्याय पर्व आदि रूप हैं. और सुरसार्थसेव्य शब्द का श्रेष्ठ रस और अर्थ से वह युक्त होती है ऐसा अर्थ होता है. कल्पलता के पक्षमें सुर देवों के सार्थ—समूह से वह सेवा के योग्य होती है ॥३१॥

संतपुइयोनी वाणी विद्वान् पुइयोना मनने मोड उपज्वनारी होय छे. अनेक अध्यायोमां ते वहेवायेस होय छे, तथा सुरस अने अर्थथी ते सेववा योग्य होय छे. तेथी ते कल्पलतानी माक्षक मनुष्योने इचिकर होय छे. अने तेनाथी तेने डभेशां सुपनी प्राप्ति थती रहे छे. अही संतपुइयोनी वाणीने कल्पलता सरणी जशुवेस छे. कल्पलता पुष्पोथी सुंदर लागे छे, त्यारे सज्जनोनी वाणी विद्वज्जनोना मनने मोहित करनारी होय छे, प्रकाण्ड शब्दनेो अर्थ लता पक्षमां न्याथी तेनी अनेक भूषण शाभाओ प्रगट थाय छे. तेने कहे छे. अने वाणी पक्षमां आ शब्दनेो अर्थ अध्याय पर्व आदिइय छे. सुरसार्थ सेव्या शब्दनेो अर्थ श्रेष्ठ रस अने अर्थथी युक्त थाय छे. कल्पलता पक्षमां सुर अटवे देवोना साथी अटवे समूहथी ते सेववाने योग्य होय छे. तेम थाय छे. ॥३१॥

विपत्तिकालेऽप्यवलम्ब्य धैर्यं परोपकारं कुरुते वचोभिः ।

विधुंतुदेनेह विधुः करैः किं न गृह्यमाणस्तनुते प्रकाशम् ॥३२॥

अर्थ-सज्जन पुरुष यदि विपत्ति पतित भी हो जावे तो वह अपने धैर्यको नहीं डुबाता है प्रत्युत उसका दृढता के साथ अवलम्बन करके वह अपनी वाणी द्वारा ही अन्य जीवों की भलाई करने में लगा रहता है. जैसे-राहु के द्वारा ग्रहण किया गया चन्द्रमा चन्द्र जब राहु से ग्रसित हो जाता है-तब भी वह दुनियां को अपनी किरणों द्वारा प्रकाश देकर मार्ग प्रदर्शन करता है ॥३२॥

सञ्जन पुरुष ने कदाय विपत्ति पशु आवी जय तो पशु ते पोतानी धीरजने छोडते नथी. परंतु तेने विशेष दृढताथी धारणु करीने ते पोतानी वाणी द्वारा ज अन्य ज्योतुं सलुं करवाभां ज लाग्या रहे छे. जम राहु द्वारा असपेक्ष अंद्रमा अर्थात् अंद्र राहुथी अस्त थाय तो पशु ते जगत ने पोताना किरणो द्वारा प्रकाश आपीने मार्गदर्शक थाय छे. ॥३२॥

सन्तः कियन्त सन्ति नुशं कुर्वन्ति कृत्वा परतापजस्य ।

लोके परिभ्रम्य सुवंशजा स्वं दुःखस्य शान्तिं व्यजनेन तुल्याः ॥३३॥

अर्थ-सभीजन सत्पुरुष नहीं होते वे तो गिनती के ही होते हैं अतः जिस प्रकार "सुवंशजाः" अच्छेवांसका बना हुआ पंखा अपने को घुमाकर प्राणियों को गर्मी के तापसे जन्य दुःखकी शान्ति करता हैं और उन्हें सुखी करता है, उसी प्रकार सुवंशज खान्दानी कुलीन संत पुरुष-भी लोक में इधर उधर विहार करके दुर्जन द्वारा दिये दूसरों के दुःखो की निवृत्ति करता है और उन्हें शान्ति पहुंचाता है ॥३३॥

पथा सत्पुरुषो होता नथी ते तो गणुत्रीना ज होय छे, तेथी ज प्रमाणे सुवंशजाः सारा वांसनेो जनेस पंपो पोते शेर करीने प्राणियोने गर्मिना तापथी उत्पन्न थता दुःपेथी शान्त पभाडे छे. अने तेभने सुभी करे छे. जेज प्रमाणे सारा वंशभां उत्पन्न थयेस कुलीन संत पुरुष पशु जगतभां ज्यां त्यां विहार करीने दुर्जन द्वारा आपवाभां आवेस पीजना दुःपे ने भटाडे छे, अने तेजाने शान्ति पहुंचायाडे छे. ॥३३॥

मनोऽस्य मन्येऽशानि वज्रयमेद्यं विपत्तिकाले न भङ्गमेति ।

अणुप्रमाणेऽपि पास्य दुःखे मृणाल इन्दोरपि पेशलस्यात् ॥३४॥

अर्थ-मैं ऐसा मानता हूँ कि सज्जनका अन्तःकरण कर्म ने वज्र का बनाया है इसीलिये वह आपत्ति काल में विचलित नहीं होते। पर जब दूसरों पर आई हुई आपत्ति को वह देखता है, तब वह मृणाल के तन्तु से भी अधिक कोमल बन जाया करता है ॥३४॥

हुं ज्येपुं भानुं छुं डे-सञ्जनतनुं अंतःकरणं कर्मे वज्रतनुं पनावेस छे, तेथी ते

आपत्तिना समयमां वियदित थतुं नथी. पणु ञ्यारे पीअञ्यो उपर दुःप आवेक्ष तेञ्यो
बुवे छे, त्यारे तेञ्यो कमलना तन्तुथी पणु वधारे डामण यनी अय छे. ॥३४॥

अहर्पतिनापि दिवस्पतिश्च बृहस्पतिनास्य समो महेशः ।

संतापिगुत्वाच्च सविक्रियत्वाददृश्यभावादसमीक्षत्वात् ॥३५॥

अर्थः—संतापयुक्त किरणावाला होने से सूर्य विक्रियायुक्त होने से इन्द्र
अदृश्य होने से बृहस्पति और विषम दृष्टिवाला होने से महेश सन्त पुरुष
की बराबरी नहीं कर सकता है, क्यों कि सन्त पुरुष सदा शीतल वाणीवाले
विक्रिया हीन और दृश्य स्वभाववाले होते हैं एवं सबजीवों पर समदृष्टि-
वाले होते हैं ॥३५॥

संताप जनक किरणोप्राणा होनाथी सूर्य, विक्रिया युक्त होनाथी इंद्र, अदृश्य होनाथी
बृहस्पति अने विषम दृष्टिवाणा होनाथी महेश संतपुरुषनी सरभामणी करी शकता
नथी. केम डे संतपुरुष सदा शीतल वाणीवाणा विक्रियारहित अने सधणा एवो प्रत्ये सम
दृष्टिना स्वभाववाणा छे. ॥३५॥

नितान्तरागालु दयालु शान्तं कृतान्तकान्तं विमलं विशालम् ।

विकारभावोज्झितमस्ति लोके चेतश्चमत्कारिसतांहि चित्तम् ॥३६॥

अर्थ—संत पुरुष का चित्त अत्यन्त दयासे द्रवित बना रहता है. वह सब जीवों
से प्रेम करता है. अगाध समुद्र के जैसा शान्त होता है. आगम ज्ञान से सुवा-
सित आमोदयुक्त होता है तथा निर्मल एवं विकारभाव से विहीन होता है
इसलिये लोक में वह उनका चित्त एक अनौखी वस्तु रूप माना गया है ॥३६॥

संतपुरुषनुं चित्त द्याथी अत्यंत द्रवित अनेलुं रहे छे. ते सधणा एवो प्रत्ये
प्रेम करे छे अगाध समुद्रना जेपुं शांत होय छे आगमना ज्ञानथी सुवासित होय छे.
तथा निर्माण अने विकार भाव विनानुं होय छे. तेथी लोकमां तेमनुं चित्त अक
अनोथी वस्तु रूप मानवामां आवे छे. ॥३६॥

किमस्ति बहुना कथनेन साध्यं पदार्थसार्थाः स्वनिसर्गसंस्थाः ।

प्रणिन्द्य ऽसंस्तवनेन किं कैः प्रमुच्यते क्वापि निजः स्वभावः ॥३७॥

अर्थ—अब सज्जन के सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं
है. क्यों कि प्रत्येक पदार्थ अपने २ स्वभाव में स्थित है. दुर्जन की निन्दा करने
से वह अपने स्वभाव को छोड़ देगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये और न
ऐसी आशा करनी चाहिये कि सज्जन अपनी प्रशंसा नहीं होने से अपने स्व-

भाव को छोड़ देगा क्योंकि जिस क जो स्वभाव है वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है ॥३७॥

सञ्जनोना संबन्धमां हवे विशेष कथननी आवश्यकता नथी, डेम डे-दरेक पदार्थ पोतपोताना स्वभावमां स्थित रहे छे, दुर्जननी निंदा करवाथी ते पोतानो स्वभाव छोडी दूशे तेवी आशा राखनी नही डे सञ्जन पोतानी प्रशंसा न थवाथी पोतानो स्वभाव अद्वी नापे. डेम डे-जेतो जे स्वभाव छे ते पोतानो स्वभाव छोडतो नथी. ॥३७॥

खलस्य निन्दा नन सज्जनस्य कृना प्रशंसेति मशत्र काचित् ।

परं यथैवास्त्यनयोः स्वभावः प्रदर्शितोऽशेन गुणः किमाभ्याम् ॥३८॥

अर्थ-खल और सज्जन के इस प्रकारके स्वभाव प्रदर्शन से मैंने खलकी निन्दा और सज्जन की किसी प्रकार की यहां प्रशंसा नहीं कि है. किन्तु जैसा इनका स्वभाव है, वैसा वह मैंने संक्षेप में प्रदर्शित किया है दूसरों की निन्दा और प्रशंसा से हमें कोई लाभ नहीं है ॥३८॥

दुर्जन अपने सञ्जनोना आ प्रकारना स्वभाव अतावीने में अलनी निंदा अपने सञ्जननी डोई पशु प्रकारनी प्रशंसा अही करी नथी. पशु तेअनो जेने स्वभाव छे ते में अही संक्षेपथी प्रदर्शित करेव छे. अीअनी निंदा अपने प्रशंसाथी भने डोई प्रकारनी लाभ छानि नथी. ॥३८॥

सतः स्वभावस्तु निसर्गजोऽयं विमुच्य यद् दुर्गुणमन्यदीयम् ।

गुणान् प्रशस्यान् हितकारिणोऽल्पानप्याददानस्य किमत्र वाच्यम् ॥३९॥

अर्थ-सज्जन का यह जन्म जात स्वभाव होता है कि वह दूसरों में रहे हुए दुर्गुणों को छोड़कर प्रशंसनीय एवं हितकारी उनके थोड़े से भी गुणों को ग्रहण कर लेता है। ऐसे सज्जन के विषय में जितना भी कहा जावे थोड़ा है ॥३९॥

सञ्जनोना अे जन्मसिद्ध स्वभाव होय छे डे-तेअो अीअनामां रहेवा दुर्गुणोने छोडीने प्रशंसनीय अने छितकर तेमना थोडा अेवा पशु गुणोने ग्रहण करी ले छे. अेवा सञ्जनोना संबन्धमां अटलुं कहेवामां आवे तेटलुं थोडुं छे. ॥३९॥

दोषान् सप्रादाय गुणाँस्त्यजन्तस्ते सन्त्यसन्तोऽपि च सन्त एव ।

दोषानपास्याददतो गुणाँस्ताँस्तत्सज्जनाद् दुर्जन एव साधुः ॥४०॥

अर्थ-यद्यपि गुणों को छोड़कर दोषोंको ग्रहण करनेवाला दुर्जन माना गया है, परन्तु दोषों को छोड़कर केवल गुणों को ग्रहण करनेवाले उस सज्जन की अपेक्षा वह दुर्जन ही अच्छा है जो काव्यगत दुर्गुणों को चुन चुन कर ग्रहण करता है इससे काव्य में निर्दोषता आजाती है ॥४०॥

जैसे शुष्मिने छोड़ीने द्वाषोने अक्षु करनाराने दुर्जन मानवामां आवेसुं छे, परंतु द्वाषोने छोड़ीने डेवण शुष्मिने अक्षु करनाराने सञ्जनना करतां जे दुर्जनसुं सारा छे. ते जे काव्यमां रहेला दुर्गुष्मिने वीष्मिने पलावे छे आनाथी काव्यमां निर्दोषपणुं आवे छे. ॥४०॥

चेतश्चमत्कारि तदेव काव्यं दोषोज्झि सं स्यात्सगुणं धनुर्वा ।

दोषोज्झितं स्यादपि निर्गुणं यत्तन्नो तथा किंशुकमण्डलीव ॥४१॥

अर्थ-चित्त में चमत्कार उत्पन्नकर देने वाला वही काव्य होता है जो धनुष की तरफ दोषहीन होता हुआ गुण सहित होता है जो काव्य दोष विहीन होने पर भी यदि निर्गुण है तो वह किंशुकमण्डली की तरह चित्त में चमत्कार का उत्पादक नहीं होता ॥४१॥

चित्तमां यमत्कार उत्पन्न करे जे काव्य उहेवाय छे. जे धनुषनी माइक दोष विनानु होवा छतां शुष्म युक्त होय छे. जे काव्य दोष रहित होवा छतां पणु जे निर्गुष्म होय ते ते किंशुक मण्डलीनी माइक चित्तमां यमत्कारनु उत्पादक थनुं नथी. ॥४१॥

संमृग्य सूक्ष्मेक्षिकया सदोषान् गृह्णाति दुष्टश्च दुराशयेन ।

काव्यस्य निर्दोषनिबन्धनत्वात्तस्योपकार्येव विनिन्दकोऽपि ॥४२॥

अर्थ-यद्यपि दुष्ट दुराशयके वशवर्ती होकर ही सूक्ष्म दृष्टि से दूढ़ कर दोषों को पकड़ता है. अतः ऐसी स्थिति में वह काव्यमें निर्दोषता का साधक हो जाता है अतः वह विनिन्दक होता हुआ भी काव्यका बहुत बड़ा उपकारी ही होता है ॥४२॥

दुर्जनो दुराशयने वश वर्तने जे सूक्ष्मदृष्टिही द्वाषोने जेणी जेणीने पकडे छे. जे स्थितिमां जे काव्यमां निर्दोषपणुना साधक जनी जय छे. तेथी तेज्या निंदा करवा-वाणा होवा छतां पणु काव्यमां जेक उपकारक जे थय जय छे. ॥४२॥

चिकीर्षितस्यास्य विशुद्धेऽतो नमामि दोषैकदृशे खलाय ।

घृणावशाद्यस्य कथाममेयं भव्रेत्कनिष्ठापि मुदे वरिष्ठा ॥४३॥

अर्थ-इसलिये कर्तुमिष्ट इसचरित्र की विशुद्धि के निमित्त सर्व प्रथम मैं दोषोंपर ही एक दृष्टि रखनेवाले दुर्जन के लिये नमस्कार करता हूँ क्योंकि इसकी कृपा के वश से ही मेरी यह छोटी सी कथा निर्दोष होती हुई सब के लिये आनन्द देनेवाली होगी ॥४३॥

तेथी करवाने योग्य आ यरित्रनी विशुद्धि माटे सौथी पहेलां दुं दोषो य० न् अेक भाग दृष्टि राभनारा दुर्जनाने नभस्कार कइं छुं. केम के तेमनी कृपाथी न् भारी आ नानी अेवी काव्य रचना निर्दोष अनीने पथायने आनंददायक अने. ॥४३॥

वचांसि रम्याणि महाकवीनां पुरातनानां महताऽऽदरेण ।

क्षमोऽस्म्यहं काव्यमिदं सहायी कृत्याक्षमोवक्तुमपिहाविज्ञः ॥४४॥

अर्थ—प्राचीन महाकवियों के रम्य-मनभावने-वचनों का बड़े आदर-सहारा के साथ लेकर कहने के लिये असमर्थ हुआ मैं साधारण छद्मस्थ व्यक्ति इस काव्य के लिये कह सकने में समर्थ बन जाऊंगा ॥४४॥

प्राचीन महाकवियोंना मनने प्रेरक वचनोना धरुा न् आदरपूर्वकना सहाराथी कडे-वामां असमर्थ साधारण छद्मस्थ जन अेवो दुं आ काव्य कडेवामां समर्थ थई शडीश ॥४४॥

खला हसिष्यन्ति हसन्तु कामं यतश्चतेषां हृदवृत्तिरीडक् ।

सुखं समेष्यन्ति तथापि सन्तो निरीक्ष्य नव्यं चरितं सुहृत्वात् ॥४५॥

अर्थ—यद्यपि इस चरित्र को देखकर असहनशील होने के कारण दुर्जन हसेंगे तो अवश्य—पर इसकी हमें चिन्ता नहीं है—वे खूब हंसे क्यों कि उनकी चित्तवृत्ति ही ऐसी है परन्तु जो सत्पुरुष हैं वे तो सहृदय होने के कारण इस नवीन चरित्र का निरीक्षण कर के अवश्य ही सुखी होंगे ॥४५॥

आ यरित्र रचना जेठने असहनशील होवाथी दुर्जनो न्इर हसथे परंतु तेनी अने चिंता करता नथी. तेज्जो लवे भूष हसे केम के तेज्जोनी चित्तवृत्ति न् अेवी छे. परंतु जेज्जो सत्पुरुषो छे, तेज्जो सरण हृदयवाणा होवाथी आ नवीन यरित्रनुं निरीक्षण करीने न्इर प्रसन्न थथे. ॥४५॥

विज्ञाः खलैर्वा व्यवथितः स्वकार्यं प्रारम्भमाणं न जहाति नूनम् ।

किं मत्कुणानां दशनाभिघातात् कदर्थितः कोऽपि भनक्ति खट्वाम् ॥४६॥

अर्थ—सज्जनपुरुष चाहे कितने भी दुष्टों के द्वारा व्यथित किये जावे पर वे अपने प्रारंभ किये गये कार्य को नहीं छोड़ते हैं। क्या कोई व्यक्ति खटमलों के काटने से दुःखित होकर अपनी खाट को तोड़ देता है? नहीं ॥४६॥

सज्जन पुरुषो गमे तेटला दुष्टजोनीथी पीडा पाभे परंतु तेज्जो पोते प्रारंभ करेला कार्यने छोडता नथी शुं केई पणु व्यक्ति भाकडना करडवाथी पोताना आटवाने लांगी नाभे छे? नथी न् तोडता ॥४६॥

धन्या धरा सा कविभिः प्रजुष्टा कृतिप्रिया शिष्टजनैश्च येषाम् ।

मान्या सुभोग्या सुरसार्थसेव्या सुवर्णसद्वृत्तसुमौक्तिकाढ्या ॥४७॥

अर्थ—जिनकी कविता रूपी कामिनी शिष्टजनों द्वारा अच्छी तरह भोगने योग्य होती हुई मान्य होती है. सुरस एवं अर्थ रूप देव समूह जिसकी सेवा करते हैं, अच्छे २ वर्ण और निर्दोष वृत्तछन्द रूप मोतियों से जो अलंकृत रहती है. ऐसे कवियों से जो धरा सुशोभित होती है वह धरा धन्य है ॥४७॥

जन्मनी कवितारूपी स्त्री शिष्टजनों द्वारा सारी रीते भोगवाने योग्य यनीने माननीय बने छे. सुरस अने अर्थरूप देवसमूह जन्मनी सेना करे छे, सुवर्ण अने निर्दोष छन्दरूपी मोतीयोथी जे अलंकार वाणी रहे छे, अत्रा कवियोथी जे अलगा सुशोभित होय छे ते धराने धन्य छे ॥४७॥

सौभाग्यवद्भ्यस्ति सतः स्वभावोऽसतश्च वैश्वानस्वत्तयोर्नः ।

मध्ये स्थितः काञ्चनशुद्धि मिद्धा माप्नोत्वयं काञ्चनवत्प्रबन्धः ॥४८॥

अर्थ—सज्जन का स्वभाव सुहागा के समान होता है और दुर्जन का स्वभाव अग्नि के समान होता है इन दोनों के बीच में यह हमारा प्रबन्ध स्थित है अतः सुहागा और अग्नि के बीच में रहकर जिस प्रकार सुवर्ण अनिर्वचनीय शुद्धि को प्राप्त करलेता है. उसी प्रकार यह हमारा प्रबन्ध भी उस शुद्धि को प्राप्त करने वाला बने ॥४८॥

सज्जनोने स्वभाव सुहागा जेवो होय छे, अने दुर्जनो स्वभाव अग्नि जेवो होय छे. आ जेडनी मध्यमां अभाशे आ प्रबंध रहेल छे तेथी सुहागा अने अग्निनी वयमां रहेल सेनु जेम शुद्धिने प्राप्त करी ले छे अत्र रीते आ अभासी रचना पणु निर्दोष यनीने प्रकाशित रहेसे ॥४८॥

अथास्ति वृतः पृथिवः पृथिव्यां स्र कीर्तिकान्त्याऽर्पित दैत्यभारः ।

सुराद्रिमध्यो लवणाब्धिवप्रः द्वीपः स जम्बूपपदो विशालः ॥४९॥

अर्थ—इस पृथिवी पर जम्बूद्वीप नामका एक विशाल द्वीप है. जो गोल है. इसके ठीक बीच में सुमेरुपर्वत है यह चारों ओर लवण समुद्र से घिरा हुआ है. इसकी कीर्त्ति और कान्ति के आगे स्वर्ग की कीर्त्ति और कान्ति बिलकूल फीकी प्रतीत होती है ॥४९॥

आ पृथ्वी उपर जम्बूद्वीप नामको एक विशाल द्वीप छे जे गोलाकार छे. तेनी अशेषर मध्यमां सुमेरु पर्वत आवेल छे. ते चारै तरफ लवण समुद्रथी घेरयेल छे. तेनी कीर्त्ति अने कान्तिनी आगण स्वर्गनी कीर्त्ति अने कान्ति बिलकुल द्वीकी जणाय छे. ॥४९॥

द्वीपान्तरश्रेण्युपरिस्थितोऽसावुद्यम्य यो नाकि नगोत्तमाङ्गम् ।

विभाति पश्यन्निव दिग्गतांस्तान् द्वीपान् स्वलक्ष्म्यैव

विलज्जितांस्तान् ॥५०॥

अर्थः—यह द्वीप समस्त और अनेक द्वीपों के मध्य में रहा हुआ है. अतः यह अपने सुमेरु पर्वतरूपी मस्तक को उठाकर अन्य दिशाओं में वर्तमान उन २ द्वीपों को जो कि इसकी शोभा से लज्जित हो गये हैं. देख ही न रहा हो मानो ऐसा प्रतीत होता है. ॥५०॥

आ द्वीप अनेक द्वीपानी मध्यमां रहेल छे. तेथी ते पेताना सुमेरु पर्वत रूपी मस्तकने उंचुं करीने अन्य दिशाओमां आवेला ते ते द्वीपाने के के आनी शोभाथी लक्ष्म पायी मने जेईल रखा होय तेम आत्रि थाय छे. ॥५०॥

जिनाभिषेकाय सुगङ्गनाभिः सुरैश्च शच्येह सहागतस्य ।

शतकतोर्मैरुपदेन दत्तो द्वीपश्रिया दोष इवाश्रयो वा ॥५१॥

अर्थः—जिनेन्द्र का अभिषेक करने के लिये देवाङ्गनाओं देवों एवं शची के साथ आये हुए इन्द्र को मानों जम्बूद्वीप श्री ने मेरु के बहाने से स्वर्ग से उतरते समय हाथका सहारा ही दिया है । यह प्रथम कल्पना सुमेरुपर्वत के विषय में की गई है. जब कोई ऊची जगह से नीचे को उतरता है तो उसे सहारेकी आवश्यकता होती है. इसी भाव को लेकर यह कल्पना की गई है ॥५१॥

जिनेन्द्र देवने अभिषेक करवा माटे देवांगनाओ, देवो अने इंद्राणिनी साथे आवता इंद्रने स्वर्गथी आवती वपते जेणे जंजूद्वीपे मेरुना पहानाथी होयने सहारे आवथे न होय ! आ पडेली कल्पना सुमेरु पर्वतना संबन्धमां करवामां आवी छे. ज्यारे डाई उंचेथी नीचे उतरे छे, त्यारे तेने सहारानी जरूर होय छे. आ आवने लक्ष आ कल्पना करी छे. ॥५१॥

पतेन्निरालम्बतया नभश्चेच्छीरस्मदीयाऽपि विनङ्क्ष्यतीव ।

येनाद्रिदंभाद्विनिवेशितः खे तत्पातभीत्याश्रयदण्ड एव ॥५२॥

अर्थः—आकाश निरालम्ब है अतः यदि वह गिर पडता है तो हमारी शोभा नष्ट हो जावेगी अतः आकाश के गिरने के डर से ही मानों जम्बूद्वीप ने उस आकाश को धामने के लिये मानों सुमेरु के व्याज से झेकी (धम्बा) ही लगाई है. मकान के ऊपर के भाग के जब गिरने का अंदेश होता है तो लोग उसे धामने के निमित्त झेकी लगा दिया करते हैं—इसी आशय से यह दूसरी कल्पना सुमेरु पर्वत के सम्बन्ध में की गई है ॥५२॥

आकाश व्याख्यान वगर्नुं छे. तेथी जे पडी जशे तो भारी शोभा नाश पामशे तेम आकाशना पडवाना लयथी ज लशे ज'पूद्रीपे जे आकाशने शैकवा भाटे सुमेरुना पानाथी टंका (थांबलो) भूकथे न डोय तेम जशाय छे. मकानना उपरना लागने पडवानी शंका थाय त्यारे लोका तेने शैकवा भाटे टंका लगावे छे. जे डेतुथी आ भीज कल्पना सुमेरु पर्वतना विषयमां करवामां आवेक छे. ॥५२॥

अहोऽनुरक्तो भविता प्रतप्तो जातः पुरो मे सवितामयीतः

मानोन्नतेनाद्रिभिषेण तेने तेनेर्ष्येवावृत्तिरित्यजिह्वा ॥५३॥

अर्थः—सुमेरुपर्वत इतना ऊंचा क्यों है ? इस सम्बन्ध में यह तीसरी कल्पना जम्बूद्वीप विचारता है, की जो सूर्य मेरे समक्ष यहां से उत्पन्न हुआ है. अब वही मेरे ऊपर लाल होकर तपेगा सो ईर्ष्या से आनों अभिमान के वशवर्ती होकर जम्बूद्वीपने सुमेरु पर्वत के छल से क्या अपने ऊपर सीधी छत्री सी तान ली है ? सारांश सूर्य के तापसे बचने के लिये छत्ते का प्रयोग होता ही है ॥५३॥

सुमेरु पर्वत आटलो डयो डेम छे ? तेना संबंधमां आ त्रीज कल्पना छे. डे ज'पूद्रीप जेवुं त्रियारे छे डे— जे सूर्य भारी सामे अहीथी ज उत्पन्न थयेक छे तेज सूर्य लास थईने भारी डंपर तपशे तेवी ईर्ष्याथी अलिमानने वश अनिने ज'पूद्रीपे सुमेरु पर्वतना पडवानी शुं पोतानी उपर छत्री ताणी लीथी छे ? सारांश जे छे डे— सूर्यना तापथी अयत्रा भाटे छत्रीना प्रयोग थाय ज छे. ॥५३॥

धत्तेऽन्तरं मे वियतश्चमध्ये क्रियद्भवेद्वेति बुभुत्सया यः

सुचिह्नितं सौमनसादिभिस्तैर्मरुन्मिषेणैव च मानसूत्रम् ॥५४॥

अर्थ—सुद्ध में और आकाश में कितना अन्तर है इस बात को जानने कि इच्छा से ही मानो क्या सौमनस आदि वनों के चिह्नोंवाला मानसूत्र सुमेरुपर्वत के छल से जम्बूद्वीपने धारण किया है प्रमाणसूत्र से ही ती अन्तर दो वस्तुओं का जाना जाता है यह चौथी कल्पना है ॥५४॥

भारामां अने आकाशमां डेटयुं अंतर छे, जे वात जशुवानी ईर्ष्याथी ज लशे डे शुं सौमनस विगेरे वनोना चिह्न वाणुं भापसूत्र सुमेरु पर्वतना पानाथी ज'पूद्रीपे धारण करेक छे प्रमाण सूत्रथी ज जे वस्तुनुं अंतर जशुवामां आवे छे. ॥५४॥

स्वपादपद्मैरसकृच्चसाधो ! कृतं कृतार्थं गृहणस्वदीयम् ।

पुरातनैस्तैस्वद्वंशजैस्तैराद्येन्द्र ! निर्वृतिपुरीं प्रयातैः ॥५५॥

त्वदेयमप्यार्य ! सुमुक्षुणा नौ कुलक्रमेणानुगतं सुसख्यम् ।

पाल्यं समादाय तदीयमित्थं वृत्तं दिवं गच्छति मेऽदृतः ॥५६॥

अर्थः—जम्बूद्वीप ने तुमेरुपर्वतरूप दूत के द्वारा सौधर्म इन्द्र के पास क्या ऐसा समाचार भेजा है—हे साधो ! आद्येन्द्र ! तुम्हारे वंशजों ने जब वे मोक्षरूपी नगरी में जाने के लिये अग्रसर हुए तो पहिले अपने चरण कमलों से कई बार हमारा घर पवित्र किया है स्वर्गीय स्थिति समाप्ति होने पर उन्होंने यहाँ जन्म धारण किया है अतः हे आर्य ! मोक्षाभिलाषी आपको भी हम दोनों के कुलक्रम से चली आई इस मित्रता का पालन करना चाहिए—इस प्रकार के जम्बूद्वीप के संदेश को लेकर ही मानों मेरुपर्वत रूपी दूत क्या स्वर्ग की ओर बढ़ रहा है ? ॥५५—५६॥

जम्बूद्वीपे सुमेरु पर्वत इव दूत द्वारा सौधर्म इन्द्रनी पासं शुं जेवा समाचार भोऽस्त्या छे के हे साधु ! तमारा वंशज्जे के ज्यारे तेज्जा भोक्ष इपी नगरीमां जवा भाटे अग्रसर थया त्यारे पडेकां पोताना यरणु कमणोथी डेटलीय वार अभाइं घर पवित्र करेख छे. स्वर्गीय स्थिति समाप्त थाय त्यारे तेज्जाज्जे अहीं जन्म धारणु करेख छे, तेथी हे आर्य ! भोक्षाभिलाषि आपे पणु आपणा भेडना कुल क्रमथी यावती आवेख आ मित्रतातुं पालन करवुं जेथ्जे. आ प्रमाणेना जम्बूद्वीपना संदेशाने लघने ज मेरु पर्वत इपी दूत शुं स्वर्गनी तरङ् वधतो रहे छे ? ॥५५—५६॥

प्रवादि संकल्पितलोकरूपं सम्यङ् नवास्तीति विलोकनाय ।

सूक्ष्मेक्ष्मकातो युगलेन्दु सूर्य व्याजाहधातीव सदोपनेत्रे ॥५७॥

अर्थः—अन्य सिद्धान्तकारों ने जो लोक का स्वरूप माना है, वह ठीक है, या नहीं इस बातको सूक्ष्मदृष्टि से जांच करने के लिये ही मानों जम्बूद्वीप ने दो सूर्य और दो चन्द्र के छल से अपनी आंखों पर दो चश्मा लगाये हैं ॥५७॥

अन्य सिद्धान्तकारो जे जगतनुं स्वरूप मानेख छे. जे ठीक छे, के नहीं जे वातने सूक्ष्म दृष्टिथी जेवा भाटे ज जणु के जम्बूद्वीपे जे सूर्य अने जे चन्द्रना आनाथी पोतानी आप्णे उपर जे अरमा लगावेख छे. ॥५७॥

षडायताः सन्ति नगाश्च सप्त क्षेत्राणि नद्योऽत्र चतुर्दशाढ्याः ।

वनैर्मयाढयोऽपि सदास्थिरो यो लक्ष्म्यालयो योजन लक्षमाणनः ॥५८॥

अर्थः—इस जम्बूद्वीप में पूर्व से पश्चिमतक लम्बे ६ कुलाचल पर्वत हैं. भरत आदि सात क्षेत्र हैं एवं गंगा आदि चौदह बड़ी २ नदियां हैं जो सदा जल से भरी रहती हैं यह द्वीप “भयाढयोऽपि” भय से परिपूर्ण है फिर भी सदा स्थिर

है—यह तो विरुद्धवात है. जो भयाढ्य होता है वह सदा स्थिर नहीं होता है तो इसके परिहारार्थ इन पदोंका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि यह द्वीप “मया” अपनी अनुपमकान्ति से “आढ्य” परिपूर्ण है और अविनाशी है. तथा लक्ष्मी का यह भंडार है. और इनका एक लाख योजन का विस्तार है. ॥५८॥

आ जंपूद्विपमां पूर्वथी पश्चिम लांभा छ कुलायक्ष पर्वतो छे. भरत विगेरे सात क्षेत्रो छे. अने गंगा विगेरे यौद भोटी नदीयो छे. जे सदा जणथी बरेली छे. आ द्वीप ‘मयाढ्योऽपि’ अथथी आढ्य परिपूर्ण छे, तो पशु सदा स्थिर छे, आ तो परस्पर विरुद्ध वात छे, कारणु के जे अयाढ्य होय छे, ते सदा स्थिर होतुं नथी. तो तेना निवारणु भाटे आ पदोनो जेवो अर्थ करेनो जेधजे के आ द्वीप ‘मया’ पेतानी अनुपम कान्तिथी ‘आढ्य’ परिपूर्ण छे, अने अविनाशि छे. तथा लक्ष्मीनो आ भंडार छे. अने आनो जेक लाख योजननो विस्तार छे. ॥५८॥

नद्यम्बुतैलाञ्चित विस्तृतान्तः सुमेरुशृङ्गो रुदशोऽर्यमेन्दु ।

प्रभामरोऽसौ गगनाञ्जनश्रीः स्वर्घोतितुं दीप्यतिदीपरूपः ॥५९॥

अर्थः—चमकीले रूपवाला यह जम्बूद्वीप कि जिसमें नदियों का जलरूप तैल भरा हुआ है, सुमेरु पर्वत का शिखर ही जिसकी विस्तृत बत्ती है सूर्य और चन्द्रमा ही जिसकी प्रभा है, और आकाश ही जिसकी अंजन श्री है स्वर्ग को कि जहां चन्द्र और सूर्य नहीं है प्रकाशित करने के लिये दीपक के जैसा प्रतीत होता है ॥५९॥

अमकदार रूपवाणो आ जंपूद्वीप के जमां नदीयोनुं जल रूपी तेज अशयेकुं छे, सुमेरु पर्वतनुं शिखर ज जेनी विस्तार युक्त अस्ति छे, सूर्य अने चंद्रमा ज जेमनी प्रभा छे, अने आकाश ज जेमनी अंजन रूपी शोभा छे, ज्यां चंद्र अने सूर्य नथी जेवा स्वर्गने प्रकाश युक्त करवा भाटे दीवाना जेवो जलुप्य छे. ॥५९॥

युग्मम्

वदान्यताऽधस्कृतकल्पवृक्षैःजनैः सदाचारपवित्रिताङ्गैः ।

धन्यैः सुमान्यैः सुस्तुत्यरूपैः श्रिया समालिङ्गितचारुवेषैः ॥६०॥

निःसेविते स्वर्गनिभे पवित्रे तीर्थकरोत्पत्ति विशिष्टशिष्टैः

देशोऽस्त्यमुष्मिन् खलु भारताख्यो द्वीपे विवस्वानिव चान्तरिक्षे ॥६१॥

अर्थ—अपनी दानशीलता से जिन्होंने कल्पवृक्षों को भी अल्प करदिया है ऐसे मान्य धनि पुरुषों से कि जिनके शरीर का प्रत्येक अंग सदाचार से

पवित्र है। जो देवताओं के जैसे रूप से विशिष्ट हैं एवं जिनकी वेषभूषा विभव के अनुरूप है जो सेवित हैं तथा तीर्थकरों कि उत्पत्ति से जिसको विशिष्ट महिमारूप गरिमा बड़ी चड़ी है ऐसे स्वर्ग के जैसे इस जम्बूद्वीप में आकाश में सूर्य की तरह भरत नाम का एक क्षेत्र है ॥६०॥६१॥

पोतानी दानशील परायणताथी जन्मेषु कल्पवृक्षाने पशु नीचा पाडी दीधा छे, जेना माननीय धनवान् पुरुषोथी डे जन्मना शरीरना दरेक अंगे सदाचारथी पवित्र छे, जेना देवताजेना जेना रूपथी शोभित छे, अने जन्मनी वेषभूषा पोतानी संपत्तिने अनुत्प छे, तथा तीर्थंकराने उत्पत्तिथी जन्मनु विशेष प्रकारना महिमा रूप मोटापछु विस्तार पाभ्यु छे, जेना स्वर्गना जेना आ जम्बूद्वीपमां आकाशमां सूर्यनी भाइके भरत नामनु अंक क्षेत्र छे. ॥६०॥

तदक्षिणस्यां दिशि वर्तमानो देशोऽस्त्ययं प्राणिगणैः प्रपूज्यः ।

यतोहि कांक्षन्ति सुरा अपीमं नृजन्मनेस्वात्प्रहिताभिलाषात् ॥६२॥

अर्थ—यह भरत क्षेत्र सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में है प्राणि गणों की दृष्टि में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है क्यों कि देवता गण भी अपने हित की अभिलाषासे इसमें मनुष्य जन्म लेना चाहता है। तात्पर्य इसका यह है कि भोग भूमि के अन्त होने पर जब यहां चतुर्थ काल प्रारंभ होता है—तब यहां से मुक्ति का मार्ग खुल जाता है अतः देवता भी यह चाहते हैं कि कब हम भरतक्षेत्र में मनुष्य जन्म धारण करें और मुक्ति प्राप्त करें ॥६२॥

आ भरत क्षेत्र सुमेरु पर्वतनी दक्षिण दिशामां छे, जन्तानी दृष्टिमां आनु मोटुं भाहात्म्य छे, डेम डे देव समूह पशु पोताना छितनी कामनाथी आमां मनुष्य जन्म लेवा आहे छे, आ कथननु तात्पर्य अे छे डे—लोगभूमिना अंत थाय त्यारे ज्यारे अहीं योथी काण प्रारंभ थाय छे, त्यारे अहींथी मुक्तिना मार्ग खुल्लो थाय छे, जथी देवो पशु जेवुं धरछे छे डे अमने भरतक्षेत्रमां मनुष्य जन्म क्यारे प्राप्त थाय डे जथी मुक्ति प्राप्त करी शकीअे. ॥६२॥

क्षेत्रं समर्द्ध्या परिपूर्णमेतत्समस्ति तद्भारतनामधेयम् ।

मन्दाकिनी सिन्धु तरङ्गिण्यद्रिविभक्तं षट् खण्ड सुमण्डितं यत् ॥६३॥

अर्थ—यह भरत क्षेत्र सब प्रकार की ऋद्धि से परिपूर्ण है इसके गंगा और सिन्धु नदी से वैतादय पर्वत के विभक्त हो जाने से ६ खण्ड हो गये हैं उन ६ खंडो से यह क्षेत्र अलंकृत है। भरत क्षेत्र के ठीक बीचमें वैतादय नामका पूर्व से पश्चिम में लंबा एक पर्वत गंगा और सिन्धु ये दो नदियां भरत क्षेत्र में

हिमवन् पर्वत के पद्मद्रह से निकल कर वैताढ्य पर्वत से नीचे होकर इस क्षेत्र में बहती हैं इसलिये इसके ६ खण्ड हो गये हैं ॥६३॥

आ भरतक्षेत्र अथा प्रकारनी ऋद्धिथी परिपूर्णा छे, तेना गंगा अने सिन्धु नदीथी वैताढ्य पर्वत विभक्त थवाथी छ अंड थयेदा छे. अे छ अंडोथी आ क्षेत्र सुशोभित छे. भरतक्षेत्रनी अरोअर मध्यमां वैताढ्य नामने पूर्वथी पश्चिममां बांयो अेक पर्वत छे. गंगा अने सिन्धु अे अे नदीअो भरतक्षेत्रमां डिभवान् पर्वतना पद्मसरोवरथी नीकणीने वैताढ्य पर्वतथी नीचे थईने आ क्षेत्रमां थईने वहे छे. तेथी तेना छ अंडो थछ गया छे. ॥६३॥

सीमोपरिह्यस्य विराजमानः पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य ।

विशोभते पद्मजलाशयाङ्कः शैलाधिराजोहिमवान् सुशैलः ॥६४॥

अर्थ-इस भरत क्षेत्र की सीमा के ऊपर हिमान् पर्वत है. यह पर्वत पूर्व से पश्चिम तक लंबा है. अतः अपने आगे पीछे के किनारों से पूर्व समुद्र और पश्चिम के समुद्र को छू रहा है इस पर्वत के मध्य में पद्महृदनामका तालाब है ॥६४॥

आ भरतक्षेत्रनी सीमानी उपर डिभवान् पर्वत आवेद छे. आ पर्वत पूर्व पश्चिम बांयो छे. तेथी पोताना पूर्व पश्चिमना किनाराथी पूर्व अने पश्चिम समुद्रनो स्पर्श करीने रहेद छे. आ पर्वतनी मध्यमां पद्महृद नामनुं अेक सुंदर तलाव आवेदुं छे. ॥६४॥

अकृष्टपच्यैः कलमैश्च धान्यैरन्यैर्भृता यत्र लसन्ति वप्राः ।

क्वचित्क्वचित् पुद्गवनालिषीमायुताः सदा भान्ति कृषीवलानाम् ॥६५॥

अर्थ-इस भरत क्षेत्र में ऐसे किसानों के खेत हैं जिनमें बोये गये और बिना बोये गये धान्य निपजते हैं तथा इनके जो सीमा प्रदेश हैं वे कहीं कहीं गन्नों के वनों की पंङ्क्तियों से सदा शोभित होते रहते हैं ॥६५॥

आ भरतक्षेत्रमां भेडुतेना अेवा अेवा भेतरो छे डे ळमां वाववाथी अने विना वाव्ये पक्षु धान्यनी उत्पत्ति थाय छे. तथा अेनो ळ सीमा प्रदेश छे, ते कयांक कयांक शेरडीना पनोना समूहोथी सदा शोभा पाभ्या करे छे. ॥६५॥

वृथा परीताः परितः सुपाश्वा सप्रन्ततःगोधनराजिरम्याः ।

ग्रामा अनेकेऽत्र लसन्ति सन्तो यथाऽर्थिनां मोदितमानसान्ताः ॥६६॥

अर्थ-यहां पर अनेक ग्राम हैं वे कांटों की बांड से घिरे हुए हैं गोधनराजि से ये बड़े सुहावने लगते हैं, जिस प्रकार सज्जन सब के मनको प्रसन्न

રખતે હૈં उसी प्रकार ये ग्राम भी हर एक याचक के मनको संतुष्ट रखते हैं । ६६॥

અહીં ધણા નાના નાના ગામો છે, તે કાંસ વાળી વાડોથી ઘેરાયેલા છે. ગોધન સમૂહથી તે ધણા સોહામણા લાગે છે. જમ સજ્જનો અધાના મન પ્રસન્ન રાખવા ઇચ્છે છે, તેજ રીતે આ ગામો પણ દરેક યાચકોના મનને સંતોષ આપે છે. ॥૬૬॥

जनैः सदाचारविशिष्टशोभैः स्वभावतः सर्वमनोऽनुकूलैः ।

भद्र प्रकृत्या भरितैः श्रमेण कार्यगतैर्वीवधिकैर शून्या ॥६७॥

अर्थ:-इन ग्रामों के जन सदाचार से युक्त हैं अतः उनकी शोभा ही निराली हैं स्वभावतः ये आपस में सब के मनमाफिक काम करनेवाले होने से किसी को भां अपने प्रतिकूलवर्ती नहीं लगते हैं प्रकृति इनकी भद्र होती है-संक्लिष्ट नहीं बडे परिश्रमी होते हैं इसलिये इनका शरीर कृश रहा करता है और ये अपना बोझा अपने आप उठाते हैं. ॥६७॥

આ ગામોનો જનસમૂહ સદાચાર વાળો છે. તેથી તેની શોભા જ નિરાલી છે. સ્વભાવથી તેઓ પરસ્પર અધાના મનોનુકૂળ કામ કરનારા હોવાથી કોઈને પણ પોતાનાથી પ્રતિકૂળ લાગતા નથી. તેમનો સ્વભાવ ઉત્તમ છે. સંકુચિત નથી હોતો. ધણા મહેનતુ હોય છે. તેથી તેમના શરીર ખડતલ હોય છે. અને તેઓ પોતાનો ભાર પોંતે જ ઉઠાવે છે. ॥૬૭॥

विकस्वरेन्दीवरचारुनेत्रा अचञ्चला भारवहा कृशाङ्गवः ।

यत्राङ्गना दर्शकचित्तचौराः कान्ता मनोज्ञाः प्रतिसद्मनीह । ६८॥

अर्थ:-यहां पर घर घर की स्त्रियां चञ्चलता से विहीन है परिश्रमशील है । वायु से उन के शरीर स्थूल नहीं हैं-कृश हैं देखनेवाले के चित्त को ये सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं. अतः मनोज्ञ है और इसके नेत्र दया से परिपूर्ण विकसित कमल जैसे सुहावने हैं । ऐसी स्त्रियां हर एक घर में यहां देखने को मिलती हैं ॥६८॥

આ ગામોમાં દરેક ઘરની સ્ત્રિયો અંચલતા રહિત હોય છે, મહેનતુ છે જેથી વાત-વિકારથી તેમના શરીર સ્થૂલ હોતા નથી, પરંતુ કૃશ હોય છે. એનારાના ચિત્તને તે એકદમ પોતાના તરફ આકર્ષિત કરી લે છે. તેથી મનોજ્ઞ છે. તેઓના નેત્રો દયાથી પરિપૂર્ણ ખીલેલા કમળ જેવા સોહામણા લાગે છે. એવી સ્ત્રિઓ અહીં દરેક ઘરોમાં એવા મળે છે. ॥૬૮॥

तत्रास्ति भूमण्डल मण्डनं वै आर्याभिधं मण्डलमुत्तमाङ्ग ।

मह्गोष्पिवानंदितसेन्द्र मृद्धीद्ध पुंमण्डलमण्डितं यत् ॥६९॥

अर्थः—उस भरत क्षेत्र में एक आर्य खेतर नामका प्रदेश है. जो समस्त भूमण्डल का आभूषणरूप है. यहाँ के निवासी बहुत अधिक संपत्ति शाली हैं. अतः यह उस भरत क्षेत्र में समस्त अंगों में—उत्तमाङ्ग—मस्तक की तरह प्रधान माना गया है. इसे देखकर देवता भी प्रसन्न होते रहते हैं ॥६९॥

आ भारत क्षेत्रमां अेक आर्यक्षेत्र नामनो प्रदेश छे. जे सधणा भूम उणना आभूषण समान छे. अही रहेंनाराओ धरणी जे संपत्तिवाणा होय छे. तेथी तेओ अे भारत क्षेत्रना सधणा अंगोमां उत्तमांग मस्तकनी जेभे मुख्य मानवामां आवेल छे. तेने जेधने देवो पणु प्रसन्नता युक्त थाय छे. ॥६९॥

हृदैस्तडागैस्तटिनी तरङ्गैस्तत्पत्वलैः पल्लवितान्तपार्श्वम् ।

धराधरैर्वृक्षत्रयैः प्रवृद्धशाखैः समन्तादुपचीयमानम् ॥७०॥

अर्थः—इसके पार्श्व भागों के प्रान्त भाग हृद तडाग एवं नदि तटिनी कि तरङ्गों से अठखोलिया किया करता है. और वे पर्वतों एवं प्रवृद्धशाखावाले वृक्षों से चारों ओर से घिरे हुए रहते हैं. ॥७०॥

तेनी पार्श्वभागोनी नळकना भागो तथापो अने नदीयोना तरंगोथी अथडाया करे छे, अने ते, पर्वतो अने वंधेदी शाखाओवाणा वृक्षोथी आरे पाबु घेरायेला रहे छे. ॥७०॥

विभाति यत्रोत्पलपुल्लराजि प्रभातवाताहति कम्पमाना ।

रसैकलुब्धानलिजालजालान् निषेधयन्तीव निजाङ्गदाने ॥७१॥

अर्थः—यहाँ के सरोवरों में जब कमलों की पंक्ति विकसित होती है और प्रभात की मलयानील जब उसे धीरे २ कंपित करती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मानों रस के लोभी भ्रमर रूपी गुण्डों को अपना अङ्गदान करने का निषेध ही कर रही है । ॥७१॥

अहीना सरोवरोमां अयारे कमणोनी पंक्ति विकसित थाय छे, अने प्रभातनो मलयानील अयारे तेने धीरे धीरे कंपित करे छे, तयारे अेवुं अणुय छे क— रसना लोबी भ्रमर-रूपी गुंडाओने पोतानुं अंगदान करवानो निषेध जे करी रहेल छे. ॥७१॥

सरोवरे पृच्छति पद्ममाला यत्रालिमाला ध्वनिलाञ्छनेन ।

कुत्र व्यतितेति तवार्यरात्रिः पादांश्च संस्पृश्य रविं सकंपा ॥७२॥

अर्थः—जहाँ पर सरोवरों में विकसित पद्ममाला भ्रमरों की उद्भूतध्वनि के बहाने से सूर्य के पैरों को—किरणों को कंपती हुई मानों उससे यही पूछती है कि हे आर्य आपकी रात्रि कहां पर व्यतीत हुई है ? अर्थात् मेरे विना आपने रात्रि किस के साथ रह कर गवाई है ? ॥७२॥

ज्यां सरोवरमां त्रिकसेल कमण समूह लमराञ्चोना गुंजनना यलानार्थी सूर्यना यरणोने अर्थात् किरणोने स्पर्श करीने कंपता कंपता अणु तेने अे पूछे छे डे- डे आर्य आपे रात्री कथां पसार करी ? अर्थात् भारो त्याग करीने आपे रात्री डानी साथे रहीने शुभावेल छे ? ॥७२॥

पादाञ्चलस्पर्शमवाप्य हृष्टाऽप्यंभोजिनी यत्र मिलिन्दनाथम् ।

निशावसानेऽपि तदन्यमग्नं रिंसयाऽऽलिङ्गतिविग्विमोहम् ॥७३॥

अर्थ:-जहां पर पाद के अग्रभाग का स्पर्श पाकर खुशी खुशी हुई विकसित हुई. कमलिनी अपने पति देव भ्रमर का जो कि निशा के समय में किसी दूसरों के साथ कुमुदिनी के साथ क्रीडा करता रहा, अब उसके अवसान होने पर रमण करने की इच्छा से आलिङ्गन कर रही है. ऐसे मोह को धिक्कार है ॥७३॥

ज्यां पगना अग्रभागोने स्पर्श पाभीने प्रसन्न थयेल विकसीत कमलिनी पोताना पतिदेव लमराञ्चोना डे अे रात्रिना समये अन्यत्र कुमुदिनी साथे क्रीडा करवा रहेल अने हवे ते नष्ट थवाथी रमण करवानी छिछाथी आलिङ्गन करी रहेल छे, जेवा मोहने धिक्कार छे. ॥७३॥

यत्रानिशं नृत्यकलाविलासान् सरोजिनी दत्तपरागमूल्या ।

प्रभञ्जनाल्लोचन हारिणस्तान् मुदेकृतेऽभ्यस्यति वा हिमांशोः ॥७४॥

अर्थ:-जहां पर सरोजिनी निरन्तर परागरूपी मूल्य देकर प्रभञ्जन से वायु से नेत्रों को आनन्द देने वाले-या उन्हें चुराने वाले नृत्य कला के विलासों को मानों अपने पति देव सूर्य को प्रमुदित करने के लिये ही सीख रही है ॥७४॥

यह कल्पना प्रातः काल की वायु से कंपित कमलिनी ऊपर की गई है ।

ज्यां कमलिनी निरंतर पराग रूपी मूल्य आपीने पवन पासेथी तेञ्चोने आनंद आपवा वाणी नृत्यकणाना विलासोने अणु पोताना पतिदेवने-सूर्यने प्रसन्न करवा मटे शीभेछे. आ कल्पना प्रातःकालना पवनथी कंपायमान कमलिनी ऊपर करवाभां आवेल छे. ॥७४॥

निशासपत्न्याः सहवासोऽस्मि त्वदीयमेवार्य विभिन्नकार्ण्यम् ।

न मे पदाद्याहिततो मिलिन्दं निष्कासयामास गृहाद्बहिःसा ॥७५॥

अर्थ-हे आर्य ! तुम में जो यह अत्यन्त कालिमा लगी है वह मेरे सहवास के समय हुए पाद के आघात से नहीं किन्तु तुमने रात्रि रूपी मेरीसौत के साथ सहवास किया है उससे ही यह कालिमा लगी है. ऐसा कह कर ही मानों कमलिनीने मिलिन्दनाथ को अपने घर से बाहर निकाल दिया है कमल के बन्द

हो जाने पर भ्रमर भी उसके भीतर बन्द हो जाता है और प्रातःहोते ही कमल के खिल जाने पर वह उस से बाहर उड़ जाता है इस पर यह कल्पना की गई है ॥७५॥

हे आर्य तमने न आ अत्यंत काणाश लागी छे, ते मारा सडवासना समये थयेला पगना आधातथी नही परंतु तमे रात्री रूपी मारी शोकायनी साथे सडवास करैल तेनाथी न ते थयेल छे. आभ कहीने अखे कमलीनीजे रात्रिनाथने अटवे के लभराने पोताना धरथी पहार काढी भूक्यो. अर्थात् कमलना अंध थवाथी लभरे पणु तेनी अंह अंध थछ अथ छे. अने सवार थतां न कमलना पिलवार्थी ते तेमांथी पहार नीकणी अथ छे. आना पर आ कल्पना करैल छे. ॥७५॥

विकस्वरोत्पलसंहतीनां छलेन लक्ष्म्याः क्षितिपण्डलेन ।

प्रसार्यते भास्वरकान्तिजुष्टा किं स्वागतार्थैव विलोचनश्रीः ॥७६॥

अर्थ-जहां का भूमि मंडल विकसित कमल समूहों के छल से लक्ष्मी के स्वागतार्थ मानों भास्वर कान्ति वाले अपने नयनों की शोभा को बिछा रहा है ॥७६॥

अर्थात् भूमिमंडल विकसेला कमल समूहाना पहानाथी लक्ष्मीना स्वागत भाटे भास्वान् कान्तिवाणा पोताना नेत्रान्ती शोभाने न पाथरी रखा छे. ॥७६॥

मनोरथान् वसुंधरायां वसुंधरायां मयिकोऽत्र निस्त्रः ।

विलोकितुं वृत्तमितीव मह्या दधेऽक्षिपंक्ति कमलच्छलेन ॥७७॥

अर्थ-मेरा नाम वसुंधरा है. मैं हर एक व्यक्ति के मनोरथों को पूर्ण करने के लिये समर्थ हूं तो इस प्रकार का शक्ति संपन्न मेरे रहते संते कोई निर्धन तो नहीं है इसी वृत्त समाचार को जानने के लिये ही मानों पृथ्वी ने कमल के बहाने से नेत्रपंक्ति धारण की है ॥७७॥

मार् नाम वसुंधरा छे, हूं दरेक व्यक्तिना मनोरथाने पूरुं करवा भाटे समर्थ छुं आवा प्रकारनी शक्तिवाणी हुं होनाथी होई निर्धन नथी. आ समाचार अणुवा भाटे पृथ्वीजे कमलना पहानाथी नेत्र पंक्ति धारण करी छे. ॥७७॥

पद्मानि नैतानि विजृम्भतानि प्रसारितान्येव भुवा ।

नीकृत्य चक्षुषि विलज्जितानि दृष्टुंश्रिया कुत्रदिगन्त समुत्तराणि ॥७८॥

अर्थ-ये विकसित कमल नहीं हैं किन्तु पृथिवी ने अपने नेत्र ही ऊंचे करके पसार रखे हैं और ये इस बातको देखने के लिये पसारें हैं कि हमारी शोभा से या अभ्युदय से विलज्जित हुए दिगन्तर कहां है ॥७८॥

આ વિકસેલા કમળો નથી. પરંતુ પૃથ્વીએ પોતાના નેત્રો જ ઉંચા કરીને ફેલાવી રાખ્યા છે અને તે એ આણુવા માટે ફેલાવ્યા છે કે અમારી શોભાથી કે ઉન્નતિથી લબ્ધત થયેલા દિગન્તરો કયાં છે? ॥૭૮॥

કૃષ્ણં તદાસ્યં ચ વિધાય યત્ર નાથાવસાનેઽપિ પ્રમોદચિત્તમ્ ।

સ્વ પુષ્પસદ્માચ્ચ બહિષ્કરોતિ કુમુદ્વતી ચ્ચ્ચલચ્ચ્ચરીકમ્ ॥૭૯॥

અર્થ:-જ્યાં કુમુદ્વતી અપને કુમુદરૂપી મકાન સે ચ્ચલ ભ્રમર કો ફસલિયે કાલા ઠુંહકર કે બાહર કરતી રહતી હૈ કિ વહ ચન્દ્રરૂપી કુમુદિનીનાથ કે અવસાન મેં-હૂબજાને પર મી પ્રમોદચિત્ત વાલા બના રહતા હૈ. ફસ કલ્પના કા તાત્પર્ય એસા હૈ. કિ ભ્રમર ચન્દ્રોદય હોને પર કુમુદોં કે પાસ પહુંચ જાતા હૈ. ઓર ચન્દ્ર અસ્ત હોને પર સૂર્યોદય કે સમય વિકસિત હુણ કમલોં કે નિકટ આજાતા હૈ. અતઃ દોનોં કે અસ્તોદય મેં ઉસકા ચિત્ત પ્રમુદિત બના રહતા હૈ. ફસી વાત કો ફસ કલ્પના મેં ઢાલકર યહાં વ્યક્ત કિયા ગયા હૈ. ॥૭૯॥

જ્યાં કુમુદિની પોતાના કુમુદરૂપી મકાનમાંથી અંચલ ભ્રમરને કાણુ મુખ કરીને એ માટે બહાર કાઢે છે કે- એ આંદરૂપી કુમુદિનીનાથના અવસાનમાં અર્થાત્ અસ્ત થવા છતાં આનંદિત રહે છે. આ કલ્પનાનું તાત્પર્ય એવું છે કે-ચંદ્રને ઉદય થતાં ભ્રમર કુમુદોની પાસે આઠ્યા અય છે. અને ચંદ્ર અસ્ત થાય અને સૂર્યને ઉદય થાય ત્યારે વિકસિત થયેલા કમળોની પાસે આવી અય છે. આ હકીકતને આ કલ્પનામાં સમાવીને અહીં પ્રગટ કરેલ છે. ॥૭૯॥

બ્રહ્મમૂર્તે મહતાઽઽદરેણ, પ્રબુદ્ધય ચોત્થાય વિચિન્તયન્તિ ।

કોઽહં સ્વરૂપંચ કિમસ્તિ મે વા નિશમ્ય નિત્યં મુનિરાજવાણીમ્ ॥૮૦॥

આલોચનાંકેઽપિ ચ કેઽપિ પચ્ચક્ષ્ણાણાદિકં ધાર્મિકકૃત્યમત્ર ।

કુર્વન્તિ સદ્ભાવભરાવનમ્પ્રા જનામુનીનાં પુરતો વિધાય ॥૮૧॥

યહાં પર ધાર્મિક જન સૂર્યોદય કે પહિલે જગતે ઓર વઢે હી ભક્તિ ભાવસે જઠકર એસા વિચાર કરતે હૈં કિ મૈં કોન હું મેરા વ્યા સ્વરૂપ હૈ. ફસ તરહ કે વિચાર આને કા કારણ ઉનકા નિત્ય મુનિરાજ કી વાણી કા સુનના હૈ. ફનમેં કિતનેક જન મુનિરાજ કે સમક્ષ આલોચના કરતે હૈં ંવં કિતનેકજન પ્રત્યા-શ્યાન આદિ કા ધાર્મિક કૃત્ય કરતે હૈં ॥૮૦-૮૧॥

અહીના ધાર્મિક જનો સૂર્યોદય થતાં પહેલાં અચૂત થાય છે. અને અનન્ય ભકિત ભાવથી હીને એવો વિચાર કરે છે કે-હું કાણુ છું. । મારું સ્વરૂપ શું છે? આવા પ્રકારને વિચાર ઉદ્ભવવાનું કારણ તેઓ નિત્ય મુનિરાજની વાણિનું શ્રવણ કરે છે તેજ છે.

आमां डेटलाकजने। मुनिराजेनी सन्मुष्प आलोयना करे छे, अने डेटलाक प्रत्याप्यान विगेरे धार्मिक कृत्य करे छे. ॥८०-८१॥

विहारकाले चरतां मुनीनां दिव्योपदेशान् परिपीय भव्यात्
उद्वेजिता पापमयी प्रवृत्तिर्गता क्व तस्मान्न वयं च विद्मः ॥८२॥

अर्थ-विहार काल में एक जगह से दूसरी जगह विचरण करनेवाले मुनि जनों के दिव्य उपदेशों को अच्छी तरह हृदयंगम कर के वहां के भव्य जीवों से डरी हुई पापमयी प्रवृत्ति उनसे कहां चली गई यह हम नहीं जानते हैं ॥८२॥

विहार कालमें एक स्थानथी थीने स्थाने विचरण करवाना मुनिजनोंना दिव्य उपदेशने सांभलीने तेने सारी रीते हृदयमां धारण करीने त्यांना अवेथी डरी गयेल पापमय प्रवृत्ति तेमनामांथी कयां बादी गठ ते अने अणुता नथी. ॥८२॥

दिने दिने संघविहारपूतास्तत्रत्य देशा वृषर्धपानाः ।

निवृत्तिमार्गं परिकाङ्क्षमाणान् जनान् मुनीन् कर्तुमिहाप्रयत्नात् ८३॥

अर्थ-प्रति दिन के मुनिजनों के विहार से वहां के प्रदेश धर्मयुक्त होते हैं इसलिये निवृत्ति मार्ग के अभिलाषी जनों को मुनि बनाने में उन्हें कोई प्रयत्न नहीं करना पडता है, ऐसे व्यक्ति वहां गुरु के समीप स्वयं मुनिदीक्षा धारण कर अपना जीवन सफलबनाते हैं ॥८३॥

मुनिजनोंना नित्यना विहारथी त्यांने प्रदेश धर्ममय थाय छे. तेथी निवृत्ति मार्ग ना अणुक जनोने मुनि अनाववा भाटे तेअने डोअ प्रकारने प्रयत्न करवे पडते नथी. परंतु तेथी व्यक्ति त्यां स्वयं गुरु समीपे अठने मुनि दीक्षा धारण करीने पोतानुं अवन सक्षण अनावे छे. ॥८३॥

न तद्गृहं यत्र न सन्ति वृद्धाः वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मोऽप्यसौ नास्ति न योऽनुकंपायुतो न सा या न विपक्षपक्षा ॥८४॥

अर्थ-वहां ऐसा कोई घर नहीं है कि जिस में वृद्धजन मौजूद नहीं, ऐसा कोई वृद्धजन नहीं जो धर्म की बात कहता हो. वह धर्म नहीं कि जो अनुकंपा से युक्त न हो. और वह अनुकंपा नहीं कि जो विपक्षपक्षवाली न हो पापी पर भी जो न की जाती हो ॥८४॥

त्यां अणुं डोअ धर नथी डे अयां वृद्धजन उयात न होय, अवेा डोअ वृद्ध पुरुष नथी डे अे धर्मनी बात कहेता न होय, अे धर्म नथी. डे अे दया रहित होय अने ते दया नथी. डे अे विशेधि प्रत्ये आचरति न होय अर्थात् पापी उपर पणु अे कराति न होय ॥८४॥

गृहे गृहे तत्र वसन्त्युदारं दाराश्च ते सन्ति च दारकाङ्काः ।

ते दारकाश्चापि च कण्ठहारं हाराश्च ते सन्ति च नेत्रहारः ॥८५॥

अर्थ-वहां घर घर में उदार प्रकृति वाली स्त्रियां हैं उनकी गोद छोटे २ बच्चों से युक्त हैं. बच्चे भी कण्ठ में हार पहिने हुए हैं और वे हार भी ऐसे हैं जो देखने वालों के नेत्रों को बड़े प्यारे लगते हैं ॥८५॥

त्यां धेरे धेरे उदार प्रकृतिवाणी स्त्रीयो छे. तेमना भोणा नाना नाना पाण्डाथी युक्त होय छे. पाण्डा पणु डोकमां डार पहरेवेला रहे छे, अने ते डार पणु अेवा होय छे-
७ जेनाराना नेत्रोने धणु ७ आनंददायक लागे छे. ॥८५॥

स्वात्मानन्दप्रकाशनिजहृदि समतावल्लरी वृद्धिशिष्टाः

तुष्टाः शिष्टाभिराध्याविधृतशमदमाद्यैर्गुणैः सद्विशिष्टाः ॥८६॥

हृष्टाश्चारित्रलब्ध्या विमलगुणगणान् निष्ठयाऽऽराधयन्ते

अस्मिन्नेवार्यखण्डेऽऽजनिषन् परमानन्दकन्दाजिनेन्द्राः ॥८७॥

अर्थ-आत्मिक आनन्द के प्रकाश से जिनके हृदय में समतारूपी बेल वृद्धि-गत हुई है. अपार संतोष कृतकृत्य होने से जिन्हें प्राप्त हो चुका है, शिष्टजनों की आराधना के जो पात्रबन चुके हैं धृत शम दम आदि महनीय गुणों ने जिन्हें सद्विशिष्ट-सर्वोत्तम बना दिया है. यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति से जो अव्याबाध सुख के भोक्ता बन गये हैं, और जिन्होंने ने सम्यग्ज्ञान दर्शनादि निर्मल गुणों की एकनिष्ठा से आराधना की है ऐसे वे परम आनन्द के कन्द भूत जिनेन्द्र देव इसी आर्य खण्ड में उत्पन्न हुए हैं ॥८६-८७॥

आत्मिक आनन्दना प्रकाशथी जेमना हृदयमां समता रूपी वेला वधेल छे, अने कृतकृत्य थवाथी जेने अपार संतोष प्राप्त थर्थ यूकथे छे, ७ शिष्टजनोनी आराधनाना पात्र अनी यूकथे छे, शम, दम विगेरे वभाणुवा लायक गुणोना धारणु करवाथी जेमने सर्वोत्तम अनावी दीधेला छे, यथाख्यात चारित्रनी प्राप्तिथी ७ अव्याबाध सुखसंपन्न अनेल छे, अर्थान्ते ७ अव्याबाध सुखना लोक्ता अनेला छे, अने जेज्येजे सम्यग् ज्ञान दर्शन विगेरे निर्माण गुणोनी अेक निष्ठाथी आराधना करेल छे, अेवा ते परम आनन्दना कन्दरूप जेनेन्द्र देव आङ्गु आर्यावर्त अंडमां उत्पन्न थया छे. ॥८६-८७॥

अस्मिन्नेवार्यखण्डे च पुराणपुरुषा मताः ।

धर्मोन्नति विधातारः सिद्धान्ते प्रतिपादिताः ॥८८॥

अर्थ-इसी आर्य खण्ड में पुराण पुरुष-उत्पन्नहुए हैं. ये शलाका पुरुष धर्म की उन्नति के करने वाले होते हैं. इनका वर्णन सिद्धान्त ग्रन्थों में किया गया है ॥८८॥

આજ આર્યાવર્ત ખંડમાં પુરાણ પુરુષ-શલાકા પુરુષ ઉત્પન્ન થયા છે. આ શલાકા પુરુષ ધર્મની ઉન્નતિ કરવાવાળા હોય છે, આનું વર્ણન સિદ્ધાંત ગ્રન્થોમાં કરવામાં આવેલ છે. ॥૮૮॥

सुषमा सुषमा चाद्या द्वितीया सुषमा तथा ।

सुषमा दुःषमा चान्या दुःषमा सुषमा पुनः ॥८९॥

पंचमी दुःषमाज्ञेया षष्ठी वा चाति दुःषमा ।

मेदा इमे ऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्यां विपर्यया ॥९०॥

अर्थ-इस समय इस आर्यखण्ड में अवसर्पिणी काल चल रहा है. जिस में आयुकाय आदिक्रमशःहास हो जाता है. वह अवसर्पिणी काल कहलाता है. इसमें ६ भेद होते हैं. जो इस-प्रकार हैं-(१) सुषमा सुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमा दुःषमा, (४) दुःषमा सुषमा, (५) दुःषमा, (६) अतिदुःषमा । उत्सर्पिणी काल में इनका पूर्वोक्त क्रम से विपरीत क्रम होता है ॥८९-९०॥

હાલમાં આ આર્યાવર્ત ખંડમાં અવસર્પિણી કાળ ચાલે છે. જેમાં આયુકાય વિગેરે છોનો ક્રમશઃ હાસ-નાશ થાય તે અવસર્પિણી કાળ કહેવાય છે. તેમાં ૬ ભેદ થાય છે જે આ પ્રમાણે છે.- (૧) સુષમા સુષમા (૨) સુષમા (૩) સુષમા દુઃષમા (૪) દુઃષમા સુષમા (૫) દુઃષમા અને (૬) અતિદુઃષમા. ઉત્સર્પિણી કાળમાં આ પૂર્વોક્ત ક્રમથી ઉલ્ટુ થાય છે. ॥૮૯-૯૦॥

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ द्वौ च प्रकीर्तितौ ।

उत्सर्वादवसर्पाच्च बलायुष्क वर्ष्मणाम् ॥९१॥

अर्थ-काल दो प्रकार का कहा गया है. एक उत्सर्पिणीकाल और (२) अवसर्पिणी काल बल आयु आदिका प्रमाण जिस काल में क्रमशः बढ़ता जाता है वह उत्सर्पिणी काल है. और जिसमें इनका प्रमाण क्रमशः घटता जाता है वह अवसर्पिणी काल है ॥९१॥

કાળ બે પ્રકારના કહેવામાં આવેલ છે, તેમાં (૧) એક ઉત્સર્પિણી કાળ અને (૨) બીજો અવસર્પિણી કાળ. બળ આયુષ્ય વિગેરેનું પ્રમાણ જે કાળમાં ક્રમે ક્રમે વધતું

अथ छे. ते उत्सर्पिणी काण छे, अने जमां अण, आयुष्यतुं प्रमाणे कभशः षट्तुं
अथ ते अक्सर्पिणी काण कडेवाय छे. ॥६१॥

काले तृतीये क्रमशो व्यतीते पत्योपमस्याष्टमभागमात्रे ।

शेषे च तस्मिन् प्रभवन्त्यथैते चतुर्थकालं च नवान्यकाले ॥९२॥

अर्थ-क्रमशः तृतीय काल समाप्त होते २ जब वह पत्य के ८ वे भागमात्र
बाकी रहता है-तब उसमें इन शलाकापुरुषों का होना प्रारम्भ हो जाता है
और ये चौथे काल तक होते रहते हैं अन्य काल में ये नहीं होते ॥९२॥

कभशः त्रीन्ने काण समाप्त थाय अने ज्यारे ते पत्यना आठमा भाग बेटला ज
मान पाडी रहे त्यारे तेमां शलाका पुरुषोना प्रादुर्भाव थवानो प्रारंभ थाय छे. अने ते
योथा काण पर्यन्त तेम थतुं रहे छे. अन्य काणमां तेम थतुं नथी. ॥६२॥

सूर्युपाध्याय साधूनां संगत्या स्वधिया च तत् ।

जिनोक्तं सूक्ष्मतत्त्वं स लोकाशाहो गवेषयन् ॥९३॥

साधूनां चैतवासानां वृत्तिमिच्छानुसारिणीम् ।

दृष्ट्वा सिद्धान्त विपरीतां मतं स्वच्छमचालयत् ॥९४॥

अर्थ-इस आचार्य, उपाध्याय और साधु इनकी संगति से एवं अपनी बुद्धि
से जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्मतत्त्वकी गवेषणा करते हुए लोकाशाह
ने चैतवासी साधुओं की प्रवृत्ति को जब स्वेच्छानुचारी देखा, तो उसे देखकर
समझा कि यह इनकी वृत्ति सिद्धान्त से विपरीत है ऐसा निश्चित करके फिर
उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र निर्दोष मत चलाया ॥९३-९४॥

आ मुनिगणेषुमां आचार्य, उपाध्याय अने साधुनी संगतिथी तथा स्वयुद्धिथी
जिनेन्द्र देवे प्रतिपादन करेस सूक्ष्मतत्त्वनी गवेषणा करतां करतां लोकाशाहे चैत्यमां रहेनारा
साधुओनी प्रवृत्तिने ज्यारे स्वेच्छाचारी देभी त्यारे ते जेठने तेमणे अणुयुं के आ साधुओनी
प्रवृत्ति स्व सिद्धांतथी अन्य प्रकारनी अर्थात् विरुद्ध छे. आ रीते निश्चय करीने तेमणे
सिद्धान्तानुसूण पोतानो स्वतंत्र निर्दोष मत प्रवर्तित कर्यो अर्थात् स्व सिद्धांतानुसूण मत
चलाव्यो. ॥६३-६४॥

सम्यग्दर्शन शुद्धबोधचरणं संघाटयन्नादरात् ।

स्वस्थानोचित सद्गुणैश्च विविधैराकर्षयत् मानवान्

वैराग्योद्भवकारकैर्हितवहैर्नित्यं वचोभिः श्रितः ।

सोऽयं श्रीयुत घासीलालमुनिर्षीजीयाद्गुणैर्भूतले ॥१५॥

अर्थ—जो बहुत ही आदर के साथ सम्यग्ज्ञान दर्शन से शुद्ध ज्ञान और चारित्र्य की आराधना में लगे रहते हैं. अपने पद के अनुरूप अनेक सद्गुणों द्वारा जो अपनी ओर भव्यमानवों को आकृष्ट करते हैं तथा वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले एवं हितकारक ऐसे धर्मोपदेश देने में जो निरत रहते हैं ऐसे वे श्रीमान् घासीलाल मुनिराज अपने गुणों द्वारा इस भूमण्डल पर जयवंता बनें. ॥१५॥

જ્યો ધણા બ આદર પૂર્વક સમ્યક્ જ્ઞાન દર્શનથી જ્ઞાન અને ચારિત્રની આરાધનામાં શામેલા રહે છે, પોતાના પદને અનુરૂપ અનેક સદ્ગુણો દ્વારા જ્યો ભવ્યજનોને પોતાના તરફ આકર્ષિત કરે છે તથા વૈરાગ્યને ઉત્પન્ન કરનારા અને હિતકારક ધર્મોપદેશ આપવામાં બે તત્પર રહે છે, એવા એ શ્રીમાન્ ધાસીલાલ મુનિરાજ પોતાના ગુણોથી આ ભૂમંડળ પર જયવંતા બને. ॥૧૫॥

जैनाचार्य—जैनदिवाकर श्रीघासीलाल त्रिचि विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवाद सहिते
लोकाशाहचरिते प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयः सर्गः

अथार्यखण्डेऽत्र च भारतस्य देशा विशेषा विविधस्वरूपाः ।

प्रान्ताख्यया ते ह्यधुना प्रसिद्धा भाषादि भेदेन च सन्ति भिन्ना ॥१॥

अर्थ-भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में अनेक देश हैं इनका सबका चाल चलन आचार विचार-एक दूसरे से भिन्न है. पहिले ये जिस प्रकार मगध देश, बङ्ग-देश, लाट देश आदि नाम वाले थे अब ये राजस्थान गुजरात आदि प्रान्तों के नाम से इनमें भिन्नता है. ॥१॥

भरतक्षेत्रना आर्यावर्तं षड्भां अनेक देशोऽस्ते. तेषां दरेक प्रदेशनी रूढेषु कर्षणी आचार विचार ऐक्यं भिन्नथी अलग अलग होय छे. पदेशां आ प्रदेशाना नामो मगधदेश षड्देश, लाटदेश विगेरे नामथी आणभ्याता उता, ढालभां राजस्थान, गुजरात विगेरे प्रान्ताना नामे आणभ्याय छे. अने भाषादिना भेदथी तेनु बुदापण्यु ज्ञाय छे. ॥१॥

दिवौकसां स्थानमिवात्र राजस्थानेति नाम्ना प्रथिनः पृथिव्याम् ।

प्रान्तः स यत्राजनि वीरसिंहः प्रतापसिंहः प्रबलप्रतापी ॥२॥

अर्थ-इन्हीं प्रान्तों में एक राजस्थान नाम का प्रान्त है. यह अपने नाम से दुनियां में प्रसिद्ध है. इसी प्रान्त में प्रबल प्रताप विराजी राजा प्रताप सिंह हुए हैं जो वीरों में शेर जैसे थे ॥२॥

अे प्रान्तो पैकी ऐक्यं राजस्थान नामनो प्रान्त छे, ते पोटाना नामथी समथ दुनियाभां अत्यंत प्रसिद्ध छे. आज प्रान्तभां प्रबल प्रतापवान् अेवा महाराणा प्रतापसिंह थया उता के जे वीरिभां सिंह समान उता. ॥२॥

अज्जीगणद् योऽस्त्रिकुलं करालं मृगायमाणं रिपुकालरूपः ।

अकबरादाहन भूमिभागं विधायजन्य स्वशं निनाय ॥३॥

अर्थ-शत्रुओं के यमराज तुल्य महाराणा प्रतापसिंह ने अपने शत्रुकुल को चाहे वह कितना ही विकट क्यों नहो कभी भी मृगसे ऊंचा नहीं माना सदा मृग के ही जैसा माना अकबर बादशाह ने जिस मेवाड की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था प्रतापसिंह ने उसके साथ युद्ध करके उस भूमि भाग को उसके अधिकार से छीन कर अपने अधिकार में ले लिया था ॥३॥

शत्रुआं माटे यमराज अेवा महाराणा प्रतापसिंह पोटाना शत्रुगणने के ते याहे गचे तेटका विषम-दुःसह डेम न होय परंतु तेअेने मृगवाथी विशेष गण्यु नथी. अर्थात् सदा

शृंगला जेवा न मानता हता. अकबर पादशाहे न जेवाडनी भूमि हंपर पोतानी हुकुमत नभावी हती तेनी साथे प्रतापसिंहे युद्ध करीने जे भूमि लागने तेना अधिकारमांथी पडावीने त्यां पोताना अधिकार स्थापित कर्यो हतो. ॥३॥

अवन्ध्य संध्येन च येन राज्ञा स्वदारिकां पुत्र वथात्मकान्ताम् ।

चक्रे सहादाय विहाय राज्यं कान्ताखासो वृषरक्षणार्थम् ॥४॥

अर्थ-ये महाराणा प्रतापसिंह अपनी प्रतिज्ञा के पालन में बड़े पक्के थे, इन्होंने ने अकबर की शरण स्वीकार नहीं करनेकी प्रतिज्ञा को नहीं छोडा । अपनी पुत्री, पुत्र और रानी को साथ लेकर ये राजभवनको छोड अरावली पर्वत पर वन्यवृत्ति धारण कर अपने धर्म की रक्षा करने के लिये दृढ रहे ॥४॥

या महाराणा प्रतापसिंह पोतानी प्रतिज्ञामां धरुा न दद हता. तेमणे अकबर पादशाहनुं शरणु नहीं जेवानी प्रतिज्ञाने छोडी नहीं. पोताना पुत्र पुत्री अने राजीने साथे बर्धने तेज्या राजभडेवने छोडीने अरवल्लीना पहाड पर वन्यवृत्तिने धारणु करीने पोताना धर्मनी रक्षा करवा निश्चय पूर्वक त्यां रखा. ॥४॥

विधेर्विपाकाद्भृशवन्यवृत्तिस्तथापि तेजोभिरथात्मसंस्थैः ।

भस्मावृताङ्गारनिभश्चकासे स निर्भयो मानधनस्तदानीम् ॥५॥

अर्थ-यह भाग्य को हि विडम्बना थी जो महाराणा जैसे प्रबल वीर को भीलों जैसी जंगल की वृत्ति में रहना पडा, परन्तु फिर भी जो उन पर राजसी तेज था उससे वे ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों भस्म से ढका हुआ यह अंगार ही है. इन्हें किसी का उस समय भी भय नहीं था इनके पास धन नहीं था फिर भी ये अपने मान रूपो धन से रिक्त नहीं थे ॥५॥

जे लाग्यनी न विचित्रता हती हे जे महाराणा जेवा प्रथम वीरने लीला नवी नगली वत्ति धारणु करवी पडी, तेम छातां तेमना पर न राजतेन हतुं तेनाथी तेज्या जेवा नशाता हता हे शक्यथी ढंकायेव आ अंगारोन छे. तेमने ते समये पणु डोळनेन डर न हतो तेमनी पासे धनने अभाव हतो तो पणु तेज्या पोताना मान रूपी धनथी शक्ति न हता. ॥५॥

वीराङ्गनावीर प्रसूभिरादयः प्रान्तोऽयमर्च्यो घृतिशालिवीरैः ।

दन्तावलानां दशनाभिघातादजय्यशक्त्या परिपुष्टदेहैः ॥६॥

अर्थ-यह प्रान्त सदा से ही वीराङ्गनाओं से और वीरों को जन्म देने वाली वीर माताओं से युक्त रहा है, तथा ऐसे ऐसे वीरों से कि जिन की-

शक्ति हाथियों के दांतों के अघात से भी अजेय रही है तथा जिनकी देह सामर्थ्य से खूब पुष्ट रही सदा पूज्य रहा है ॥६॥

या प्रांत कायम वीरगताश्री अने वीर माताश्री युक्त रथो छे. तथा जेवा जेवा वीरश्री डे जेमनी शक्ति हाथिओना दांतोना धा थी पणु अजेय रही छे. तथा जेमना शरीर सामर्थ्यथी पुष्ट रथा छे. ॥६॥

कुमारकान्तैरिव कान्तिकान्तै सकातरैः काञ्चन काञ्चनामैः ।

वीरात्मजैः सिंह शिशु प्रकीर्णैरधिष्ठितोऽरावलिभालशालः ॥७॥

धन्यैश्च रायलिपतराजराजैः प्राज्ञैर्धियाऽधस्कृतजीवधीभिः ।

वदान्यताधिककृतकल्पवृक्षैर्विराजते दानिवरै सदायम् ॥८॥

अर्थ—अरावलि पर्वत की छोटी २ टेकरिया ही जिस का कोट है ऐसा यह प्रान्त कुमार के जैसे बहुत प्यारे अपनी कान्ति से चन्द्रकान्त मणि के जैसे एवं चमकीले सुवर्ण की जैसी आभावाले अकातर वीर पुत्रों से कि जिनका खिलौना सिंह शिशु हैं. सर्वदा युक्त रहा है ॥७॥

यहां ऐसे ऐसे धनाढ्य पुरुष हुए हैं कि जिन्होंने ने अपने द्रव्य से कुबेर को भी निरस्कृत कर दिया, ऐसे २ बुद्धिमान हुए हैं, कि जिन्होंने के समक्ष बृहस्पति को भी झुकना पडा, तथा ऐसे २ दानी हुए हैं—कि जिन्होंने ने अपनी दानशीलता के द्वारा कल्पवृक्षों को भी कुछ नहीं समझा ॥८॥

अरवक्षी पर्वतनी नानी नानी टेकरीओ जे जेना डिखे छे, जेवा या प्रांत कुमारनी जेवी धाणी प्यारी पोतानी कांतिथी अंद्रकांत मणुनीना जेवी तथा यमकदार सोनानी कांति जेवा वीर पुत्रोथी डे जेमना रमकडा सिंहेना अरथाओ छे. तेनाथी सर्वदा युक्त रहे छे. ॥७॥

अहीया जेवा जेवा धनवान् पुरोधे थयेला छे डे जेमणे पोताना धनथी कुभेरेने पणु पशरत कर्या छे. अने जेवा जेवा बुद्धिशाणीओ थया छे डे जेमनी सामे बृहस्पतिने पणु नमवुं पडयुं तथा जेवा जेवा दानवीरो थयेला छे, डे जेओओ पोताना दानी पणुथी कल्पवृक्षने पणु उडका पाडेस छे. ॥८॥

सा पद्मिनी पद्मदल प्रक्षिप्त स्वगात्र सुष्ठुत्वजसौ कुमार्या ।

अहार्य धैर्याऽऽय सजन्यदेहा जाताऽऽ नारीष्यपवादरूपा ॥९॥

अर्थ—वह पद्मिनी कि जिसने अपने शरीर की सुकुमारता पद्म दलों को दी और लोहे से जिसने कठोरता ली इस प्रान्त में हुई है. इसके धैर्य के आगे शत्रुओं के छक्के बूट जाते थे. यह नारियों में अपवाद रूप थी ॥९॥

ते पद्मिनी के ऋषे पोताना शरीरनुं दामण पखुं पद्मःशोने आभ्युं. अने दोढा पासेथी डडोरपखुं लीधुं. ते आन प्रान्तमां उत्पन्न थयेव छे. आनी धीरज आगण शत्रुना-पणु छका छुटी गता हता. आ पद्मिनी नारिआमां अपवाद रूप हती. ॥८॥

स वाजिराजस्तरलस्तुरंगः सुचेतकश्चेतकनामधेयः ।

अभूदमुष्मिन् धृतवन्धवृत्तेः राणप्रतापस्य विपत्तिबन्धुः ॥१०॥

अर्थ-वह अश्वों का राजा कि जिसका नाम चेतक था और जो समय पर महाराणा प्रताप का बहुत ख्याल रखता इसी प्रदेश में हुआ है यह महाराणा प्रताप का विपत्ति समय का बन्धू था जब महाराणा प्रताप घोर विपत्ति के जंगलों में फिर रहे थे. तब भी यह उनके साथ था. ॥१०॥

ते अश्वीनों राज के ऋतुं नाम चेतक इतुं अने जे वपतो वपत महाराणा प्रतापतुं ध्यान रापतो हतो ते आन प्रदेशमां थयेव छे. आ चेतक महाराणा प्रतापनो विपत्ति समयनो सहायक बन्धु रूप हतो अ्यारे महाराणा प्रताप घोर विपत्तिना समयमां जंगलोमां इरता हता त्यारे पणु ते तेमनी साथे इरतो हतो. ॥१०॥

धनान्यसूंश्चापि तृणाय मत्त्वा येनार्पितं स्वामिकृतेऽथसर्वम् ।

स दानवीरोऽपि च भीमभामाशाहोऽत्र जज्ञे क्षितिर्त्नभूतः ॥११॥

अर्थ-धन और प्राणों को तृण के जैसा समझकर जिसने महाराणा प्रताप के लिये अपना सब कुछ अर्पण कर दिया ऐसा वह कलिकाल का भीम दान वीर भामाशाह जो कि इस भूमि का रत्नरूप धाना गया है इसी प्रान्त में उत्पन्न हुआ ॥११॥

धन अने प्राणोने तरणुा सरथा समञ्जने ऋषे महाराणा प्रतापने भाटे पोतानुं सर्वस्व अर्पणु करी दीधुं हतुं, जेवा जे कसियुगमां महान् दानवीर भामाशाह के ऋने आ भूमिना रत्न जेवा मानवामां आवेव छे. तेजो पणु आन प्रान्तमां जन्मेव छे. ॥११॥

पन्नेति नामा प्रथिता सुधात्री स्व पुत्र घाताद्विहिता यया द्राक् ।

शिशोर्दशायामुदयस्य रक्षाजाताऽत्र लोकैकनमस्क्रियाहीं ॥१२॥

अर्थ-पद्मा नामकी प्रसिद्ध धाय कि जिसने अपने पुत्र को मरवाकर बालक उदयसिंह की रक्षा की इसी प्रान्त में उत्पन्न हुई है आज भी लोग उसके नाम पर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हैं ॥१२॥

पद्मा नामनी सुप्रसिद्ध धायमाता के ऋषे पोताना पुत्रने भरावीने आणक उदिसिंहतुं

रक्षायु कथुं उत्तुं ते पशु आञ्ज प्रान्तमां जन्मेल इती. आञ्ज पशु बोडो तेना नाम पर श्रद्धाना पुष्पो यडावे छे. ॥१२॥

निसर्गतो युद्धकलाप्रवीणैर्मानोन्नतै वैरिकुलाद्विब्रैः ।

विराजतेऽयं ह्यपैश्च राजस्थानप्रदेशः सुभटैरनेकै ॥१३॥

अर्थ—अब भी राजस्थान प्रदेश स्वभाव से ही युद्धकला में प्रवीण ऐसे अनेक सुभटों से जो कि वैरिरूप पर्वत को भेदन में बज्र के जैसे हैं और आत्म-गौरव से जिनका मस्तक उन्नत है सुशोभित है ॥१३॥

अत्यारे पशु राजस्थान प्रदेश स्वभावानेक रीते ज युद्धकलांमां निपुण्य अनेक सुभटाथी डे जेयो शत्रुप पर्वतोने उभाडी नाभवामां वजनी समान छे. अने आत्मिकगौरवथी जेभना मस्तको उत्कृष्ट रीते शोभी रखा छे. ॥१३॥

अस्य प्रदेशस्य समस्तवृत्तं विज्ञेन टाटारुयमहोदयेन ।

स्वोपज्ञ उक्तं बहुविस्तरेण तत् पुस्तके वैभवमीक्षणीयम् ॥१४॥

अर्थ—इस प्रदेश का पूर्ण गौरवमय इतिहास विद्वान टाटा साहब ने अपने द्वारा लिखी गई “राजस्थान का इतिहास” इस नाम की पुस्तक में बहुत विस्तार के साथ लिखा है अतः उस पुस्तक में से राजस्थान प्रदेश का अतीत काल का वैभव ज्ञात करलेना चाहिये ॥१४॥

आ प्रदेशनो गौरवशाणी इतिहास विद्वान टाटा साहेबे लभेल ‘राजस्थान का इतिहास’ आ नामना पुस्तकमां धणुं ज विस्तार पूर्वक वर्ण वेल छे. तेथी आ पुस्तकमांथी राजस्थान प्रदेशना व्यतीत काणनो वैभव जणी वेनो जेधये. ॥१४॥

विराजते तत्र विशालसालाचतुर्बृहद्गोपुर वैर्यगम्या ।

सिरोहिनाम्नी खलु राजधानी समस्तवर्णाश्रमराजधानी ॥१५॥

अर्थ—इसी राजस्थान प्रदेश में एक सिरोही नाम की राजधानी है इसमें समस्त वर्णाश्रम रूप राजा बडे आनन्द के साथ रहता है. इसका बहुत विशाल एक कोट है. इसमें चार दरवाजे हैं. ये बहुत बडे हैं वैरियों की गह शक्ति नहीं जो इस पुरी में वे प्रवेश कर सके ॥१५॥

आञ्ज राजस्थान प्रदेशमां जेक शिरोही नामनी राजधानी छे. तेमां सधण वरुणाश्रम पशयणु राज धणुं ज आनंद पूर्वक वसे छे. ते नगरीना धणुं ज विशाल सुंदर कोट छे तेमां चार दरवाज्यो छे, ते धणुं विशाल छे. दुश्मन तेने बेदीने आ नगरीमां प्रवेशे तेवी कोठनी ताकात नथी. ॥१५॥

स्वशोभयाऽधस्कृतनाकिलोका नभस्तलस्पर्शिसुरम्यहर्म्या ।

संभ्रान्तमन्तःकरणं जनानां स्वां पश्यतां या विदधाति नूनम् ॥१६॥

अर्थ—यह राजधानी इतनी अच्छी है कि इसकी शोभा के मारे स्वर्गलोक को भी नीचा देखना पड़ रहा है इसमें जो हर्म्य-राजप्रासाद हैं, वे इतने ऊंचे हैं कि उनकी ऊंचाईने आकाशतल को भी छू लिया है जो भी कोई इसे देखता है उसका अन्तःकरण भी इसे देखते र दंग रह जाता है. ॥१६॥

આ રાજધાની એવી સુંદર છે કે તેની શોભાને લઇને સ્વર્ગ લોકને પણ નીચું બેવું પડે છે. આ નગરીમાં જે રાજમહેલ છે. તે એટલા ઊંચા છે કે તેની ઊંચાઈએ આકાશનો સ્પર્શ કરી લીધો છે. જે કોઈ આને જુએ છે, તેનું અંતઃકરણ પણ આને બેતાં બેતાં આશ્ચર્ય ચકિત થઈ જાય છે. ॥૧૬॥

तुषार शुभ्रोज्ज्वलभित्तिमालाच्छलेन पातालतलादहीशः ।

विनिर्गतो रक्षति कंचुकादयः पुरीमिमां कुण्डलिताङ्गकान्तः ॥१७॥

अर्थ—इस पुरी के चारों तरफ कोट है. इसकी भित्ति तुषार के जैसी शुभ्र है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पाताल तल से कांचली सहित शेषनाग निकल करके उसकी कुण्डलाकार होकर रक्षा कर रहा है ॥१७॥

આ નગરીની ચારે બાજુ કોટ આવેલ છે. આની ભીંતો હીમના જેવી સફેદ છે. તેથી એવું જણાય છે કે—પાતાળ લોકમાંથી કાંચળી સાથે શેષનાગ નીકળીને ગોળાકાર રૂપે આ નગરીનું રક્ષણ કરી રહેલ છે. ॥૧૭॥

सौधाः सुधापङ्कविभूषिताङ्गाः सुधाप्रदेशा सकलाः कलाशाः ।

गवाक्षजालाञ्जित मध्यभागाः नभः प्रदेशा इव भान्ति यस्याम् ॥१८॥

अर्थ—इस राजधानी में जो राजमहल है वे सदा सफेद चूने की कली से ढूते रहते हैं, अतः ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानों ये गंगानदी के ही प्रदेश हैं अथवा चन्द्रमा की समस्त कलाओं के ही अंश है. उन राज महलों के ठीक मध्य भाग में जो अनेक खिडकियां है. उससे वे ऐसे भी प्रतीत होते हैं कि मानों ये आकाश के ही प्रदेश हैं ॥१८॥

આ રાજધાનીમાં જે રાજમહેલ છે, હમેશાં તે સફેદ ચુનાથી ઘોળાવેલ રહે છે. તેથી તે એવો જણાય છે કે—જણે આ ગંગાજનો જ પ્રદેશ છે. અથવા ચંદ્રની સઘળી કળાઓનો અંશ છે. એ રાજમહેલોની બરોબર મધ્ય ભાગમાં જે અनेक બારીયો છે, તેનાથી તે એવો જણાય છે કે—જણે આ આકાશનો જ પ્રદેશ છે. ॥૧૮॥

विभान्ति यस्यां नयनाभिरामा समुन्नतास्ते शरदभ्रशुभ्राः ।

ध्वजां शुकैरातपपत्र तुल्यैः पतंगतापापहते प्रयुक्तैः ॥१९॥

अर्थ-शरदकालीन मेघ के जैसे शुभ्र वे नयनाभिराम उन्नत राजमहल आतप पत्र के जैसी अपनी ध्वजाओं से ऐसे मालूम पड़ते हैं कि मानों इन्होंने सूर्य की गर्मी से बचने के लिये छाते ही तान रखे हैं ॥१९॥

शरद ऋतुना मेघना जेवा धवल अने नेत्रने आनंद दायक जियां राजमहल, छत्रना जेवी पोतानी धवली जेवा जशाय छे के-जशे आशे सूर्यनी गरमीथी पयना माटे छत्र ज ताशी शम्भा छे ॥१९॥

सौधामयङ्कोपललालितेलाः प्रोत्तुङ्गश्रृंगैः परितः परीताः ।

विधूद्रमे मुक्तपयः प्रवाहा हिमालयस्यैव विभागमालाः ॥२०॥

अर्थ-वे राजमहल चन्द्रकान्त मणियों से जिनकी भूमि जडित है ऐसे हैं चारों ओर उनके ऊपर बड़ी २ शिखरे हैं जब रात्रि में-चन्द्रमा का उदय होता है तब उनसे जल का प्रवाह निकलता है, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि मानों ये हिमालय के ही खण्ड हैं ॥२०॥

जे शम्भल अंद्रकांत मण्डीज्येथी जेनी भूमि जडेल होय तेवा छे, तेना उपर आरे तरङ्ग मोटा शिखरो छे, शत्रे अ्यारे अंद्रमानो उदय थाय छे, त्यारे तेमांथी पाण्डीनो प्रवाह नीकणे छे, तेनाथी जेवुं जशाय छे के-जशे आ हिमालयनो ज अेक भाग छे ॥२०॥

लताप्रतानैः प्रतत् प्रसूनैर्जलोद्गमैर्यन्त्रचयैर्विचित्रैः ।

पतन्त्रिपातोत्थचलत्तरङ्गैःकुल्या कुलैर्हंसस्थाङ्गयूथैः ॥२१॥

विशोभिताक्रीडचयैः मनाथाः पादारचिन्दाश्रितदारवृन्दाः ।

स्वर्गप्रदेशा इव ते मनोज्ञा लभन्ति सर्वतुसुखाः सचित्रा ॥२२॥

अर्थ-उन राजमहलों में छोटे २ बगीचे हैं जो क्रीडा के स्थान बने रहते हैं इनमें लताएं हैं जो पुष्पों से लदी रहती हैं विचित्र प्रकार के जलयंत्र हैं जिनमें पानी निकलता रहता है छोटी छोटी बनावटी नदियां हैं जिनमें पक्षियों वे उतरने पर चञ्चल तरङ्गें ऊठती रहती हैं हंस और चक्रवाचकवी वहां बैठे रहते हैं वे राजमहल कमल जैसे चरणोंवाली ललनाओं से भरे रहते हैं समस्त ऋतुओं की सामग्रीजन्य सुखका यहां सद्भाव है, और उनके प्रकार के चित्रों से युक्त हैं अतः ये मनोज्ञस्वर्ग के प्रदेश जैसे सुहावने लगते हैं ॥२१-२२॥

ये राजमહેલમાં नाना नाना अंगीयाઓ છે. જે કીડાના સ્થાન જેવા હોય છે. તેમાં વેલીથી છે, જે પુષ્પોથી ભરચક રહે છે, વિચિત્ર પ્રકારના જલયંત્ર છે જેમાંથી પાણી નીકળતું રહે છે. નાની નાની બનાવટી નદીઓ છે, જેમાં પક્ષીઓના ઉત્તરવાથી ચંચલ તરંગો ઉઠતા રહે છે. હંસ તથા ચક્રવાક તથા ચક્રવાદી ત્યાં બેઠા રહે છે. એ રાજમહેલ કમળના જેવા પગો વાળી સ્ત્રીઓથી ભરપૂર રહે છે. સઘળી ઋતુઓની સામગ્રી જેવા સુખનો અહીં સાક્ષાત્કાર થાય છે, અને તેવા પ્રકારના ચિત્રોથી એ યુક્ત છે. તેથી એ મનોહર સ્વર્ગ પ્રદેશ જેવા સોહામણો લાગે છે. ॥૨૧-૨૨॥

विचित्रचित्राङ्कितचारुकुड्याः रंगावलिकल्पितकल्पमालाः ।

क्रीडास्पदाः कुंकुमलेपलिप्ताः प्रियासखैः कामिकुलैरशून्या ॥२३॥

अर्थ-इन राजमहलों की दिवारों पर अनेक प्रकार के चित्र बने हुए हैं जगह २ अनेक प्रकार के रङ्गों से कल्पवृक्षों की रचना की गई हैं कहीं कहीं कुंकुम के लेप से ये पुते हुए हैं और पत्ति ही जिनकी सखा है ऐसे सदा-बारी पुरुषों से युक्त हैं ॥२३॥

આ રાજમહેલોની ભીંતો ઉપર અનેક પ્રકારના ચિત્રો ચિત્રેલા છે. સ્થળે સ્થળે અનેક પ્રકારના રંગોથી કલ્પવૃક્ષોની રચના કરેલી છે. ક્યાંક ક્યાંક કુંકુના લેપથી તે રંગેલ છે. તથા પત્તિ જ જેની મિત્ર છે, એવા સદાચારી પુરૂષોથી વ્યાપ્ત છે. ॥૨૩॥

सद्मानि नैतान्यमितोऽचलाङ्गा जयारिमालाः कृतसन्निवेशाः ।

दिदृक्षुलोद्गोज्ज्वलनेत्रभीनात् जिघृक्षयाऽतिष्ठन् निश्चलाङ्गाः ॥२४॥

अर्थ-ये राजमहल नहीं है किन्तु ऐसा ज्ञात होना है कि इन्हें देखने वाले लोगों के उज्ज्वल नेत्ररूपी भीनों को पकड़ने कि इच्छा से निश्चल अंगवाले ये षण्डा ही बैठे हैं ॥२४॥

આ રાજમહેલ નથી પરંતુ એવું જણાય છે કે-આને બેનારા લોકોના ઉજ્જ્વલ નેત્ર રૂપી માછલાને પકડવાને માટે નિશ્ચલ અંગવાળો આ અંગલો જ બેઠેલો છે. ॥૨૪॥

नतद्गृहं यत्र न सन्ति दारा दारा न ता या च न सन्त्युदारः ॥

सदारकाः सर्वगुणेषु वृद्धा गृहप्रणाली परिपालयन्त्यः ॥२५॥

अर्थ-वहां ऐसा कोई घर नहीं है कि जिसमें स्त्रियां न हों, और उन में भी ऐसी कोई स्त्री नहीं हैं जो उदार प्रकृति की न हो, और बालबच्चोंवाली न हो और एक स्त्री अपने २ घरकी मर्यादा की पालक है और स्त्रियोचित समस्त गुणों से पूर्ण-निपुण है ॥२५॥

त्यां अेषुं अेकेय धर नथी डे जेभां स्त्रीयो न होय, अने तेभां पणु अेवी डोछ श्री नथी डे जे उदार प्रकृतिवाणी अने पाण अथ्यावाणी न होय, दरेक स्त्री पोतपोताना धरनी भयांस्तुं पालन करवावाणी होय छे. अने स्त्रीने योग्य सधणा गुणोभां प्रवीणु होय छे. ॥२५॥

धैर्यक्षमाशीलदयाप्रमोदमाध्यस्थ्य मैत्र्यादिगुणा अमेयाः ।

क्रीडन्ति येषां हृदयेऽनुरक्ता विमर्दयन्तः स्वविपक्षभावम् ॥२६॥

अर्थ-अपने २ विपक्षों को परास्त करके, धैर्य, क्षमा, शील, दया, प्रमोद, माध्यस्थ्य और मैत्री आदि अमित गुण अनुरक्तहुएसे जिनके हृदयों में क्रीडा करते हैं ऐसी प्रत्येक घर में स्त्रियां हैं ॥२६॥

पोत पोताना विशेषियेने पाछा पाडीने धैर्य, क्षमा, शील, दया, प्रमोद, माध्यस्थ्य अने मैत्री विगेरे गुणोभां अनुरागी थरने जेभना हृदयोभां क्रीडा करे छे, अेवी स्त्रीयो दरेक धरभां होय छे. ॥२६॥

मितव्ययेनार्जितभूरिवित्तं दानप्रदाने बहुशो दधानाः ।

दाराश्च ते तन्वि कथं न पूज्या मुक्तावली चुम्बितकण्ठदेशाः ॥२७॥

अर्थ-परिमितव्यय से ये स्त्रियां अधिक से अधिक जो संग्रह करती हैं उसे चारों प्रकार के दान में व्यय करता रहती है इनके कंठ मुक्तावली हार से सदा सुशोभित रहते हैं-अतः हे तन्वि ! ये पूज्य कैसे नहीं मानी जा सकती है ? यहा "मुक्तावली" में श्लेष है ॥२७॥

थोडा अर्थ करीने अे स्त्रीयो यधारे अयात्री संग्रह करे छे, तेने, तेयो यारे प्रकारना दानभां अर्थती रहे छे. तेभना कंठ मोतीयोना हारथी सदा शोभता रहे छे. तेथी हे तन्वांगी ! अे पूज्य डेभ न बनाय ? अही मुक्तावली शब्दभां श्लेष छे. ॥२७॥

कचेषु काष्ण्यं च कुचेषु दाढ्यं कटिप्रदेशेषु च नास्तिवादः ।

कटाक्षपातावसरेऽक्षियुग्मे विरागता यत्र परं न वृत्ते ॥२८॥

अर्थ-इनके केशों में ही कृष्णता है-कालापन है कुचों में ही कठोरता है कटिप्रदेश में ही नास्तिवादता-पतलापन है और कटाक्ष पात के समय में ही इनकी आंखों में ललाई आती है, परन्तु इनके चाल चलन में कृष्णता-माया-चारिका भाव नहीं है, दाढ्य-कठोरता-अदया का भाव नहीं है नास्तिपने का सद्भाव नहीं है-आस्तिक्यता का ही सद्भाव है और विरागता अरुचिपने का सद्भाव नहीं है ॥२८॥

तेजोना वाणोमां काशिमां छे. स्तनोमां कठोरता छे. कटि प्रदेशमां ज क्षीणता-पातणा-पथुं छे. अने कटाक्षपातना समये ज तेमनी आंभोमां रताश आवे छे. परंतु तेजोनी रंहेणी करणीमां काशिमा-मायायारनो भाव होतो नथी दाढर्य-कठोरपथुं अद्यानो भाव होतो नथी. नास्तिकपथुनो भाव होतो नथी. आस्तिकपथुं ज तेजोमां रंहेकुं छे. तथा निरागपथुं अर्थान् अश्रयिपथुनो सदभाव होतो नथी. ॥२८॥

यत्राभिरामा रसिकावतंसा वदान्यतान्यककृतकल्पवृक्षाः

दयार्द्रचित्ताः पुरुषार्थवित्ताः प्रमोदमत्ताश्चतुराः सुवृत्ताः ॥२९॥

महाजनाः सर्वगुणाभिरामाः निदर्शनं स्वीयमलभ्यमानाः ।

वसन्ति येषां यशसाऽभिभूतो जातः समग्रः सुकृतोऽपि दासः ॥३०॥

अर्थ-यहां जो महाजन श्रावक रहते हैं वे आकार में बड़े सुन्दर मनोहर रसिकजनो में श्रेष्ठ दानशीतलासे कल्पवृक्षों को भी परास्त करने वाले, दयालु पुरुषार्थ प्रधानी आनन्दमग्न चतुर सुमार्गगामी और सर्व गुणों से संपन्न हैं, उनके जैसे अदर्श नर अन्यत्र नहीं मिलते हैं उनके यश से ऐसा प्रतीत होता है कि जितना भी पुण्य है-मानों वह परास्त होकर उनका दास ही बन गया है ॥२९-३०॥

आ नगरीमां ज महाजन रहे छे तेजो सुंदरकार वाणा छे. मनोहर रसिकजनोमां उत्तम दानीपथुमां कल्पवृक्षने पथु पराजित करनारा दयालु, उद्यमी, आनंदी, चतुर सुमार्ग गामी अने सर्व प्रकारना उत्तम गुणोवाणा तेना जना आदर्श पुरुषो अन्वय भणता नथी. तेमना यशशी जेवुं जल्लाय छे के केरुं पुण्य छे. ते सधु पराजित थरने तेजोतुं दास बनी गयेल जल्लाय छे. ॥२९-३०॥

पादौ यदीयौ पश्चिमव्य यत्र प्रलभ्यते रत्नपदं ह्यनर्घ्यम् ।

रजःकणैः कैर्न पदं समाप्तं पुण्यात्मसंसर्गवशेन मान्यम् ॥३१॥

अर्थ-उनके सौभाग्यशालित्व की और अधिक क्या प्रशंसा की जावे इस बात की तो पुष्टि इतने से ही हो जाती है कि उनके चरणों का स्पर्श करके रजःकण भी अनर्घ्य रत्न के स्थान को पा लेते हैं । सच बात है-पुण्यशालियों के संसर्ग से किनने मान्य पदवी प्राप्त नहीं की है ॥३१॥

तेमना सौभाग्य पथुनी विशेष शुं प्रशंसा करीजे जे वाततुं समर्थन तो जेनाथी ज थय जय छे के-तेमना यरुणोना स्पर्श करीने रजःकण पथु अहुमूद्य रत्नना स्थानने पामी जय छे साथी वात छे के पुण्यशालीयोना संसर्गथी दाले माननीय पथुं प्राप्त करेन नथी ? ॥३१॥

सुदर्शनज्ञानचरित्रलब्धौ लब्धावकाशाः प्रयतन्ति ते हि ।

त्रिवर्गसर्गद्धिविबुद्धिभाजः श्लथीकृता शेषविधिप्रबन्धाः ॥३२॥

अर्थ—ये महाजन श्रावक सम्यग्ज्ञानदर्शन और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के निमित्त जब भी अवकाश पाते हैं प्रयत्न करने में लग जाते हैं धर्म अर्थ और काम इन त्रिवर्ग रूप ऋद्धि की विशेष वृद्धि से युक्त हैं अतः इनके कर्मों का तीव्र उदय मन्द बना रहता है ॥३२॥

आ महाजन श्रावक सम्यग्ज्ञान, दर्शन, अने सम्यक् चारित्रनी प्राप्ति भाटे ज्यारे अवकाश भणे त्यारे ते भाटे प्रयत्नमां लागी जय छे, धर्म, अर्थ अने काम आ त्रिवर्ग रूप ऋद्धिनी विशेष वृद्धिथी युक्त छे. तेथी तेभना कर्मेना तीव्र उदय मन्द रीते रहे छे. ॥३२॥

दानप्रवृत्तावपियत्र दानप्रवृत्तिरुग्रा न जनेषु काचित् ।

रुणद्धि घर्मो विशिखान्तकान्तो धर्मक्रियां तां विशिखान्तकान्ताम् ॥३३॥

अर्थ—जहां पर मनुष्यों में दान देने की प्रवृत्ति है फिर भी उनमें उग्ररूप से दान देने की प्रवृत्ति नहीं है. (यह विरोध हुआ) तो इसके निमित्त ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मनुष्यों में दान खण्डन—करने की प्रवृत्ति नहीं है “दोऽवखण्डने” धातु से भी दान शब्द निष्पन्न होता है. ॥३३॥

ज्यां मनुष्योमां दान आपवानी प्रवृत्ति छे तो पणु तेओमां उग्रपणुथी दान देवानी प्रवृत्ति नथी. (आ विशेषासासी वाक्य छे) ज्यथी तेना अर्थ ज्येओ करेओ जेधज्ये छे मनुष्योमां दान खण्डन करवानी प्रवृत्ति नथी. ‘दोऽवखण्डने’ धातुथी पणु दान शब्दनी निष्पत्ति थाय छे. ॥३३॥

रत्नत्रयेणैव परात्मतुष्टिर्भवत्यनूना नतु रत्नवृन्दैः ।

उरः स्थलं तत्त्रितयेन येषां विराजितं शिक्षयतीव धन्यान् ॥३४॥

अर्थ—जहां पर धनिक पुरुषों को रत्नत्रयधारी धर्मात्मा यही शिक्षा देने के निमित्त अपने उरः स्थल को रत्नत्रय से सुशोभित किये रहते हैं कि भाई ! इन अचेतन रत्नवृन्दों से उत्कृष्ट आत्मतुष्टि नहीं होती है. यह तो केवल शारीरिक विभूषा के निमित्त ही माना गया है. आत्मतुष्टि के निमित्त नहीं यदि आत्मतुष्टि करना है तो सम्यग्ज्ञान दर्शनादि तीन रत्नों को धारण करो ॥३४॥

ज्यां आगणधनवान् पुरुषोने आपवा रत्नत्रय धारी धर्मात्मा ज्येओ शिक्षा आपवा भाटे पोताना उरःस्थलने रत्नत्रयथी शोभावता रहुने जणुवे छे छे छे आर्ष आ अचेतन

रत्नसमूहश्चै उक्तम एवैव आत्म तृप्ति थती नथी. ए तो डेवण शरीर शोभा इय न मानेव छे. आत्मतृप्ति माटे ते नथी होता ए आत्मतृप्ति करवी होय तो सम्यक्ज्ञान दर्शनादि त्रण रत्नोने धारण करै. ॥३४॥

हरेः किशोरा इव पण्यवीथ्यां किशोरका यत्र सदा रमन्ते ।

धूल्यासंधूलिसरिताङ्गतोऽपि विलोभनीयाकृतयो भवन्ति ॥३५॥

अर्थ—जहां पर गलियों में सिंह के बच्चों के जैसे बच्चे सदा खेला करते हैं. यद्यपि वे खेलते र धूलि से मलिन तन हो जाते हैं फिर भी वे बड़े सुहावने लगते हैं ॥३५॥

ज्यां रस्ताज्यामां सिंङना अर्यानी नम पाण्डो रमता रहे छे, ए डे तेज्या रमता रमता धूणथी मेलावेला शरीरवाणा थध नय छे, तो पणु तेज्या धणु सोढामणु लागे छे. ॥३५॥

रजोभिराच्छादित हीरकादीन् मणीनिवेमान् प्रविलोक्य बालान् ।

अगोचरां यत्र मुदंच वाचामान्नोति तुष्टः पथिकादि वर्गः ॥३६॥

अर्थ—रजसे आच्छादित हीरा आदि मणियों के जैसे इन बालकों को देखकर मुसाफिरों को जो आनन्द का अनुभव होता है वह वाणी के अगोचर है ॥३६॥

रजःकण्ठोष्ठी ढंकायेला हीरा विगेरे मणियो जेवा आ पाण्डोने जेधने वटेभारुज्याने न आनंदानुभव थाय छे, ते वाणिथी पर छे अर्थात् अवर्णनीय छे. ॥३६॥

क्रीडास्तान् सेन्द्रकुमार तुल्यान् विलोक्य पुत्रान् पठनाभियोग्यान् ।

प्रकर्ष हर्षाञ्चितकाययष्टि गुरोरधीनं कुरुते पिता द्राक् ॥३७॥

अर्थ—पांसुक्रीडा में रत इन देवकुमारों के जैसे बालकों को देखकर पिता जब उन्हें पढने के योग्य देखता है तो वह बड़े ही हर्ष से प्रफुल्लित शरीर होकर उन्हें गुरुकी छत्रच्छाया में बैठा देता है ॥३७॥

धूली रमतमां मशगुल देवकुमारो जेवा आ पाण्डोने तेमना माता पिता न्यारे तेज्याने अर्यास करवा योग्य जुवे छे, त्यारे तेज्या धणु न आनंदित थधने तेमने गुर्नी छत्र छायामां भेसाडी दे छे. ॥३७॥

यत्र स्मरो ह्येव निपातहेतुः प्राणान्तकः पितृपतिश्चणप्मा ।

भयप्रदश्चातक एव याञ्चा परोऽस्ति षण्ढं प्रनएवनान्यः ॥३८॥

अर्थ-जहां पर मनुष्यों के निपातका-पतनका-कारण केवल-स्मर-कामदेव ही है , प्राणों का अन्त करने वाला पापी यमराज ही है, और वही लोगों को भक्षका दाता है. याचना करने में तत्पर केवल चातक ही है तथा वहां यदि कोई नपुंसक है तो वह मन ही है. वहां के मनुष्य ऐसे नहीं है ॥३८॥

न्यां मनुष्येना पतनतुं कारणु देवण कामदेव न छे, प्राणाना अंत करनार यमराज न पापी छे, अने अे न लोकांते लय उपलवनार छे, याचना करवामां तत्पर देवण चातक न छे. अने त्यां अे कोठ नपुंसक होय तो ते मन न छे. अन्य कोठ तेवा होता नथी. ॥३८॥

द्वेषः परं मण्डलमण्डलेषु करेण कंठीखयोर्विरोधः ।

मिथो विवादः प्रतिवादिवादि प्रवादकाले खलु यत्र संस्थः ॥३९॥

अर्थ-जहां परस्पर में द्वेष केवल कुत्तों में ही है मनुष्यों में नहीं विरोध केवल हाथी और सिंह में ही है और प्राणियों में नहीं आपस में विवाद वादी और प्रतिवादी में ही पाया जाता है. अन्य किसी भी प्राणी में नहीं ॥३९॥

न्यां अेकपीन प्रत्ये द्वेष देवण कुतराओमां न छे. मनुष्येमां नथी विरोध देवण हाथी अने सिंहमां न छे. अन्य प्राणीमां नही. परस्परते विवाद देवण वादी प्रतिवादीमां न नक्षुय छे पीन कोठ पक्ष प्राणीमां नही ॥३९॥

अथा भवद्भूपगुणाभिसमश्चौहाणवंशो नृपतिर्नराणः ।

यत्कीर्ति-पुंजेन विलज्जितोऽभूद्रविः सदा शीतलताविहीनः ॥४०॥

अर्थ-उस सिरोही राजधानी के शासक चौहाण वंशीय राजा नराण थे. इनकी कीर्ति के पुंजेने सूर्य को भी लज्जित कर दिया था इसीलिये वह सदा के लिये शीतलता से विहीन हो गया है ॥४०॥

अे शिरोही राजधानीनुं शासन करनार चौहाण वंशना नराण नामना राज होता. तेमनी कीर्तिना पुंजे सूर्यने पक्ष शरमावी दीधेव तेथी न ते सदा शीतलपक्षुथी रहित थयेव छे. ॥४०॥

प्रचण्डदोर्दण्डमयेन यस्य पलायमानारि चमूर्न लेभे ।

दुर्ग, परंसाथ दिगन्तराले आश्वलेभे ननुदुर्गमार्गम् ॥४१॥

अर्थ-जिसके प्रबल बाहु बलके भय से खदेडी गई शत्रु सेना ने पुनः-अपने २ किलों पर तो कब्जा नहीं कर पाया केवल उसने दिगन्तराल में आश्वस्त होकर दुर्गम मार्ग का ही सहारा लिया ॥४१॥

जेना प्रकृष्ट आहु अणना लयथी छिन्न करेल शत्रुसेना इरीथी पोत पोताना किल्ला सर करी शकिल नथी तेथी तेणे दिगन्तरासनो न आश्रय लधने दुर्गम मार्गानुं न अव-
लम्बने क्युं ॥४१॥

अपास्त षड्वर्गरिपुत्रिवर्ग सदोपसेवी व्यसनेष्वशक्तः ।

वधू मिव धा सकलां स्व पृथ्वीं यः साधयामास कृपाणपाणिः ॥४२॥

अर्थ-जिसने काम क्रोध आदि रूप षट् रिपुओं को दूर कर दिया है. सदा धर्म अर्थ और काम को परस्पर विरोध रहित होकर जो सेवन करता है. एवं किसी भी व्यसन में जिसका चित्त लीन नहीं है ऐसे उस नरेशने अपने अधिकार की समस्त भूमिको वधू के समान केवल तलवार के बल पर ही अपने वश में किया ॥४२॥

जेमणु काम डेव वगेरे छ शत्रुओने दूर करी दीधेल छे, सदा धर्म, अर्थ अने कामनुं परपर विना विशेधे न सेवन करे छे. तेमज डेव पण व्यसनमां जेनुं चित्त ओटेल नथी जेवा ते राजे पोताना अधिकार वाणी सधणी भूमिने पत्नी सरणी करी तलवारना अणधी न पोताने आधीन करी छे. ॥४२॥

कर्पूरचन्द्रोज्ज्वल सदगुणौघै र्गण्यैर्यदीयै न ममेऽन्तराले ।

भुवोविसर्पद्विर्कारी मद्भक्षु वासोऽवसाने द्युसदां सभायाम् ॥४३॥

अर्थ-कर्पूर और चन्द्र के समान उज्ज्वल गणनीय जिस के गुण पृथ्वी में नहीं समाये अतः अन्त में उन्होंने शीघ्र ही देवताओं की सभा में अपना स्थान बनाया ॥४३॥

कर्पूर अने चंद्र सरणा उज्ज्वल अने गणनापात्र जेमना गुण पृथ्वीमां न समावाथी छेवटे तेमणु देवोनी सभामां पोतानुं स्थान अनाव्युं. ॥४३॥

यदीय गांभीर्यगुणं निरीक्ष्य निधिर्हृषां विस्मय मास्थितोऽस्ति ।

इतीव वृद्धिक्षय लाञ्छनेन व्यनक्ति सम्प्रत्यपि यः स्वकृञ्जलम् ॥४४॥

अर्थ-जिस नरेश के गांभीर्य गुणको देख कर समुद्र भी आश्चर्य चकित बन गया. इसीलिये वह वृद्धि और क्षय के बहाने से मानों अब भी अपने कष्ट को व्यक्त कर रहा है ॥४४॥

जे राजना गांभीर्य गुणु जेधने समुद्र पणु आश्चर्य युक्त अनी गयो तेथी ते भरती अने ओटना अडानाथी लमणु पणु पोतानुं कष्ट अतावे छे. ॥४४॥

महीपते स्तस्य विलोक्य गुर्वी वदान्यतां किन्नरगीतकीर्तेः ।

सुराङ्घ्रिपाददृष्टिपथं व्यतीताः कदा कदा दानमदान विघ्नः ॥४५॥

अर्थ-किन्नर जिसकी किर्ति का गान किया करते हैं ऐसे उस नरेश की बहुत बड़ी वदान्यता-दानशीलता को देखकर कल्पवृक्ष कब दृष्टि के ओझल हो गये और कब उनका मदखण्डित हो गया यह हमें पता नहीं है ॥४५॥

किन्नरों ने 'व्यतीतुं' गान किया करे छे, जेवा जे राजनी विशाण दान परायणता जेठने कल्पवृक्ष क्यारे नअरथी अहार थई गयुंअने क्यारे तेना मद्दुं मर्दान थयु ते कही शकतुं नथी. ॥४५॥

संदीपितेजनौ प्रबलप्रतापे यस्यास्यः सोढुमशक्नुवानाः ।

ज्वालावलीं शासनवारिमग्ना रक्षुरत्यर्थमसून् वसूनि ॥४६॥

अर्थ-उसकी प्रबल प्रताप रूप अग्नि के प्रज्वलित होने पर अरिगण उसकी ज्वाला को सहने के लिये सर्वथा अशक्त होकर जब उसके शासन रूपी जल में मग्न हो जाते तब ही वे अपने प्राणों की और द्रव्यकी रक्षा कर पाते ॥४६॥

ते राजनी प्रबल प्रताप रूपी अग्निना प्रज्वलित थवाथी शत्रुसभूड तेनी जणने सहन करवाने अशक्त थईने ज्यारे तेमना शासन रूपी जणभां डूणी अथ त्यारे ज तेजो पीताना प्राणो अने धननी रक्षा करी शकता. ॥४६॥

भुजं यदीयं परितोधिगम्य बभूव लक्ष्मीर्ललनेव वश्या ।

चलेति योऽस्या भुवि दुर्निवारः प्रवादवादस्तमियेष माण्डुम् ॥४७॥

अर्थ-जिसकी भुजाको खूब अच्छी तरह मजबूती के साथ पकडकर लक्ष्मी ललना के समान जो वश में हुई उसका कारण यह है कि संसार में जो उसका यह दुर्निवार प्रवाद है-बदनामी है कि यह चञ्चल है-एक जगह स्थिर नहीं रहती है-सो मानों इसी अपने प्रवाद को धोने के लिये लक्ष्मी उसके पास स्थिर हो कर रही ॥४७॥

जेनी भुजने धणी मजबूत रीते पकडीने लक्ष्मी स्त्रीनी जम तेना वशभां आवी तेनुं करणु जे छे डे जगतभां जे निवारणु न करी शकय तेवो जेना प्रवाद छे डे ते चंचल छे जेक स्थणे स्थिर रहेती नथी. जे अपवादने धोना भाटे लक्ष्मी तेनी पासे स्थिर रीते रही. ॥४७॥

तस्मिन् महीमण्डलभिद्ध शौर्ये महीपतौ शासति शासितारौ ।

पक्षच्युति भूधरघोरणीषु निकुञ्जकुञ्जेषु परागरागः ॥४८॥

अर्थ-प्रबलशौर्यशाली वह नरेश की जिसने अपने शत्रुओं को हर प्रकार से बर्बाद में कर लिया है जब पृथ्वी का शासन कर रहा था, तब केवल भूधर घोरणी-पर्वतों की पंक्तियाँ ही-पक्षों की क्षतिवाली थी और निकुञ्जों में ही पराग के प्रति राग था वहाँ के मनुष्यों में न अपने प्रतिपक्ष रखने वालों की कमी थी और न दूसरों के अपराधों के प्रति राग था ॥४८॥

उक्त शौर्यवाणो ते राजके ऋषे पोताना शत्रुभ्याने दरेके रीते वश करी लीधा छे ते न्यारे पृथ्वी पर अधिकार करी रखा छेता त्यारे केवण भूधर घोरिणी-पर्वतोनी पंक्तिभ्या ऋ पक्षे विनानी छती. युक्ष्योभां ऋ पराग प्रत्ये राग छेते। त्यांनो मनुष्योभां पोताना शत्रुभ्योनुं कमी पायुं न छतुं तेमण ऋभ्योना अपराधो प्रत्ये राग न छेते। ॥४८॥

मदस्त्रुतिर्मत्तगजेन्द्रपङ्क्तौ मिलिन्दवृन्देषु च काष्ण्यमुग्रम् ।

पयोधरास्येजघनस्थलीषु नखक्षते वाऽरुणिभैव यत्र ॥४९॥

अर्थ-उस नरेश के शासन काल में मदोन्मत्त हाथियों में ही मद का साव होता था. मिलिन्दवृन्दों में-भ्रमर पंक्तियों में, कुचों के-अग्रभाग में तथा जघनस्थल में ही बहुत अधिक कालापन था और नखक्षत में ही ललाई थी वहाँ के मनुष्यों में आनन्द का अभाव नहीं था, पाप करने के प्रति अनुराग रूप कालापन नहीं था. और न कषाय के कारण उनके चेहरों पर ललाई थी ॥४९॥

ये राजना शासन समयमां भदोन्मत्त हाथीभ्यामां ऋ मदसाव थते। छेते अने भ्रमर समूहोभां, स्तनोना अग्रभागमां अने जघन स्थलीषु ऋ वधारे काणाश छती. अने नखक्षतमां ऋ सावाश छती. त्यांनो मनुष्योभां आनन्दो व्यभाव न छेते। पाप करवा प्रत्ये अतु शत्रुप काणाश न छती. अने कषायना कारणे तेमना चेहरा पर सावाश न छती ॥४९॥

तर्के च सिद्धान्तपयोधि मध्ये शब्दागमे छंदसि काव्यबंधे ।

स राज्यचिन्ताभरतो निवृत्तो निनाय कालं कलयाऽवशिष्टम् ॥५०॥

अर्थ-वह नरेश जब राज्य काजको चिन्ता से निवृत्त होता तो वह अपना समय कभी न्याय शास्त्र के विचार में, कभी सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुशीलन में कभी व्याकरण के शब्दों की सिद्धिकरने में, कभी नवीनछंदों की रचना करने में एवं कभी काव्य शास्त्र के विनोद में व्यतीत किया करता था ॥५०॥

ते राज न्यारे राजकारिभारनी चिंतोथी निवृत्त थता त्यारे ते पोतानो समय डोईके न्यायशास्त्रना चिंतनमां डोई वार सिद्धांत ग्रंथोना परिशीलनमां डोई वार व्याकरणुना

शष्पहोनी सिद्धि करवाभां डोडवार नवा नवा छंदोनी रयना करवाभां अने डोड वार डोड-
शास्त्रना आनंदमां वीतावता उता ॥५०॥

शची शचीशस्य रतिः स्मरस्य रामस्य सीतेव भुवोऽस्य भर्तुः ।

बभूव राज्ञी स्मरमानहर्त्री प्रिया क्रियाचारविशुद्धबुद्धिः ॥५१॥

अर्थ—जिस प्रकार इन्द्र के इन्द्राणी, कामके रति, और रामके सीता प्रिय थी उसी प्रकार इस नरेश को अपनी रानी प्रिय थी वह इतनी सुन्दर थी कि उसके समक्ष कामदेव का मान गलित हो जाता था. उसकी बुद्धि क्रिया और आचार से विशेष शुद्ध थी ॥५१॥

ज प्रभाषे छंदने छन्द्राणी, कामदेवने रति, अने रामयंदने सीताप्रिय उतां अण प्रभाषे आ राजने पोतानी राणी प्रिय होती. ते अटवी सुंदर होती के तेनी सामे कामदेवतुं ३५ तुच्छ लागतुं उतुं, तेनी बुद्धि क्रिया अने आचारथी विशेष शुद्ध होती. ॥५१॥

पराङ्गनालिङ्गनपापतापात् क्षयीकलङ्की शशमृन्नकोऽपि ।

सदागति र्गन्धगुणापहाराद्विरूप मूर्तिश्चल एव नान्यः ॥५२॥

अर्थ—उस नरेश के राज्यकाल में दूसरे की अङ्गना के आलिङ्गन करने रूप पापके ताप से क्षयी—अपनी कलाओं से घटनेवाला—और कलङ्क—वाला चन्द्रमाही था, वहाँ के मनुष्य न क्षयी—क्षयरोगवाले थे. और न कलङ्कवाले थे. तथा गन्ध गुणके चुराने के कारण सदागति—वायु ही विरूपमूर्ति—रूपरहित स्वरूप वाला था. वहाँ का कोई भी मनुष्य न विरूपमूर्ति—सुन्दर रूप से. विहीन शरीरवाला था और न चल—नटखटी ही था. ॥५२॥

अे राजना राज्य डोडभां अन्यनी पत्नीने आलिङ्गन करवा ३५ पापना तापथी क्षयी—क्षयरोग वाणी (पोतानी डण्णामेना घटवाथी) अने कलंक वाणी यंदर न उतो, त्यांना मनुष्ये क्षयरोग वाणी के कलंक वाणी न उता. तथा गंध गुणने चोरवाने करणे पवन न विरूपमूर्ति—३५ विनाना स्वरूप वाणी अने यंचल उतो, त्यांना डोड मनुष्य विरूपमूर्ति—सुंदर ३५ रडित शरीर वाणी न उता. तथा यंचल—नटखट पणु न उता. ॥५२॥

प्रियां क्रियाचार विशुद्धबुद्धिं द्वियाञ्चितस्मेरमुखीं निरीक्ष्य ।

ततोष चक्रीव निधिं महीपः सखीजनैः सेवितपार्श्वभागाम् ॥५३॥

अर्थ—क्रिया और आचार से विशुद्ध मतिवाली सखियों से युक्त पार्श्व भागवाली एवं लज्जा सहितमुखकथान युक्त मुखवाली प्रिया को देखकर नरेश

इतना अधिक संतुष्ट होता कि जैसा चक्रवर्ती अपनी निधि को देखकर संतुष्ट होता है ॥५३॥

डिया अने आयास्थी शुद्ध पुद्धिवाणी सभियेथी युक्त पार्थ्व लाग वाणी अने सलज्ज हास्ययुक्त मुषवाणी स्व पत्तिने जेधने ते राज अटलो प्रसन्न थतो डे जेम यकवर्ति पोतानो निधि (पन्नो) जेधने प्रसन्न थाय. ॥५३॥

सा लीलया सुभ्रुविलासलासैर्हासैश्च मन्दस्मितभाषणैश्च ।

जहार चेतो वसुधाधिपस्य कृशोदरी तुङ्ग कुचाग्रनम्रा ॥५४॥

अर्थ—उस कृशोदरी महारानी ने कि जो उन्नतकुचों के भार से झुकसीगई है. पर्वत के जैसे अपनी लीला से, सुभ्रुओं के विलासों से, लालों से नृत्यों से हास्य से और मन्दस्मित युक्त बातचीत से नरेश के मन को विमोहित कर लिया ॥५४॥

कृशोदरी जे महाराणीजे डे जे उन्नत कुचयुग्मना आस्थी नयी गयेल छे तेखे पोतानी लीलाथी नेत्रना विलासोथी, नृत्योथी, हास्यथी अने मंद हास्य युक्त वार्तालापथी ते राजनुं मन पोतानी प्रत्ये आकर्षी लीधुं हुतुं. ॥५४॥

त्रैलोक्यसौन्दर्यमणेः करण्डं कलेवरं कामनिधानमस्याः ।

दौवारिकाभ्यामिव तत्स्तनाभ्यां संरक्ष्यते वापि च वप्र काञ्च्या ॥५५॥

अर्थ—उस महारानी का शरीर त्रिलोकगत सौन्दर्यरूपी मणिका पिटारा था और कामदेव का खजाना था अतः वह द्वारपाल के जैसे स्तनों द्वारा और कांचीरूप कोट के द्वारा सुरक्षित रहता था ॥५५॥

जे महाराणीनुं शरीर त्रैलोक्यमं रडेल सौंदर्यना पटारा रूप हुतुं. अने कामदेवना पन्नना रूप हुतुं. तेथी वाच जेम दिनारा रूप कोटथी रक्षाय छे तेम स्तनरूपी द्वारपालोथी सुरक्षित हुतुं. ॥५५॥

विद्वत्ताराज्याप्त समस्तविद्या सा भूपतेः प्रीणित गोष्यवर्गा ।

श्रेयस्ताराज्यास्तसपस्तदोषा बभूव मंत्रीव सुराज्यकार्ये ॥५६॥

अर्थ—वह राज्यकार्य के संचालन में नरेश को मंत्री के जैसा काम देती थी. क्योंकि वह उस कार्य में विशेष विदुषी थी। राज्य संचालन में जो दोष होते हैं वह उनसे विहीन थी. साधक आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं में—नितियों में वह निपुण थी अतः वह विशेष २ सराहने लायक थी ॥५६॥

ते महाराणी राज्य कार्यना संयासनमां राजने मंत्री समान उपयोगी थती, कारणु के ते अये कार्यमां विशेष प्रवीणु होती. राज्य संयासनमां न् दोषो होय छे तेनाथी ते रक्षित होती. आन्वीक्षिकी विगरे विद्यायां नीतियोमां ते प्रवीणु होती. तेथी ते विशेष रूपे वप्याणुवा लायक होती. ॥५६॥

सा शारदीयाम्बर कान्तिकान्ता सर्वेन्द्रियाणा भमितं प्रसौख्यम् ।

समर्पयन्ती स्वविलासभावै रजायता स्यामिता मृगाक्षी ॥५७॥

अर्थ-शरत्कालीन मेघ की कान्ति के जैसी सुहावनी वह महारानी समस्त इन्द्रियों के उत्कृष्ट सुख को अपने विलास भावों द्वारा अपने पतिदेव के लिये समर्पण करती हुई उन्हें बहुत र रुचिकर हुई ॥५७॥

शारदीय मेघनी कान्तिना न्वी सोढामणु ते महाराणी इन्द्रियजन्य उत्कृष्ट सुभ पोताना विश्वास भावे द्वारा पोताना पतिने समर्पणु करीने तेमने ते अधिकाधिक प्रीतिकर यनी ॥५७॥

अनङ्गकस्यापि विमर्दयन्ती सा राजराज्ञी मदनाभिमानम् ।

अन्तःपुरस्त्रीषु राज्ञा राज्ञा प्रधानपट्टे समुदाऽभिषिक्ता ॥५८॥

अर्थ-काम देव के मदोन्मत्त करने के अभिमान को चूर चूर करने वाली भी वह महारानी अन्तःपुरकी स्त्रियों के बीच में राजा के द्वारा बड़े हर्ष के साथ प्रधान पद पट्टदेवी पद पर अभिषिक्त की गई ॥५८॥

कामदेवना थीजने भदोन्मत्त करवाना अभिमानना यूरेशूरा करनारी ते महाराणीने अन्तःपुरनी स्त्रीयोनी वयमां राजअये धणु न् उर्षनी साथे पट्टराणीना स्थान पर अभिषिक्त करी. ॥५८॥

केशेषु काण्ठ्यं च तनौ तनुस्वमधस्तनत्वं ननु नाभिगर्ते ।

भ्रुवोश्च वक्रत्वमपि प्रयाणे सा मंदिमानं दधती विरेजे ॥५९॥

अर्थ-यद्यपि उस महारानी के बालों में कालापन था शरीर में पतलापन था, नाभिकुंभरूपी गड्ढे में अधस्तनता थी, दोनों भ्रुओं में टेढापन था, और प्रयाण में मंदता थी तब भी वह बड़ी अच्छी लगती थी, ॥५९॥

ते राणीना वाणोमां श्यामपणुं हुतुं. शरीरमां पातपणुं हुतुं. नाभिकुंड रूपी पाडांमां नीयापणुं हुतुं. गेड भ्रुकुटिमां वांकांपणुं हुतुं. अने यजनमां भदपणुं हुतुं. तेथी ते धणु न् मनोरम्य न्णुता होती. ॥५९॥

कृष्णाः कत्रा नान्यगुणाश्च मन्दा गति न बुद्धि ननु नाभिगर्तः ।
नीचो न वृत्तं कुटिलालकालिर्वृत्ति न सद्भाव विनिर्मितायाः ॥६०॥

अर्थ-सद्भावों से निर्मित हुई उस महारानी के बाल ही कृष्ण काले थे। अन्य गुण कृष्ण-पापों की कालिमावाले नहीं थे, गति में ही उसकी मन्दता थी, बुद्धि में मन्दता नहीं थी, नाभि गर्त में ही नीचता-गहराई थी, वृत्त-चरित्र में-ओछापन नहीं था केशों की पंक्ति में ही कुटिलता-मेढापन थी, वृत्ति में कुटिलता नहीं थी, ॥६०॥

सद्भावोत्थी निर्माणु थयेव ऐ महाराणीना केशज काणा होता. अन्य गुणो कृष्णु अटवे के पापथी अरुकायेव काविभावाणा न होता. तेनी गतिमां ज मंदपणुं हुतु. बुद्धिमां मंदपणुं न हुतुं. नाभिमां ज नीचपणुं हुतुं. चरित्रमां उटकापणुं न हुतुं. केश समूहमां ज पङ्कपणुं हुतुं. वर्तनमां वडता न हुती. ॥६०॥

गत्या विलज्जीकृतहंसहंसी शीलेन साऽधस्कृतविष्णुवाद्या ।
स्वरेण वा न्यक्कृत केकिकान्ता स्वरूप तस्त्रिजित कामभामा ॥६१॥

अर्थ-उसने अपनी गति से तो राजहंसी को, स्वरूप से रति को, शीलसे लक्ष्मी को, और स्वर से कोयल को लज्जित करदिया था ॥६१॥

तेषु पोतानी गतिथी राजहंसीने, स्वरूपथी रतिने, शीलथी लक्ष्मीने, अने स्वरथी कोयलने शरमावी दीथा होता. ॥६१॥

तदङ्गना लाभशान्प्रकर्षो हर्षो भवत्स्य नृपालमौलेः
सर्वेन्द्रियग्रामसुखस्य लाभः पुण्यादृतेनैव कदापि पुंसाम् ॥६२॥

अर्थ-उस नृपतियों के मुकुट रूप नरेश को उस अङ्गना की प्राप्ति से अत्यन्त हर्ष था, सच बात है-समस्त इन्द्रियों को जिससे सुख की प्राप्ति हो ऐसी वस्तु का लाभ जीवों को बिना पुण्य के नहीं होता है ॥६२॥

राज्योना मुगट्रप, ऐ राजने ते स्त्री रत्ननी प्राप्तिथी प्रथो ज आनंद हुतो. अर्ं ज छे के-सधणी ईन्द्रियोने जनाथी सुखनी प्राप्ति थाय अनी वस्तुओने लाभ ओवोने पुण्येद्य विना थतो नथी. ॥६२॥

तद्गामया सार्धमसौ ततान केलि कदाचित्कदलीवनेषु ।
भ्रमद्विरेकध्वनिज्ञकृतेषु प्रद्युम्नधिष्ण्येष्विव सुन्दरेषु ॥६३॥

अर्थ-यह नरेश कभी तो उस अपनी रानी के साथ जिन में भ्रमरों की झंकार हो रही है और जो साक्षात् काम के मन्दिर तुल्य सुन्दर हैं ऐसे कदली गृहों में क्रीडा किया करता ॥६३॥

ते राज्ञोऽपि वार ते पोतानी राणी साथे नृभां लभसाम्भोना गुंजरव थतो रहे छे अने न साक्षात् कामदेवना मंदीर समान सुंदर छे जेवा उदकी वनोभां छीडा करतो छतो. ॥६३॥

इत्थं प्रियां स्वां विविधैरुपायैर्मनो विनोदार्थमसौ प्रयोगैः :

चिरं मृगाक्षीं रमयन् स भूपः धर्मं न नैजं विजहौ कदाचित् ॥६४॥

अर्थ-इस प्रकार मनो विनोद के लिये अनेक उपायों एवं प्रयोगों से अपनी मृग की जैसी आखों वाली प्रिया के साथ चिरकालतक आनन्दानुभव करते हुए नरेश ने अपने धर्म को-कर्तव्य को कभी भी नहीं छोड़ा ॥६४॥

आ प्रभाषे मनना आनंद माटे अनेक प्रकारना उपायो अने प्रयोगोथी भुगना जेवा नेत्रवाणी पोतानी प्रियानी साथे लांभा समय पर्यन्त आनंदानुभव करतां रहेवा छतां जे राज्ञे पोताना कर्तव्य पालनो डोछ समये त्याग करेस नथी. ॥६४॥

अपास्तपड्वर्गरिपुः स वीरो यदा कदाचित्परिवर्त्य रूपम् ।

रात्रौ प्रजा वृत्तमसौ च वेत्तुं बभ्राम स शासित आत्मदेशे ॥६५॥

अर्थ-जब कभी यह नरेश कि जिसने अपने अन्तरङ्ग के ६ शत्रुओं पर विजय पा ली है रूप को परिवर्तित कर प्रजाजनों के वृत्त को जानने के लिये रात्रि के समय अपने द्वारा शासित स्थानों में घूमता रहता था ॥६५॥

जखे पोताना अंतरंगना छ शत्रुओ उपर विजय भेणव्यो छे जेरो जे राज पोतानो वेश पट्टो करीने प्रजनोना प्रतांतने जखुवा माटे रात्रिना समये पोते शासित करेस स्थानोभां करतो छतो. ॥६५॥

क्षीरं पयोऽपास्य यथैव हंसो गृह्णात्ययं नीतिविदां वरेण्यः ।

तथैव दुष्टान् परिहाय शिष्टान् ररक्ष रक्षानिस्तो महीपः ॥६६॥

अर्थ-जिस प्रकार हंस पानी को दूर करके क्षीर को ग्रहण करता है उसी प्रकार नीति विज्ञों के मध्य में विशेष विशारद एवं प्रजा के रक्षण करने में लवलीन यह नरेश भी दुष्टों को छोड़कर शिष्टजनों की रक्षा करता था. ॥६६॥

जम हंस पाणीने असंग करीने इथ अहणु करे छे, जेज प्रभाषे नीतिज्ञोभां विशेषत अने प्रजना रक्षणु करवाभां हतयित जेवो जे राज दुष्टोथी सज्जनोतु रक्षणु करतो छतो. ॥६६॥

सर्वेर्डाप वर्णाश्रमवासिनोऽस्मिन् राज्येश्रियाऽऽलिङ्गितकृत्यरूपाः
सुखेन शान्त्या निवसन्ति धर्मं स्वाचाररूपं परिपालयन्तः ॥६७॥

अर्थ—इस राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चारों प्रकार के वर्णाश्रमवासी जन रहते हैं। इन सब में अभ्युदय की कमी नहीं है इनके जितने भी कार्य हैं वे सब उसी के अनुरूप होते हैं रूप भी इनका अपने २ विभव के अनुसार ही है। ये सब उस राज्य में सुख शान्ति पूर्वक निवास करते हैं और अपने अपने आचार रूप धर्मका पालन करते रहते हैं ॥६७॥

आ राज्यमां ब्राह्मण, क्षत्रीय, वश्य अने शूद्र अमे यारे वर्णना बोडो रहेता उता। ते अधानी उन्नतिनी क्मिना न उती। तेमना जेटला कार्यो छे, ते अधा तेने अनुत्पन्न यथा उता, पोत पोताना वैभव प्रभाशे तेमना रूपो—आकृतियो उती। अे अधा अे राज्यमां सुख शांति पूर्वक निवास करेता उता। तथा पोत पोताना आचारानुक्षण धर्मनुं पालन करेता उता। ॥६७॥

शिक्षा व्यवस्था प्रमुखाङ्गमत्र राज्यस्य कोषादानुदानमत्र ।

शिक्षालयेभ्यो मिलति व्ययार्थं व्युत्पन्नलात्राय च छात्रवृत्तिः ॥६८॥

अर्थ—इस राज्य का प्रमुख अङ्ग शिक्षा की व्यवस्था है। राज्य की ओर से शिक्षा संस्थाओं को अनुदान यहां मिलता है और व्युत्पन्नमति वाले छात्रों के लिये छात्रवृत्ति भी मिलती है। ॥६८॥

आ राज्यनुं सुप्य अंग शिक्षणनी व्यवस्था छे। राज्य तरुथी शिक्षण संस्थाअेने अनुदान भणतुं उतुं। अने व्युत्पन्न बुद्धिशाणी निवारिअेने छात्रवृत्ति पण भणती उती। ॥६८॥

सेनाविभागोऽपि सुरक्षितोऽस्ति सुशिक्षितो होद्यनीयवृत्तिः

प्रजापस्त्रिाणकृतेऽत्र बद्धकक्षः स उत्कोच विहीनकृत्यः ॥६९॥

अर्थ—इस राज्यका जो सेना विभाग है वह सुरक्षित एवं सुशिक्षित है। यह दयनीय वृत्तिवाला नहीं है। प्रजाजनों के रक्षा करने में यह सदा कटिबद्ध रहता है। और इसके उपलक्ष्य में वह प्रजाजनों से लांच घूस नहीं चाहता है। ॥६९॥

आ राज्यनेता जे सेना विभाग छे ते सुरक्षित अने सुशिक्षित छे। अे दयनीय—दया उपलवे तेवी दशा वाणा नथी। प्रजनोनुं रक्षण करवामां ते उर उचेशा कटिबद्ध रहे छे। अने तेना अदक्षामां ते प्रज पासेथी लांच रक्षत ईच्छता नथी। ॥६९॥

पदे पदे वैद्यजनाश्रयोऽत्र वसन्ति यस्मिन् सुरवैद्यतुल्याः

वैद्या अवन्ध्यापधयश्च येषां कीर्तिनुगातुं ह्यमरालयोऽभूत् ॥७०॥

अर्थ-यहां जगह २ वैद्यों के निवास स्थान है. जिनमें सुरवैद्य के जैसे वैद्य जन रहते हैं. ये जिस रोगी को औषध देते हैं वह उसके लिये रामबाण के जैसी होती है. मालूम पडता है इनकी इस कीर्ति को विशेष रूप से गाने के लिये ही मानों अमरालय-जो नहीं मरे ऐसे जीवों का आलय स्थान अलग से बस गया है. ॥७०॥

अर्द्धीया स्थणे स्थणे वैद्योना रहेहाणो छे. जेमां देववैद्यना जेवा वैद्यो रहे छे. तेअ जे रोगीने दवा आपे छे, ते अना रोगने भाटे रामबाणु जेवी नीउडे छे. तेमनी अ कीर्तिने विशेष प्रकारथी जणुवावा जे जणु अमरालय अर्थान् जे न मरे अवा जेवोनुं स्थान अलग वस्थुं छे तेम जणुवाय छे. ॥७०॥

इत्थं निष्कंटके राज्ये तस्मिन्नासन्प्रजाजनाः

सुखिनः सर्वतो भावैः धर्मकर्मपरायणाः ॥७१॥

अर्थ-इस प्रकार उस निष्कंटक राज्य में प्रजाजन सर्व प्रकार से सुखी थे. और अपने २ धर्म और कर्म में तत्पर थे. ॥७१॥

आ रीते आ निष्कंटक राज्यमां प्रजजन दरेक प्रकारथी सुभी छता अने पोत पोताना धर्म कर्ममां रत रहेता छता. ॥७१॥

राज्यचिन्ता निवृत्तोऽसौ नृपो विद्वज्जनाश्रयः

तेषां गोष्ठ्यां समास्थाय काव्यशास्त्रमचिन्तयन् ॥७२॥

अर्थ-नरेश जब राज्य के कार्य से निवृत्त होते तो विद्वानों की गोष्ठी में बैठकर काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में अपने विचारों को रखते. ॥७२॥

ते राज राज्य कशेआरीथी निवृत्त थई विद्वानोनी साथे गोष्ठिमां भेसी काव्यशास्त्र विशेषेना पोताना विचारो प्रगट करतो छतो. ॥७२॥

कादाचिद्धर्मविज्ञानां सभायां समुपस्थितः ।

जातायां तत्र गोष्ठ्यां स धर्मसर्वस्वमश्रुणोत् ॥७३॥

अर्थ-जब कभी धर्मशास्त्र के वेत्ताओं की सभा होती तो उस में उपस्थित होकर ये नरेश वहां सम्पन्न हुई गोष्ठी में धर्म के सर्वस्व को सुनते ॥७३॥

कदाय कौं वार धर्म शास्त्रज्ञोनी सभा भणती तो तेमां पोते छजर रही ते राज त्यां थती धर्म अर्थामां धर्मना स्वइपनुं श्रवणु करतो छतो. ॥७३॥

कदाचिच्छ्रावयामास साहसौदार्यवर्द्धिनीम् ।

कथां कटकवीरान् स पूर्ववीरानुवर्तिनीम् ॥७४॥

अर्थ—कभी २ ये नरेश भूतकाल में वीरों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी साहस और उदारता को बढ़ानेवाली कथा अपने कटक के वीरों को सुनाया करते ॥७४॥

३७४ डोई वार भूतकालना शूरवीरो संबन्धी तेमनी साहस अने उदारता वधारनारी वार्ता पोताना सैन्यना सुबोटाने संबन्धावता. ७४॥

यदाकदाचित्साधूनामाश्रयं प्राप्य तैः सह ।

मूर्तिपूजा विधातव्या नवेत्थं सौऽप्यर्चयत् ॥७५॥

अर्थ—जब कभी ये नरेश साधु महाराजों के उपाश्रय में पहुँच कर उनसे मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में विचार विनिमय करते और—पूछते कि मूर्तिपूजा करना चाहिए या नहीं ॥७५॥

३७५ समये अं राज साधुअना उपाश्रये अर्चने तेमनी पासे मूर्तिपूजना संबन्धमां विचार विनिमय करतो अने तेमने पूछतो के मूर्तिपूजा करवी जेधअ के नही ? ॥७५॥

आरंभस्याति हेतुत्वान्मूर्तिपूजा सुहितप्रदा ।

क्वचित्कालेऽपि नैवास्ति न चारंभो विना वधात् ॥७६॥

अर्थ—मूर्ति पूजा बहुत अधिक आरंभ की कारण भूत है, अतः वह हित-प्रद नहीं हैं क्योंकि आरम्भ बिना जीव जीव के लिये किसी भी काल में बध के होते नहीं हैं ॥७६॥

मूर्तिपूजा वधारे पडता आरंभनुं करणु छे, तेथी ते हितकर नथी, केम के आरंभ विना एव अन्य एव माटे डोई काणे वध करवा योग्य होता नथी. ॥७६॥

जीवरक्षाकृते विज्ञैः साधुभिर्मुखवस्त्रिका ।

मुखेनावच्च सूत्रेण बद्धवतां सा यथागमम् ॥७७॥

अर्थ—इसी प्रकार जीवों की रक्षा के लिये विज्ञ साधुजनों को मुख पर आ-गम में कहे अनुसार डोरे से युक्त मुखवस्त्रिका बांधे रहना चाहिये ॥७७॥

अथ प्रमाणे प्राणियोनी रक्षा करवा निमित्ते विज्ञ साधु पुरुषे शास्त्रमां कथा प्रमाणे मुष उपर दोरा सहित मुखवस्त्रिका धारणु करी राखवी जेधअ. ॥७७॥

राजनीत्यवतारोऽयं धर्मनीत्यनुसारतः ।

पालयन् स्वां प्रजां सर्वां धर्मतातोऽत्र जनिष्ट सः ॥७८॥

अर्थ—राजनीति के अवतार भूत इस नरेश ने धर्म नीति के अनुसार अपनी प्रजा का पालन करते हुए 'धर्मतात' इस पद को प्राप्त किया. ॥७८॥

રાજનીતિના અવતાર જેવા આ રાજ્યે ધર્મ અને નીતિ અનુસાર પોતાની પ્રજાનું પાલન કરવાથી 'ધર્મતાત' આ પદને પ્રાપ્ત કર્યું. ॥૭૮॥

प्रचण्ड दोर्दण्डविराजितोऽसौ सुपर्ववर्गैरपि गीतकीर्तिः ।

महीं स्वकीयां करिणीं चकार स्वविक्रमैर्विक्रमशालिमुग्धः ॥७९॥

અર્થ-જિસકી કીર્તિ દેવતાઓં કે દ્વારા ખી ગાઈ ગઈ હૈ એવં જો અપને પ્રચણ્ડ મુજ બલ સે વિરાજિત હૈ એસે ઇસ નરેશ ને અપને પ્રબલ પરાક્રમ સે અપને અધિકાર કી મહી કો કરિણી-ટેક્સ દેનેવાલી બનાયા યહાં "કરિણી" પદમેં શ્લેષ હૈ ॥૭૯॥

જેની કીર્તિનું દેવતાઓ પશુ ગાન કરે છે. અને જે પોતાના પ્રચંડ ભુજ પરાક્રમથી વિરાજમાન છે એવા આ રાજ્યે પોતાના પ્રબળ પરાક્રમથી પોતાના અધિકારમાં સ્હેલ ભૂમિને કરિણી-ટેક્સ આપનારી બનાવી. અહીં 'કરિણી' પદમાં શ્લેષ છે. અર્થાત્ હાથિણી જેવી સમૃદ્ધ બનાવી. ॥૭૯॥

योऽरातीन् प्रबलान् गजानिव हरिः प्रोन्मूल्य शङ्कूनिव

भुक्तं वारिधिमेखलां वसुभतीं लक्ष्मीमिवाहन् धराम्-

तीव્રतापमुत्પત્તિશ્ચ વસુભદ્રમૂભૃતગણા પ્રાજ્ઞણમ્

त्यक्त्वा नैव ययुर्विलोक्य भयतः शार्दूलविक्रीडितम् ॥८०॥

અર્થ-જિસ પ્રકાર સિંહ પ્રબલ ગજોં કો નષ્ટ કર દેતા હૈ ઉસી પ્રકાર ઇસ નરેશ ને ખી કાટોં કી તરહ અપને બલિષ્ઠ શુભ્રુઓં કો ઉલાહ દિયા ઓર અર્હન્ત જિસ પ્રકાર બાહ્ય સમવસરણા દિરૂપ વિભૂતિ કો ભોગતે હૈ ઉસી પ્રકાર ઇસને ખી વારિધિ રૂપ મેખલાવાલી અપને દ્વારા અધિકૃત ઇસ પૃથિવી મંડલ કા ભોગ ક્રિયા. ઉસ સમય ઇસકે જો શશુભૃત નૃપગણ થે વે અપને ૨ રાજ-મહલોં કે પ્રાજ્ઞણ કોં છોડકર ઇસકે પ્રબલ પ્રતાપ સે તસ દિશા ઓં મેં ખી ઇસ-કે શાર્દૂલ જૈસે વિક્રીડિત કો દેલકર ભય સે નહીં ગયે. ॥૮૦॥

જેમ સિંહ બળવાન હાથિયોને ભગાડી મૂકે છે, એજ પ્રમાણે આ રાજ્યે પશુ પોતાના બળવાન શત્રુઓને કાંટાની માફક કહાડી મૂક્યા હતા. અને અહીંન્ત જેમ બાહ્ય સમવસરણાદિ-૩૫ વિભૂતિને ઉપભોગ કરે છે, તેજ પ્રમાણે આણે પશુ સમુદ્ર રૂપિ ખેખલા (કંદેરા)વાળી આ પૃથ્વી મંડળને પોતાને આધીન કરીને તેનો ઉપભોગ કર્યો. તે સમયે તેના જે શત્રુ૩૫ રાજ્યો હતા. તેઓ પોત પોતાના રાજ્યમહેલોના આંગણને છોડીને આના અધિક બળશાળી પ્રતાપથી તપેલી દિશાઓમાં પશુ સિંહ સમાન તેનું ક્રિડન જોઈને-ભયથી ત્યાં ગયા નહીં. ॥૮૦॥

इत्थं सौख्यपयोधिमग्नमनसो नित्योत्सवानंदिनः ।

कृत्याकृत्य विचारचारुचतुरां तां शेमुषीं विभ्रतः ।

प्रीत्यानीतिविपक्षकक्षदहनस्याशेषभूमिं भुजः ।

शुद्धाचारबलान्वितस्य दिवसा यान्त्यस्य मोदप्रदाः ॥८१॥

सुखरूपी समुद्र में मग्न मनवाले, नित्य होनेवाले उत्सवों से आनन्दित चितवाले, कृत्य एवं अकृत्य का विचार करने में चतुर बुद्धिवाले राजनीति के अनुसार अपनी नीति से विपक्षरूपी जंगल को भस्म करने वाली अशेष भूमिका भोगकरने वाले और शुद्ध-आचार वाली सेना वाले ऐसे इस राजा के समस्त दिन आनन्द दायक ही व्यतीत होते थे ॥८१॥

सुशूरपी समुद्रमां जेतुं मन निभश्न छे जेवा नित्य थनारा उत्सवोथी आनन्दयुक्त चित्तवाणा कृत्या कृत्यनो विचार करवामां कुशण बुद्धिवाणा राजनीति अनुसार पोतानी नीतिथी शत्रुशुपी जंगलोने भरभ करीने समथ पृथ्वीने उपभोग करनारा अने शुद्ध आचार-वाणी सेनावाणा आ राजना सधणा दिवसो आनन्द पूर्वक ज पीतता उता. ॥८१॥

यस्य ज्ञानमयीं सुधारसमयीं स्वात्मस्थितौ बोधिकाम् ।

सद्भावैः समलङ्कृतां शिवपथप्रस्थापिकां शान्तिदाम् ।

मूर्तिं वीक्ष्य जनाः प्रभावसहितां सन्मार्ग संसेवकाः ।

जाताः श्रोपति घासिलालमुनिप्रो नः स्याद्भवार्तेर्हरः ॥८२॥

अर्थ-जिनकी ज्ञानमयी सुधारसमय मूर्ति को कि जो आत्मा में स्थिति की बोधक है, सद्भावों से अलङ्कृत है, मुक्ति के मार्ग में-जीवों को लगाने वाली है शान्ति की दाना है तथा प्रभावशाली है को देखकर ही मनुष्य सन्मार्ग के सेवक बने हैं वन रहे है ऐसे वे श्रीमान् घासिलाल मुनिराज हमारी जन्म-व्याधि को दूर करने वाले हों-॥८२॥

जनी ज्ञानमयी अने सुधारस मयी मूर्तिने डे जे आत्माभां स्थिति बोधक छे, सद्-भावोथी शोभित छे, मुक्तिमार्गमां जेवने लगाडनारी छे, शान्ति देनारी छे, तथा प्रभाव-शाणी छे, जेधने ज मनुष्य सन्मार्ग परायणु अन्या छे, अनी रक्षा छे जेवा जे श्रीमान् घासीलाल मुनिराज अमारा जन्म रूप व्याधीने दूर करनारा अने. ॥८२॥

जैनाचार्य-जैनदिवाकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीशुर्जरभाषानुवादसहिते
लोकाशाहचरिते द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः सर्गः ।

अथाभवन् वैभवकीर्तिपुंजे सिरोही राज्ये बहवो धनाढ्याः ।

येषां गृहे पुण्यवशात्समृद्धिर्दिवानिशं नृत्यति नर्तकीव ॥१॥

अर्थ-वैभव एवं कीर्ति के पुंजरूप उस सिरोही राज्य में अनेक वैभव-शाली धनी पुरुष हुए हैं जिनके गृहों में पुण्य के प्रभाव से समृद्धि दिन रात नर्तकी की तरह नचती रहती थी ॥१॥

वैभव अने कीर्तिना दृग्वाराय अ सिरोही राज्यमां वैभवशाली अने धनवान् पुरुषो थया छे. जेभनां धरोमां तेभना पुण्यना प्रभावथी रात दिनस समृद्धि नर्तकीनी जेभ नाचती रहे छे. ॥१॥

मुक्ताफलैः रत्नचयैः सुवर्णैः समृद्धिरूपैर्विविधैरमीभिः ।

विभाति येषां तत मन्दिरान्तो मनोहरं मन्दिरमिन्दिरायाः ॥२॥

अर्थ-मुक्ताफल, रत्नचय, और सुवर्ण इन अनेक प्रकार समृद्धि के रूपों से भरा हुआ जिनके विस्तृत भवनों का मध्य भाग लक्ष्मी के मनोहर भंडार जैसा शोभित होता है ॥२॥

मुक्ताफल, रत्नसमूह, अने सोनुं आवा अनेक प्रकारना समृद्धिना रूपोथी अरेल जेभना विस्तारवाणा अनेनेतो मध्यभाग लक्ष्मीना मनोहर भंडार जेवो शोभी रह्यो छे. ॥२॥

दिवानिशं नृत्यति यत्र लक्ष्मीर्हासैर्विलासैर्विविधाङ्गहारैः ।

तैर्भूष्यमाणं गृहमिन्दिराया रङ्गस्थलं वेति प्रतीयते मं ॥३॥

अर्थ-हास्य विलास, और विविध अङ्गहारों से जहां लक्ष्मी रात दिन नाचती रहती है. उनसे विभूषित हो रहे. वे घर ऐसे लगते हैं कि मानो ये लक्ष्मी के रङ्गस्थल ही हैं. ॥३॥

हास्य विलास अने अनेक प्रकारना अंगलारोथी ज्यां लक्ष्मी दिन रात नाचती रहे छे, तेनाथी शोभायमान थता अ धरो अथा लागता छता छे अथे आ लक्ष्मीना द्वीडांगणु ज छे. ॥३॥

राज्ये च तस्मिन् हरिखल्लभाया रागात् पदस्पर्शमवाप्य सर्वाः ।

प्रजा तदीया हरिखल्लभाङ्गाऽभवन्नुगगात्तद्रूपतैव ॥४॥

अर्थ-उस राज्य में राग के वशवर्ती होकर समस्त प्रजाने हरिखल्लभा लक्ष्मी के पदों का स्पर्श किया, अतः उस राज्य की समस्त प्रजा जिसकी गोद में लक्ष्मी है ऐसी हो गई सो ठीक है-राग से रागरूपता ही होती है. ॥४॥

ये शल्यमां रागने वश थद्यने सधणी प्रजने हरिवदसभा ज्यवी लक्ष्मीना अरुणु कमणने।
स्पर्श कुर्ये तेथी ये शल्यनी सधणी प्रज लक्ष्मीवान् पनी गध कारुणु के रागथी रागपता
न थाय छे. ॥४॥

पदे पदे साधुजनाश्रयोऽत्र विराजते यत्र मुनीन्द्रवृन्दः ।

तद्देशनां श्रोतुमनेकभव्या ग्रामान्तरादेत्य सहस्रकृत्वः ॥५॥

शृण्वन्ति भक्त्या प्रशमप्रभावाज्जिनेन्द्र दीक्षां च विमुच्य संगम् ।

आदाय सम्यग् विधिवत्पाल्य कुर्वन्त्यनेके सफलं स्व जन्मः ॥६॥

अर्थ-जगह २ यहां पर उपाश्रय हैं उनमें अनेक मुनिराज रहते हैं. उनकी
देशनाको सुनने के लिये ग्रामान्तरों से हजारों की संख्या में भव्यजीव आते
रहते हैं और भक्तिभाव से उसे सुनकर प्रशम भाववाले बन जाते हैं,
इसमें से कितनेक भव्य बाह्य आभ्यन्तर-परिग्रह का त्याग करके जिनेन्द्र
दीक्षा धारण करते हैं और विधिवत् उसका पालन करके अपने मानव जीवन
को सफल करते हैं ॥५-६॥

अह्नीयां स्थणे स्थणे उपाश्रयो छे, तेमां अनेक मुनिगणु रहे छे. तेनाथी देशना
सांभजवा माटे पीज गाभेमांथी उजरो लव्य ज्यो त्यां आक्ता रहे छे. अने लज्जितावाथी
तेने सांभजने प्रशमभाव वाणा पनी ज्य छे. तेमांथी डेटकाक लव्यो पाह्य अने
आभ्यन्तर परिग्रहने त्याग करीने जनेन्द्रनी दीक्षा धारणु करे छे. अने विधि प्रमाणु तेनुं
पालन करीने पोताना मानव जवनने सक्षण पनावे छे. ॥५-६॥

पुण्यानुबंधी मनुजो जरायां विशेषतः सद्गुरुदेशनातः ।

प्रबुद्धय बाह्यं परिमुच्य संगं अध्यात्मवीथ्यां पदमादधाति ॥७॥

अर्थ-अपने जीवन में पुण्यानुबंधी पुण्यका भोगका मनुष्य वृद्धावस्थामें सद्-
गुरु महाराज की देशना से प्रबुद्ध-सचेत-होकर बाह्य परिग्रह का त्याग कर
देता है और अध्यात्मवीथी में-आत्म कल्याण के मार्ग में-लग जाता है ॥७॥

पोताना जवनमां पुण्यानुबंधी पुण्यने लोगवनार मनुष्य वृद्धावस्थांमां सद्गुरु
महाराजना उपदेशथी सचेत थद्यने पाह्य परिग्रहने त्याग करी रे छे. अने आत्मकल्याणुना
मार्गमां लागी ज्य छे. ॥७॥

केचिदयादान विधायि भव्या भव्यान्तरङ्गा भवतीति भाजः ।

वाच्यमानां सविधे निशम्य जिनेन्द्रमार्गं परिदीपयन्ति ॥८॥

अर्थ-दया दान करनेवाले कितनेक भव्य जीव कि जिनका हृदयसम्पद्दर्शनादि गुणों को प्राप्त करने के योग्य है, संसार से डरकर मुनिराजों के पास उनकी देशना सुनकर जिनेन्द्रमार्ग को चमकाते रहते हैं. ॥८॥

दयादान करनेवाले डेटलाड भव्य जिनो के जन्म हृदय सम्पद् दर्शनादि गुणोने प्राप्त करने योग्य छे, तेजो संसारथी डरीने मुनिराजोनी पासे तेजोने उपदेश सांख्यीने जनेन्द्र प्रक्षीत मार्गने यमकावता रहे छे. ॥८॥

केचिद्गृहस्था परिदीपिताङ्गाः कृशाङ्गकत्वादपि सूचयन्ति ।

अवाग् विसर्गं वपुषैव मुक्तेर्भार्गं हितान्वेषणमानवेभ्यः ॥९॥

अर्थ-कितनेक गृहस्थजन कि जिनके शरीर पर तपस्याके प्रभाव से चमक है पर वे (तपस्या के करने से) कृश शरीर वाले हैं, फिर भी अपने हित की गवेषणा करनेवाले मानवों के लिये. बिना वाणी का उच्चारण किये केवल शरीर मात्र से ही मुक्ति के मार्ग की सूचना दे देते हैं. ॥९॥

डेटलाड गृहस्थ पुरषो के जन्मना शरीर पर तपस्याना प्रभावथी यमक छे, परंतु तेजो तपस्या करनेथी दुर्बल शरीरवाणा छे. तो पशु पोताना छितने शोधनारा मनुष्योने वाणीतुं उच्यारणु कर्था बिना देवण शरीर मात्रथी ज मुक्तिमार्गनी सूचना आपी हे छे, ॥९॥

अनादिसंसारपरम्परायां मुहुर्मुहुः संभ्रमता मयाऽत्र ।

नास्तीह कश्चित् खलु पुद्गलः सः मुक्त्वोज्झिजो यो न भवेदनन्तम् ॥१०॥

अर्थ-इस अनादि संसार परम्परा में बारंवार जन्म मरण करते हुए मुझ से ऐसा कोई पुद्गल नहीं बचा कि जिसे मैंने अनन्त बार भोगकर नहीं छोड़ दिया है ॥१०॥

आ अनादि संसार परंपराभां बारंवार जन्म मरण धारणु करनेर जेवा भारथी जेवा डोड पुद्गण जेवेल नथी के जने में अनन्तबार भोगवीने छोडी दीधेल न डोय. ॥१०॥

सिद्धान्तवाक्यं परिशील्य चैतत् संसारवासात् परिव्रस्तचित्तः ।

निवृत्तिमार्गं परिक्रम्यमाणो गुर्वन्तिकं कश्चिदुपैति नित्यम् ॥११॥

अर्थ-इस सिद्धान्त के वाक्य का खूब अच्छी तरह विचार करके संसार के वास से-प्रवृत्ति मार्ग से व्रस्तचित्तवाला कोई २ मनुष्य निवृत्ति मार्ग की चाहनावाला हुआ गुरु महाराज के पास प्रति दिन आता है ॥११॥

आ सिद्धान्त वाक्यनो भूष सारी रीते विचार करीने संसार वासथी अर्थात् प्रवृत्ति मार्गथी व्रस्त चित्तवाणा डोड डोड मनुष्य निवृत्ति मार्गनी चाहना करीने छरेज गुरु महाराज पासे आवे छे. ॥११॥

कैश्चिद्विदग्धैर्भवनेष्वलुब्धैः स्त्रीपुत्रमित्रादिषु शान्तरागैः ।

भव्यैः सरोजैः सलिले गृहे स्वे विरक्तिभावेन समुष्यते च ॥१२॥

अर्थ—कितनेक समझदार मनुष्य भवन आदि परिग्रह में निर्मोह वृत्तिवाले होकर स्त्री पुत्र मित्र आदि कों में रागभाव की शान्ति हो जाने के कारण कमल जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी जल से भिन्न रहता है उसी प्रकार विरक्ति भाव से घर में रहते हैं ॥१२॥

इतथाऽऽ समञ्जदार मनुष्यो अहादि परिग्रहमां मोहने त्याग करीने तथा स्त्री पुत्र, मित्र, विदेशमां रागभावनी शान्ति यम अवाथी कमण कम पाणीमां रहेता छतां पणु तेनाथी अवग रहे छे, अे रीते निरक्त आवथी घरमां रहे छे. ॥१२॥

भव्याब्ज वृन्दं मुनिवृन्दसूर्याः प्रबोधयन्तीह वृषोपदेशैः ।

अतश्च तत्रत्य जना जिनाज्ञानभिज्ञाता दोषकलङ्करिता ॥१३॥

अर्थ—यहां मुनिजन रूपी सूर्य भव्यकमलों को धर्मोपदेशों से विकसित-प्रफुल्लित करते रहते हैं इसलिये यहां की जनता जिनेन्द्र सिद्धान्त के अनभिज्ञतारूपी दोष कलङ्क से विहीन है ॥१३॥

अहीं मुनिजन रूपी सूर्य भव्य अवृष कमणोने धर्मोपदेशथी प्रफुल्लित करता रहे छे. तेथी अहींनी जनता जिनेन्द्र सिद्धान्तना अणुण पणुना दोषरूपी कलङ्क विनाथी छे. ॥१३॥

हिंसानृतस्तेयकुशीलसंगैः पापैः कषायादिभिरत्र कोऽपि ।

न बाध्यते धार्मिक वृत्तिमत्त्वाद्धर्मो भवत्येव विपत्तिविघ्नः ॥१४॥

अर्थ—यहां का कोई भी जन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन-कषायों से बाधित नहीं होता है क्योंकि यहां के लोगों की वृत्ति धार्मिक है. सच बात है धर्म विपत्ति का विघातक होता है ॥१४॥

अहीं दोषरूप मनुष्य हिंसा, झूठ, कुशील अने परिग्रह आ पांच पापोथी तथा क्रोध, मान, माया अने दोष आ अार कषायोथी बाधित यतां नथी. कम के अहींना दोषानी वृत्ति धार्मिक छे. अे सायुं अ छे के धर्म विपत्तिनो विघातक छे. ॥१४॥

अनङ्गानोन्मथनेन शस्या पदे पदे यत्र वसन्ति धीराः ।

व्योभिजात्यादि गुणैश्च कृष्टा धैर्यच्युताऽजायत कामवामा ॥१५॥

अर्थ—यहां पद पद पर अनङ्ग के मान को मथनकरनेवाले धीरपुरुषरहते हैं. उनके वय, आभिजात्य आदि गुणों से खिंची हुई कामवामा अपने धैर्य से रहित हो जाती है. ॥१५॥

अङ्गीयां स्थगे स्थगे कामदेवना मानतुं मर्दान् करवायाणा धीर पुत्रो वसे छे तेनी वय कुण विगेरे शुशोथी अयेथे कामवामा पोतानां वैर्यथी अङ्गित थम अय छे. ॥१५॥

यत्राङ्गना शीलविभूषिताङ्गा वयोभिस्म्या प्रशमादिमत्यः ।

परोपकारपवणा अतन्द्राः धर्मोपकृत्ये निरता सपुत्राः ॥१६॥

अर्थ—यहां स्त्रियां वयस्क होने पर भी शील से विभूषित अङ्गवाली हैं प्रशम संवेग आदि भावों से संपन्न हैं. परोपकार करने में प्रवीण हैं धार्मिक कार्यों के करने में प्रमाद से रहित हैं और योग्यपुत्रों से युक्त हैं ॥१६॥

अङ्गीनी स्त्रियो योग्य वयवाणी होवा छतां पणु शीलथी रक्षित शरीरा छे. प्रशम संवेग विगेरे भावोथी युक्त छे, परोपकार करवाभां निपुणु छे, धार्मिक कार्य करवाभां प्रमाद विनानी छे. अने योग्य संतानोथी संपन्न छे. ॥१६॥

बालासुधादीधिति मूर्तिरूपाः नैसर्गिकालापपराः परेषाम् ।

मनोहरा लोचनहारिणस्ते श्वताम्बराः सन्ति गृहे गृहेऽत्र ॥१७॥

अर्थ—यहां घर घरमें चन्द्रमा की जैसी शीतल मूर्तिवाले बालक हैं जो अपनी स्वाभाविक बोली से शत्रुओं तक के भी मनको सुहाते हैं. आंखोंको वे बड़े प्यारे लगते हैं और धवलवस्त्रों से वे आवेष्टित रहते हैं ॥१७॥

अङ्गी अद्रमानी मूर्तिमान् शीतलता रेवा आण्डो छे. अ पोतानी स्वाभाविक वालीथी दुम्भनना मनने पणु आनन्दित करे छे. नेत्राने ते धणु प्यारा लागे छे अने श्वेत वस्त्रोथी तेजो युक्त रहे छे. ॥१७॥

मृदुत्वसर्गेऽसफलोऽत्र वेधाः प्रतीयते यत् प्रतिसन्न नार्यः ।

वीराङ्गनानां प्रतिबिम्बरूपाः विपत्तिस्तु अधुनाऽप्यघृष्याः ॥१८॥

अर्थ—सुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सुकुमारता की रचना में यहां पुण्य कर्म असफल रहा है क्योंकि प्रत्येक घर में यहां स्त्रियां वीराङ्गनाओं के प्रतिबिम्बरूप हैं क्योंकि विपत्ति से ये अभीतक भी नहीं घबडाती हैं. ॥१८॥

अने अेषुं लागे छे के—सुकुमार पणु—डोमणतानी रचनाभां अङ्गी पुण्यकर्म असक्ष्ण रहेल छे. डेभ डे दरेक घरभां अङ्गी स्त्रियो वीराङ्गनाज्योना पडछया रेवी छे. डेभ डे विपत्तिथी तेजो कही पणु गलराती नथी. ॥१८॥

स्वान्ते तथा वाचि मृदुत्वभासां धात्राकृतं पुण्यवतैव भोग्यम् ।
परं च देहे न कृतं सतीनां देहस्य वज्रेण विनिर्मितत्वात् ॥१९॥

अर्थ-इन स्त्रियों के हृदय में और बचन में पुण्यकर्म ने जो मृदुता की रचना की है वह तो साधारण पुण्यजनों द्वारा भोग्य ही होता है. परन्तु पतिव्रता का जो देह है वह तो विशिष्ट पुण्यशाली ही भोग्य होता है. क्योंकि कि वह उनका देह वज्र से बना हुआ है अतः जिनमें वज्र को संभालने की शक्ति होती है वे ही उसे संभाल सकते हैं साधारण जन नहीं वीर वीरले होते हैं इसी लिये पुण्य कर्म-सती साध्वियों के देह को वज्र का बनाता है. ॥१९॥

आ स्त्रियोना हृदयमां अने वचनमां विधाताये मृदुपशुानी न रचना करी छे ते तो साधारण पुण्यवानो द्वारा उपभोग्य होय छे. परंतु पतिव्रतानो न देह छे तेतो विशेष प्रकारना पुण्यशालीने न भोग्य होय छे, कम के ते अने देह वज्रथी अनेव होवाथी अनामां वज्रने सायववानी शक्ति होय छे, तेन अने संभालणी शके छे. साधारण पुण्य नहीं वीर पुण्य विश्व न होय छे तेथी पुण्यकर्म सती साध्विना देहने वज्रमय अनावे छे. ॥१९॥

लावण्यकान्तौ धृतिबुद्धिरूपे विभूतिभूतौ च द्युतौ यथेमाः ।
सप्त्या विधात्रा परिशीक्ष्य मन्ये स्वर्गीयसर्वस्वमिहैव क्षिप्तम् ॥२०॥

अर्थ-लावण्यकान्ती धृति, बुद्धि, रूप, विभूति और द्युति जैसी यहां की स्त्रियों की पुण्य ने रची है वैसी वह सब अन्यत्र नहीं रची गई है. यह सब यहां देखकर मैं ऐसा मानता हूं कि उसने समस्त-स्वर्गीय वैभव यहां पर कुदेल दिया है-प्रक्षिप्त कर दिया है ॥२०॥

अहींनी स्त्रियोतुं लावण्य, कान्ति, धृति, बुद्धि रूप विभूति अने द्युति विधाताये खेव छे तेनी अन्यत्र रची नथी. आ सप्युं अहीं अेईने हुं तो अेपुं मानुं छुं के तेषु सधयो स्वर्गानो वैभव अहीं न हालवी दीयो छे. ॥२०॥

धनाधिपानां नयनाभिरामा महार्घ्यवस्त्रावृतगात्रपात्राः ।
सौवर्णिकाभूषणभूषिताङ्गा कामाङ्गनेवात्र लसन्ति वामाः ॥२१॥

अर्थ-यहां पर धनिकों की स्त्रियां जो कि देखने में बड़ी सुहावनी लगती हैं और जो सदा बेश कीमती वस्त्रों से सुसज्जित रहती हैं. तथा सुवर्ण के आभूषणों से जिनका शरीर विभूषित रहता है. देवाङ्गना रति के जैसी लगती हैं. ॥२१॥

અહીં ધનવાનોની સ્ત્રિયો કે જ્યો જોવામાં ધણીજ સોહામણી લાગે છે. અને તેઓ પોતાનો વેશ ક્ષીમતી વસ્ત્રોથી સુસજ્જીત રાખે છે. તથા સોનાના ધરણુઓથી જનું શરીર શણગારેલ રહે છે. તેથી તેઓ દેવાંગના રતિના જેવી લાગે છે. ॥૨૧॥

ક્વચિત્ક્વચિત્સન્તિ મધુસ્વરાસ્તાવયોમિકાન્તા અમલામ્બુવસ્ત્રાઃ ।

પદ્માનના નારીનિમાઃ સુવાપ્યો નિઃશ્રેણિવદ્ધા સુગમાવતારાઃ ॥૨૨॥

અર્થ-કહીં ૨ વે ધનિકોં કી સ્ત્રિયાં વાપી કે સમાન પ્રતીત હોતી હૈં. વાપિકા મધુરસ્વરા કોકિલ સે યુક્ત હોતી હૈ યે મીઠી આવાજ સે યુક્ત હૈં. વાપિકા વયો-મિકાન્તા-પક્ષિયોં સે સુહાવની લગતી હૈ. યે અપની જવાની અવસ્થા સે સુહાવની લગતી હૈં વાપિકા-અમલામ્બુવસ્ત્રા-નિર્મલજલરૂપ વસ્ત્રોં સે યુક્ત હોતી હૈ નિર્મલજલ જૈસે વસ્ત્રોં કો ધારણ કરતી હૈં વાપિકા પદ્મ હી જિસકા મુખ હૈ એસી હોતી હૈ ઓર યે પદ્મ કે જૈસે મુખવાલી હૈં વાપિકા સીડિયોં સે યુક્ત હોતી હૈ-યે નિઃશ્રેણિવદ્ધ હૈં-ઘર સે જવ બાહર નિકલતી હૈં-તવ કનાર વદ્ધ હોકર હી નિકલતી હૈં-અકેલી નહીં વાપિકા સુગમાવતાર હોતી હૈ સીડિયો દ્વારા ડસમેં અચ્છી તરહ સે લોગ ડતરતે હૈં. એસી વાપિકા હોતી હૈ. યે ખી એસી હૈ કિ ક્રોધિત અવસ્થામેં ડન્હેં સમજાને પર નીચે ડતારા જા સંકતા હૈ ॥૨૨॥

ક્યાંક એ ધનવાનોની સ્ત્રિયો વાવના જેવી જણાય છે, વાવ મધુર સ્વરવાળી ડાયવોથી યુક્ત હોય છે. તે મીઠા અવાજવાળી હોય છે. વાવ પક્ષિયોથી સોહામણી લાગે છે, આ સ્ત્રિયો પોતાની યુવાન અવસ્થાથી સોહામણી લાગે છે. વાવ નિર્મલ જલ રૂપી વસ્ત્રોથી યુક્ત હોય છે. આ નિર્મલ જળ જેના વસ્ત્રોને ધારણ કરે છે. વાવ પદ્મજ જેનું મુખ છે તેવી હોય છે અને આ પદ્મના જેવી મુખવાળી હોય છે. વાવ પગથિયા વાળી હોય છે, આ નિઃશ્રેણિવદ્ધ અર્થાત્ ધરથી જ્યારે બહાર નીકળે છે, ત્યારે સમુદયદ્ધ થઇને નીકળે છે. એકલી નહીં. વાવ સુગમાવતાર હોય છે, એટલે કે પગથિયાઓ દ્વારા તેમાં સારી રીતે લોક જવર અવર કરી શકે છે. આ પણ એવી હોય છે કે કુદાવસ્થામાં સમજાવટથી નીચે ડતારી શકાય છે, ॥૨૨॥

શૈલૂપકાન્તેવ મરુસ્થલરૂપાત્ ધરાઽત્ર ધરાઽસ્તિ નૈવાસ્તિ સમસ્વભાવા ।

ક્વચિત્સમા સા વિષમા ક્વચિન્ન ક્વચિન્ન ધૂલ્યાલિન માવૃતાત્મા ॥૨૩॥

અર્થ-મરુસ્થલ હોને સે યહાં ધરા તટની કે સમાન સમસ્વભાવ વાલી નહીં હૈ. કહીં તો યહ વિષમ હૈ, કહોં સમ હૈ ઓર કહીં ૨ યહ ધૂલી પથ્થર કે પર્વતોં સે આવૃત હૈ ॥૨૩॥

भूभूमि होवाथी अलीया पृथ्वी नदीनी जेम सम स्वभाववाणी होती नथी. कयांक ज्ये विषम छे अने कयांक सम छे. अने कयांक कयांक ज्ये धूण अने पत्थशेथी अने पर्वतथी युक्त छे. ॥२३॥

वन्धेव सा कुत्र च निष्फला वा क्वचित्पुरन्ध्रीव फलान्विता वा ।

क्रमेलकानां निचयैः क्वचिद्दोरणैः क्वचिच्छागचयैस्तता वा ॥२४॥

अर्थ-वन्ध्या स्त्री की तरह वह कहीं पर निष्फल है शस्य संपत्ति से हीन पुत्र पौत्रादि से रहित हैं और कहीं पर वह पुरन्ध्री की तरह सफल-फल फूलों से युक्त-पुत्र पौत्रादि से युक्त हैं. कहीं २ यहां उठों के झुंड कहीं भेड़ों का समूह और कहीं यहां बकरा बकरियों का समूह से व्याप्त है ॥२४॥

वन्ध्या स्त्रीनी माइक ते कयांक कयांक निष्कण छे. अर्थात् पुत्र पौत्रादि रहित छे. अने कयांक कयांक भूमीनी माइक सइण पुत्रपौत्रादि परिवारथी युक्त छे. अलीयां कयांक कयांक उठोना टोणा कयांक धेटाओना टोणा अने कयांक अकरा अकरीओना टोणाथी व्याप्त छे. ॥२४॥

क्वचित्करीलादिवनस्पतीनां प्राचुर्यमत्र प्रतिग्राममस्ति ।

क्वचिच्च कौलेय कुटुम्बिनीभ्यो भीति दिवाप्यस्ति पदे पदे ॥२५॥

अर्थ-यहां हर एक ग्राम मे करील आदि वनस्पतियों की प्रचुरता है. तथा किसी २ ग्राम में कुत्तियों का पद पद पर दिन में भी भय है ॥२५॥

अलीं प्रत्येक गाभमां कारेवी विगेरे वनस्पतियोनुं अधिकपणुं छे. तथा कोछ कोछ गाभमां उगवे उगवे कुत्तियोनो अथ द्विसमां पणु रहे छे. ॥२५॥

जैना जना यत्र गुरोर्निपीय धर्माभृतस्यन्दिनीभिद्धवाचम् ।

स्वर्गेऽपि ते निस्पृहवृत्तिभाजो भवन्ति कुत एतद्धृत्यभावात् ॥२६॥

अर्थ-यहां पर जैन जन गुरु से धर्माभृत बहाने वाली विशिष्ट वाणी को-सुनकर स्वर्ग की चाहना से भी रहित हो जाते हैं. क्यों कि स्वर्ग में गुरु की वाणी सुनने को नहीं मिलती है ॥२६॥

अलीं जैन जन समूह गुरुभारण पासेथी धर्माभृत बडेवडाननारी वाणीने सांभणी स्वर्गनी पणु उच्छा करता नथी. केमके-स्वर्गमां गुरुनी वाणी सांभणवाः भवती नथी. ॥२६॥

नित्योऽसवास्ते च कृतज्ञभावात् पात्रादिदानप्रभृतीद्धकार्ये ।

गुणैः सदा भक्तिभरावनम्राः स्वयोग्यसेवां दधतीह नित्यम् ॥२७॥

अर्थ-नित्य उत्सव करने वाले वे लोग कृतज्ञतावश पात्र आदि विशिष्ट कार्योद्वारा गुरुदेवों की भक्ति से युक्त होकर अपने से जितनी सेवा हो सकती है, उतनी सेवा करते हैं ॥२७॥

प्रतिदिन उत्सवो करनास अं वेदो कृतज्ञपण्णथी पात्रादि विशेष कार्यो द्वारा गुर्देव प्रत्येना भक्तिभावथी प्रेरित थर्धने पोतानाथी नटकी यनी शडे तेटकी सेवा करे छे. ॥२७॥

विदग्धतैषां चतुरैः सुवेषैः धनर्द्धयोऽनर्ध्यसुभूषणैश्च ।

तारुण्यभूतिश्च विलासभावै रूपासकानां खलु सूच्यतेऽत्र ॥२८॥

अर्थ-यहां श्रावकों की उनके सुन्दर वेष भूषा से चतुराई, वेश कीमती सुन्दर आभूषणों से धनिकता एवं विलास भावों से जवानी का प्रारम्भ होता जाता है. ॥२८॥

अर्धीं श्रावडाना सुंदर वेषभूषाथी तेमनी यतुराध, सुंदर अलंकारेथी तेमनुं धनिक पण्णुं अने विलास भावोथी तेमनी युवानी प्रगट थती न्णुय छे. ॥२८॥

सत्पात्रदानादिषु रागभावाच्छीलोपवासे च तथानुरागात् ।

गुर्वन्तिके भक्त्यनुरूपवासाद्भव्यत्व मेषा मनुमीयते द्राक् ॥२९॥

अर्थ-सत्पात्रदान आदिकों में राग भाव होने से, शील पालने में- और उपवास करने में अति अनुराग होने से, एवं गुरु जनों के पास भक्ति के अनुरूप ऊठने बैठने से इन श्रावकों का भव्यत्वभाव बहुत जल्दी अनुमानित हो जाता है ॥२९॥

सत्पात्रदान विगेरेभां रागभाव होवाथी शील पाणवाभां अने उपवास करवाभां उत्कट अनुराग होवाथी तथा भक्तिभावथी गुर्जनो पासे उठवा गेसवाथी आ श्रावडानुं अन्ध-पण्णुं थण्णुं न् नदिदथी अनुमानित थाय छे. ॥२९॥

दयादमत्यागतपोऽनुरक्तै र्भव्योऽर्जितं कर्म लुनाति भावैः ।

कर्मक्षये कारणमेति देवः शास्त्रं गुरुर्वा तद्भक्तिरागः ॥३०॥

अथ-दया दम, त्याग और तप में अनुरक्त भावों द्वारा भव्य जीव अर्जित किये गये कर्मों को काट देता है. ठीक बात है कर्मक्षय होने में निमित्त कारण देव शास्त्र और गुरु तथा उनकी भक्ति में अनुराग का होना कहा गया है ॥३०॥

દયા, દમ, ત્યાગ, અને તપમાં અનુરાગ ભાવથી ભવ્ય જીવો પ્રાપ્ત કરેલા કર્મોને ભેદી નાખે છે અને કર્મોનો ક્ષય થવામાં નિમિત્ત કારણુદેવ, ગુરુ અને શાસ્ત્ર તથા તેમની ભક્તિમાં અનુરાગ હોવાનું કહેલ છે. ॥૩૦॥

दोषैर्ह्यष्टादशभिर्विहीनो देवश्च बाह्यान्तरसंगशून्यः ।

गुरुश्च तद्गोर्नत्वागमश्च एतत् त्रयं जीवहितोपदेष्टः ॥३१॥

અર્થ-અઠારહ દોષોં સે રહિત દેવ, બાહ્ય ઓર આભ્યન્તર પરિગ્રહ સે શૂન્ય ગુરુ, ઓર અર્હન્ત દેવ કી વાણી રૂપ આગમ યે તીન જીવ કે હિતોપદેષ્ટા માને ગયે હૈં ॥૩૧॥

અઠાર દોષોથી રહિત દેવ, બાહ્ય અને આભ્યન્તર પરિગ્રહ રહિત ગુરુ અને અર્હન્ત દેવની વાણી રૂપ આગમ આ ત્રણ જીવના હિતકારક માનેલ છે. ॥૩૧॥

गुणानुरागाद् शुभान्निवृत्तिर्दयादि भावेषु च सत्प्रवृत्तिः ।

सद्देवहीनेऽस्मिन् भारताख्ये क्षेत्रे शरण्या गुरुदेववाणी ॥३२॥

અર્થ-ગુણોં મે સમ્યગ્દર્શનાદિ સદ્ગુણોં મેં-અનુરાગ કરને સે જીવ કે અશુભકી નિવૃત્તિ હોતી હૈ ઓર શુભ મેં પ્રવૃત્તિ હોતી હૈ. ઇસ કલિ કાલ મેં સાક્ષાત્કેવલ જ્ઞાની અર્હન્ત દેવ સે વિહીન ભરત ક્ષેત્ર મેં કેવલ એક ગુરુદેવ કી વાણી હી શરણ ભૂત હૈ. ॥૩૨॥

સમ્યગ્દર્શન વિગેરે ગુણોમાં પ્રીતિ કરવાથી જીવના અશુભની નિવૃત્તિ થાય છે. અને શુભમાં પ્રવૃત્તિ થાય છે. આ કલિકાળમાં સાક્ષાત્કેવળજ્ઞાની અર્હન્ત દેવને છોડીને કેવળ એક ગુરુદેવની વાણી જ શરણભૂત છે. ॥૩૨॥

जीवादितत्त्वेषु च जायते या स्वभावतो वाऽथ परोपदेशात् ।

श्रद्धा च सम्यक्त्व मनेन युक्तो भव्यो द्यુસद्धिर्भवति प्रपूज्यः ॥३३॥

અર્થ-જિસ ભવ્ય જીવકી સ્વભાવતઃ અથવા પરકે ઉપદેશ-ગુર્વાદિક કે ઉપદેશ સે જીવાદિતત્ત્વો મેં. જીવ અજીવ ગુણ્ય પાપ આસ્રવ, બંધ સંવર, નિર્જરા એવં મોક્ષ ઇન નૌ તત્ત્વોં મેં જો શ્રદ્ધા હોતી હૈ ઉસકા નામ સમ્યક્ત્વ હૈ. ઇસ સમ્યક્ત્વ સે યુક્ત હુઆ જીવ દેવોં કે દ્વારા પૂજ્ય હો જાતા હૈ. ॥૩૩॥

જે ભવ્યજીવની સ્વાભાવિક રીતે અથવા ગુર્વાદિના ઉપદેશથી જીવાદિ તત્ત્વોમાં એટલે કે- જીવ, અજીવ, પુણ્ય, પાપ, આસ્રવ, બંધ સંવર, નિર્જરા અને મોક્ષ આ નવ તત્ત્વોમાં જે શ્રદ્ધા હોય છે તેનું નામ સમ્યક્ત્વ છે. આ સમ્યક્ત્વથી યુક્ત થયેલ ભવ્ય જીવ દેવો દ્વારા પૂજ્ય અને છે. ॥૩૩॥

सम्यक्त्व सद्भावपवित्रचित्ता वित्तेन रिक्ता परमार्थजुष्टाः ।

पोतायमाना भवसिन्धुमेनं तरन्ति वान्यानपि तारयन्ति ॥३४॥

अर्थ—सम्यक्त्व के सद्भाव से पवित्र चित्तवाले मनुष्य चाहे धन से दरिद्रि भी क्यों न हो पर वे दरिद्रि नहीं माने जाते हैं. क्यों कि उनके पास परम अर्थ—उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञान दर्शन रूप धन मौजूद है. ऐसे वे जीव इस संसार रूप समुद्र को पार करने के लिये पोतायमान हैं—जहाजके जैसे हैं स्वयं उससे पार होते हैं और दूसरों को भी उससे पार उतार देते हैं । ॥३४॥

सम्यक्त्वना सद्भावथी पवित्र चित्तवाणो मनुष्य उदाय धनथी दरिद्र पशु होय तो पशु ते दरिद्री बनातो नथी. उम उे तेनी पासे परम अर्थ—उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञान दर्शनरूप धन विद्यमान छे, ऐसे ते जव या संसाररूप समुद्रने पार करवा भाटे नौका समान छे. स्वयं तेमांथी पार थाय छे अने अन्यने पशु तेनाथी पार उतारी दे छे. ॥३४॥

सम्यक्त्वशुद्ध्या परिशुद्धबोधः शुद्धं च वृत्तं भवबीजनाशि ।

एकेन केनापि न जायते सः भवाङ्कुरोत्पत्ति विनाशभावः ॥३५॥

अर्थ—सम्यक्त्व की शुद्धि से परिशुद्ध हुआ बोधज्ञान और शुद्ध चारित्र संसार के बीज रूप मिथ्यात्व आदिका नाशक होता है. अकेले किसी से भी संसार रूप अङ्कुर की उत्पत्ति करने वाले कारण का नाश नहीं होता है ॥३५॥

सम्यक्त्वनी शुद्धिथी शुद्ध थयेल बोधज्ञान अने शुद्ध चारित्र्य संसारना पीरूप मिथ्यात्व विगेरेने नाश करे छे. उाछ पशु अकथी संसाररूप अङ्कुरने उत्पन्न करवाणा कारणने नाश थछ शकतो नथी. ॥३५॥

सदर्शनज्ञानचरित्रमेतत्त्रयं च मुक्ते भवतीतिमार्गः ।

मुक्त्यङ्गनालिङ्गनकामुकेन दूतीनिभं तत्त्रितयं सुसेव्यम् ॥३६॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ये सम्यक् तपत्रय ही मिलकर मुक्ति का मार्ग बनते हैं इसलिये जो मुक्ति रूरी अंगना के आलिङ्गन करने के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे उसकी प्राप्ति में दूती के जैसे इन तीनों की अच्छीतरह से सेवा करें ॥३६॥

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन अने सम्यक् चारित्र तथा सम्यक्तप या चारे मणीने मुक्तिने मार्ग अने छे. तेथी मुक्तिरूपी अंगनाने जेणु बेठवुं होय तेमणु जणुवुं जेधजे. उे तेने प्राप्त करवाभां दूतीरूपी या त्रणुनुं सारी रीते पालन करवुं जेधजे. ॥३६॥

सम्यक्त्व संस्पर्शनमात्रतोऽपि जीवो भवति प्रमितां करोति ।
मिथ्यात्वदृष्टिं च विमुच्य भव्यैर्गुरुशाक्तदरं सुलभ्यम् ॥३७॥

अर्थ-सम्यक्त्व के स्पर्शन करने मात्र से ही जीव अपने संसार को सान्त कर लेता है. अतः भव्य पुरुषों का कर्तव्य है कि वह मिथ्यात्वदृष्टि का परित्याग करके गुरु महाराज के उपदेश से उस सम्यक्त्व को शीघ्र प्राप्त करें. ॥३७॥

सम्यक्त्वने स्पर्श मात्र करवाथी न एव पीताना संसारने अंत करे छे, तेथी लब्ध-
बनेतुं कर्तव्य छे के तेथे मिथ्यत्व दृष्टिने त्याग करीने गुरुमहाराजना उपदेशने हृद्यंगम
करीने अे सम्यक्त्वने सत्वर प्राप्त करे. ॥३७॥

सर्वासु तावद्गतिषु तदेतत्सम्यक्त्वरत्नं संभवतीति देवैः ।

आख्यातमन्तःकरणत्रिशुद्ध्या गुरुपदेशात्तदिहप्रथार्यम् ॥३८॥

अर्थ-समस्त गतियों में-चारों गतियों में-यह सम्यक्त्व रूपी रत्न उत्पन्न होता है ऐसा जिनेन्द्र देवका कथन है अतः अन्तःकरण की त्रिशुद्धि से-मन-बचन एवं काय की विशिष्ट शुद्धि से-या गुरु महाराज के सदुपदेशसे-इस काल में इसे अच्छी तरह से प्राप्त करना चाहिये. ॥३८॥

आरे गतिमां आ सम्यक्त्व र्शी रत्न उत्पन्न थाय छे. अे प्रभाषे एनेन्द्र देवतुं
कथन छे. तेथी मन, वचन अने काय अे त्रिणेनी शुद्धिपूर्वक अंतःकरणनी विशुद्धिथी
अथवा गुरु महाराजना उपदेशथी आ समये तेने प्राप्त करवा सारी रीते प्रयत्नशील
थवुं अे छे. ॥३८॥

शुद्धस्य सदृशननः प्रभावात् जीवास्तिर्यङ् ष्वन्नरादियोनिम् ।

नैवाऽनुवन्तीतिजिनेन्द्रदेवैरुक्तं न वाते भवनत्रिकत्वम् ॥३९॥

अर्थ-शुद्ध-निर्दोष-सम्यग्ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य के प्रभाव से जीव न
तिर्यञ्च गति में जन्म धारण करता है न नरक गति में जन्म धारण करता
है और न वह भवन वासीव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होता है.
यहां तक की वह अनुष्यगति में भी जन्म धारण नहीं करता है. सीधा वह
वैमानिक देवों में ही जन्म धारण करता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है. ॥३९॥

शुद्ध निर्दोष सम्यग्ज्ञान दर्शन अने चारित्र्यना प्रभावथी एव तिर्यञ्च गतिमां
जन्म पाभते नथी, नरक गतिमां पणु जन्म पाभते नथी. तथा लवनवासी व्यन्तर देव
अथर ज्योतिष्क देवोमां पणु उत्पन्न थते नथी. ते सीधे सीधे वैमानिक देवोमां न जन्म
धारण करे छे. अेम एनेन्द्र देवे कथुं छे. ॥३९॥

इत्थं मुनीनां च मुखारविन्दाच्छ्रोत्रविन्देन वृषोपदेशम् ।

विनिःसृतं मंगलमेव मत्वा जनाः स्वकण्ठे दधते निपीय ॥४०॥

अर्थ-इस प्रकार के वह मुनिराज के मुखारविन्द से इस निर्गत हुए उपदेश को कर्णारविन्दों द्वारा सुनकर वहाँ के मनुष्य उसे मंगल रूप मानकर अपने कण्ठ में धारण करते हैं ॥४०॥

आ प्रकारना मुनिराजना मुखारविन्दी नीकण्ठे उपदेशने सांख्यीने मनुष्यो तेने मंगलरूप मानिने तेने पीताना कंठमां धारणु करे छे. ॥४०॥

श्रुतोपदेशप्रभवप्रभावाज्जना भवतापशरीरभोगात् ।

केचिद्विरक्ता मुनयो भवन्ति केचिच्च गृहस्थप्रतिमां वहन्ति ॥४१॥

अर्थ-सुने गये उपदेश के प्रभाव से वहाँ पर कितनेक मनुष्य तो संसारजन्य ताप से, शरीर और भोगों से विरक्त होकर मुनि हो जाते हैं और कितनेक गृहस्थ का आवकवत को वहन कर लेते हैं ॥४१॥

सांख्यनामां आनेका उपदेशना प्रभावथी त्यांना डेटलाक मनुष्यो तो सांसारिक तापथी शरीर आने भोगोथी विरक्त पनीने मुनि थछ अथ छे, आने डेटलाक गृहस्थ अवस्थाभां रहीं आवक वतने धारणु करे छे. ॥४१॥

अनेक योनौ बहुशो भ्रमिन्वा जीवेन पिण्डत्वसिवागतेन ।

पुण्येन लब्धव्यमिदं नस्त्वं लब्धं प्रमादः स्वहिते न कार्यः ॥४२॥

अर्थ-अनेक योनियों में-८४ लख जीवयोनियों में-बहुशः अनेक बार भ्रमण करके-जन्म मरण करके-बड़े भारी पुण्य के ढेर प्राप्त होने योग्य इस मनुष्य जन्म को जीवने प्राप्त किया है अतः हे जीव तुझे अपना हित करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥४२॥

अनेक योनियोभां अर्थात् ८४ योर्थासी लाख योनियोभां अनेकवार भ्रमणु करीने अर्थात् जन्म मरण धारणु करीने वणु न अधिक पुण्यना प्रभावथी आ मनुष्यसवने छेवे प्राप्त करेस छे, तेथी हे छव ! तारे पीतानुं हित करेनाभां प्रमाद सेवने न ओर्ध अ ॥४२॥

अस्मिन् सुराज्ये न समस्ति कोऽपि समन्तभद्रोऽपि शुद्धस्वरूपम् ।

अहीन संसर्गयुतोऽपि नास्ति अहीन संसर्गयुतश्च कोऽपि ॥४३॥

अर्थ-इस सुराज्य में समन्तभद्राचार्यने धर्म के शुद्ध स्वरूप का उपदेश किया था, उनके तुल्य कोई उपदेशक नहीं था। यहाँ पर सज्जनों के संगवर्जित कोई भी नहीं थी, एवं हीन पुरुषों का कोई संसर्ग रखते नहीं थे ॥४३॥

आ सुराभ्यमां समन्त लद्राचार्ये धर्मना शुद्ध स्वप्नो उपदेश करेव तेभना समान
 कोष्ठ उपदेशक न होता. अह्निं सञ्जनोना संसर्गथी रहित कोष्ठ न होतुं. तथा हीन पुत्रोना
 कोष्ठ संसर्ग राखतुं न होतुं. ॥४३॥

द्विजिह्वता सर्पकुले च मीने विषस्य पानं न जनेषु कार्श्यम् ।

विलोक्यते संयमिनां वपुःसु नावश्यकेना ध्ययने कदाचित् ॥४४॥

अर्थ-यहां द्विजिह्वता-दो जीभों का सद्भाव सर्पकुल में ही देखा जाता
 है मनुष्यों में द्विजिह्वता-चुगलखोरीपना नहीं देखा जाता है केवल मीन-
 मछली में ही विष-जल-का पान देखा जाता है. मनुष्यों में विष-जहर का
 पान करना नहीं देखा जाता है. केवल संयमियों के शरीर में ही कृशता
 देखी जाती हैं आवश्यक कार्यों में और अध्ययन में कृशता-शिथिलता नेहां
 देखी जाती है. ॥४४॥

अह्निं द्वीलुह्वता-भे लुभेनो सद्भाव सर्पोमां न जणुतो होता. मनुष्योमां द्वि
 लुह्वता-याडियापणुं जणुतुं न होतुं, माछलामां डेवण विष-जणुतुं पान जणुतुं
 होतुं, मनुष्योमां विष-जहेरतुं पान जणुतुं न होतुं. संयमीओना शरीरोमां न दुर्धण-
 पणुं देपातुं होतुं, आवश्यक कार्योंमां अने अध्ययनमां कृशता-शिथिलपणुं देपातुं
 न होतुं. ॥४४॥

पंचेन्द्रियेष्वेव च निग्रहत्वं न भूतग्रामे च तदस्ति जातु ।

यत्रस्थितः पञ्जरके विरोधः न प्राणिजर्गेषु कदापि कुत्र । ४५॥

अर्थ-जहां पांचों इन्द्रियों में ही निग्रहतावस्थित है भूतग्राम में यह निग्र-
 हता स्थित नहीं हैं पींजडा में ही वि-पक्षियों का रोध-बन्द कर रखना है
 प्राणियों में परस्पर में विरोध वैरभाव नहीं है ॥४५॥

पांचे इन्द्रियोनुं निग्रहपणुं त्यां होतुं प्राणियोमां ते निग्रहपणु न होतुं. पांजरांमां
 न पक्षियोनो रोध कडेता अंधन होतुं. प्राणियोमां परस्पर विरोध-वैरभाव न होतो. ॥४५॥

भंगस्तरङ्गेषु गजेषु बंधः निम्निशताऽसौ दशने निपातः

गर्तेषु निम्नत्वमुरोजयुग्मे कृष्णास्यता नैव जनेषु केषु ॥४६॥

अर्थ-यहां पर केवल जलाशयों कि तरङ्गों में भङ्गुरता है, हाथियों में बंधन
 है, तलवार में निर्दयता है, दांतों में पत्तन हीलता है; गड्डों में निम्नता है. एवं
 स्तनों में कृष्णमुखता है मनुष्यों में नहीं है. ॥४६॥

अही केवण जलाशयोना तरंगोमां ज अंगुरता लक्षणपणुं, हाथियोमां अंधन, तद्वारमां निर्दयपणुं, दांतामां पडनापणुं आडाओमां निव्याणुपणुं अने स्तनोमां शामभुषता उता मनुष्योमां न उता ॥४६॥

विचित्रचित्रेष्वलोकप्रतेऽत्र वर्णस्य साङ्कर्यमथ प्रजासु ।

न नास्ति कार्तस्वरताऽपि कोषे तस्या सुवर्णे भणनाद्वर्षीमि ॥४७॥

अर्थ—विचित्र प्रकार के चित्रों में हीं यहां पर वर्ण की संकरता—मिलावट देखी जाती है, प्रजाजनों में वर्ण सङ्करता नहीं देखी जाती और न कार्तस्वरता—दुःखित होने पर दिनना भरी वाणी का बोलना भी—देखी जाती है. क्यों कि यह—कार्तस्वरता सुवर्ण में इस शब्द का प्रयोग होता है ऐसा कोष में ही लिखा मिलता है. वहां के प्रजाजनों में नहीं ॥४७॥

अहीया यित्र विचित्र प्रकारना यित्रोमां ज वर्णुनी संकरता लक्षणसेण पणुं दृष्याय छे. प्रअजोमां वर्णुसंकरपणुं जणुतुं नथी. तथा कार्तस्वरपणुं हीनतावाणी वाणी ओलनापणुं जणुतुं नथी कारणु छे आ कार्तस्वरपणुं अे शब्दो प्रयोग सेनामां थाय छे. अे रीते कोषमां जणुय छे, तेथी ते त्यांना प्रअजोमां ते न उतुं. ॥४७॥

राज्येऽस्त्यथाऽस्मिन्नहट्टवाडाग्रामः सुम्योजनताकुलाढ्यः ।

नमस्तलस्पर्शिमनोमहर्ष्यैर्यत्र कश्चिद्राजनभूपदेशः ॥४८॥

अर्थ—इस सिरोही राज्य में बहुत सुन्दर एक ग्राम है जिसका नाम अरहट्ट वाडा है. यह जनता से भरा हुआ है यहां जो मकान है वे कहीं २ बहुत बड़े ऊंचे हैं ॥४८॥

आ शिरोही राज्यमां 'अरहट्टवाडा' नामतुं धणुं ज सुंदर अेक ग्राम छे ते जनसभूढथी लरपूर छे अहीं जे मकानो छे ते धणुं ज उंचा छे. ॥४८॥

सत्पात्रदानादिषु भक्तिमन्तः साधोः सपाराधनसक्तचित्ताः ।

सन्तः स्वयंसेवित साधुमार्गाः द्युतादि सप्तव्यसनैर्विहीनाः ॥४९॥

दयार्णवागण्यगुणैकपण्या भद्राः प्रकृत्या निरुपद्रवास्ते ।

अर्हन्प्रतेन्दीवसाजहंसा सुश्रावका अत्र वसन्ति धन्याः ॥५०॥

अर्थ—यहां अनेक धनिक श्रावक जन निवास करते हैं इनकी सत्पात्रों को दान देने आदि में विशेष भक्ति है ये साधु पुरुषों की आराधना में दत्त चित्त रहते हैं द्युत आदि सप्तव्यसनों में फसने की वृत्ति से ये बिलकुल दूर

रहते हैं क्यों कि ये सदाचार युक्त मार्ग के सेवक हैं दया का समुद्र इनके हृदयों में हिलोरे लिया करता है गणनीय गुणों के ये पण्यरूप हैं. प्रकृति से ये भद्र हैं न ये किसी के वैरी हैं और न इनका कोई वैरी है. सदा ये उपद्रवों से विहीन हैं और अर्हन्त प्रभु के मतरूप कमलों के ये राजहंस हैं ॥४९॥५०॥

अर्हन्त अनेक धनवान् श्रावण वसे थे, तेजोः सत्यात्रोने दान देवामां विशेष श्रद्धा धरावे थे. तेजो साधुपुत्रोनी आराधना भाटे उभेशा तत्पर रहे थे, धूतादि सात प्रकारना व्यसनामां इसावानी वृत्तिथी तेजो दूर न रहे थे. इम के तेजो सदाचार युक्त मार्गानुं सेवन करवावाणा थे. तेमना हृदयोमां द्याना समुद्र डिक्वारा वे थे, गणुनापात्र गुणुना तेजो छर रूप थे तेजो स्वभावथी न लद्र पुत्रो थे, तेजो डाधना पर वैरभाव राप्यता नथी तथा तेमना पणु डाध वैरी नथी. तेजो सदा उपद्रव शून्य थे. अने अर्हन्त प्रभुना मतरूप कमलोना राजहंस जवा तेजो थे. अर्थात् तेजो अर्हन्त मार्गना उपासको थे. ॥४९-५०॥

स्वकीयकार्याद्विनिवृत्तचित्ता यदा यदेमे समिता भवन्ति ।

तदा तदा तात्त्विकचिन्तनोत्थां विचारधारां परिकीर्त्तयन्ति ॥५१॥

जब जब इन्हें अपने २ कार्यों से फुरसत मिलती है-तब तब ये एकत्रित होकर तात्त्विक विचार करते हैं और उससे जो इन्हें रहस्य प्राप्त होता है उसे वे आपस में एक दूसरों, को सुनाते हैं ॥५१॥

तेजोने ज्यारे ज्यारे पोताना कार्यमांथी अवकाश भणे थे, त्यारे त्यारे तेजो अेकडा थईने तत्त्वसंभंधी विचार विनिमय करे थे, अने तेनाथी तेजोने न रहस्य भणे थे ते परस्पर अेकथीअने नष्ठावे थे. ॥५१॥

निमित्त नैमित्तिक भावतोऽयमनादितः पुद्गल कर्मजालैः ।

बद्धोऽस्ति जीवो ननुबंध हेतुर्मिथ्यादृगादिः कथितो जिनेन्द्रैः ॥५२॥

अर्थ-यह जीव अनादि काल से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को लेकर पौद्गलिक कर्मजालसे बद्ध है और बन्ध के हेतु मिथ्यादर्शन आदि हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥५२॥

आ एव अनादि काणथी नित्य नैमित्तिक संभंधने लईने पौद्गलिक कर्मजालथी संभंधेस थे, अने संभंधननुं कारण मिथ्यादर्शन विगेरे थे, ओ प्रमाणु एतेन्द्र देवे कुंछुं थे. ॥५२॥

बंधेषु योगात्प्रकृतिादेशौ कषायतः स्थित्यनुभागबंधौ ।

जायेत इत्थं भवतीति बन्धश्चतुर्विधोऽसौ गदितो विधीनाम् ॥५३॥

अर्थ-बंध चार प्रकार का है (१) प्रकृतिबंध (२) स्थितिबंध (३) अनुभाग-बंध, और (४) प्रदेशबंध. इनमें योग से-मन वचन और काय की क्रिया से-प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं तथा काषाय से-क्रोधमान, माया और लोभ से-स्थितिबंध और अनुभाग बन्ध होते हैं. इस प्रकार से कर्मों का बन्ध चार प्रकार का होता कहा गया है ॥५३॥

प्रकृतिबंध (१) स्थिति बंध (२) अनुभाग बंध (३) अने प्रदेश बंध (४) आरीते बंध चार प्रकारना छे. आभां मन, वचन, अने कायनी क्रियाइय योगथी प्रकृति बंध अने प्रदेश बंध थाय छे, तथा क्रोध, मान, माया अने लोभ इपी कषायथी स्थिति बंध अने अनुभाग बंध थाय छे. आ प्रमाणे कर्मेना बंध चार प्रकारना थाय छे. ॥५३॥

जीवः स्ववैभाविक शक्तियुक्तो निरन्तरं पौद्गलिकं च कर्म ।

बध्नाति पश्चाद्दुदयागतानां फलं च तेषां स्वयमेव भुङ्क्ते ॥५४॥

अर्थ-जीव अपनी वैभाविक शक्ति राग द्वेष से युक्त हुआ निरन्तर पौद्गलिक कर्म का बन्ध करता है. पश्चात् उदय में आए हुए-उन कर्मों के फल को स्वयं ही भोगता है ॥५४॥

७७ पीतानी वैभाविक शक्तिइय रागद्वेषथी युक्त थछने निरन्तर पौद्गलिक कर्मेना बंध करतो रहेछे. अने पछीथी उदयभां आवेक्षा अे कर्मेना इणने पीते अ भोगवे छे. ॥५४॥

शुभं कदाचिद्धयशुभं कदाचिच्छुभाशुभं यच्छति तत् फलं स्वम् ।

चारित्रमोहोदयवृत्तिमत्त्वाज्जीवो व्रतं धारयितुं ह्यनीशः ॥५५॥

अर्थ-यह जीव कभी कर्मों के शुभफल को कभी अशुभ फलको और कभी शुभाशुभ फलको भोगता है. परन्तु जब तक इसके चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक यह जीव व्रत-चारित्र-को धारण करने में असमर्थ रहता है ॥५५॥

आ ७७। डोछ वार कर्मेना शुभ इणने तो डोछ वार अशुभ इणने अने डोछ वार शुभाशुभ इणने भोगवे छे. परंतु ज्यां सुधी तेने चारित्र-मोहनीय कर्मेना उदय रहे छे, त्यां सुधी आ ७७ व्रत-चारित्र धारण करवाभां असमर्थ रहे छे. ॥५५॥

मिथ्यात्वमोहेन विभिन्नभावात् स्वस्मादभिन्नानभिसत्य मूढः ।

तद्धानिवृद्धौ सततं प्रसक्तस्तस्यां च सत्यां न निराकुलोऽसौ ॥५६॥

अर्थ—यह जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थों को अपने से अभिन्न मानकर उनकी हानि वृद्धि करने में—निरन्तर लगा रहता है कदाचित् इसकी धारणा के अनुकूल उनकी हानिवृद्धि हो भी जाती है फिर भी यह निराकुल नहीं बनता है. ॥५६॥

आ श्रुत्वा मिथ्यात्व मोहनीय कर्मना उदयथी पोतानाथी सर्वथा भिन्न पदार्थानि पोतानाथी अभिन्न मानीने तेनी हानि वृद्धि करवाभां निरन्तर तेभां लागेवो रहे छे. उदय तेनी धारणां अतुङ्ग तेनी हानि वृद्धि थछ पशु अथ तो पशु ते व्याकुलता रक्षित थतो नथी. ॥५६॥

यथा घृतक्षेपणतो न वह्निः प्रशाम्यति प्रत्युत वृद्धिमेति ।

तथैव भोगैर्न च शाम्यतीच्छा लाभे च तेषां परिवर्द्धते सा ॥५७॥

अर्थ—जिस प्रकार घृत के प्रक्षेपण से अग्नि शान्त नहीं होती उल्टी वह बढ़ती है उसी प्रकार भोगों से जीव की इच्छा शान्त नहीं होती प्रत्युत जैसे जैसे. उनका जीव को लाभ होता है—वैसे वैसे वह बढ़ती ही जाती है ॥५७॥

जम धी नाश्वनाथी अग्नि शांत थतो नथी. पशु उदय ते वथे छे अज रीते भोग भोगवनाथी श्रुतनी इच्छा शमती नथी. परंतु जम जम भोगोनी श्रुते प्राप्ति थती रहे छे, तेम तेम तेनी इच्छा वधती अ अथ छे. ॥५७॥

मिथ्यात्वमोहोदयतः पदार्थान् परान् स्वकीयानभिसत्य सोऽयम् ।

जीवः स्वरूपं ह्यविमृश्य नैजं दुःखं गिरिन्द्रोपममभ्युपैति ॥५८॥

अर्थ—मिथ्यात्व मोहके उदय से यह जीव पर पदार्थों को अपना मानकर और अपना निजका स्वरूप नहीं विचार कर गिरिन्द्र—सुमेरु पर्वत के जैसे दुःखों को भोगता रहता है ॥५८॥

मिथ्यात्व मोहना उदयथी आ श्रुत्वा अन्यना पदार्थानि पोतानो मानीने अने पोताना नीलस्वरूपतो विचार कर्था निना गिरीन्द्र सुमेरु-पर्वत जेवा दुःखो भोगव्या करे छे. ॥५८॥

आयुश्च सान्तं परिभुज्यमानं इच्छाह्यनन्ताः प्रतिजन्तु सन्ति ।

तासामपूर्तौ स्वत एव जन्तो भवत्यशान्तिर्न निराकुलत्वम् ॥५९॥

अर्थ—हर एक प्राणी की परिभुज्यमान आयु सान्त है और इच्छाएं अनन्त हैं जब उन सब की पूर्ति नहीं हो पाती है तो यह स्वाभाविक है कि उस

जन्तु को अशान्ति होती है. तो फिर ऐसी हालत में जन्तु में निराकुलता नहीं हो सकती है. ॥५९॥

दर्रेक प्राणीतुं लुब्धमान आधु सान्त छे, अने छरिछाओ अन्त छे, अथारे ते अधानी पूर्ति नथी थती तो अे स्वाभाविक छे के-अे प्राणीने अशांति रहे अ छे. अथी अे परिस्थितिमां प्राणिमां निराकुण पणुं थछ शकतुं नथी. ॥५९॥

निराकुलत्वं खलु साधुवृत्तौ तदर्थिना सा परमादरेण ।

ग्राह्येति केचिद्वधते विमृश्य विहाय संगं मुनिवृत्तमत्र ॥६०॥

अर्थ-इसलिये जो जीवन में निराकुलता के अभिलाषी हैं उनका कर्तव्य है कि वे बड़े आदर के साथ उस साधुचर्या को धारण करें. क्योंकि साधुचर्या में ही निराकुलता है. ऐसा विचार कर यहां कितनेक मनुष्य परिग्रह का परित्याग करके मुनिवृत्ति को धारण करते रहते हैं । ॥६०॥

तेथी अेओ लुब्धमानां निराकुण पणानी छरिछावाणा छे तेभनुं अे कर्तव्य छे के- तेओ धणा अे आदर पूर्वक अे साधुचर्यानि धारण करे, केअ के साधुचर्यामां अे निराकुण पणुं छे आभ विचारीने अहीं केटकाक मनुष्यो परिग्रहो परित्याग करीने मुनिवृत्तिने धारण करे छे. ॥६०॥

पदे पदे धर्मरसायनस्य संसेवकाः सन्ति गृहेऽत्र ।

अतो जनानां विलसन्ति भावा त्तिनाशाय भवाविनैव यत्नम् ॥६१॥

अर्थ-यहां पर पद पद पर प्रत्येक घरमें धर्म रूपी रसायन के सेवक बहुत हैं इसलिये बिना किसी उपदेशरूप प्रयत्न के मनुष्यों के मुनि-होने के भाव अपनी अपनी भवार्ति के विनाश के लिये उद्भूत होते रहते हैं ॥६१॥

अहीं उगवे उगवे दर्रेक धरमां धर्मरूपी रसायनना उपासक धणा छे, तेथी उपदेशादि पोत पेतानी अत्रव्याधिना शमन भाटे आर्थ पणु प्रकारना प्रयत्न बिना मनुष्योने मुनिपणु धारण करवाना आव थता रहे छे. ॥६१॥

जनेषु साधु भुवनेषु मध्यः पुष्पेषु कंजः हृषीकेषु नेत्रम् ।

सुमेषु गंधोऽस्ति यथा प्रशस्यस्तथैव हैमेन्दुसमीषु मुख्यः ॥६२॥

अर्थ-मनुष्यों में साधु, त्रिभुवन में मध्यलोक, पुष्पों में कमल, इन्द्रियों में नेत्र एवं पुष्प में गंध जिस प्रकार प्रधान मानी जाती है. उसी प्रकार यहां के श्रावकों में हैमचन्द्र सेठ प्रधान गिने जाते थे. ॥६२॥

मनुष्योंमें साधु, त्रष्टु लोकमें मध्यलोक, पुष्पोमें कमण, छन्द्रीयोमें नेत्र, तथा पुष्पमें गंध जेम मुष्प रीते मानवामें आवे छे, तेज प्रमाणे अहीना श्रावणामें हेमचंद्र-शेठने मुष्प मानवामें आवता हता ॥६२॥

तस्य क्रियाचारविशुद्धबुद्धेर्बभूव सौन्दर्यमणेः कण्डम् ।

मनोऽनुकूला प्रियधर्मपत्नी गंगाभिधानङ्गमनस्विनीव ॥६३॥

अर्थ-श्रावणधर्म के योग्य क्रियाओं एवं आचार से उसकी बुद्धि विशुद्ध है ऐसे उस हेमचन्द्र सेठ के मनके अनुकूल चलने वाली प्रिय धर्मपत्नी गंगा देवी थी, जो काम की पत्नी रति के समान सौन्दर्य की मंजूषारूप थी ॥६३॥

श्रावण धर्मानुक्षण द्वियाञ्चो अने आचारथी जेनी बुद्धि शुद्ध छे जेवा जे हेमचंद्र-शेठना मनने अनुक्षण रहेवावाणी गंगादेवी नामनी प्रिय धर्म पत्नी हती, डे जे कामदेवनी पत्नी रतिना जेवी सौन्दर्यने बंउर हती. ॥६३॥

दिनं पवित्रं घटिकाच पूता तिथिश्च साऽभूदधिका पवित्रा ।

यस्यां सुसंपन्न विविर्बभूव स्वरूपयोग्यो ह्यनयोर्विवाहः ॥६४॥

अर्थ-वह दिन, वह घड़ी और वह तिथि अत्यन्त पवित्र थी कि जिसमें स्वरूप के अनुरूप इन दोनों का विधि पूर्वक विवाह हुआ ॥६४॥

ते द्विवस, ते धडी अने ते तिथि धरणी जे पवित्र हती डे जेमें पोताना स्वरूपनी शोभर जे जेठना विधिपूर्वक विवाह थयो. ॥६४॥

सुवर्णमणयोस्वि योग एष जातोऽनयोर्बन्धुजनैः प्रशस्यः ।

किंचाधिकं वा ह्यभिनन्दितोऽसावुक्तेन साध्यं कुलदेवताभिः ॥६५॥

अर्थ-सुवर्ण और मणि के योग की जैसी प्रशंसा होती है उसी प्रकार इनका यह वैवाहिक योग भी बन्धु जनों द्वारा प्रशंसनीय हुआ इस पर और अधिक क्या कहा जावे-इतने मात्र से वह श्रेष्ठतम मान लेना चाहिये कि इन दोनों के इस योग की इन के कुलदेवताओं ने भी प्रशंसा की-उसका अभिनन्दन किया ॥६५॥

मणी अने सोनाना योगना जेवा वभाणु श्राय छे, जेज रीते तेमने आ वैवाहिक योग पशु बंधुजनो द्वारा वभाणुयो, आ माटे विशेष शुं कही शकय पशु अटलाथी जे जे योगने श्रेष्ठतम मानी देवे जेज जे-आ जेठना आ योगनी प्रशंसा तेमना कुणहेवताञ्चो पशु करी. अर्थात् तेमने अभिनन्दित कर्या. ॥६५॥

सा शारदीयाम्बरस्तुल्यकान्तिः वपुः प्रभान्यककृतराजहंसी ।

चकास राकेव च चन्द्रपूर्णा स्वमन्दिरेऽलक्तकशोभिपादा ॥६६॥

अर्थ—शरद कालीन मेघ के समान कान्ति वाली वह गंगा की जिसने अपनी शारीरिक प्रभा से राजहंसी को तिरस्कृत कर दिया है और अभी पैर का माहर भी जिसका नहीं झूका है चन्द्रमा—से पूर्ण पूर्णिमा की तरह अपने मंदिर में प्रकाशित हुई ॥६६॥

शरद कालना मेघना जेवी ते गंगादेवी के जेणे पोतानी शारीरिक कांतेथी राजहंसीने पणु तिरस्कृत करी दीधेख छे, तेवी अने जेना पगनी रक्तता सुकार्थ नथी जेवा ते गंगा देवीजे चंद्रमाथी पूर्ण पूर्णिमानी जेभ पोताना अहमां प्रवेश कर्यो ॥६६॥

देहप्रभामण्डलराजमाना राजीवनेत्रा ह्यसौ राज ।

तपात्यये निर्झर शीकरैर्वा संसिच्यमाना भिनवा धरित्री ॥६७॥

अर्थ—अपने देह के प्रभा समूह से सुशोभित यह गंगा देवी कि जिसके दोनों नेत्र कमल के जैसे थे, ऐसी अच्छी लगी कि जैसी गर्मी के बाद निर्झर के शीकरों से सींची गई नवीन धरती लगती हैं ॥६७॥

जेना अन्ने नेत्रो कमणना जेवा हता जेवा आ गंगादेवी पोताना देहनी प्रभा समूहथी शोभता जेवा जणुआ के जेभ गर्भिनी पछी जणुआज्येनां छांटाथी छांटायेवी पृथ्वीना जेवी नवीन जणुआर्थ ॥६७॥

प्रभामहत्या शिखयेव दीपः रत्नत्रयात्येव च मुक्तिमार्गः ।

अनर्घहागवलिभिश्च कंठस्तया सुपत्न्या स विभूषितोऽभूत् ॥६८॥

अर्थ—जिस की प्रभा बहुत बड़ी है ऐसी शिखा से जैसे दीप सुशोभित होता है, रत्नत्रयी से जैसे मुक्ति का मार्ग सुशोभित होता है, वेश कीमती हारावलि से जैसे कंठ सुशोभित होता है. उसी प्रकार उस सुपत्नी से वह हैमचन्द्र सेठ सुशोभित हुए ॥६८॥

जेनी कांती धरुषी विशाण छे जेवी शिखाथी जेभ दीपो शोभे छे, रत्नत्रयथी जेभ मुक्तिनो मार्ग शोभे छे, हार पंक्तिथी जेभ कंठ शोभे छे, जेव प्रभाणे जे सुपत्नीथी ते हेमचंद्र सेठ शोभित थया ॥६८॥

तद् यौवनं यौवतचित्तहारि यूनां मनःकषिवभूव रम्यम् ।

स्वान्तःसुखायैव हिमेन्दुना तत् न्यबोधि पुण्यस्य फलस्वरूपम् ॥६९॥

अर्थ-गंगा देवी का सुरम्य यौवन स्त्रियों के चित्त का आकर्षक होता हुआ युवा पुरुषों के चित्त को अपनी ओर खींचने वाला हुआ-हैमचन्द्र सेठने उसे अपने पुण्य का फल स्वरूप माना और वह उनके स्वान्तः सुखाय हुआ ॥६९॥

सुरभ्य गंगादेवीतुं यौवन स्त्रियोना चित्तने आकर्षितं कर्तुं युवजनाना चित्तने पोताना तद्र्शं शोभावतुं अन्युं हेमचन्द्रशेठे तेने पोताना पुण्यना इत्यर्थं मान्युं. अने ते अना संपूर्णं सुपश्य अन्युं. ॥६९॥

सा संस्थिता यौवनमन्दिरैऽन्तः स्वपुण्यभूतेः परिवर्द्धनार्थम् ।

धर्मोक्तवियां सततं वयस्यामिवाङ्गसङ्गीमुरी चकार ॥७०॥

अर्थ-यौवन के मन्दिर में अच्छी तरह से रही हुई गंगा देवी ने अपनी पुण्य विभूति की वृद्धि करने के लिये धार्मिक ज्ञान को ही अपना साथी बनाया ॥७०॥

यौवन मंदिरेषां सुन्दर रीते रहेल गंगादेवीअ पोतानी पूण्य विभूतिने वधारवा भाटे धार्मिक ज्ञानने अ पोतानुं साथि अनाव्युं. ॥७०॥

अनङ्गरङ्गोद्गमभासिरूपं तारुण्यमारण्यसरित्सकाशम् ।

मनस्विनीयं विगणय्य यूनी न तद्र्शं स्वां विवशा चकार ॥७१॥

अर्थ-गंगा देवी ने अनङ्ग के रङ्ग से उद्भासित रूप वाले तारुण्य को जंगल की नदी के समान समझकर अपने को उसके वश नहीं बनाया ॥७१॥

गंगादेवीअ कामदेवना रंगथी शोभायमान रचनाया तद्र्शुपशुाने अंगदनी नदीनी अम समञ्जने पोते तेनी वशीभूत न अनी. ॥७१॥

शिरीषकोषादपि कोमलाया वेधाश्चकाराङ्गमशेष मस्याः ।

तथापि धर्माचरणे बभूव सा धीव सा वज्रकठोरचित्ता ॥७२॥

अर्थ-शिरीष पुष्प से भी अधिक कोमल गंगा देवी के समस्त अंगों को-पुण्य कर्म ने बनाया था-फिर भी वह सुश्राविका के समान धर्माचरण में वज्र के जैसी कठोर हृदयवाली थी ॥७२॥

गंगादेवीना सधया अंगोने शिरीष पुष्पथी पशु वधारै कामज पुण्यकर्म अनाव्या अता तो पशु ते सुश्राविका धर्माचरणमां वज्रना अवी कठोर हृदयवाणी अती. ॥७२॥

दान प्रदानेन करौ पवित्रायास्तां नताङ्गया विनयेन तस्याः ।

बाणी गुणोत्कीर्तनतो मुनीनां पूता निडालं गुरुवन्दनेन ॥७३॥

आसीन्मनोऽस्या विमलं विशालं जैनेन्द्रवाणी परीशीलनेन ।

पादौ गुरुणां निकटप्रयाणात् पूतावभूतां गुणरागवत्याः ॥७४॥

अर्थ—इस विनय से अवनत अङ्गवाली गंगा देवी के दोनों हाथ दान देने से पवित्र थे, वाणी मुनियों के गुणोत्कीर्तन से पवित्र थी, मस्तक-गुरुओं की वन्दना से पवित्र था. निर्मल विशाल मन जैनेन्द्रवाणी आगम के परिशीलन से पवित्र था, दोनों चरण गुरुदेवों के निकट प्रयाण करने से पवित्र थे. ॥७३॥७४॥

विनयशील नत अंगवाणी गंगादेवीना भेड हाथ दान आपत्ताथी पवित्र होता. मुनि योना गुणुगानथी वाणी पवित्र होती. गुरुवन्दनाथी मस्तक पवित्र हुतुं. आगमना परिशीलनथी पवित्र जैनेन्द्र वाणीना श्रवणथी मन निर्माण अने पवित्र हुतुं. तथा गुरुदेवोनी समीप जवाथी अन्ने पग पवित्र होता ॥७३-७४॥

धर्मानुरागेण विराजमानां तां वीक्ष्य भर्ताऽप्यनुमन्यते स्म ।

स्त्रीरत्नमेतद्धवबुध्य तोषान्नैवा भवत्तत्प्रतिकूलवर्ती । ७५॥

अर्थ—धर्मानुराग से विराजमान गंगा को देखकर भर्ता—पति हैमचन्द्र सेठ उससे बहुत आदर देते थे. यह स्त्री रत्न है ऐसा मानकर वे बड़े ही संतुष्ट होते और कभी भी वे उसकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं वर्तते थे ॥७५॥

धर्मानुरागथी शोभायमान अ गंगादेवीने जेधने हेमचन्द्र सेठ तेना धरुणो ज आदर करता होता, आ स्त्री रत्न छे अणुं भानीने तेअो धरुणो ज संतोष पाभता होता तथा कथारेय पणु तेनी धअछा विश्द वर्तता न होता. ॥७५॥

पतिव्रता धर्मपरायणेयं सौभाग्यतो ह्येवं मयोपलब्धा

अनर्घ्यमुक्तेव सुरक्षणीया विमृश्य तद्रक्षणतत्परोऽभूत् ॥७६॥

अर्थ—यह पतिव्रता एवं धर्म परायणा है. बड़े सौभाग्य से यह मुझे प्राप्त हुई है. अतः कीमति मुक्ता के समान यह सुरक्षणीय है. ऐसा विचार कर वे सदा उसकी रक्षा करने में तत्पर रहते ॥७६॥

आ पतिव्रता अने धर्म परायणा छे अने धरुणो सौभाग्यथी ते भने प्राप्ते थरु छे तेथी अणुभूत्य मोतीनी जेभ तेनुं रक्षणु करवुं जेठ अ अेभ विचारिने तेअो तेनुं रक्षणु करवाभां उंभेशां तत्पर रहेता होता, ॥७६॥

परस्परस्नेहनिबद्धचित्ता विमौचतौ द्वावपि धर्मकृत्यम् ।

संभूय हर्षाञ्चितकाययष्टी सिषेवतुर्मङ्गलकाम्ययैव ॥७७॥

अर्थ—इन दोनों का-दम्पति का-परस्पर में अत्यन्त स्नेह था उस स्नेह से इनका चित्त खूब बंधा हुआ था, सो जो भी धार्मिक कृत्य होता उसके ये दोनों मिलकर बड़ी प्रसन्नता के साथ केवल मंगल-कामना से ही करते ॥७७॥

आ अन्ने दंपतीने अन्योन्य अत्यंत स्नेह प्राप्त होता ये स्नेहवशात् तेमनुं चित्त परस्पर अकटायेव હતું. જે કોઈ ધાર્મિક કાર્ય હોય તેને એ બન્ને મળીને પ્રસન્નતા પૂર્વક કેવળ મંગલ કામનાથી જ પ્રેરાઈને કરતા હતા. ॥७७॥

कोपारुणे कुत्र कदापि तेन नेत्रे तरुण्याश्च निरीक्षितेन ।

पारुष्यसावद्यवचोऽपि तस्याः स्वप्नेऽपि नाश्राव्युदितं प्रियायाः ॥७८॥

अर्थ—हैमचन्द्रजीने उस युवती प्रिया गंगा देवी की किसी भी स्थिति में कहीं पर भी कोप से लाल हुई आंखें नहीं देखी और न स्वप्न में भी उसने उसके द्वारा कहे गये कठोर और सावद्य वचनों को ही सुना ॥७८॥

હેમચંદ્ર શેઠે પોતાની પ્રિયપત્ની ગંગાદેવીની આંખો કોઈથી લાલ થયેલી ક્યાંય પણ દેખી ન હતી, અને સ્વપ્નમાં પણ તેના દ્વારા કહેવાયેલ કઠોર અને સાવધ વચનોને તેમણે સાંભળ્યા ન હતા. ॥७८॥

कृतान्तकान्तः स विमृश्यकारी वाग्मी गुणज्ञो गुणिषु प्रमोदम्

मैत्रीच सत्त्वेषु कृपापरखं क्लिष्टेषु जीवेषु दधद्राज ॥७९॥

अर्थ—हैमचन्द्र सैठ कृतान्त-सिद्धान्त शास्त्रों के स्वाध्याय से धर्मनिष्ठ थे. अथवा अपने सिद्धान्त के बड़े पक्के थे—आगे पीछे के कामों को वे सोच समझकर करने वाले थे, वाणी-बोलने में चतुर थे. गुणों की प्रतिष्ठा करते थे। गुणिजनों को देखकर प्रसुदित होते थे. दीन दुःखी जीवों पर दयाभाव से वासिब हो जाते थे. अतः वे जनता के बीच विशेष प्रतिष्ठा के पात्र थे. ॥७९॥

હેમચંદ્ર શેઠ કૃતાન્ત-સિદ્ધાન્ત શાસ્ત્રોના સ્વાધ્યાયથી ધર્મપરાયણ હતા. તેમજ પોતાના સિદ્ધાન્તમાં ધણ જ કદર હતા. આગળ પાછળના કાર્યોને તેઓ સમજૂ વિચારીને કરવાવાળા હતા. વાણી બોલવામાં નિપુણ હતા, ગુણોનો આદર કરતા હતા. ગુણવાનોને બેઠ્ઠને આનંદિત થતા હતા. દીનદુઃખી જીવો પર દયાભાવથી પ્રેરિત થતા તેથી તેઓ જનસમૂહમાં વિશેષ પ્રતિષ્ઠા પાત્ર બનતા હતા. ॥७९॥

विचारयाज्ञास सदैव शोऽयं सम्यक्त्वरत्नं खलु दुर्लभं वै ।
आसादितं तैरचिरादलं धि भवाटवी मुक्तिसुखं ह्यचुम्बि ॥८०॥

अर्थ-वे सर्वथा यही विचार किया करते थे कि सम्यक्त्वरूपी रत्न बहुत दुर्लभ है. धन्य हैं वे जीव कि जिन्होंने ने इसे प्राप्तकर इस भवाटवी को जल्दी पारकर दिया हैं और मुक्ति के सुख को पा लिया है । ॥८०॥

तेज्या छत्रेशां ज्येस न विचारता डे सम्यक्त्व इपी रत्नं धलुं न दुर्लभं छे. ते ज्येने धन्य छे डे ज्येज्ये तेने प्राप्त करीने आ भवाटवीने जदि पार करी मुक्तिना सुखने पाभ्या छे. ॥८०॥

मयापि तावद्गुरुवर्यपाश्र्वं गत्वा तदेतद्भृति धारणीयम् ।
नोचेच्च मे जन्मपरंपरेयं भवेदनन्ता, न नृजन्मसार्थम् ॥८१॥

अर्थ-अब हुझे भी श्री गुरु महाराज के पास जाकर इस रत्न को हृदय में धारण करना चाहिये, नहीं तो मेरी यह जन्म परंपरा अनन्त हो जायगी और मेरा यह मानव भव व्यर्थ चला जायगा ॥८१॥

भारे पासु गुरुमहाराज पासे जर्धने आ रत्नने प्राप्त करवुं जेई ज्ये. नहींतर मारी आ जन्म परंपरा अनन्त बनी जसे तया भारे आ मनुष्यजन निरर्थक बनी व्यर्थभां आल्यो जसे. ॥८१॥

सम्यक्त्वलाभाच्च कदा भवेयुः शेषाणि मे द्राक् सफलान्यहानि
तदैव सुश्लाघ्यधिदं नृजन्म भवेच्च दुर्जन्म विना तदेतत् ॥८२॥

अर्थ-अतः अवशिष्ट ये मेरे दिवस कब सम्यक्त्व के लाभ से जल्दी से जल्दीसफल होंगे क्यों कि इनकी सफलता से ही मेरा यह मनुष्य भव अच्छी तरह प्रशंसायोग्य बन सकता है अन्यथा नहीं ॥८२॥

हवे शेष रहेवा आ भारे दिवसो सम्यक्त्वना लाभथी क्यारे सक्षण थसे? डेभ डे आनी सक्षणताथी न हुं अगरे आ भारे मनुष्यजन सारी रीते प्रशंसा पाव बनी शके थीछ रीते नहीं ॥८२॥

यथोक्तपाद्भ्यां भवति प्रधानं शेषेष्वंगेषु मुखेच नेत्रे ।
तथैव चैतस्खलु दर्शनं सत् मुक्त्यङ्गवृन्देषु च मुख्यमुक्तम् ॥८३॥

अर्थ-जिस प्रकार समस्त अंगों में मस्तक और मुख में नेत्र प्रधान होते हैं, उसी प्रकार यह सम्यक्त्व मुक्ति के अंगों में मुख्य कहा गया है ॥८३॥

ज्येष्ठ सधणा अंगोमां भस्तकं अने मुष्पमां नेत्र मुष्प्ये छे ज्येष्ठ रीते आ सम्यक्त्वं
मुक्तिना अंगोमां मुष्प्ये कहेत्त छे ॥८३॥

इत्थं च संचिन्तयस्तथापि चारित्रमोहोदयतो न जातः ।

चारित्रलाभश्च तदाप्तुमिच्छोः संसारकार्यं विशतोऽस्य सम्यक् ॥८४॥

अर्थ-सांसारिक कार्यों को यतनाचार पूर्वक करने वाले हैमचन्द्र सेठ को
कि जो पूर्वोक्त रूप से विचार वाले थे, तथा चारित्र प्राप्त करने के अभिलाषी
थे चारित्र मोह के उदय से चारित्र का लाभ नहीं हो सका ॥८४॥

सांसारिक कार्यों में यतना पूर्वक करवावाणा हेमचंद्र सेठने के ज्येष्ठो पूर्वकथित प्रकारथी
विचारवावाणा होता तथा चारित्र प्राप्त करवा माटे उत्सुक होता पण चारित्र मोहना उदयथी
तेमने चारित्रना लाभ थयो नही ॥८४॥

अचिन्त्य शक्तिः खलु मार एषः, स्वेनैव जयं विगणय्य चैनम् ।

स्त्रीरत्नदम्भादिव बन्धनाय अथास्य पार्श्वे च ततान पश्य ॥८५॥

अर्थ-अचिन्त्यशक्ति वाले इस काम देव ने कि "यह मेरे द्वारा ही जीता
जा सकेगा" ऐसा विचार कर स्त्री रत्न के छल से हैमचन्द्र को जकडने के
लिये ही मानों इनके पास पहिले से ही जाल छा दी है ॥८५॥

अचिन्त्य शक्तिवाणा कामदेवे 'आ भारथी ज छताशे' ज्येष्ठ विचारने स्त्री रत्नना
पहानाथी हेमचंद्रने पार्श्वे माटे ज जणु तेमनी पासे पहिलेथी ज जण पाथरी छे ॥८५॥

समाधिमत्यां यदि कोऽपि पुत्रः, उत्पत्स्यतेऽस्यां स ध्यार्पणीयः ।

धर्मप्रचाराय महात्मनेऽसावैच्छत्तयामा सहवासमाप्तुम् ॥८६॥

अर्थ-हैमचन्द्र सेठ ने इस विचार से कि स्वस्थचित्त वाली इस गंगा में-
गंगादेवी की कुक्षि में-यदि कोई नीव पुत्र रूप से उत्पन्न हो जाता है तो मैं उसे
धर्म प्रचार के निमित्त किसी महात्मा के लिये अर्पित कर दूंगा, उसके साथ
सहवास करना चाहूँ ॥८६॥

हेमचंद्र सेठे स्वस्थ चित्तवाणी आ गंगादेवीना उदरथी जे कोछ पुत्र रत्न उत्पन्न
थाय तो हुं तेने धर्मप्रचार माटे कोछ महात्माने अर्पणु करीश आवा विचारथी तेनी साथे
सहवास करवानी छअछ करी ॥८६॥

अथान्यदा केलिगृहे शयाना चतुर्थसंस्नान पवित्रगात्रा ।

तुर्गर्थिना तेन वरेण भुक्त्वा सुतार्थिनी सोन्नतभावनाढ्या ॥८७॥

अर्थ-एक दिन की बात है, चतुर्थस्नान से प्रवित्र है शरीर जिसका ऐसी वह गंगादेवी केलिगृह में सोती हुई कि जिसकी भावना पुत्र को प्राप्त करने की थी पुत्राभिलाषी हैमचन्द्र से-भोगी गई ॥८७॥

छोछ एक दिवस योथा दिवसना स्नानशी पवित्र थयेव छे शरीर जनुं येवा ये गंगादेवी पुत्र प्राप्त करवानी छच्छाथी डेवीगृहमां सुता उता त्त्यारे पुत्राभिलाषि हेमचंद्र द्वारा भोगवार्छ. ॥८७॥

तदैव संपीलितलोचनाऽसौ, अनङ्गङ्गं ह्यनुभूय सुप्ता ।

प्रियेण मुक्ता पस्तिषितात्मा हंसीव तल्पे सिकतातटेऽथ ॥८८॥

अर्थ-जिस प्रकार हंस द्वारा मुक्त हंसी सिकतामय तट पर सो जाती है उसी प्रकार अनङ्ग के रङ्ग का अनुभव करके प्रिय से छोट दी गई वह गंगा देवी भी संतुष्ट चित्त होकर अपनी शय्या पर सो गई ॥८८॥

जम उंसे भोगवेव हंसी रेतवाणा किनारा पर शयन करे छे, येव प्रभाषे कामडीडानो अनुभव करीने प्रिय द्वारा मुक्त थयेव ते गंगादेवी पशु प्रसन्न चित्तवाणी थरुंने पोतानी शय्या पर सुर्छ गया ॥८८॥

रतिश्रमं शान्तयितुं सखीव, प्रगाढनिद्रास्त हृषीकचेण ।

तदाऽऽगता भाति तदापि तस्यां विभातचान्द्रीव कलाऽमला सा ॥८९॥

अर्थ-उस समय रति श्रम को शान्त करने के लिये सखी के जैसी गहरी निद्रा उसे आगई, इसमें समस्त इन्द्रियों का विषय व्यापार बन्द हो गया. उस स्थिति में वह प्रातःकालीन निर्मल चन्द्र की कला जैसी प्रतीत होती थी ॥८९॥

ते समये रतिना श्रमने दूर करवा भठे प्रिय सखीना जेवी गाढ निद्रा तेने आवी गध जेथी सखणी छन्द्रियेनो विषय व्यवहार बंध थछ गयो आ स्थितिमां ते प्रकात काणना निर्माण अंदरनी कणा जेवी जशुती उती ॥८९॥

निद्रावती सा हिमचन्द्रकान्ता, कान्तं निशान्ते च शुभान्तमेकम् ।

स्वप्नं ददर्शथ बभूव हृष्टा स्वापोत्थिता चाजनि संप्रबुद्धा ॥९०॥

अर्थ-निद्रा में पडी हुई उस हेमचन्द्र की कान्ता गंगादेवी ने निशा के अन्त में एक शुभ स्वप्न देखा-उसेदेखकर वह हर्षित हुई और जाग गई ॥९०॥

निद्रामां रहेव ते गंगादेवीये रात्रीना अवसान समये येक शुभ स्वप्न जेयुं ते जेधने ते धखुा ज उर्ष पाभी अने जगी गर्छ, ॥९०॥

प्राभातिकं कृत्यमसौ विधाय प्रकर्षहर्षाञ्चित काययष्टिः ।

स्वप्नस्य दृष्टस्य फलं किमेतज्ज्ञातुं विभोस्तीरमियेषगन्तुम् ॥९१॥

अर्थ—अब यह प्रातः काल के सब करने योग्य कार्य समाप्त कर विशिष्ट आनंद से जिसकी गात्रयष्टि व्याप्त हो रही है ऐसी वह गंगा देवी देखे गये स्वप्न का क्या फल है. इस बात को जानने के लिये अपने पति के पास जाने-की तैयारी करने लगी ॥९१॥

प्राभात काण्ठा करवा योग्य कार्य समाप्त करीने विशेष प्रकारना आनंदथी जेतुं शरीर व्याप्त थयेस छे, जेनी जे गंगादेवी पोते जेयेस स्वप्नतुं शुं क्षण छे, ते जखुवा भाटे पोताना पति समीपे जवानी तैयारी करवा लागी. ॥९१॥

नयेन नीति विनयेन विद्या ज्ञानं च रूचया स्मयेत विष्णुः ।

पुष्पश्रिया वा विटपीव तत्र तयाह्यसौ तेन च सा राज ॥९२॥

अर्थ—जिस प्रकार नय से नीति, विनय से विद्या, रुचि-श्रद्धा से-सम्यग्ज्ञान, रमा से विष्णु और-पुष्पश्री से वृक्ष परस्पर में सुहावने लगते हैं. उसी प्रकार गंगा देवी से हैमचन्द्र सेठ और हैमचन्द्रजी सेठ से गंगा देवी शोभित हुई ॥९२॥

जेम न्यायथी नीति, विनयथी विद्या, श्रद्धाथी सम्यग्ज्ञान रमाथी विष्णु अने पुष्पश्री शोभाथी वृक्ष परस्पर शोभे छे, जेज प्रमाणे गंगादेवीथी हैमचंद्र सेठ अने हैमचंद्र सेठथी गंगादेवी शोभता हता. ॥९२॥

निरीक्षितो नाथ ! निशावसाने स्वप्ने सुरः कोऽपि दिवश्च्युतोऽद्य ।

विभासयन् भावलयेन काष्ठाः पश्चान्प्रभास्येऽग्रहितः प्रविष्टः ॥९३॥

अर्थ—हे नाथ ! मैंने रात्रि के अवसान समय में एक स्वप्न देखा है. और वह इस प्रकार है—स्वर्ग से एक देव च्युत होकर, दिशाओं को अपनी कान्ति से प्रकाशित करता हुआ मेरे मुख में बड़ी सावधानी से प्रविष्ट हुआ ॥९३॥

पतिनी समीपे जधने नम्रतापूर्वक पोताना पति हैमचंद्र सेठने गंगादेवी कडेवा क्षण्ठा के हे नाथ । स्वर्गभांथी डोस जेक देव अच्युत थधने दिशाज्येने पोतानी कान्तिथी प्रकाशित करीने भास मुख विशेषे धखीज सावधानी पूर्वक प्रवेश्या आ रीतनुं स्वप्न शनिना अवसान समये भास जेवामां आवेस छे. ॥९३॥

श्रवोऽमृतस्यन्दिनमित्यमस्याः कर्णायताक्ष्याः स निशम्य शब्दम् ।

उवाच कान्ते ! ननु पुण्ययोगात्फलप्रदा मे भविता समीहा ॥९४॥

अर्थ-इस प्रकार से इस कर्णायताक्षी के अमृत बहाने वाले शब्द को सुनकर हैमचन्द्र सेठ ने कहा-हे कान्ते ! पुण्य योग से मेरी इच्छा अब पूर्ण होने वाली है ॥९४॥

आ प्रभाषे गंगादेवीना कानने अमृत समान ज्ञाता शब्दने सांभलीने हेमचंद्रशेठे कथुं के हे प्रिये ! आपणा पुण्ययोगधी मारी इच्छा हवे पूर्ण थसे तेम ज्ञाय छे ॥९४॥

शुभ्रानने ! स्वप्नविलोकनं ते प्रशस्तपुत्रप्रसवं व्यनक्ति ।

इतोऽद्य मासे नवमे च नून मवाप्स्यसि त्वं प्रियपुत्रस्तनम् ॥९५॥

अर्थ-हे शुभ्रानने ! तुमने जो यह स्वप्न देखा है वह "तुम एक पुत्ररत्न को जन्म दोगी" ऐसी बात को प्रकट करता है. और वह आज से ठीक नौ महीने में तुम प्राप्त करोगी ॥९५॥

हे सुंहर भुभवाणी ! तमे जे आ स्वप्न जेथुं छे, ते 'तमे जेक पुत्रस्तनने जन्म आपसे जे वात प्रगट करे छे अने ते आजधी अरोअर नवमा महिने तमे ते प्राप्त करेसो. ॥९५॥

पत्योदितं स्वप्नफलं श्रवाभ्यां श्रुत्वा शुभं सा श्रवणायताक्षी ।

जहर्ष सस्मेर मुखेन तेन विलोकिताऽसौ वलितेक्षणेन ॥९६॥

अर्थ-वह श्रवणायताक्षी गंगा देवी पति के द्वारा कहे गये शुभ स्वप्न के फल को दोनों श्रवणों से सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई ॥९६॥

दीर्घ नेत्रवाणी ते गंगादेवीजे पतिजे कहेला शुभ स्वप्नक्षणने, जेउकाने द्वारा सांभलीने पोते कथी जे शुशी थया. ॥९६॥

भो ! भो ! मान्यमहोदया गुणभृतोऽह्यत्रस्थिताः श्रूयताम्,

धर्मः सर्वसुखाकरो जगति वै तस्यास्ति मूलं दया ।

मूलेनैव समाप्यते स नियतं मत्वेति सत्वान् प्रति,

कल्याणेषुजनैः सदेयमनुकम्पालिः किलाधीयताम् ॥९७॥

अर्थ-यहां स्थित गुणशाली मान्य महोदयो ! सुनो संसार में नियम से ही सर्व सुखों की खान है. उसका मूल दया है. मूल से ही वह नियम से प्राप्त किया जा सकता है. अतः जो अपना कल्याण चाहने की इच्छा रखते हैं ऐसे मानवों द्वारा समस्त जीवों के प्रति यह अनुकम्पा अवश्य ही रखनी चाहिये ॥९७॥

आ जगतमां रहेला हे गुणवान् मान्य मढोदयो ! सांख्यो संसारमां धर्म ज सर्व सुपनी पाणु छे. तेनुं भूण द्या छे, भूणथी ज ते अक्वश्य प्राप्ति करी शक्य छे. तेथी जेयो पोताना कट्याखुनी छिअछा करता छेय तेमणुे सर्व प्राणियो प्रत्ये आ द्या अक्वश्य राप्ती जेई अ. ॥६७॥

स्वात्मानन्दप्रकाशान्निजहृदिसमतावलरीवृद्धिजुष्टाः,

तुष्टाः शिष्टा भिराध्या विधृतशमदमाद्यैर्गुणैः सद्विशिष्टाः ।

तुष्टाश्चारित्रलब्ध्या विमलगुणगणान् निष्ठयाऽऽराधयन्तः,

सन्तः सन्तु प्रसन्ना मयि गुणगुरवो घासिलालाः मुनीन्द्राः ॥९८॥

आत्मानन्द के प्रकाश से जिनके हृदय में सब जीवों के प्रति समता रूपी बेल बहुत ही अच्छी तरह से बढ चुकी है. जो स्वयं में सन्तुष्ट है. सत्पुरुषों में भी जो विशिष्ट हैं. चरित्र की लब्धि से जिन्हें अत्यन्त संतोष हैं. निष्ठा से-हृदय की लगन से-जो निर्मल गुणगणों की आराधना करने में लगे हुए हैं ऐसे वे गुणगुरु मुनीन्द्र घासिलाल महाराज मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥९८॥

आत्मानन्दना प्रकाशथी जेभना हृदयमां प्राणीमात्र प्रति समताऽपीवेक सारी रीते वधिदी छे, ज स्वयं संतुष्ट छे. शिष्ट पुरुषो द्वारा ज सेवा योग्य छे, धारणु करेला शभ, हम विगेरे गुणो द्वारा सत्पुरुषोमां ज उत्तम छे, आरित्रनी लब्धिथी जेने अत्यंत संतोष छे, निष्ठाथी-हृदयनी लागणीथी ज निर्माण गुणोनी आराधना करवामां लागेक छे जेवा जे गुणगुरु मुनिन्द्र घासीलाल महाराज मारा पर सदा प्रसन्न रहे. ॥६७॥

जैनाचार्य-जैनदिवाकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः प्रारभ्यते

आविरासी द्रवीराशे तपसां कोमलैः करैः ।

धुन्वन् भासयन् विषयान् काष्ठा अष्ट प्रकाशयन् ॥१॥

अर्थ-सूर्य का उदय हुआ. अंधकार उसकी कोमल किरणों से दूर हो गया. घटपटादि पदार्थों का स्पष्ट प्रतिभास होने लगा. एवं समस्त दिशाओं में उसका प्रकाश फैल गया. ॥१॥

सूर्यने उदय थयो, अंधकार तेना कामण किरणोथी दूर थयो. घट पटादि पदार्थो स्पष्ट ज्ञाना लाग्या. तथा सधणी दिशाओमां सूर्यने प्रकाश प्रसरित थयो. ॥१॥

भाति माभिरयं तावत्प्राची श्यामोत्तरच्छदः ।

अथवा-तद्ग्रहस्याय विद्युद्दीवो महोज्ज्वलः ॥२॥

अर्थ-जिस प्रकार किसी नवोढा नायिका का की ओडनी चमकती है, उसी प्रकार सूर्य भी अपनी प्रभा से चमकने लगा-तो देखनेवालों को ऐसा प्रतीत हुआ कि यह पूर्वदिशा रूपी श्यामा का उत्तरच्छद-ओडनी-है. अथवा-उसके घर का यह प्रकाशमान बिजली का एक दीपक है ॥२॥

जम कोठ नवोढा स्त्रीनी ओढणी यमके छे, जेन प्रभाणे सूर्य पोताना तेजथी यमकना लाग्ये जथी जेनाराओने जेम ज्ञानायुं के आ पूर्व दिशा रूपी स्त्रीनु उत्तरच्छद-ओढवानुं वस्र छे, अथवा तेना घरने प्रकाशमान आ वीजणीने दीपक छे. ॥२॥

यद्वाज्यं व्योमराजाया अभिरामोऽस्ति कंदुकः ।

दिशासीमन्तिनी सीमन्तस्य सिन्दूरपिण्डिका ॥३॥

अर्थ-अथवा-यह आकाश श्री रूपी नायिका खेलने का सुन्दर गेंदतो नहीं है ? या दिशारूपी सीमन्तिनी की मांग सिन्दूर की पिण्डी तो नहीं है ? ॥३॥

अथवा आ आकाशरूपी नायिकाने रभवानो सुंदर दंडो तो नथी ? अथवा दिशा रूपी सीमन्तिनीने सेथामां पूरवानो पिंडतो नथी ? ॥३॥

अक्षकाराग्रहे रात्रौ, क्षिप्ताश्छविचौर्यतः ।

राज्ञा मुक्ता मिलिन्दास्ते, तं स्तुवन्तीह श्रृंगतैः ॥४॥

अर्थ-यह प्रसिद्ध है कि चोरी करने वाले को कारावास की सजा मिलती है. और यदि कोई वहां से उसकी मुक्ति करादे तो वह उसकी स्तुति करता है. इसी प्रकार अपने कलङ्क की छवि की (अत्यन्त कृष्ण होने के कारण) इन

भ्रमरों ने चोरी की हैं। ऐसा राजा चन्द्रमाने समझा तो उन्हें कमल रूपी कार-
गर में उसने रात भर बन्द रखा। पर सूर्य के उदित होते ही कमल के विक-
सित हो जाने पर वे उसमें से बाहर निकलते ही भन भन करने लगे, अतः वे
अपने झंकृत शब्दों से अपनी मुक्ति कराने वाले सूर्य की स्तुति ही कर रहे हैं;
ऐसी यह कल्पना है ॥४॥

अेतो सुप्रसिद्ध न छे के योरी करानेने जेवनी सप्त भणे छे, अने जे छेछ त्यांथी
तेने छेडावे तो ते छेडावनारना वप्पाणु करे छे, अे रीते पोताना कलंक इपी श्यामतानी
आ अमराओअे (कारणु के तेओ अत्यंत काणा छे) योरी करेव छे अेवुं अंद्रइपी राजना
समजवाथी तेणु कभणइपी कारावासमां आपी रात पूरी सण्णा. पणु सूर्यने उदय थतां
न कभण विकसित थवाथी तेओ तेमांथी अहार नीकणीने गुंजन करवा लाग्या. तेथी अणु
ते पोताना गुंजनना शण्ढोथी पोताने छोडावनार सूर्यनी स्तुति करता न डोय तेम आ
कल्पना छे. ॥४॥

पङ्कजा ये प्रसुप्तास्तेऽधुना बुद्धा रू वानतिम् ।

स्वबन्धवे समीरेण कुर्वन्तीह प्रहृम्पिताः ॥५॥

अर्थ—सूर्य अस्त होने पर जो कमल सरोवर में बन्द हो गये थे, वे अब उसके
उदय होने पर खिल गये हैं, और प्रातः काल की मन्द र वायु इन्हें धीरे र
हिला रही है। अतः ऐसा लगता है कि ये अपने बन्धु-सूर्य को नमस्कार ही कर
रहे हैं ॥५॥

सूर्यना अस्त थवाथी न कभणो सरोवरमां पीडाछ गया छता ते छेवे सूर्यना
उदित थवाथी विकसित थई गया अने प्रभातकाणने मंठ मंठ पवन तेने धीरे धीरे
हसावी र्छो छे तेथी अेम लागे छे के—आ कभणो पोताना अन्धु सूर्यने नमस्कार
करी र्छा छे. ॥५॥

वराकीयं चकोरी च शेषां रात्रिमुसेवत ।

तज्जन्यमहसा सैषा प्रातः स्वेशं सपापद्राक् ॥६॥

अर्थ—रात्रि होने पर चक्रवा और चक्रवी का वियोग हो जाता है वह रातभर
चन्द्रमा की ओर निहारती रहती और अपनी वियोग की रात व्यतीत करती
है पश्चात् प्रातः होते ही उसको अपने पति के साथ संयोग हो जाता है, बस
इसी पर यह कल्पना है—कि बिचारी इत चकोरी ने पति चन्द्र सहित रात्रि की
रात भर सेवा की अतः उसकी सेवा जन्य पुण्य प्रभाव से उसे प्रातः होते ही

शीघ्र पति देव की-चक्रवा की प्राप्ति हो गई जो जैसे की सेवा करता है. वह वैसा ही बन जाता है. यही उक्ति इससे चरितार्थ हुई है ॥६॥

रात्री यथाथी यकवा यकवीना वियोग यद्य नय छे ते आणी रात यंद्रमा तरक्ष् नेती रहे छे, अने पोताना वियोगनी रात्री पूरी करे छे. पछीथी सवार यतांज तेने पोताना पतिने भेजाप यद्य नय छे, आना पर कविज्ये उत्प्रेक्षा करी छे डे-भियारी अ यंडारीज्ये यन्द्र सडित रात्रीनी (पति पत्नी येउनी) आणी रात उपासना करी तेथी तेनी सेवाना पुण्य प्रभावथी प्रभातकाण यतांज तेने तुरत तेना पति यकवानी प्राप्ति यद्य, न नवानी सेवा करे छे, ते तेवा न नती नय छे आ उक्ति अही चरितार्थ यद्य छे. ॥६॥

महिषीयं हरेराशा वारुणीं प्रति शासती ।

स्वसौभाग्यमनौपम्यं हसतीवोदयच्छलात् ॥७॥

अर्थ-पूर्वदिशा में यह सूर्य उदित हो चुका है. इस पर यह कल्पना हैं. इसमें यह प्रकट किया गया है कि यह इन्द्र की महिषी-पूर्व आशा-दिशा वारुणी दिशा के प्रति-पश्चिम दिशा के प्रति-अपने अनुपम सौभाग्य का वर्णन करती हुई सूर्योदय के वहाने से ही मानो हंस रही है, अर्थात् पूर्व दिशा पश्चिम दिशा को उलाहना देती हुई अपने सौभाग्य पर इठला रही है ॥७॥

पूर्व दिशा में सूर्योदय होय यथेष्ट छे तेना पर आ कल्पना करी छे डे-आ इन्द्रनी महिषी-पूर्व दिशा वारुणी (पश्चिम) दिशा प्रत्ये पोताना अनुपम सौभाग्यनुं वर्णन करतां करतां सूर्योदयना अडानाथी अणु उसी रही छे. अर्थात् पूर्व दिशा पश्चिम दिशा में भेळु छेने पोताना उत्कर्षाथी इलाह रही छे. ॥७॥

वारुणिं भजतः कस्य पतनं ना भवद्भुवि ।

शिश्रामिमां विधातुं किं रदिरुदयमागतः ॥८॥

अर्थ-वारुणी-पश्चिम ! दिशा-शराव-के संसर्ग से-सेवन से-संसार में किस का अधःपतन नहीं हुआ, सब ही का अधःपतन हुआ, इसी शिक्षा को बताने के लिये ही मानो रवि का उदय हुआ, पश्चिम दिशा में पहुंचने पर रवि का अधःपतन हो जाता है, और पूर्वदिशा में आने पर उसका उदय होता है, सूर्य का अस्त होना ही उसका अधःपतन है ॥८॥

वारुणी-पश्चिमदिशा-शरणा सेवनथी आ संसारमां डाने अधःपात थयो नथी ? अर्थात् हरेकने अधःपात थयो छे. अ वात अतावतां कवि उत्प्रेक्षा करे छे डे पूर्वदिशा में उदय पावेल सूर्यना पश्चिम-वारुणी दिशा में अवाथी तेना अधःपात थाय छे, पूर्व दिशा में आवे तयारे तेना उदय-उत्पत्ति थाय छे. अर्थात् सूर्यनुं अस्त थयुं अेन अने अधःपात छे. ॥८॥

दिवानाथेन मे पत्नी निशा नीता दिवं हृदा ।

तद्विनाऽहं कथं प्राणान् दधे ह्यसंगतःशशी ॥९॥

अर्थ-प्रातःकाल में चन्द्रमा अस्त क्यों हो जाता है-इस पर यह कल्पना है, इसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि चन्द्रमाने यह सोचा कि सूर्य ने मेरी पत्नी निशा को नष्ट कर दिया है, अतः मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकता सो इसीलिये मानो वह अस्त हो गया है ॥९॥

प्रभातकाले चंद्र अस्त डेम पाये छे ? तेना पर आ कल्पना करे छे डे-चंद्रमाये अेषुं विचार्युं डे सूर्ये भारी स्त्री निशाने अंत करेले छे तेथी तेना विना अवीने भारे शुं करुं ? आ करणुथी ते प्रभात थतां अस्त पाये छे. ॥९॥

क्वच्छपुष्पावकीर्णैश्च, नभस्तल्पे महत्तरे ।

शशितम्योरभूत्केलिम्लानास्ताराश्च मर्दनात् ॥१०॥

अर्थ-प्रातःकाल तारे म्लान क्यों हो जाते हैं-इस पर यह कल्पना है-इसमें यह दिखलाया गया है-कि आकाशरूपी बड़े भारी पलंग पर-सेज पर कि जिस पर तारा रूपी पुष्प बिछे हुए हैं चन्द्रमा और रात्रि की कामक्रीडा हुई सो उनके संमर्दन से ही मानो तारारूपी पुष्प म्लान हो गये हैं-तुरन्ना गये हैं ॥१०॥

प्रभातकालमां ताराये आंया डेम पडे छे ? तेना पर कल्पना करता कहे छे डे-आकाशरूपी विशाल पलंग पर डे अना पर तारारूपी पुष्पे पाथरेला छे, चंद्रमा अने रात्रिनी रतिक्रीडा थई तेथी तेना मर्दनथी अ तारा रूपी पुष्पे अथराणा पडी गया. ॥१०॥

कैखाणां कुलं जात मधुनेन्दुवियोगतः ।

विनिन्दितं न तद्भाति गृहीतं किन्तु मूर्च्छया ॥११॥

अर्थ-रात्रि विकासी कैरव प्रातः होते ही लुकलित हो जाते हैं, इसका कारण इस श्लोक द्वारा प्रकट किया गया है, इसमें यह झलकाया गया है कि दिवस में इन्दु-चन्द्रमा का सद्भाव-उदय नहीं होता है, इसलिये उसके वियोग में कैरवों का समूह विनिन्दित हो जाता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है सो कवि इस पर कहता है कि वह विनिन्दित नहीं हुआ है किन्तु चन्द्रमा के विरह में वह मूर्च्छित हो गया है, इष्ट के वियोग में मूर्च्छित हो जाना यह स्वाभाविक ही है ॥११॥

रात्रि विकासी कैरव प्रभात थतां अ विकसी अय छे तेनुं कारण अतावतां कहे छे डे दिवसमां चंद्रमाने उदय थतो नथी तेथी तेना वियोगथी कैरवो निन्दित थई अय छे आ

रीते निमित्त नैमित्तिक संबंध अंधायेव छे. आना पर कवि उत्प्रेक्षा करे छे छे-ते निद्रित
थया नथी परंतु यंद्रना विरहथी ते भूच्छित थयेव छे. छिष्टना वियोगमां भूच्छित थवुं
अे स्वाभाविक छे. ॥११॥

सरोजानां प्रमोदोऽभूत्, सवन्धोस्वलोकनात् ।

रीतिः सांसारिकी ह्येषा, कस्य न स्वजनः प्रियः ॥१२॥

अर्थ-सूर्य के उदित होते ही कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं सो इसमें कारण
प्रकट करता हुआ कवि कहता है-कि सरोजों को अपने बन्धु सूर्य के अबलोकन
से महान् प्रमोद हुआ, अतः उसकी वजह से वे प्रफुल्लित हो गये हैं. सो यह
कोई अनोखी बात नहीं है, संसार की रीति ही ऐसी है कि स्वजन किसे प्रिय
नहीं होता ॥१२॥

सूर्यना उदय थतां न कभणो भिली उठे छे. तेनुं कारण अतावतां कवि कहे छे छे-
सरोजने पोताना अन्धुरूप सूर्यना अबलोकनथी थणुं न छर्ष थयो तेथी ते भिली उठया.
आ डोई आश्चर्यनी बात नथी. संसारनी रीत न अेवी छे छे-स्वजन कोने प्रिय
होता नथी ? ॥१२॥

पक्ष्मण्यक्ष्णोः समुद्रघाट्य प्रभातमाकलय्य च ।

समुत्सृज्य प्रियाङ्गं च पत्यङ्कं विजहूर्जनाः ॥१३॥

अर्थ-सोते हुए व्यक्तियों ने आंखों की पलकों को खोलकर यह जब देखा
कि प्रातःकाल हो गया है तो उन्होंने ने पहिले तो अपनी प्रिया की गोद छोड़ी
पश्चात् अपनी शय्या छोड़ी ॥१३॥

सूतेव व्यक्तिअे आंभोनी पापणोने भोलीने नयारे अेयुं छे प्रभात थर्ष गयेव छे
तेथी तेषु पहेलां तो पोतानी प्रियानुं पडथुं छोडीने पछी पोतानी शय्याने
त्याग कर्यो. ॥१३॥

शुचीभूयजनाः केचिद् गत्वाऽभ्यासे गुरोमुदा ।

नवस्मृत्यादिकं पाठं बद्ध्वास्ये मुखवस्त्रिकाम् ॥१४॥

पठन्ति कुर्वते केचन समादाय व्रतं विधिम्,

स्वजन्म प्राप्य सिद्धयर्थं तपस्यां कुर्वतेऽपरे ॥१५॥

अर्थ-कितनेक श्रावक जन संयमरूप मानसिक, वाचिक, कायिक शुद्धि के
साथ गुरुदेव के समीप उपाश्रय में पहुँचे, वहाँ जाकर वे मुख पर डोरा सहित

मुहुरति चांधकर आनन्दपूर्वक नवस्मरण का पाठ करने लगे. कितनेक श्रावक विधिपूर्वक व्रतों की आराधना करने में लग गये, तथा कितनेक अपने जन्म में प्राप्त करने योग्य मुक्ति की सिद्धि के निमित्त तपश्चर्या समवायव्रत करने में जुट गये. ॥१४-१५॥

डेटलाक श्रावको संयमरूप मानसिक, वायिक अने कायिक शुद्धि पूर्वक गुरुदेव समीपे वृषाश्रये गयां त्यां नर्छने तेज्या सुप उपर द्वारा सडित सुभवस्त्रिका पांधीने आनन्द पूर्वक नव स्मरणो पाठ करवा लाग्या. डेटलाक श्रावको सविधि व्रतोनी आराधना करवाभां लागी गया तथा डेटलाक पोताना नन्मभां प्राप्त करवा योग्य मुक्तिनी सिद्धि भाटे तपश्चर्या समवाय व्रत करवाभां लागी गया. ॥१४-१५॥

अहो कियान् सुस्योज्यं प्रातःकालो हितावहः ।

यस्मिन् प्रणिन्द्रया श्रान्तं ज्ञानं स्वस्थं प्रजायते ॥१६॥

अर्थ-ओह ! यह सुहावना प्रातःकाल कितना हितकारक है कि जिसमें अत्यन्त-गंभीर-निद्रा से थका हुआ ज्ञान स्वस्थ-ताजा हो जाता है ॥१६॥

अरे ! आ शोभाभणो प्रभातकाण डेटवो छितकारी छे डे न्मभां अत्यन्त गंभीर निद्राथी थकेल ज्ञान ताबुं थक अय छे. ॥१६॥

कुला येषु शकुन्तानां कर्णानन्दप्रदो स्वः ।

श्रूयते तच्छलादेते मिथः पृच्छन्ति कौशलम् ॥१७॥

अर्थ-धोंसलों में जो इस समय कर्ण को सुखकारक पक्षियों का चहचहाना रूप शब्द सुनने में आरहा है उससे ऐसा मालूम होता है कि मानों ये आपस में एक दूसरे की खुशखबर ही पूछ रहे हैं ॥१७॥

भाषाभां रहेला पक्षियोना आ समये जानने सुप उपवनार यड-यडानरूप शब्दे सांख्यताभां आवे छे, तेनाथी जेवुं न्णाय छे डे-अण्णे तेज्या परपर जेक थीअनी पुश पपर न् पूछी रह्या छे. ॥१७॥

वृक्षाद्वृक्षान्तरे ध्वेषामुत्पतनान्नुमीयते ।

रात्रौ स्वेषां वियुक्तानां मार्गणं तैर्विधीयते ॥१८॥

अर्थ-एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जो उनका उड़कर जाना है उससे ऐसा ज्ञान होता है कि रात्रि में जो अपने बंधुजन वियुक्त हो गये हैं क्या ये उनकी सज तो नहीं कर रहे हैं ॥१८॥

એક ગ્રાહથી બીજા ગ્રાહ પર જે એ હટીને જાય છે તેનાથી એવું જણાય છે કે-રાત્રે જે પોતાના અન્ધુજનોનો વિયોગ થયેલ છે તેની તેઓ શોધ કરી ન રહ્યા હોય. ॥૧૮॥

रात्रौ निस्तब्धताऽरण्ये याऽऽसीत्साऽधुना गता ।

तस्या अन्वेषणायैव भ्रम्यते पशुभिस्तदा ॥१९॥

અર્થ-રાત્રિ મેં જો જંગલ મેં નિસ્તબ્ધતાથી-વહ અબ કહાં ચલી ગઈ હસી ઘાત કો સ્વોજને કે લિયે માનોં પશુ હધર ડધર ઘૂમને લગે. ॥૧૯॥

રાત્રે જંગલમાં જે નિસ્તબ્ધતા હતી તે અત્યારે ક્યાં ચાલી ગઈ ? એ શોધવા માટેજ અણે પશુઓ આમ તેમ ફરવા લાગ્યા. ॥૧૯॥

अरविन्ददलस्थानां, बिन्दूनां निपाततः ।

प्रदीयते मिलित्वैतैः, सूर्याय सलिलाञ्जलिः ॥२०॥

અર્થ-હસ સમય કમલપત્તોં-પર પડી હુઈ ઓસ કો બિન્દુઓં કે નીચે ગિતે સે એસા ખાન હોતા હૈં કિ માનાં યે સબ કમલ મિલકર સૂર્ય કે-લિયે સલિલા-જ્વલિ હી દે રહે હૈં ॥૨૦॥

આ સમયે કમળના પાનો પર પડેલ ઓસ(ગ્રાહ)ના બિન્દુઓના નીચે પડવાથી એવું જણાય છે કે-આ બધા કમળો મળીને સૂર્યને અર્ધ્ય આપી રહ્યા છે. ॥૨૦॥

रज्न्यां यन्न प्रत्येति नयनै स्तमसाऽऽवृतम् ।

प्रातः काले समायाते तस्स्पष्टं वस्तु बुध्यते ॥२१॥

અર્થ-અન્ધકાર કે કારણ-જો વસ્તુ રાત્રિ મેં સ્પષ્ટ પ્રતીત નહીં હોતી થી. અબ પ્રાતઃકાલ કે આતે હી વહી વસ્તુ સ્પષ્ટ પ્રતીત હોને લગી હૈં ॥૨૧॥

અન્ધકારને લીધે જે વસ્તુ રાત્રે સ્પષ્ટ દેખાતી ન હતી તે પ્રાતઃકાળ થતાં સ્પષ્ટ જણવા લાગી. ॥૨૧॥

अस्मिन्नवसरे गंगा विधिं प्राभातिकं तदा ।

समाप्योवाच नाथ त्वं तत्त्वं तावन्नિवेदय ॥२२॥

અર્થ-હસી પ્રાતઃકાલ કે સમય મેં પ્રાતઃકાલ કી સમસ્ત ક્રિયાઓં કો સમાપ્ત કરકે ગંગાને પતિદેવ સે કહા-હે નાથ ! આપ હમેં તત્ત્વસમ્બન્ધી ઘાતેં વલાર્હાયે-સમજાઈય ॥૨૨॥

આવા પ્રભાત કાળના સમયે પ્રભાત કાલીન સધળી ક્રિયા સમાપ્ત કરીને ગંગાદેવીએ પોતાના પતિ હેમચંદ્ર શેકને કહ્યું-હે નાથ ! આપ મને તાત્વિક ઘાતો જણાવો. ॥૨૨॥

चेतना लक्षणो जीवः कर्मभिः पुद्गलैः कृतः ।

परतन्त्रः कथं तावत्संदेहं मे निवारय ॥२३॥

अर्थ-यह जीव चेतना स्वरूपवाला है, सो अचेतन स्वरूपवाले कर्मपुद्गलों द्वारा यह परतन्त्र कैसे किया गया-सो मेरे इस संदेह को आप दूर कीजिये ॥२३॥

आ ७२ चेतना स्वरूपवाणी छे ते अचेतन स्वरूपवाणी कर्मपुद्गलोथी परतंत्र केवी रीते क्षयो आ मारा संदेहने आप समझपी दूर करे। ॥२३॥

श्रुत्वेदं वचनं हेमचन्द्रोऽवादीच्छृणु प्रिये ।

अहं त्वां सर्वभावेन बोधयामि यथा मतिः ॥२४॥

अर्थ-हेमचन्द्र सेठने जब अपनी प्रिया के इस प्रकार के वचन सुने तब उन्होंने उससे कहा-हे प्रिये ! मैं तुम्हारे इस संशय का अपनी बुद्धि के अनुसार निराकरण करता हूँ अर्थात् तुम्हें समझाता हूँ-तुम उसे सुनो ॥२४॥

हेमचंद्र शेठे पोतानी पत्नीना आ रीतना वचनो सांभण्या त्यारे ते तेने कडेवा वाग्या, -हे प्रिये ! हूं तमारा आ संशयतुं मारी समज प्रमाणे निराकरणु करूं छुं अर्थात् तमने समझवुं छुं ते तमे सांभणो। ॥२४॥

यः पदार्थो यथावस्थो, भवनं तस्य तत्तथा ।

भवनं प्रोक्तं च तत्त्वज्ञैर्जिनेन्द्रैर्जनशासने ॥२५॥

अर्थ-जो पदार्थ जैसा है-उसका इसी तरह से होना सो तत्त्व है, ऐसा तत्व के ज्ञाता जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥२५॥

ज पदार्थो ज रीतनो होय अज रीते होवुं ते तत्व छे, अज अना तत्तने अणुनार जनेन्द्रदेवे कहुं छे। ॥२५॥

यथा कश्चित्कुरङ्गोऽसौ गीतं श्रुत्वा विमुह्यति ।

परन्तु तस्वरूपं स न जानाति न तत्त्ववित् ॥२६॥

अर्थ-जिस प्रकार हरिण गीत को सुनकर उस पर मुग्ध हो जाता है, परन्तु वह उसके स्वरूप को नहीं जानता है-अतः वह उस गीत का ज्ञाता नहीं कहा जाता है ॥२६॥

अज हरणु गीत सांभणीने तेना पर भोहित थरुं अय छे, परंतु ते अना यथार्थ अणुनार अणुतुं नथी तेथी अ गीतनुं अणुकार न कडेवाय। ॥२६॥

एवं तद्भासना भावाज्जीवः कल्याणसत्पथम् ।

आरोढुं नैव शक्नोति तत्त्वं वेद्यं पुनः पुनः ॥२७॥

अर्थ-इसी प्रकार जीव जबतक तत्त्व की भासनावाला नहीं बनता है तब तक वह कल्याण के सुन्दर पथ पर आरूढ नहीं हो सकता है. अर्थात् उसकी भाव भासना हुए बिना वह उसका यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकता है। इस लिये तत्त्व को समझने के लिये बार २ चेष्टा करते रहना चाहिये ॥२७॥

ये रीते एव ज्ञानं सुधी तत्त्वनी भासना वाणो अनतो नथी, त्यां सुधी ते उदयाणुना सुपथ पर गति करी शक्तो नथी. अर्थात् तेनी भाव भासना यथा विना ते तेनो यथार्थ आणुकार थर्ष शक्तो नथी. तेथी तत्त्वने समज्जा भाटे वारं वार चेष्टा करता रहेवुं अर्थये. ॥२७॥

जीवाजीवास्रवा बंध संवरौ चाथ निर्जरा ।

मोक्षश्चेति सिद्धान्ते सत्त्वत्त्वानि सन्ति वै ॥२८॥

अर्थ-जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं ॥२८॥

एव, अएव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बंध अने मोक्ष आ नव तत्वो छे. ॥२८॥

मुख्योपचारमाश्रित्य तावत्तत्त्वमिहोदितम् ।

निश्चयव्यवहारज्ञैर्विनेयजनबोधकैः ॥२९॥

अर्थ-निश्चय और व्यवहार नय के ज्ञाताओं ने मुख्य-निश्चय नय और उपचार-व्यवहार नय को लेकर तत्त्व की प्ररूपणा की है ॥२९॥

निश्चय अने व्यवहार नयना आणुकारोअे मुख्य निश्चयनय अने उपचारथी व्यवहार नयने लर्षने तत्त्वनी प्ररूपणा करी छे. ॥२९॥

अनेकान्तमयं तत्त्वं नैकधर्माङ्कितं च तत् ।

सर्वथाऽऽदेशभेदेन, तत्र तेषां च संस्थितिः ॥३०॥

अर्थ-तत्त्व अनेक धर्मों से युक्त है वह सर्वथा एक धर्म से ही युक्त है ऐसी वस्तु स्थिति नहीं है. अनेक धर्मों का सद्भाव वस्तु में आदेश भेद से-विवक्षा के भेद से माना गया है ॥३०॥

तत्त्व अनेक धर्मोथी युक्त छे, अे सर्वथा अेक धर्मोथी युक्त छे अेवी वस्तुस्थिति नथी. अनेक धर्मोना सद्भाव वस्तुमां आदेश भेदथी अर्थात् विवक्षा भेदथी मनायेल छे. ॥३०॥

एकान्तनिश्चयो मिथ्या व्यवहारस्तथैव च ।

सम्यक् परस्परापेक्षौ वस्तुतत्त्वप्रसाधकौ ॥३१॥

अर्थ—किसी एक धर्म को वस्तु में एकान्तरूप से जानना मिथ्या है. यदि इसी तरह का व्यवहारनय है तो वह भी मिथ्या ही है. क्यों कि परस्परापेक्ष व्यवहार और निश्चय ये दोनों वस्तुतत्त्व के प्रसाधक होते हैं. अतः इस स्थिति में ही ये दोनों नय सम्यक् हैं ॥३१॥

कोई एक धर्मने वस्तुमां निश्चय रूपी मानवुं मिथ्या छे. जे आ प्रमाणेनो व्यवहार नय छे तो ते पणु मिथ्या न छे केम के परस्पर सापेक्ष-व्यवहार अने निश्चय जे अने वस्तु तत्त्वना सिद्ध करवावाणा छे तेथी आ स्थितिमां न जे अने अर्थ कथा छे. ॥३१॥

अमूर्तश्चेतनो भोगी कर्तादेहप्रमाणकः ।

उर्ध्वगामि स्वभावोऽयमुत्पादादित्रयात्मकः ॥३२॥

अर्थ—जीव तत्त्व अमूर्त्तिक है—निश्चयनय की अपेक्षास्वरूप रस, गंध, और स्पर्श से रहित है. चेतना स्वभाववाला है, अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल को स्वयं भोगनेवाला कर्ता—रागादिक भावों का करनेवाला है. देह प्रमाण है नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए शरीर के बराबर है. स्वभावतः उर्ध्वगामी है. और सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं है. किन्तु परिणामी नित्य है—उत्पाद, व्यय, एवं द्रौव्य धर्मों से युक्त है ॥३२॥

वस्तुतत्त्व अमूर्त्तिक छे निश्चयनय प्रमाणे रूप, रस, गंध अने स्पर्शथी रहित छे. चेतना स्वभाववाणी छे, पोते करैला शुभाशुभ कर्मोना अने स्वयं भोगवतार कर्ता—रागादि भावो उपभवतार छे शरीर प्रमाण छे. जेठवे के नाम कर्मोना उदयथी प्राप्त थयेस शरीरनी पशव्यर छे. स्वभावथी उर्ध्वगामी छे. अने सर्वथा कूटस्थ नित्य नथी. परंतु परिणामी नित्य छे. उत्पाद, व्यय अने द्रौव्य धर्मोथी युक्त छे. ॥३२॥

एवं निश्चित्य संतव्यं जीवः स्वकृतकर्मभिः ।

बध्यते व्यवहारान्नो कथमस्य भवस्थितिः ॥३३॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय करके यह मानना चाहिये कि जीव व्यवहार से अपने द्वारा किये गये कर्मों का कर्ता है—अतः वह उनके द्वारा बंधता है यदि ऐसी बात न मानी जावे तो फिर उसकी जो भवस्थिति है—संसार में परिभ्रमण होता है—वह नहीं बन सकती है ॥३३॥

आ प्रभाषे निश्चय क्रीने अम मानवुं जेठं अे डे-एव व्यवहारथी पोते करेला कर्मेना कर्ता छे. तेथी अे तेनाथी पंधाय छे. जे अम मानवामां न आवे तो पछी तेनी जे अवस्थिति छे अेटवे डे संसाग्नां परिभ्रमणु थाय छे ते थर्ष शके नही ॥३३॥

कर्मणामास्रवो यत्र संसारस्तत्र वर्तते ।

एवं संसाररूपत्वं चतुर्गतिषु सिद्ध्यति ॥३४॥

अर्थ—जहां २ कर्मों का आस्रव है—वहां २ संसार रूपता है. इस प्रकार की व्याप्ति होने पर से चारों गतियों हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, इनमें संसार रूपता सिद्ध हो जाती है ॥३४॥

अ्यां अ्यां कर्मांमां आस्रव छे त्यां त्यां संसार पणुं छे आ प्रभाषेनी व्याप्ति थवाथी आरे गतियोमां अर्थात् नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य अने देव अे गतियोमां संसारपणुं सिद्ध थर्ष अय छे. ॥३४॥

छिद्रान्विते यथा वारि घटे विशति तस्स्थिते ।

जीवे मिथ्यादृग्गाद्भिष्यो विशति कर्मपुद्गलाः ॥३५॥

अर्थ—जिस प्रकार पानी में पड़े हुए छिद्रयुक्त घट में पानी प्रवेश करता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि से युक्त जीव में इनके द्वारा कर्म रूप पुद्गल प्रवेश करते हैं—इसीका नाम आस्रव है. ॥३५॥

छिद्रवाणो घटो डे जे पाणुीमां पडयो होय तो तेमां जम पाणुीना प्रवेश थाय छे, अेज प्रभाषे मिथ्यादर्शन विगैरेथी युक्त एवमां तेना द्वारा कर्मरूप पुद्गलो प्रवेशे छे. तेनुं ज नाम आस्रव छे. ॥३५॥

कायवाङ्मनसां कर्मयोग एवाश्रयो मतः ।

शुभाशुभविकल्पाभ्यां सोऽयं संजायते द्विधा ॥३६॥

अर्थ—मन, वचन, और काय की जो क्रिया है उसका नाम योग है. और यह योग ही आस्रव है; यह आस्रव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है. शुभ योग से शुभ आस्रव और अशुभ योग से अशुभ आस्रव होता है ॥३६॥

मन वचन अने कायनी जे क्रिया छे, तेनुं नाम योग छे. अने अे योग अे ज आस्रव छे. अे आस्रव शुभ अने अशुभना लेदथी अे प्रकारता छे. शुभ योगथी शुभ आस्रव अने अशुभ योगथी अशुभ आस्रव थाय छे. ॥३६॥

पुण्यरूपः शुभस्तावत् पापरूपोऽशुभास्रवः ।

पुण्यपापैः समाधोनो जीवोऽयं व्याकुलः सदा ॥३७॥

अर्थ—शुभास्रव पुण्यरूप और अशुभास्रव पाप रूप होता है. जीव जबतक पुण्य और पाप इनसे पराधीन बना हुआ है—तबतक यह नियम से व्याकुल रहता है. निराकुल हो ही नहीं सकता ॥३७॥

शुभास्रव पुण्यरूप अने अशुभास्रव पापरूप होय छे. एव न्यां सुधी पुण्य अने पापथी पराधीन अनेलो होय त्यां सुधी ते अवश्य व्याकुल रहे छे. निराकुल थम शकते नथी. ॥३७॥

व्याकुलत्वं च संसारि जीवे सर्वत्र वीक्षते ।

स नास्तीदृक् क्षणः कोऽपि यस्मिन् स स्यान्निराकुलः ॥३८॥

अर्थ—जीव की जब तक संसारि अवस्था है तब तक नियम से इसमें व्याकुलता है. ऐसा कोई सा क्षण नहीं है कि जिस क्षण में वह निराकुल हो सके ॥३८॥

एवनी न्यां सुधी संसार अवस्था छे, त्यां सुधी अवश्य तेमां व्याकुल पण्युं छे. ऐवी ऐक पण्यु क्षणु नथी डे न क्षणुमां ऐ निराकुल थम शके. ॥३८॥

ध्रुवं पुण्यात् सुखं पापाद्दुःखं मन्येऽहमात्मनः ।

उभयोरप्यवस्थायां नैराकुल्यं न जायते ॥३९॥

अर्थ—यह एकान्त सत्य है कि पुण्य से जीवों को सांसारिक सुख प्राप्त होता है और पापसे एकान्ततः दुःख प्राप्त होता है. इन दोनों की पुण्य और पाप के उदय की-अवस्था में जीव निराकुल नहीं होता है. पाप की अवस्था में तो निराकुलता होती ही नहीं है. पर पुण्य की अवस्था में भी जीव में निराकुलता नहीं होती ॥३९॥

ऐ अरेपर सत्य न छे डे पुण्यथी एवने सांसारिक सुख प्राप्त थाय छे. अने पापथी उदयन दुःख न प्राप्त थाय छे. आ अन्नेनी अर्थात् पुण्य अने पापना उदयनी अवस्थामां एव निराकुल थते नथी. पापनी अवस्थामां तो थती न नथी. परंतु पुण्यनी अवस्थामां पण्यु एवमां निराकुल पण्यु थतुं नथी. ॥३९॥

एकस्याः समीहायाः पूर्तिः स्यादपरा तदा ।

तत्राप्यपरापरेच्छायां नैरन्तर्यं प्रसिद्धयति ॥४०॥

अर्थ-पुण्य और पाप इन दोनों के उदय में निराकुलता क्यों नहीं होती तो इस का कारण यह है कि एक इच्छा की पूर्ति होने पर जीव में उसी क्षण द्वितीय इच्छा जगती है, उसकी पूर्ति होने पर तृतीय इच्छा जगती है. इसी तरह कोई सा भी क्षण ऐसा नहीं रहता है कि जिसमें इच्छा न जगती रहती हो, इस तरह इच्छाओं की निरन्तरता जीव में सिद्ध हो जाती है ॥४०॥

पुण्य अने पाप अने अन्तेना उदयमां निराकुलतां पश्युं क्वेभ्यस्तुं नथी? तो अनेतुं कारण्यु अने अने इच्छा पूर्णुं थनाथी अने क्षण्ये अवमां पीच्छुं इच्छा अने अने अने ते पुरी थाय त्तारे तीच्छुं इच्छा उत्पन्न थाय अने अने तीच्छुं पश्युं क्षण्ये होती नथी अने अने अने इच्छा उत्पन्न न थाय अने रीते इच्छाअनेतुं निरन्तर पश्युं अवमां सिद्ध थाय अने ॥४०॥

यादन्मोहोदयस्तावदिच्छाऽभावो न जायते ।

इत्थं विच्छोत्पत्तिर्हि जीवे व्याकुलता मता ॥४१॥

अर्थ-जब तक जीव के मोह का उदय रहता है, तब तक इच्छा का अभाव नहीं होता है, इस प्रकार इच्छा की उत्पत्ति ही जीव में व्याकुलता कही गई है, मोह कर्म के सद्भाव से ही इच्छाएं विविध प्रकार की उत्पन्न होती रहती है. और इनसे जीव में व्याकुलता बनी रहती है ॥४१॥

अने सुधी अवमां मोहोदयो उदय रहे अने, त्यां सुधी इच्छाअने अभाव थतो नथी अने रीते इच्छाअने उत्पत्ति अने अवमां व्याकुलतां पश्युं कहेल अने. मोह कर्मना अन्वस्थानथी अने अने अने प्रकारनी इच्छाअने उत्पन्न थाय अने अने तेनाथी अवमां व्याकुलतां पश्युं रक्षा करे अने ॥४१॥

सैव व्याकुलता तावत् परतन्त्र्यं निगद्यते ।

पुद्गलैः कर्मभिरिच्छं जीवेऽस्ति परतन्त्रता ॥४२॥

यह व्याकुलता ही परतन्त्रता है, और यह परतन्त्रता पौद्गलिक कर्मों द्वारा जीव में पूर्वोक्त रूप से होती है ॥४२॥

अने व्याकुलतां अने परतन्त्रतां अने अने ते परतन्त्रतां पौद्गलिक कर्मों द्वारा अवमां पूर्वोक्त प्रकारनी थाय अने ॥४२॥

यथा पीतेन मद्येन जन्तुः संमुह्यते तथा ।

बंधावस्थासमापन्नैः कर्मभिर्मुह्यते जनः ॥४३॥

जिस प्रकार पिये गये मद्य-शराब से प्राणी मूर्च्छित हो जाता है-अपने और पर के ज्ञान से रहित हो जाता है-उसी प्रकार बंधावस्थापन्न-क्षीर नीर

की तरह बन्ध को प्राप्त हुए-कर्म पुद्गलों के द्वारा यह जीव मूर्च्छित हो जाता है. ॥४३॥

जब भक्षिपान करवायी प्राणी मूर्च्छित थाय छे, अटवे डे पोतापणा डे पारकापणाना ज्ञान रहित थध अथ छे अथ प्रमाणे अंधावस्था प्राप्त करैल एव कर्म पुद्गलो द्वारा मूर्च्छित थध अथ छे. ॥४३॥

जीवोऽसौ कषायत्वात् कर्मयोग्याँश्च पुद्गलान् ।

आदत्ते कथितो बंधः सोऽयमस्ति चतुर्विधः ॥४४॥

अर्थ-यह जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म योग्य पुद्गलों को-कार्मण वर्गणाओं को-जो ग्रहण करता है-उसका नाम बंध है. यह बंध चार प्रकार का है ॥४४॥

आ एव कषाययुक्त होवाथी कर्म योग्य पुद्गलोने अर्थात् कार्मण वर्गणाओने क ग्रहण करे छे, तेनुं नाम अंध छे. आ अंध चार प्रकारनो छे. ॥४४॥

प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेशास्ता विधाः इमाः ।

आसां प्ररूपणाऽऽचार्यैरागमे विस्तारात्कृता ॥४५॥

अर्थ-प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध ये बंध के चार प्रकार हैं । इनकी प्ररूपणा विस्तार के साथ अचार्यों ने आगमों में की है. अतः वहीं से यह प्रकरण जान लेना चाहिये ॥४५॥

प्रकृतिबंध स्थितिबंध, अनुभागबंध, अने प्रदेशबंध आ अंधना चार प्रकार छे. तेनी प्ररूपणा आचार्योअ आगमोमां विस्तार पूर्वक करैल छे. तेथी आ विषय तेमांथी समल वेवो. ॥४५॥

मिथ्यादृक् च प्रमादश्च योगश्चाविरतिस्तथा ।

कषायाश्चेति बंधस्य हेतवः सन्ति पञ्चधा ॥४६॥

अर्थ-मिथ्यादर्शन, प्रमाद, योग, अविरति और कषाय ये बन्ध के पांच कारण हैं ॥४६॥

मिथ्यादर्शन, प्रमाद, योग, अविरति अने कषाय आ पांच कारण अंधना क्शा छे. ॥४६॥

प्रकृतिबन्धस्य भेदाश्च, अष्टौ प्रोक्तास्तथाहि ते ।

ज्ञानदृगावती वेद्यं मोहार्युनाम गोत्रयुक् ॥४७॥

विघ्नश्चेति प्रभेदानामेषां भेदाश्च पञ्च च ।

नव द्वौ त्रिंशतिरष्टाधिका चत्वार एव च ॥४८॥

चत्वारिंशद्व्यधिका च द्वौ पञ्चापि स्मृताः क्रमात् ।

व्याख्या भेदप्रभेदानामुक्ता सूत्रेषु सूरिभिः ॥४९॥

अर्थ-प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है-वे आठ प्रकार ये हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय, इनके भी भेद प्रभेद हैं-जैसे-ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो मोहनीय के अष्टावीस, आयुके चार, नाम के बायालीस, गोत्र के दो, और अन्तराय के पांच, इन भेदों के भी प्रभेद हैं, इनका वर्णन तथा इनकी व्याख्या आचार्यों ने सूत्रों में की है-तो वहां से जान लेनी चाहिये ॥४७॥४८॥४९॥

प्रकृतिबंधना आठ प्रकार छे ते आ प्रमाणे छे. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु नाम गोत्र अने अन्तराय, आना पाणु भेद प्रभेदो छे, जेभडे ज्ञानावरणना पांच, दर्शनावरणना नव, वेदनीयना ये मोहनीयना अष्टयावीस, आयुना चार नामना भेतावीस, गोत्रना ये, अने अन्तरायना पांच, आ भेदाना पाणु आंतर भेदो छे, आनु वरुन सविस्तर आचार्योअ सूत्रयोभां करेस छे. तेथी ते त्यांथी जशी लेवुं. ॥४७॥४८॥४९॥

कर्मणां सह जीवेन अवस्थानं यदास्ति सा ।

स्थितिबन्धस्तु तद्रूपस्तेषां सेत्थं शृणु प्रिये ॥५०॥

अर्थ-यह तो पहिले प्रकट किया जा चुका है नि कर्मों का जीव के साथ अवस्थान - एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध हैं-वह बंध है, इस बंध के रहने की जो मर्यादा है वह स्थितिबन्ध है-यह स्थिति हे प्रिये ! इनकी इस प्रकार से है- ॥५०॥

अतो पहेलां कहुं ज छे डे-जवनी साथे कर्मोतुं ज अवस्थान छे, अटवे डे क्षेत्रावगाह रूप संबन्धो छे, ते अर्थ छे. जे आ बंधमें रह्यानी ज मर्यादा छे, ते स्थितिबंध छे. जे अनी स्थिति हे प्रिये आ प्रमाणे छे. ॥५०॥

त्रयाणामादितः प्राज्ञान्तरायस्य च स्मृताः ।

सागरोपमकोटीनां त्रिंशत्कोटयः परा स्थितिः ॥५१॥

अर्थ-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस ३० कोटा कोटी सागर की है ॥५१॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय अने अन्तराय आ चार कर्मोंनी उत्कृष्ट स्थिति ३० तीस कोटाकोटी सागरोंपमनी छे. ॥५१॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नाम गोत्रयोः

आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशद्विज्ञेयाः सागरोपमाः ॥५२॥

अर्थ-मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागर की है, नाम कर्म और गोत्रकर्म की २० कोडाकोडी सागर की है; आयुर्कर्म की ३३ सागर की है; यह आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥५२॥

मोहनीय कर्मोंनी उत्कृष्ट स्थिति ७० सितेर कोटाकोटी सागरनी छे. नामकर्म अने गोत्र कर्मोंनी २० कोडा कोडी सागरनी छे, आयुर्कर्मोंनी ३३ तेतीस कोडा कोडी सागरनी छे. आ रीते आठ कर्मोंनी उत्कृष्ट स्थिति कहेवामां आवेख छे. ॥५२॥

अपरा वेदनीयस्य मुहूर्त्ता द्वादश स्थितिः ।

नाम्नो गोत्रस्य चाष्टौ स्याच्छेषास्त्वन्तर्मुहूर्त्तकाः ॥५३॥

जधन्य स्थिति कर्मों की इस प्रकार से है-वेदनीय कर्म की १२ बारह मुहूर्त्त की, नाम और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त्त की तथा शेष बचे कर्मों की अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥५३॥

कर्मोंनी जधन्य स्थिति आ प्रमाणे छे. वेदनीय कर्मोंनी १२ बार मुहूर्त्तोंनी नाम अने गोत्रकर्मोंनी आठ मुहूर्त्तोंनी तथा पाकीना कर्मोंनी अन्तर्मुहूर्त्तोंनी कही छे. ॥५३॥

विपाकोऽनुभवस्तावत् कर्मणामुप्तधान्यवत् ।

अनुभागोऽपरपर्यायः, उक्तः केवलचक्षुषा ॥५४॥

अर्थ-जिस प्रकार बोया धान्य समय पाकर पक जाता है उसी प्रकार अबाधा काल के बाद कर्म भी उदय में आते हैं. कर्मों का उदय में आना ही उनका विपाक है-पकना है इसका दूसरा नाम अनुभाग भी है ऐसा केवली का वचन है ॥५४॥

अब आवेखुं अनाज योग्य समये पाकी जय छे. अज प्रमाणे अबाधा काल पकी कर्म पण उदयमां आवे छे. कर्मोंतुं उदयमां आ पणुं तेनो विपाक छे. अतुं भीखुं नाम अनुभाग पणुं छे. अ प्रमाणेतुं 'केवलीतुं' वचन छे. ॥५४॥

ये सर्वात्मप्रदेशेषु संस्थिताः कर्मपुद्गलाः ।

एक क्षेत्रावगाहेन बंधः प्रदेशसंज्ञकः ॥५५॥

अर्थ-समस्त आत्मप्रदेशों में-आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में-जो कर्म पुद्गल-एक २ प्रदेश पर एक क्षेत्रावगाह रूप से अनन्तानन्त ठहरे हुए हैं, उसका नाम प्रदेशबंध है, अर्थात् आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओं जो ठहरता है उस का नाम प्रदेशबंध है ॥५५॥

सध्या आत्मप्रदेशोमां अटले के आत्माना असंख्यात प्रदेशोमां के कर्मपुद्गल एक एक प्रदेश पर एक क्षेत्रावगाह पशुथी अनंतानंत रहेला छे तेनुं नाम प्रदेशबंध छे, अर्थात् आत्माना दरेक प्रदेश पर अनंतानंत कर्मवर्गणाओ के रहं छे तेनुं नाम प्रदेश बंध छे. ॥५५॥

निरोधो ह्यास्रवस्यासौ संवरः परिकीर्तितः ।

कर्म संव्रियतेऽनेन संवरः स निरुक्तितः ॥५६॥

अर्थ-आस्रव का रुकना यह संवर कहा गया है. यह संवर कर्मों के आगमन के द्वार को रोक देता है. ॥५६॥

आस्रवना रोकाई बनाने संवर कहेल छे आ संवर कर्मोना आवाना द्वारने रोकी दे छे. ॥५६॥

गुप्तिसमित्तिधर्मेभ्यश्चारित्रेभ्यश्च जायते ।

परीषहजयानुप्रेक्षाभ्योऽसौ मुक्तिकारणम् ॥५७॥

अर्थ-तीन ३ गुप्तियों से, पांच ५ समितियों, से दश १० उत्तम क्षमा आदि धर्मों से एवं तेरह १३ प्रकार के चारित्र से तथा बावीस २२ प्रकार की परीषहों के सहने से और बारह १२ प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से यह संवर मुक्ति का कारण होता है ॥५७॥

त्रयु गुप्तियोथी, पांच समितियोथी, दश १० उत्तम क्षमा विगरे धर्मोथी अने तेर प्रकारना चारित्रथी तथा बावीस प्रकारना परीषहोने सहन करवाथी अने बार प्रकारनी अनुप्रेक्षाओना चिंतनथी आ संवर मुक्तितुं कारणु थाय छे. ॥५७॥

कर्मणां संचितानां च एकदेशपरीक्षयात् ।

निर्जरा जायते द्वेषा सकामाकामभेदतः ॥५८॥

अर्थ-संचित कर्मों के थोड़े २ विनाश से निर्जरा होती है यह दो प्रकार की है. एक सकामनिर्जरा और दूसरी अकामनिर्जरा ॥५८॥

संचित कर्मोंना थोड़ा थोड़ा विनाशथी निर्जरा थाय छे. आ निर्जरा संकाम अने अकामना लेदथी थे प्रकारनी छे. ॥५८॥

दुर्जरं जीर्यते कर्म अनयेति शुभाशुभम् ।

व्युत्पत्त्या निर्जरा ज्ञेया सा सकामैव कर्मदा ॥५९॥

अर्थ-जिसके द्वारा दुर्जर-जीर्ण-संचित-शुभ और अशुभकर्म झड़ते हैं-नष्ट होते हैं वह निर्जरा है. यह निर्जरा-सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा के भेद से दो प्रकार की है. इनमें जो सकाम निर्जरा है वही कर्मों का नाश करनेवाली होती है ॥५९॥

जेनाथी दुर्जर अशुभ संचित शुभ अने अशुभकर्म न्छाय छे अर्थात् नाश पावे छे ते निर्जरा छे, आ निर्जरा संकाम निर्जरा अने अकाम निर्जराता लेदथी थे प्रकारनी छे. तेमां जे सकाम निर्जरा छे जेज कर्मोंना नाश करवा वाणी छे. ॥५९॥

सकामा या व्रतादीनामाराधनाद्युपक्रमैः ।

साध्या संजायते साऽस्ति कर्मनिर्मूलने क्षमा ॥६०॥

अर्थ-निर्जरा व्रतादिकों की आराधना से-तपस्या से-साध्य होती है वह सकाम निर्जरा है. और वही कर्म के निर्मूल करने में उन्हें जड़ से उखाड़ने में-समर्थ है. ॥६०॥

जे निर्जरा व्रतादिकोंनी आराधनाथी अर्थात् तपस्याथी साध्य थाय छे ते सकाम निर्जरा छे अने जेज कर्मोंने निर्भूण करवामां तेने जड़थी उखाड़वामां समर्थ थाय छे. ॥६०॥

विपाकान्तस्थितानां हि कर्मणां स्वयमेव या ॥

निर्जराऽस्त्यनुपायात् सा, अकामाऽसंवराऽहिता ॥६१॥

अर्थ-अपने समय के अनुसार जो कर्मनाश हो रहे हैं-झड़ रहे हैं-वह अकाम निर्जरा है. वह निर्जरा विना उपाय के होती है. संवर का यह कारण नहीं होती और न इससे जीव का हित ही होता है ॥६१॥

घोताना समयानुसार के कर्म नाश पायी रखा छे. ते व्यकाम निजरा छे. आ निजरा
उपाय कर्या विना थाय छे. ते संवरना कारणरूप होती नथी अने तेनाथी ज्वनुं छै
पणु छित थतुं नथी. ॥६१॥

मोहक्षयाच्च सर्वेषां कर्मणां सर्वथा क्षयः ।

लब्धव्यं तच्च लभ्यं स्याद् यतितव्यं तथात्मभिः ॥६२॥

अर्थ-मोह के विनाश होने से समस्त कर्मों का सर्वथा- अपुनर्भवरूप से-
विनाश है-वही मोक्ष है. इसलिये ऐसा प्रयत्न करना चाहिये के जिससे प्राप्त
करने योग्य-मोक्ष-प्राप्त हो सके ॥६२॥

मोहनो क्षय यथाथी सधना कर्मोना के सर्वथा अपुनर्भवपणुथी विनाश थाय छे ते
के मोक्ष छे. तेथी जेवो प्रयत्न करवो जेई जे के ज्यथी मोक्ष प्राप्त करवा योग्य प्राप्त
थछ शके. ॥६२॥

यथैकाकेन हीनानां बिन्दूनां नास्ति मूल्यता ।

तथा न दृष्टि हीनानां क्रियाणां जन्मनाशता ॥६३॥

अर्थ-जिस प्रकार एक अंक से हीन बिन्दुओं की कीमत नहीं होती है
उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान दर्शन से विहीन क्रियाओं की मुक्तिमार्ग में कीमत
नहीं होती है. क्यों कि उसके बिना उनमें जन्म को नाश करने की क्षमता
नहीं आती है ॥६३॥

केम आंकडा विनाना शून्य समूहनी क'छ पणु किंमत होती नथी जेव रीते सम्यग्
ज्ञान दर्शननथी रहित क्रियाज्योनी मुक्ति मार्गमां कींमत होती नथी. केम के तेना विना
जन्मनो नाश करवानी शक्ति आवती नथी. ॥६३॥

सर्वथा प्रथमं सैव ग्राह्या जीवेन यत्नतः

विना तामस्य भो देवि ! भवस्य स्यान्न विच्युतिः ॥६४॥

अर्थ-अतः जीव का कर्तव्य है कि सर्वप्रथम वह बड़े प्रयत्न से इसे प्राप्त
करे. क्यों कि उस दृष्टि के बिना हे देवि ! इस भव का-संसार का-नाश नहीं
हो सकता है ॥६४॥

तेथी ज्वनुं कर्तव्य छे के-सौथी पहेलां तेणु प्रयत्न पूर्वक सम्यग्ज्ञान दर्शन प्राप्त
करवा जेईजे. कारणु के जे दृष्टि विना हे देवी आ जवनो नाश थई शकतो नथी. ॥६४॥

देवागमगुरूणां च श्रद्धानं यत्सुनिर्मलम् ।

शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥६५॥

अर्थ-वह सम्यक्त्व देव, आगम और गुरु की सच्ची श्रद्धा करने से उत्पन्न होता है. एवं शङ्कादिक दोषों को दूर करने से यह निर्मल होता है ऐसा आचार्यों का इस सम्बन्ध में कथन है ॥६५॥

એ સમ્યક્ત્વ દેવ, આગમ અને ગુરુને વિષે સાચી શ્રદ્ધા રાખવાથી ઉત્પન્ન થાય છે અને શંકાદિ દોષોને દૂર કરવાથી તે નિર્મલ થાય છે. એ પ્રમાણે આચાર્યોનું આ વિષયમાં કથન છે. ॥६५॥

स्वभवे येन जीवेन सम्यग्दृष्टि रूपासिता ।

जानुदन्वीकृतागाध भवाम्भोधिः स जायते ॥६६॥

अर्थ-जिस जीव ने अपने भव में सम्यग्ज्ञान दर्शन की प्राप्ति की है उस जीव ने अपने अनन्त संसार को परिमित बना लिया है ॥६६॥

જે જીવે પોતાના ભવમાં સમ્યક્ જ્ઞાન દર્શનની પ્રાપ્તિ કરી છે, તે જીવે પોતાના અનંત સંસારને પરિમિત બનાવી લીધો છે. ॥६६॥

सर्वज्ञेनोच्छिन्नदोषेण वीतरागेण बोधितः ।

यः स एव सुधर्मोऽस्ति दशलक्षणसंयुतः ॥६७॥

अर्थ-सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी इन तीन विशेषणों वाली आत्मा के द्वारा समझाया गया जो तत्व है वही श्रेष्ठ धर्म है. इसकी जानकारी जीव को उत्तम क्षमा आदि उसके दश १० भेदों द्वारा हो जाती है ॥६७॥

સર્વજ્ઞ, વીતરાગ અને હિતોપદેશી એ ત્રણ વિશેષણોવાળી, આત્મા દ્વારા સમજાવેલ જે તત્ત્વ છે, એજ ઉત્તમ ધર્મ છે. તેની સમજણ જીવને ઉત્તમ ક્ષમા વિગેરે તેના ૧૦ દસ ભેદોથી થઈ જાય છે. ॥६७॥

देव स एव यो दोषैरष्टा दशभिर्विवर्जितः ।

यत्र स्याद्वादसिद्धान्तः स एव परमागमः ॥६८॥

अर्थ-जो अठारह प्रकार के दोषों से रहित होता है वही सच्चा देव है. और जहां स्याद्वाद सिद्धान्त का निवास है वही परमागम है ॥६८॥

જે અઠાર પ્રકારના દોષોથી રહિત હોય છે, એજ સચ્ચો દેવ છે, અને જ્યાં સ્યાદ્વાદ સિદ્ધાંતનો વાસ છે, એજ પરમાગમ છે. ॥६८॥

बाह्याभ्यन्तरैः संगैः रिक्तः सद्बोधदायकः ।

गुरु ध्यानतपोलीनो विषयाशा विवर्जितः ॥६९॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से जो रहित है, यथार्थ बोध का जो दाता है, ध्यान और तपमें जो लीन है और पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा से जो रहित है ऐसी आत्मा ही गुरु है ॥६९॥

बाह्य अने आभ्यन्तर परिग्रहोथी के रहित छे, अने के यथार्थ बोध आधे छे. तथा ध्यान अने तपमां के लीन छे अने पंचेन्द्रियोना विषयोनी आशाथी के रहित छे अथे आत्मा के गुरु छे. ॥६९॥

अदेवे देवबुद्धिर्याऽगुरौ च गुरुधीस्तथा ।

अनागमे च तथ्यस्य धिष्णा मिथ्यात्वलक्षणम् ॥७०॥

अर्थ—अदेव—पूर्वोक्त देवलक्षण रहित आत्मा में—देव की बुद्धि का होना अगुरु में—गुरुलक्षण हीन आत्मा में—गुरु की बुद्धि का होना, आगम लक्षण हीन ज्ञान में—आगम की बुद्धि का होना यही मिथ्यात्व का लक्षण है ॥७०॥

अदेव अठवे के पूर्वोक्त देवना लक्षणु विनाना आत्मां देव बुद्धि थवी अगुरुं अर्थात् गुरुना लक्षणु शून्य आत्मां गुरु बुद्धि थवी आगमना लक्षणु विनाना ज्ञानमां आगम बुद्धि थवी अथ मिथ्यात्वनुं लक्षणु छे. ॥७०॥

जीवलक्षणतो भिन्नं विद्वद्यजीवं शुभानने ।

पुद्गलादि विभेदेन पंचधा सोऽस्ति संमतः ॥७१॥

अर्थ—जीव के लक्षण से जो भिन्न है उसे ही शुभानने ! अजीव जानो, वह अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन भेदों से पांच प्रकार का माना गया है ॥७१॥

हे सुंहर सुभवाणी ! जीवना लक्षणुथी के अलग छे तेने अणव समजवा. ते अणव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश अने काल आ बोधोथी पांच प्रकारना मानेस छे. ॥७१॥

पुद्गलानां च भेदानां प्रभेदानां च वर्णनम् ।

यथास्थानमहं तावद् वदिष्याम्यवधारय ॥७२॥

अर्थ—मैं—यथास्थान पुद्गलों का उनके भेदों का और प्रभेदों का वर्णन करूंगा. सो वहीं से यह सब जान लेना ॥७२॥

दुःयोग्य स्थाने पुद्गलानुं तेना भेदानुं अने प्रभेदानुं वर्णुं न करीश तेने त्यांथी
समञ्ज वेवुं ॥७२॥

वैचित्र्यं कर्मणां किञ्चिच्छ्रावयामि शृणु प्रिये ।

यत्प्रभावाद्द्वयं जीवो भवद्भ्यः स्थले स्थले ॥७३॥

नटवन्नृत्यति वेषं कृत्वा कृत्वाऽविगमतः ।

रागद्वेषविधातारमग्रे कृत्वा ह्यनादितः ॥७४॥

अर्थ-हे प्रिये ! मैं अब तुम्हें कर्मों की कुछ विचित्रता सुनाता हूँ. तुम उसे सुनो. इन कर्मों के प्रभाव से ही यह रागद्वेष रूपी कषाय को आगे करके जीव [सी भवरूपी नाट्य शाला में जगह २ नट की तरह अनेक प्रकार के स्वांग पर घर कर नचता आ रहा है. यह नचने रूप क्रिया इसकी सादि नहीं है वनादि की हैं. इसे चैन कहाँ जो यह कहीं विश्राम भी पा सके ॥७३-७४॥

हे प्रिये ! छेवे दुः तने कर्मोनी डेटक्षिक विचित्रता संभणवुं छुं ते तमे सांभणो
भा कर्मोना प्रभावथी न ते रागद्वेष रूपी कषायने आगण करीने छव आ भव रूपी नाटक
॥णाभा स्थणे स्थणे नटनी भाडक अनेक प्रकारना रूपोने धारण करीने नाचतो आवे छे.
भा नाचवा रूप क्रिया तेनी सादि नथी. अनादिनी छे. तेनाथी विश्राम क्यां भणे डे ते
ध्यांय विश्राम पाणु भेणवी शके ? ॥७३-७४॥

दुस्साध्यान्यपि यस्य वै सुघटितान्यत्रासतेऽक्षिभ्रमात्,

ज्ञानध्यानफलानि यस्य दयया सिद्धिं लभन्ते पराम् ।

दुर्गम्याब्धिनगाटवी गतजनो येनैव संरक्ष्यते,

तस्मै सर्वविधायिने च जयिने देवाय नित्यं नमः ॥७५॥

अर्थ-कठिन से भी कठिन कार्य जिसके नेत्र के इशारे से शीघ्र बन जाया करते हैं, जिसकी दया के बल पर ज्ञान, ध्यान के फल सिद्ध हो जाया करते हैं, दुर्गम ऐसे समुद्र में, पर्वत में और जंगल में फंसा हुआ प्राणी जिसके द्वारा सुरक्षित रहता है ऐसे उस सर्व शक्तिमान् दैव के लिये मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ॥७५॥

कठणुभां कठणु कार्य जेनी आंभना धशाराथी अकदम जनी अथ छे, जेनी ध्याना
अथी ज्ञान, ध्याननुं दण सिद्ध थध अथ छे. दुर्गम जेवा समुद्रभां पर्वतभां अने जंग-

લમાં ક્ષાએલ પ્રાણી જેના દ્વારા સુરક્ષિત રહે છે, એવા એ સર્વ શક્તિમાન દેવને હું સદા નમસ્કાર કરું છું. ॥૭૫॥

યસ્યાપૂર્વમહૌજસાતિ તરસા વ્યાલોઽપિ માલાયતે,
 ક્ષ્વેઠો યસ્ય સુદૃષ્ટિ રાગવશતઃ પીયૂષકોશાયતે ।
 દુર્દાન્તોઽપિ કરી હરિશ્ચ હરિકો મીમોઽપિ શિષ્યાયતે,
 દુર્ગઃ સ્વર્ગનિમોઽનલો જલલલ્લો વજ્જોઽપિ હારાયતે ॥૭૬॥

અર્થ-જિસકે પ્રભાવશાલી અપૂર્વ તેજ કે આગે સર્પ માલા કે જૈસા હો જાતા હૈ, વિષ અમૃત કે પિણ્ડ જૈસા બન જાતા હૈ દુર્દાન્ત હાથી ઘોડા ઓર સિંહ શિષ્ય કે જૈસા વિનમ્ર હો જાતા હૈ, દુર્ગ સ્વર્ગ કે તુલ્ય, અગ્નિ જલ કે જૈસી ઓર તલવાર હાર કે સમાન બન જાતી હૈ । એસે ઉસ સર્વ શક્તિમાન દૈવ કે લિયે મૈં નમસ્કાર કરતા હું ॥૭૬॥

જેના પ્રભાવશાળી અપૂર્વ તેજની આગળ સર્પ માળાની જેમ થઈ બચ છે, વિષ અમૃતના પિંડ જેવું બની બચ છે. દુર્દાન્ત હાથી, ઘોડા, અને સિંહ શિષ્યની જેમ વિનય-શીલ બની બચ છે, દુર્ગ સ્વર્ગ જેવો અગ્નિ જળના જેવો અને તલવાર હારના જેવી થઈ બચ છે એવા સર્વ શક્તિવાળા દેવને હું નમસ્કાર કરું છું. ॥૭૬॥

કીર્તિર્યસ્ય કથામપીહ કથિતું શક્તોઽભવન્નોકવિઃ,
 બ્રહ્માવિષ્ણુમહેશશેષમુનયોઽપ્યાસ્થાયમાનં સ્થિતાઃ ।
 કાઽન્યેષાં વિદુષાં કથાત્ર મહતામેતત્ત્રિલોકી જનઃ,
 યસ્યાગ્રે તૃણવદ્ભિભાતિ જયતાત્સર્વાતિરેકો વિધિઃ ॥ ૭૭ ॥

અર્થ-જિસકી કીર્તિ કી કથા કહને કે લિયે વૃહસ્પતિ અપને કો અસમર્થ સમક્ષતા હૈ, બ્રહ્મા, વિષ્ણુ, મહેશ, શેષનાગ ઓર મુનિ અમીતક મૌન ધારણ કિયે હુણ હૈં, તવ અન્ય વડે ૨ વિદ્વાનોં કી તો વાત હી કયા હૈ? જિસકે આગે સમસ્ત સંસાર તૃણ કે જૈસા તુચ્છ પ્રતીત હોતા હૈ એસે ઉસ સર્વાતિ રેકિ દૈવ કે લિયે મૈં નમસ્કાર કરતા હું ॥૭૭॥

જેની કીર્તિની કથા કહેવા માટે વૃહસ્પતિ પોતાને અસમર્થ માને છે. બ્રહ્મા, વિષ્ણુ, મહેશ, શેષનાગ અને મુનિજન અત્યાર લગી મૌન ધારણ કરી રહ્યા છે, તે પછી બીજા વિદ્વાનોની તો વાત જ શું કરવી? જેની આગળ આ સર્વેનો સંસાર તણુપંજા જેવો તુચ્છ દેખાય છે એવા સર્વાતિરેકી દેવને હું નમસ્કાર કરું છું. ॥૭૭॥

यस्योपर्यनिशं सरोजसदृशो दृष्टिप्रसारो विधेः,

निर्द्रव्योऽपि धनी भवेत्सुचरितश्चारित्रहीनोऽपि ना ।

गुण्यथोऽपि च निर्गुणो भविजनैर्षान्यो भवेद्दुर्गुणः,

पूज्यः स्यादपि दुर्जनः सुजनवद्दुष्टोऽपि शिष्टो भवेत् ॥७८॥

अर्थ-जिसके ऊपर भाग्य की सरोज के जैसी कोमल कृपा की कोर पडी रहती है वह भले ही निर्द्रव्य हो पर धनी भी उसके आगे पानी भरता है भले ही वह चारित्र हीन हो पर उसके समक्ष सदाचारी भी घुटने टेक देता है, भले ही वह गुणों से हीन हो पर बड़े २ विद्वान् भी उसके आगे बोलने में अक्षम हो जाते हैं, भले ही वह दुर्गुणो का घर हो पर वह गुणियों में अगुवा बनकर संसार में प्रतिष्ठा पाता है. भले ही वह दुर्जन हो पर सज्जन की तरह वह पुजाता है और भले ही वह दुष्ट हो पर शिष्ट की तरह वह सीना तानकर चला करता है ॥७८॥

जैनी उपर भाग्यनी कभग जैनी डोभग कृपादृष्टि पडी रहे छे ते अवे निर्धन होय पणु धनवान पणु तेनी आगण पाणी अरे छे. अवे ते आरित्र रहित होय पणु तेनी आगण सदाचारी पणु मस्तक नभावे छे. अवे ते गुण्यथी रहित होय पणु मोटा मोटा विद्वानो पणु तेनी आगण ओसवाने असमर्थ अनी अथ छे, अवे ते दुर्गुणानुं धर होय पणु ते गुण्यजनोमां अत्रेसर अनीने जगतमां सम्मान भेणवे छे. ते अवे दुर्जन होय पणु ते सम्जननी मादक पूज्य छे. ते अवे दुष्ट होय. पणु सख्यजननी जेम उंयु मुभ राभीने अवे छे. ॥७८॥

लक्ष्मी वा ललनेव पादयुगयोः संवाहनं सादरं,

कृत्वा नृत्यति तस्य तस्य पुरतो यस्यानुकूलो विधिः ।

किवान्यैर्भवभोगसौख्यमतुलं तस्यैव संपद्यते,

यस्योपर्यनिशं सरोजसदृशो दृष्टिप्रसारो विधेः ॥७९॥

अर्थ-ललना के जैसी होकर लक्ष्मी भी उसी के दोनों पैरों को बड़े आदर के साथ दाबती है कि जिसके ऊपर पुन्य की कृपा है जैसी कोमल कृपादृष्टि भाग्य की बनी रहनी है. और उसी के समक्ष वह नाचती रहती है कि जिसके अनुकूल वह भाग्य बना रहता है. और अधिक क्या किसी के सम्बन्ध में कहा जावे जीवन में सांसारिक जितने भी अतुल भोग हैं और जितने भी

सुख हैं वे सब उसी प्राणी को सुलभ होते हैं कि जिसके ऊपर विधि की पुण्य की सरोज जैसी कोमल कृपा है ॥७९॥

लक्ष्मी पशु अनाज अन्ने पशो स्त्रीनी लभ धन्या न आदर साथे दयावे छे, डे लेना उपर पुण्यनी कृपा होय छे. अने तेनी उपर भाग्यनी कामण कृपादृष्टि अनी रहे छे, अने तेनी न साथे ते नायती रहे छे, डे लेने अनुकूल अे भाग्य अनी रहे छे. अने पधारें शुं कामना विषे कही शक्य ? जवनमां सांसारिक न काम अनुस लोको छे, अने अटकुं सुख छे, अे अधुं अेन प्राणीने सुखल थाय छे डे लेना उपर विधिनी कृपा कामणना लेवी कामण अनेल होय छे. ॥७९॥

यत्रासन्ननिशं मृदङ्गनिवहृद्धानैरनेकोत्सवाः,

रम्यस्त्रीकरपल्लवैर्मणिमयी रंगावलिः कल्पिताः ।

दैवे हा ! प्रतिकूलतामुपगते ध्वस्ता नभस्पर्शिनः,

हर्म्यास्तेऽपि महार्थिनः शिवस्वस्तत्रावनौ श्रूयते ॥८०॥

अर्थ-जहां पर निरन्तर गाजे बाजे के साथ विविध उत्सव मनाये जाते रहे और जिनमें कमल कोमल शरीरवाली स्त्रियों के करपल्लवों द्वारा चौक पूजे जाते रहे ऐसे वे नभस्तलस्पर्शी वेश कीमती ऊंचे २ भवन भाग्य के प्रतिकूल हो जाने पर ध्वस्त हो गये. और आज उस भूमि में केवल गीदड़ों के ही शब्द सुनने में आरहे हैं ॥८०॥

ज्यां हंसेशा निरंतर गाजवाजनी साथे अनेक प्रकारना उत्सवो थता रहे छे, अने लेना कामण लेवा कामण शरीरवाणी स्त्रियोना हस्त कामणथी चौक पूराय छे, अेवा अे आकाश तणने स्पर्श करवावाणा कीमती हंया हंया लवनो भाग्यना प्रतिकूल थवाथी नाश पाभ्या छे, अने आल अे भूमिमां केवण शियाणवाना न शब्दो संलगाछ रह्या छे. ॥८०॥

दिव्यस्त्रीनयनावलीभिरभितस्तल्पस्थिता भुंजते,

सौख्यानीह कटाक्षिता सुकृतिनः केचिद् यथेच्छं नराः ।

केचिद्रामविधौ विनैव वनिता तान्ताः सदा दुःखिनः,

वैकलव्यं कलयन्ति हा ! पर रमा संवीक्षणैरीक्षणैः ॥८१॥

अर्थ-जिनके ऊपर पुण्य की कृपा है ऐसे वे भाग्यशाली पुण्यात्मा मनुष्य शय्या पर बैठे २ ही देवाङ्गनाओं जैसी स्त्रियों के कटाक्षों के लक्ष्य बनकर हृच्छानुसार सुखों को भोगते हैं और जिन पर भाग्य की कृपा नहीं है-भाग्य

जिन के प्रतिकूल बना हुआ है, ऐसे वे मनुष्य विना घरवाली के रात दिन दुःखित बनकर विकलता को प्राप्त होते रहते हैं और परस्त्री को देख कर अपने नेत्रों को दूषित करते हैं ॥८१॥

जना उपर पुण्यनी कृपा थई होय तेना अे साग्यशाणी पुण्यत्मा मनुष्य शय्या पर भेडा भेडा अ देवांगनाओ जेनी स्त्रीयोना कटाक्षोनुं लक्ष्य अनिने छिछानुसार सुभो भोगवे छे. अने जना उपर साग्यनी कृपा नथी अर्थात् साग्य जेने प्रतिकूल अपनेस होय अेवा अे मनुष्य घरवाणी वगर रात दिवस दुःभी अनिने विकलताने प्राप्त थता रहे छे. अने पर स्त्रीने ओछ अछिने पोताना नेत्रोने अपवित्र करता रहे छे. ॥८१॥

तल्पस्था अपि केपि दैव दयया लक्ष्म्यङ्गनाऽऽलिङ्गिताः,
निर्द्रव्याश्च तदीय दृष्ट्यपथिका उद्योगिनो दुःस्थिताः ।
केचित् षड्सभोजनानि मुदिता नित्यं लभन्ते नराः,
कृत्वाऽपीह परिश्रमं न लभते हाऽन्नस्य कैचित्कणः ॥८२॥

अर्थ-जिन-ऊपर दैव की दया है ऐसे मनुष्य शय्या पर लेटे र भी लक्ष्मी रूपी अङ्गना से आलिङ्गित होकर आनन्द करते रहते हैं, और जो दैव की दृष्टि के अपथिक हैं-जिन पर दैव की कृपा नहीं है ऐसे व्यक्ति उद्यम करते र भी द्रव्य रहित रहते हैं और दुरवस्था से गृहीत होकर अपने दिन निकालते रहते हैं । कितनेक व्यक्ति दैव के प्यारे होकर षड्स भोजन कर आनन्द की वंशी बजाया करते हैं तथा कितनेक ऐसे भी व्यक्ति हैं जो दैव को कृपा से रहित होकर अन्न के एक र दानों काभी मुंहताज बने रहते हैं ॥८२॥

जना उपर दैवनी दया छे अेवो मनुष्य पथारी पर सूता सूता अ लक्ष्मी रूपी स्त्रीने आलिङ्गन करीने आनन्द करे छे. अने जेओ दैवनी दृष्टिना मार्गरेष नथी अन्या अेटले डे जना उपर दैवनी कृपा थछ नथी अेवो पुंषु छेवम करता छतां पणु द्रव्य विहीन रहे छे. अने दुर्भाग्य अवरस्थाथी पीडित थछने पोताना दिवसो वितावे छे. डेटलीक व्यक्ति दैवना प्यारा अनिने छरस युक्त भोजन करीने आनन्दनी वांसणी वगाड्या करे छे. तथा डेटलीक अेवी पणु व्यक्ति छे, डे जे दैवनी कृपाथी रहित अनिने अन्नना अेक अेक दाणा भाटे पणु वक्षणा भारतारहे छे. ॥८२॥

वासांसीह नवानि केऽपि दधतेऽनर्घाणि नित्यं जनाः,
जीर्णान्यप्यपरे न शीतसमये संप्राप्नुवन्त्यङ्गिनः ।

केचिच्छीलविभूषिता अपि सदा सीदन्ति वामे विधौ,
पापासक्तधियोऽपि केऽपि सततं देवप्रिया मोदिनः ॥८३॥

अर्थ-जिन पर दैव की कृपा बरसती रहती है वे नित्य नये नये वस्त्रों को धारण करते हैं, तथा जो इसकी कृपा से वंचित हैं उन्हें शीत के समय में भी जीर्ण तक भी कपड़े नहीं मिलते, तथा कितनेक जन ऐसे भी हैं जो शील से विभूषित होते हुए भी यदि दैव की कृपा से रिक्त हैं तो उन्हें कोई दो कोडी में भी नहीं पूछता है. वे सदा दुःखी ही बने रहते हैं. तथा-जो दैव के लाडले हैं ऐसे जीव पाप में आसक्त होने पर भी नित्य गुल छरें उड़ाया करते हैं ॥८३॥

जेना पर दैवनी कृपा बरसती रहे छे, ते दररोज नया नया वस्त्रो धारण करता रहे छे. तथा जे तेनी कृपा रहित छे, तेने ठंडीना समयमां उतरेला वस्त्रो पणु भणता नथी. तथा डेटसाक मनुष्यो जे न पणु होय छे ते जेज्यो शीलवाणा होवा छतां पणु जे दैवनी कृपा शून्य होय तो तेने कांछे जे अक्षमना पणु लाव पूछता नथी. तेज्यो सदा दुःखी जे भनी रहे छे. तथा जेज्यो दैवना लाडका छे जेवा जेवो पापथी रच्या पच्या रहेवा छतां पणु दररोज भोज उडाव्या करे छे. ॥८३॥

चाट्किर्नमया पुरस्तत्र विधेः प्राणप्रिये तन्यते,
सत्यं किन्तु हृदिस्थितं तदिह भो ! वाण्याज्वदं सादरम् ।
शास्त्रेषु प्रथितास्तदीयविभुता प्रख्यापिका सत्कथा,
विज्ञायाप्तमुखाश्च वीक्ष्य गुरुतां भावोऽभवन्मे स्फुटः ॥८४॥

अर्थ-इस तरह से जो मैंने हे प्राणप्रिये ! तेरे समक्ष दैव के विषय में कहा है वह मैंने उसकी खुशामद करने के रूप में नहीं कहा है. किन्तु मैंने अपने हृदय में स्थित यह सत्य कहा है. क्यों कि दैव के प्रभाव का वर्णन करने वाली अनेक सुन्दर २ कथाएं शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं. उन्हें मैंने गुरुजनों के मुख से सुना है. उससे मैंने दैव की गुरुता-महत्ता-जानली है. अतः इस विषय में मेरा हार्दिक अभिप्राय इन श्लोकों के रूप में यहां प्रस्फुटित हुआ है ॥८४॥

हे प्राण प्रिये ! आ प्रभाणु जे में तारी सन्मुख दैवना विषयमां कहेल छे, ते में तेनी पुशामत पणुने लगेने कहेल नथी. परंतु में मारा हृदयमां रहेल सत्यभाव कहेल छे. उभके दैवना प्रभावने वणुववा वाणी अनेक सुंदर सुंदर कथाज्यो शास्त्रोमां प्रसिद्ध छे, ते में युग् मुखथी सांक्षणेक छे, तेमनी पासेथी में दैवनी महत्ता जणु लीधी छे. तेथी आ विषयमां मारो हार्दिक अभिप्राय आ प्रवेडिना रूपथी अही प्रदर्शित करेल छे. ॥८४॥

तत्त्वस्य स्वरूपेत्थं सा विज्ञाय मुमुदेतराम् ।

प्रभावं कर्मणां श्रुत्वा, किञ्चिद्विस्मयमावहत ॥८५॥

अर्थ—तत्व का स्वरूप इस प्रकार से श्रुत्वा—सुनकर—जानकर वह देवी गंगा बहुत अधिक आनंदित हुई, तथा कर्मों के प्रभाव को सुनकर उसे कुछ आश्चर्य सा भी हुआ ॥८५॥

तत्त्वतुं स्वरूपं या प्रसाधे सांभणीने ते गंगादेवी धृष्टी न आनंदित थर्ध तथा कर्माणां प्रभावने सांभणीने तेने कंठ आश्चर्यं ऋषुं थयुं. ॥८५॥

अवदन्नाथ ! जीवोऽयं कर्मणां गहनां गतिम्,

कथं विज्ञातुमर्हः स्यादित्यारेकां निवास्य ॥८६॥

अर्थ—तब उसने कहा हे नाथ ! यह जीव कर्मों की गहन गति को कैसे जान सकता है. इस मेरी शंका का आप समाधान कीजिये ? ॥८६॥

तेथी-तेषु क्खु हे नाथ ! या एव कर्माणी गहन गतिने डेवी रीते ऋषी शके ? या भारी शंकानुं आप समाधान करे. ॥८६॥

उवाच हेमचन्द्रोऽथ प्रिये सर्वज्ञमन्तरा ।

छद्मस्थस्तां न विज्ञातुं समर्थोऽस्ति मिथ्यालय ॥८७॥

अर्थ—तब हेमचन्द्र सेठ ने कहा—हे प्रिये ! कर्मों की गहन गति को सर्वज्ञ के बिना छद्मस्थ जन जीव नहीं जान सकता है. ऐसा समझना चाहिए ॥८७॥

गंगादेवीनुं वचन सांभणीने हेमचंद्र सेठे क्खु हे प्रिये ! कर्माणी गहन गतिने सर्वज्ञ शिवाय छद्मस्थ एव ऋषी शकता नथी. तेम समण्वुं. ॥८७॥

जीवो भवति सर्वज्ञः कथं मुक्ताधियोऽपि वा ।

श्रोतुमिच्छास्ति चेतावद् ब्रवीमि त्वां समासतः ॥८८॥

अर्थ—हे प्रिये ! जीव सर्वज्ञ कैसे हो सकता है और कैसे वह मुक्ति का स्वामी बन सकता है. यदि इस बात को सुनने की तेरी इच्छा है तो मैं इसे तुम्हें संक्षेप से कहता हूँ—सुनो—॥८८॥

हे प्रिये ! एव सर्वज्ञ डेवी रीते थध शके छे ? जेने ते मुक्तिने स्वामी डेवी रीते षनी शके छे ? जे या बात सांभणवानी तारी इच्छा होय तो हुं जे तने हुंकाणुथी क्खुं ते तमे सांभणो. ॥८८॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तममलं संधारयत् त्यादरात्,
 पूर्ण-ते नरपुङ्गवा भववर्नीं छित्वा च कैवल्यतः
 लोकालोकविलोकनेऽतिचतुरा मुक्त्यङ्गनालिङ्गिताः,
 जायन्ते ह्यपुनर्भवा गुणभृतो नित्यं च तेभ्यो नमः॥८९॥

अर्थ-जो जीव जघन्य सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से लेकर पूर्ण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को प्राप्त कर लेते हैं. वे नर-पुंगव प्राप्त केवलज्ञान के प्रभाव से भववर्नी को ध्वस्त करके समस्तलोक और अलोक के ज्ञाता दृष्टा हो जाते हैं, मुक्त्यङ्गना उन्हें चाहने लगती है. उससे आलिङ्गित होकर वे फिर अपुनर्भववाले हो जाते हैं और आठ गुणों के युक्त बने हुए वे वहाँ अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं. अतः ऐसे जीवों को मेरा नित्य नमस्कार हो. ॥८९॥

वे जघन्य सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन અને सम्यक् चारित्रથી લાઇને પૂર્ણ સમ્ય-
 જ્ઞાન, સમ્યગ્દર્શન અને સમ્યક્ ચારિત્રને પ્રાપ્ત કરે છે એવો નર શ્રેષ્ઠ પ્રાપ્ત થયેલ કેવળ-
 જ્ઞાનના પ્રભાવથી ભવાટવીને ધ્વસ્ત કરીને સઘળા લોક અને અલોકના જ્ઞાતા અને દૃષ્ટા થઈ
 બન્ય છે. મુક્તિ રૂપી સ્ત્રી તેને ઈચ્છવા લાગે છે. તેનાથી આલિંગિત થઈને તે પાછા પુનર્ભવ
 રહિત થઈ બન્ય છે. અને આઠ ગુણોથી યુક્ત બનીને તેઓ ત્યાં અનંતકાળ પર્યાન્ત વિરાજ
 માન રહે છે. તેથી એવા જીવોને મારા નમસ્કાર છે. ॥૮૯॥

दम्पत्योरनयो विचार चतुरां तां शेमुषीं विभ्रतोः,

स्वाध्याये स्तयोर्दयालुमनसोः सद्वृत्तसंशालिभिः ।

अन्यैरात्महितेषुभिर्गुणवैर्गोष्ठ्यो सहासीनयोः,

इत्थं यान्ति गनोहरासु दिवसाः नित्योत्सवा नेदिनोः ॥९०॥

अर्थ-इस प्रकार से विचारशील बुद्धि को धारण करते हुए. स्वाध्याय में रत दयालु मन वाले उन दोनों पति पत्नी के दिवस सदाचार विशिष्ट अन्य आत्म हितभिलाषी गुणिजनों की गोष्ठी में सम्मिलित होकर आनन्द के साथ व्यतीत होने लगे. ॥९०॥

આ પ્રમાણે વિચારશીલ બુદ્ધિને ધારણ કરીને સ્વાધ્યાયમાં તત્પર દયાળુ મનવાળા એ
 દંપતીનો સમય સદાચાર યુક્ત બીજા આત્મહિતાભિલાષી ગુણવાન પુરૂષોની વાર્તાલાપ
 પૂર્વક આનંદથી પસાર થતો હતો. ॥૯૦॥

यस्य ज्ञानिवचोऽशुभिः समभवज्ज्ञानप्रकर्षो हृदि,
तस्माद्योऽजनि जैनसाधुतिलको वैराग्यरंगे पटुः ।
हित्वा वैषयिकं सुखं मुनिपदं संसेवते सादरं;

मुक्तिं स्त्रीपदलिप्तया विजयतां श्रीघासिलालो मुनिः ॥९१॥

अर्थ-जिसके हृदय में ज्ञानि गुरुओं के वचन रूपी किरणों से ज्ञान का प्रकर्ष हुआ और इसीसे जो जैन साधुओं में एक साधुतिलक रूप हुआ तथा वैराग्य का रंग जिसकी नस २ में भरा हुआ है ऐसा वह घासिलाल मुनि कि जो अभी तक भी वैषयिक सुखों का परित्याग करके बड़े आदर के साथ मुक्ति स्त्री के पद को पाने की इच्छा से मुनि पद के सेवन करने में दत्तचित्त है सदा जयवंता वर्ते ॥९१॥

जेना हृदयमां ज्ञानी युञ्ज्याना वचन ३पी किरणोथी ज्ञाननी वृद्धि थय अने तेनाथी जेयो जैन साधुओमां तिलक ३प थया तथा वैराग्यने रंग जेनी नसे नसमां भरेल छे जेवा जे घासीलाल मुनि डे जेयो अत्यार पर्यन्त वैषयिक सुखेना त्याग करीने धणा ज व्याहर पूर्वक मुक्ति ३पी स्त्रीना पंढने पाभवानी छिछोथी मुनि पदनुं सेवन करवामां दत्तचित्त रहे छे जेवा जे मुनिराज सदा जयवंता वर्तो. ॥९१॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते
लोकाशाहचरिते चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः प्रारभ्यते-

अथेभ्यसभ्यै र्युवजानिरेषः वृतोऽन्यदा शुभ्र पवित्रवस्त्रः ।
नक्षत्रवृन्दै र्वि संपरीतः शशीव वव्राज मठं मुनीनाम् ॥१॥

अर्थ-एक दिन की बान है कि हेमचन्द्रजी सेठ मुनिजनों के पास में उपाश्रय में गये उनके साथ उस समय सभ्यधनिक जन थे-उपाश्रय में जाने के लायक पवित्र पोशाक इन्होंने पहिर रखी थी. अतः देखने वालों को ये नक्षत्रराजि से परिवृत चन्द्रमण्डल के जैसे प्रतीत हो रहे थे ॥१॥

એક દિવસ હેમચંદ્ર શેઠ ઉપાશ્રયમાં મુનિજનોની સમીપે ગયા. તે વખતે તેમની સાથે અન્ય સભ્ય ધનિકજન હતા. ઉપાશ્રમાં જતી વખતે ત્યાંને યોગ્ય પવિત્ર પહેરવેશ તેમણે પહેરેલ હતો તેથી એનારાએને તેઓ નક્ષત્ર સમૂહથી વિંટળાયેલ ચંદ્ર મંડળની જેવા તેઓ જણાઇ રહ્યા હતા. ॥૧॥

विराजमानं भवदुःखदावानलातपात्तमुमुक्षु शिष्यान् ।
संबोधयन्तं गुरुवर्यदेवं ननाम हर्षाश्रुनिरुद्धनेत्रः ॥२॥

अर्थ-उपाश्रय में पहुंचते ही इन्होंने ने गुरुराज को नमस्कार किया. गुरुदेव उस समय भवदुःख रूपी दावानल के आताप से तप्त मुमुक्षु शिष्यों को बोध प्रदान कर रहे थे. गुरु वर्य को देखते ही इनकी दोनों आंखों में भक्ति के आंसु आ गये थे. ॥२॥

ઉપાશ્રયમાં પહોંચીને તેમણે ગુરુ મહારાજ ને નમસ્કાર કર્યા. ગુરુદેવ તે સમયે ભવ-
દુઃખ રૂપી દાવાનળના તાપથી તપેલા મુમુક્ષુ શિષ્ય ગણને બોધ આપી રહ્યા હતા. ગુરુ-
મહારાજને એઈને જ તેમની એક આંખોમાં ભક્તિના આંસુ આવી ગયા. ॥૨॥

स्वदोषशान्त्यै विहितात्मशान्तिं गुरुं प्रणम्यात्महिताभिलाषी ।
दुर्वर्णविक्षोदधियैव धात्र्यां पुनः पुनः घृष्टललाटपट्टः ॥३॥

अर्थ-आत्महित की कामना वाले उन हेमचन्द्रजी ने अपने दोषों की शान्ति के निमित्त जिन्होंने ने आत्मशान्ति प्राप्त करली है ऐसे गुरु देव को तीन आवर्त्त पूर्वक बार २-तीन बार-भूमि पर पंचाङ्ग सहित माथा झुका २कर-उसे भूमि पर इस भावना से कि यदि मेरे भालपट्ट पर कोई द्वारा नीच गोत्र कर्म का आविर्भाव हो गया हो तो उसका क्षय करने के लिये इन्हें बारबार नमस्कार किया. ॥३॥

आत्महितनी उच्छ्वासाणां ये हेमचन्द्रशेठे पोताना द्योषोनीं शान्तिं माटे नमश्चु आत्म शान्तिं प्राप्त करी लीधी छे, जेवा गुरुदेवने त्रणु आवर्त पूर्वक वारंवार (त्रणुवार) पयंग सहित भूमि पर भस्तक नमावी नमावीने (भूमिपर जे भावनाथी के मारा बाब प्रदेशमां केठना द्वारा नीय गोत्र कर्म आवी गयुं होय तो तेना नाश करवा माटे) नमस्कार कर्यां ॥३॥

गुरोर्विशुद्धयैव परस्य शुद्धिः संजायते जीवगणस्य सम्यक् ।

एवं विचार्यैव तदन्तरङ्गे गतः स तस्या परिमार्गणाय ॥४॥

गुरु की स्वयं की शुद्धि से ही अन्य भक्त जनों की अच्छी तरह से शुद्धि होती है—यदि गुरुजनों में शुद्धि नहीं है तो उनके भक्तजनों में भी शुद्धि नहीं आसकती है—ऐसा विचार करके ही हेमचन्द्र सेठ मानों उनकी शुद्धि को दूढने के निमित्त गुरुदेव के अन्तरङ्ग में प्रविष्ट हो गये ॥४॥

गुरुनी स्वयं शुद्धिथीन अन्य भक्तजनोनी शुद्धि सारी रीते थरु अय छे. जे गुरु-जनोंमां शुद्धि न होय तो तेमना भक्तजनोमां पणु शुद्धि आवी शकती नथी. जेवा विचार करीनेन अणु हेमचन्द्र शेठ तेमनी शुद्धिनी शोध करवा तेमना अंतःकरणुमां प्रवेश्या. ॥४॥

गुर्वङ्गकान्तौ प्रतिबिम्बितात्मच्छलेन सोऽज्ञायि सदस्य वर्गः ।

हेमेत्यभिख्यां सफली विधातुं स्वीयां प्रविष्टः किमसौ कृशानौ ॥५॥

अर्थ—जब हेमचन्द्र का प्रतिबिम्ब गुरुदेव के शरीर की कान्ति में झलकता हुआ दिखाई दिया तो सदस्य वर्गों ने यही समझा कि हेमचन्द्र सेठ अपना 'हेम' इस नाम को सफल करने के लिये—उसे निर्दोष प्रमाणित करने के लिये—क्या अग्नि में तो प्रविष्ट नहीं हो गये हैं ॥५॥

हेमचन्द्रशेठेना पडछयो गुरुदेवना शरीरनी कान्तिमां नगकते दृषायो अथी सव्य-कर्मि जेभ न लाग्युं के हेमचन्द्रशेठ पोताना 'हेम' जे नामने सक्षण करवा माटे अर्थात् तेने निर्दोष ठराववा माटे शुं अग्निमां तो प्रवेश्या नथी ने ? ॥५॥

रत्नत्रयेणैव वशंगता सा मुक्त्यङ्गना तां यदि वः प्रपित्सा ।

तदा तदाप्त्यै हृदि धारणीयमेतत्त्रयं भव्यजनैः सुवन्द्यम् ॥६॥

अर्थ—भव्य जवों को समझाते हुए गुरुदेव कह रहे थे कि हे भव्य जीवो ! वह मुक्ति रूपी अंगना रत्नत्रय के धारण करने वाले के वशमें आजाती है—सो

यदि उसे प्राप्त करने की आप लोगों की इच्छा हो तो उसकी प्राप्ति के लिये आप को हृदय में भव्यजनों से बन्दनीय रत्नत्रय को धारण करना चाहिये ॥६॥

अव्य ज्योने समञ्जतां गुर्देव कही रखा उता डे डे अव्य ज्यो । अ मुक्तिरूपी श्री रत्नत्रयना धारण करवावाणाने वश थरु अय छे. तो जे तेने भेणवानी तमारी धरुछा होय तो तेने प्राप्त करवा भाटे आपे हृदयमां अव्य जनोथी वंदनीय अ रत्नत्रयने धारण करना जेरु अ. ॥६॥

इति ब्रुवाणं गुरुवर्यमार्यं नुत्वा च नत्वा कुशलं पपृच्छ ।

भक्त्या द्रवीभूतमनाः स पश्चात् पश्चाद्यथास्थानमसावतिष्ठत् ॥७॥

अर्थ-इस प्रकार से समझाते हुए श्रेष्ठ गुरुदेव की स्तुति करके और नमस्कार करके हेमचन्द्र सेठ ने उनसे सुख शांता पूछी. पश्चात् भक्ति से पिघल गया है हृदय जिनका ऐसे वे हेमचन्द्र सेठ सबके पीछे यथास्थान वहाँ पर बैठ गये ॥७॥

आ प्रभाषे उपदेश आपता गुर्देवनी स्तुति अने नमस्कार करीने हेमचन्द्रशेठ तेमनी सुख शांता पूछी. ते पछी अस्तिभावथी पक्षवित थयुं छे हृदय जनुं अवा हेमचन्द्र शेठ सौनी पाछण योग्य स्थाने त्यां न जेसी गया. ॥७॥

गुरोस्तदा नेत्रयुगं च तस्मिन् पपात युगपत् प्रविहाय शिष्यान् ।

यथा वसन्ते च पिकस्य दृष्टी रसालमभ्येति विमुच्य चान्यात् ॥८॥

अर्थ-जिस प्रकार वसन्त के समय में अन्य वृक्षों को छोड़कर पिक-कोयल की दृष्टि केवल रसाल-आम्रवृक्ष पर पडती है-उसी प्रकार उन मुनिराज की दृष्टि भी अन्य शिष्यों को छोड़कर एक साथ हेमचन्द्र के ऊपर पडी ॥८॥

जम वसंतना समये भीज वृक्षोने छोडीने डायसनी नजर डेवण आंणाना वृक्ष परण पडे छे अज प्रभाषे अ मुनिराजनी दृष्टि पणु भीज शिष्योने छोडीने अद्री साथे हेमचन्द्र शेठ पर पडी. ॥८॥

मिलिन्दबुद्धैः परिचुम्बितारविन्दं किमेतत्परिशङ्कमानैः ।

तदा समास्थैस्वलोक्यमानः शुश्राव हेमो गुरुदेववाणीम् ॥९॥

अर्थ-जैसे ही गुरुदेव की दृष्टि हेमचन्द्र सेठ के ऊपर पडी तैसे ही लोगों ने ऐसी आशंका की कि क्या यह अलिंगणों से चुम्बित अरविन्द तो नहीं है ? इसी तरह सदस्यों द्वारा वितर्कित हुए हेमचन्द्र सेठ ने गुरुदेव की वाणी सुनी-॥९॥

अ्यारे गुरुदेवनी नजर हेमयंद्र शेठ पर पडी त्यारे लोडाये अ्येवुं वियायुं डे-शुं
आ भ्रमरगाशुथी युभिमत कमणतो नथी? आ रीते सदस्यो द्वारा तर्क कराता हेमयंद्र
शेठे गुरुदेवनी वाणी सांभणी. ॥६॥

प्रवाहरूपेण विनिर्गतां तां सदस्यवर्गैरभिनन्दयमानाम् ।

विभाव्य कल्याणकरीमधारि हैमेन चित्ते भ्रमवारिणी सा ॥१०॥

अर्थ-धाराप्रवाह रूप से गुरुदेव के मुखारविन्द से निर्गत उस वाणी को
जो कि सदस्यों द्वारा "तहत्ति तहत्ति" इस प्रकार के उच्चारणों से अभिनन्दित
की जा रही थी अपना कल्याण करने वाली जानकर हृदय में धारण कर ली.
क्यों कि वह भ्रमरोग को भगाने वाली थी ॥१०॥

धारा प्रवाहथी गुरुदेवना सुभारविन्दथी नीकगेल अ्ये वाणीने डे अ्ये सदस्यो द्वारा
तहत्ति तहत्ति । आवा प्रकारना उच्यारणोथी अभिनन्दित कराती होती तेने पोतानुं कल्याण
करनारी समञ्जने हृदयमां धारणु करी. डेम डे ते भ्रमरोगने भगाडनारी होती. ॥१०॥

व्याख्यानकाले मुनिनाऽथ तेन याऽभाणि वाणी च भणामि किञ्चित् ।

भो भव्य भावान्वित भव्यवृन्दा ! मयोपदिष्टां श्रृणुतावधानात् ॥११॥

अर्थ-व्याख्यान के उस अवसर में गुरु देवने जो कुछ कहा उसे मैं हे
भव्य. भावों से युक्त भव्य जीवों ! कहता हूं उसे सावधान चित्त होकर
तुम सुनो !-॥११॥

व्याख्यानना अ्ये समये गुरुदेवे अ्ये कथं कथुं ते हे भव्य भाववाणा भव्य ज्यो !
हुं कथुं छुं ते सावधान चित्ते सांभणो. ॥११॥

निगोद राशे व्यवहाराशौ निमित्तभासाद्य समागतेन ।

यथाकथंचिन्नरजन्मलब्धं व्यथाकथा नास्य तथापि नष्टाः ॥१२॥

अर्थ-यह जीव निगोदराशि से किसी काल लब्ध्यादि निमित्त को प्राप्त कर
व्यवहार राशि में आया और बड़ी कठिनता से इसे यह नरजन्म मिला,
फिर भी इसकी व्यथा की कथा समाप्त नहीं हो सकी है ॥१२॥

आ अ्ये निगोद राशीथी डोअ समये लब्ध्यादि निमित्तने प्राप्त करीने व्यवहार
राशिमां आव्या. अ्येने धरुणी अ्ये कल्याणथी तेने आ मनुष्य जन्म भज्यो तो यणु तेनी
व्यथानी कथा पूरी थई शडी नथी. ॥१२॥

विचार्यतां कारणमत्र किंवा यदस्य संसारव्यथाऽवशिष्टा ।

संसारभावोऽप्यविनष्ट एव मनुष्यपर्यायमुपागतस्य ॥१३॥

अर्थ-इस पर विचार करो कि इसमें कारण क्या है ? क्योंकि अभी तक इसकी संसाररूपी व्यथा बाकी है, क्यों नहीं मनुष्य पर्याय पाकर के भी इसका संसार भाव नष्ट हो पाया है ॥१३॥

आना पर विचार करो के आमां कारणु शुं छे ? केम के-तेनी संसाररूपी पीडा पाकी छे तेषु मनुष्यस्य भेणव्या छतां पणु तेना संसारभाव केम नाश नथी पाम्ये ? ॥१३॥

केनापराधेन जडीकृतोऽसौ जीवोऽप्रशस्तास्त्रकारणं किम् ।

मुहुर्मुहुर्वा प्रतिबोधितोऽपि कथं न सन्मार्गं रति दधाति ॥१४॥

अर्थ-ऐसा कौनसा इस जीवने अपराध किया है कि जिससे वह जड़ जैसा हो गया है ? अप्रशस्त आस्त्र का कारण क्या है ? क्यों नहीं यह बार बार समझाया जाने पर भी सन्मार्ग पर चलने में प्रीति करता है ॥१४॥

आ छवे अवेो कयो अपराध करेस छे के नथी ते नउ केवो थय गयेस छे ? अप्रशस्त आस्त्रवतुं कारणु शुं छे ? तेने वारंवार समभववा छतां पणु सन्मार्गे आसनामां प्रीति केम करता नथी ? ॥१४॥

संयोजिनो ये परिणामभाजो भावा ध्रुवा तेन, विनश्वस्त्वात् ।

तथापि तान् स्वान् परिकल्प्य जीवस्तद्वानसौ हर्षविषादमेति ॥१५॥

अर्थ-पूर्व में किये गये प्रश्नों का उत्तर यहां से प्रारम्भ करते हुए गुरुदेव कहते हैं कि संयोगी जितने भी पदार्थ हैं, वे सब परिणामनशील हैं सदा एक सी स्थिति में रहनेवाले नहीं हैं, विनश्वर हैं, क्षण रमें उनका पर्याय की अपेक्षा विनाश होता रहता है, फिर भी जीव-संसारी प्राणी-उनकी उस परिणति को अपनी मानकर उसमें हर्ष और विषाद किया करता है ॥१५॥

आ पूर्वोक्त करवामां आवेस प्रश्नोना उत्तर आपता गुरुदेव कहे छे-सयोगी नष्टका पदार्थो छे, ते अंया परिक्षुभन स्वभाववाणा छे. कायम अके न स्थितिमां रहेवावाणा होता नथी. विनश्वर छे. अर्थात् क्षण क्षण पर्यायनी अपेक्षाथी तेना विनाश थतो रहे छे. तो पणु छव तेनी अे परिक्षुतीने पोतानी भानीने तेमां हर्ष अने अेद करे छे. ॥१५॥

मोहेन वृत्तिर्भवतीदृगस्य जीवस्य तौ द्वावपि न स्वभावौ ।

विभावभावौ भवदुःखहेतू संसारसंवर्धकतायतोऽत्र ॥१६॥

अर्थ-जीव में इस प्रकार की-हर्ष विषाद करनेकी जो वृत्ति होती है, वह मोह कर्म के उदय से होती है ये दोनों ही हर्ष विषाद रूप राग द्वेष ही जीव के स्वभाव नहीं हैं. विभाव भाव हैं तथा ये भवदुःख के हेतु हैं, क्योंकि उनके करने से जीव का संसार बढ़ता है, अर्थात् राग और द्वेष ये दोनों संसार के ही संबर्धक हैं ॥१६॥

शुभमां आ प्रकारेण अर्थात् हर्ष शोक करवाने के स्वभाव थे ते मोह कर्मना उदयधी याय थे. आ हर्षशोक अने राग द्वेष न शुभने स्वभाव नथी. विभाव भाव थे. तथा ये भवदुःखना कारण रूप थे. केम के तेना करवाथी शुभने संसार वधे थे. अर्थात् आ राग द्वेष अन्ने संसारने वधारनारा थे, ॥१६॥

एकत्ररागं ह्यपरत्र कुर्वन् द्वेषं भवं नाल्पमसौ करोति ।

मनुष्यपर्यायमुपागतस्य लाभो न कोप्यस्य बभूव तस्मात् ॥१७॥

अर्थ-यह जीव अपने को इष्ट हुए पदार्थ में राग ओर अनिष्ट हुए पदार्थ में द्वेष करता है, इस तरह की प्रवृत्ति करता हुआ यह प्राणी अपने भव को-जन्म-मरणरूप संसार को-अल्प नहीं कर पाता है, उसे घटा सकता नहीं-परिमित नहीं कर सकता है, अतः मनुष्य पर्याय पाकर के भी यह उससे कुछ भी लाभ नहीं उठाता है प्रत्युत-अपने संसार को बढ़ाता है। तो फिर उसकी प्राप्ति से इस विचारे को क्या लाभ मिला ॥१७॥

आ शुभ पोताने धृष्ट पदार्थीमां राग अने अशुभता पदार्थीमां द्वेष करतो रहे थे. आ प्रभाषेनी प्रवृत्ति करतो आ प्राणी पोताना जन्म मरण रूप संसारने धटाडी शकतो नथी तेमज मनुष्य जन्म पाभीने पशु ते अनाथी कंठ पशु लाभ उठावी शकतो नथी. परंतु पोताना संसारने न वधारे थे. तो पछी तेनी प्राप्तिथी ते भियासने शुं लाभ भज्ये ? ॥१७॥

अनादिकालाच्च सहागतेन मोहारिणाऽसौ खलु वंचकेन ।

प्रवंचितः स्त्रीसुतजालमालां प्रसार्य बद्धः परिमुह्य जीवः ॥१८॥

अर्थ-अनादि काल से साथ में लगे हुए इस ठगिया मोह ने पहिले तो इस प्राणी को खूब ठगा. पश्चात् स्त्री, पुत्र, पुत्री रूपी जालमाला को प्रसार कर ओर उससे लुभाकर इसे बांध लिया है ॥१८॥

अनादि कालथी साथे लागेला आ ठगार मोहे पडेलां तो अ प्राणीने भूष ठज्ये पछीथी स्त्री पुत्री पुत्ररूपी जाल माणा कैलावीने अने तेनाथी दोसावीने तेने बांधी वे थे. ॥१८॥

मोहेन मुग्धः सुतमित्र भार्यादिकं स्थिरं पश्यति सत्यमेतत् ।

मद्येन संमूर्च्छितचित्तवृत्तिर्जनोऽन्यथाभावमुपैति नूनम् ॥१९॥

अर्थ-मोह से मुग्ध हुआ यह प्राणी सुतमित्र भार्यादिक को स्थिर मानता है सो यह बात सत्य है इसमें थोड़ी सी भी झूठ नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि जिसकी चित्तवृत्ति मद्य सेवन से मोहित हो जाती है वह अन्यथा भाववाला बन जाता है ॥१९॥

मोहथी मोहित थयेल जे प्राणी पुत्र, मित्र अने भार्यादिने स्थिर माने छे आ वात सत्य छे, तेमां थोड़ुं पणु असत्य नथी, केभके-जेवामां आवे छे के जेनी चित्तवृत्ति भङ्गिनुं पान करवाथी मोहित थय जय छे ते अन्य प्रकारना भाववाणो पनी जय छे. ॥१९॥

क्षणे क्षणे सर्वपदार्थसार्थाः क्रान्त्या समालिङ्गिनचाररूपाः ।

ध्रुवस्वरूपोऽत्र यतो न कश्चिन्मोहीजनोऽवैति न तथ्यमेतत् ॥२०॥

अर्थ-प्रत्येक क्षण में समस्त पदार्थ परिवर्तन से आलिङ्गित है सुंदररूप जिनका ऐसे हैं. कोई भी पदार्थ सदा एकरूप में स्थायी नहीं है. परन्तु मोही जीव इस तथ्य को नहीं जानता है ॥२०॥

क्षणे क्षणे सधणा पदार्थो परिवर्तनथी आलिङ्गित छे, रूप जेनुं जेवा छे. कोछ पणु पदार्थ सदा ऐकरूपे स्थायि नथी परंतु मोह पासेल जेव आ सत्यने जणुतो नथी ॥२०॥

पर्याय दृष्ट्या न विलोक्यतेऽत्र नित्यस्वरूपं च कदापि कस्य ।

सत्त्वं च तत्रैव समस्ति यत्र भवत्यनैकान्तिकता सुबद्धा ॥२१॥

अर्थ-पर्याय दृष्टि से किसी भी पदार्थ का किसी भी कालमें एकान्तरूप से नित्यत्वरूप नहीं प्रतीत होता है; यदि ऐसा न माना जावे और पदार्थ को एकान्तरूप से स्थिर स्थायी ही माना जावे तो उसमें सत्त्व ही नहीं बन सकता है. क्यों कि सत्त्व-अर्थक्रिया कारित्व-वहीं पर होता है जो कथंचित अनित्य है. इस तरह नित्य की अनैकान्तिकता अनित्य के साथ और अनित्य की अनैकान्तिकता नित्य के साथ सुबद्ध होने पर ही उनमें सत्त्वरूप अर्थक्रिया-कारित्व बनता है. ॥२१॥

पर्याय दृष्टिथी कोछपणु कोणे कोछपणु पदार्थनुं ऐकान्त पणुथी नित्यत्व-यतुं नथी जे जेभ मानवामां न आवे अने पदार्थने ऐकान्तपथी स्थायी ज मानवामां आवे तो तेमां सत्व ज पनी शकतुं नथी. केभ के-सत्व-अर्थ क्रिया कारित्व त्यांज थर्थ शके के जे

अर्थ-यित् अनित्य होय आ प्रमाणे नित्यतुं अनैकान्तिकपक्षुं अनित्यनी साथे अने अनित्यतुं अनैकान्तिकपक्षुं नित्यनी साथे सुषुद्ध होय तो न तेमां सत्यश्च अर्थक्रिया-कारिषु अने छे. ॥२१॥

एकान्तपक्षेण समस्ति सत्त्वं कुत्राप्यभावा द्विविधक्रियायाः ।

खपुष्यतुल्यं तदभावतःस्याज्जीवादितत्त्वं कथमस्य सिद्धिः ॥२२॥

अर्थ-किसी के भी एकान्त पक्षमें विविध अर्थक्रिया के अभाव हो जाने के कारण कहीं पर भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है. सत्त्व के अभाव में प्रत्येक जीवादि तत्त्व खपुष्य तुल्य हो जाता है. अतः उसकी सिद्धि फिर कैसे हो सकती है. अर्थात् नहीं हो सकती है ॥२२॥

अकान्त पक्षमां विविध अर्थक्रियानो अभाव यवाना कारणे कथांय पक्षु सत्त्व सिद्ध यतुं नथी सत्त्वना अभावमां इरेक जीवादि तत्त्व आकाश कुसुमनी नम यध न्य छे, तो पश्री तेनी सिद्धि डेवी रीते थर्श शके ? अर्थात् थर्श शकती नथी. ॥२२॥

जीवो ह्ययं मोहवशंगतः सन्न नित्यभावानपि नित्यरूपान् ।

सत्त्वैव तेषां खलु हानिवृद्धौ सत्यां च नात्प्रनि मन्यते हा ! ॥२३॥

अर्थ-मोह के बशीभूत हुआ यह जीव अनित्यभावों को भी नित्यरूप मानता है और जानकर उनकी हानि वृद्धि को अपनी निजकी हानि वृद्धि मानता है ॥२३॥

मोहने वश थयेस आ छव अनित्य आवेने पक्षु नित्यपक्षुारी माने छे, अने अम मानेने तेनी हानि वृद्धिने पोतानी न हानि वृद्धि माने छे. ॥२३॥

नैकान्तरूपेण च नित्यताऽस्ति भावेषु कुत्रापि कदापि केषु ।

सकल्यनाशिल्पिविनिर्मिता सा मता ह्यविज्ञैर्न च माननीया ॥२४॥

अर्थ-किसी भी काल में किसी भी पदार्थ में एकान्तरूप से नित्यता नहीं है. जो एकान्तरूप से ऐसा मानते हैं वे विज्ञ नहीं हैं क्यों कि वह मान्यता उनकी अपनी कल्पनारूपी शिल्पी से ही विनिर्मित हुई मानी गई है. युक्ति सिद्ध नहीं ॥२४॥

डार्ड पक्षु काणे डोछ पक्षु पदार्थमां अकान्तश्पथी नित्यपक्षुं हेतुं नथी. न अकान्त श्पथी अपुं माने छे, ते विज्ञ होता नथी. डम डे अ तेनी मान्यता पोतानी कल्पनारूपी शिल्पीथी न रयायेस मानवामां आवे छे ते युक्तिसिद्ध नथी. ॥२४॥

अनित्यतालिङ्गितस्तुजातमप्रच्युतं स्थायि न किञ्चिदस्ति ।

तथापि संमील्य विलोचनानि मोही स्थिरं नित्यमवैति तत्तत् ॥२५॥

अर्थ-जितने भी पदार्थ संसार में हैं-वे सब अनित्यता से आलिङ्गितरूप वाले हैं. अप्रच्युत स्थायिरूप नित्य कोई भी पदार्थ नहीं है. फिर भी मोही जीव अपने ज्ञान चक्षुओं को मींच कर कितनेक पदार्थों को एकान्ततः नित्य और कितनेक पदार्थों को एकान्ततः अनित्य मानता है. यह मोह की ही लीला है ॥२५॥

संसारमां डेटला पदार्थो छे ते अथा अनित्यपणाथी वणणेला उपनाणा छे. अविनाशी स्थायिरूपथी नित्य डोळ पणु पदार्थ नथी. तो पणु मोह पामेळ छव पोताना ज्ञान यक्षुओने अंध करीने डेटलाक पदार्थाने एकान्ततः नित्य अने डेटलाक पदार्थाने एकान्ततः अनित्य माने छे अे मोहनी व लीला छे ॥२५॥

यथा ग्रहावेशवशंगतो ना इतस्ततो धावति रोदितीह ।

तथा विमोहेन वशीकृतोऽसौ जीवश्चतुर्योनिषु बाभ्रमीति ॥२६॥

अर्थ-जिस प्रकार भूत प्रेत आदि ग्रह के वशीभूत हुआ मनुष्य इधर उधर चक्कर काटता है. रोता है उसी प्रकार मोह से ग्रस्त हुआ यह प्राणी चारों गतियों में चक्कर काटता रहता है ॥२६॥

जम भूत प्रेत विगेरेने वश थयेळ मनुष्य आम तेम रणडे छे, रडे छे अेव प्रमाणे मोहथी असायेळ आ प्राणी यारे गतिओमां इस्तो इरे छे. ॥२६॥

सम्पूर्णमेतद्भरताभिधानं क्षेत्रं विजित्यागिकुलं विनिन्द्युः ।

प्रतापतापेन गताः क्वतेऽथ मानोन्नतास्ते भरतेश्वराद्याः ॥२७॥

अर्थ-इस छह खण्डरूप सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को विजित करके जिन्होंने शत्रुकुल को अपने प्रबल प्रताप से झुकाकर वश में कर लिया था ऐसे वे गौरवशाली ब्रह्मदत्त आदि चक्रवर्ती आज कहां गये ॥२७॥

आ छ अंड ३५ सभअ भरतअंडने छतीने जेणे पोताना प्रथण प्रतापथी शत्रु सभूडने नमावीने पोताने वश कर्या छे. अेना गौरवशाणी अे ब्रह्मदत्त विगेरे अकवर्तियो आजे कयां छे ? ॥२७॥

चक्राधिपैर्यैर्गनिशं सुखस्थैर्दिनस्य रात्रेरपि संविभागः ।

नाऽज्ञायि तेऽप्यायुषो हाऽप्रसाने गताः क्व कालेन विचूर्णितास्याः ॥२८॥

अर्थ-निरन्तर सुख में मग्न ऐसे चक्रवर्ती भी कि जिन्हें दिन और रात्रिक का विभाग भी प्रतीत नहीं हुआ और जो चक्ररत्न के एक अधिपति थे अपनी आयु के अन्त में काल के द्वारा विचूर्णितास्य होकर कहां चले गये ? ॥२८॥

हंभेशां सुष्पमां दूषेता जेवा यडवतीं पशु डे जेने दिवस अने रात्रीना विभागेना पशु प्यास न रखी अने जे जेकदा जे यडरत्नना अधिपति होता ते पशु पोताना आयु-धना अंतसभये काण द्वारा यूरायमान सुष्पनाणा थछने क्यां यादया गया ? ॥२८॥

द्विषत्कुलाङ्गारनिभा भ्रुवोश्च विकारस्तत्तर्जितवीरधीराः ।

यमेन ते चूर्णित मानश्रृंगा गताः क्व नामापि न वेत्ति कोऽपि ॥२९॥

अर्थ-जो शत्रुओं के लिये अङ्गार के तुल्य थे और जिनकी भ्रुकुटि के विकार से अच्छे २ वीर धीर पुरुष कंपायमान हो जाते थे ऐसे वे पुरुष यम के द्वारा चूर्णित मानश्रृंग बन कर कहां चले गये-नर्क में चले गये, आज उनका कोई नाम तक भी नहीं जानता है. ॥२९॥

जेओ शत्रुओनि अंगारा जेवा होता अने जेनी लभरोना विकारथी सारा सारा धीर वीर पुरुषो कंपायमान थना-हता जेवा जे पुरुष यमना द्वारा यूषित (पडित) मान पाणा पनीने क्यां यादया गया ? आजे तेमनुं नाम शुद्धां डेई जणुतुं नथी. ॥२९॥

येषां समज्ञाङ्गमनन्तस्म्यं प्रक्षुत्स्य देवा अपि मोदिनः स्युः ।

अखर्वगर्वोन्नतमस्तकास्ते कालेन नीताः क्व वयं न विद्मः ॥३०॥

अर्थ-अनन्त-आकाश के जैसी निर्मल जिनकी कीर्ति को सुनकर देव तक भी हर्षित होते रहे, और अखर्व गर्व से जिनका मस्तक सदा ऊँचा रहा वे काल से हरे जाकर कहां गये हम नहीं जानते हैं ॥३०॥

आकाशना जेवी अंत विनानी अने निर्भण जेनी कीर्तिने सांभणीने देवो पशु हर्ष पावता होता अमाप गर्वथी जेतुं मस्तक सदा उंचु रहेतुं ते काणथी डारीने क्यां गय्य ? ते जणुतुं नथी. ॥३०॥

माता पिता मित्रसुतात्मजाश्च भ्राता स्वस्ती सहवासिनस्ते ।

गता क्व कालेन विनिर्दयेन हताश्चिरस्थायी न कोऽपि सन्ति ॥३१॥

अर्थ-माता, पिता, मित्र, सुता, पुत्र, भाई, घरवाली ये और जिनके साथ हम उठे, बैठे, रहे वे सब निर्दयकाल से हन होकर-कवलित होकर-कहां चले गये. कोई पता नहीं. तो सोचो फिर यहां चिरस्थायी कौन है ? कोई नहीं है-॥३१॥

माता, पिता, सुता, पुत्र, भाई, पत्नी, तथा जेमनी साथे अमे उठता भेसता अे
पधा निर्दय काण्ठी हराधने क्या गया ? तेना पत्तो न नथी तो विचारो डे अही विर
स्थायी डाणु छे ? अर्थात् कोरि पणु विरस्थायि नथी न. ॥३१॥

सत्रा वयं पांसुरता अभूम यैस्ते ममाग्रे ननु पश्यतो हा ! ।

गता यमद्वारमितो विमुच्य रमांच भामां सस्तुषां सवित्रीम् ॥३२॥

अर्थ-हम जिनके साथ घूलि में खेले वे मेरे समक्ष देखते र रमा को भामा
को पुत्रवधू को एवं अपनी माता को छोडकर यमद्वार में पहुंच चुके हैं ? ॥३२॥

हुं जेनी साथे पाण्डीडा करतो उतो तेजो भारी सामे लक्ष्मीने, स्त्रीने पुत्र डे पुत्र-
वधूने तेमज पोतानी माताने छोडीने यमबोडभां पडोन्गी गया छे. ॥३२॥

कालेन ग्रस्ता निखिला सचिता पदार्थमाला वयसोऽन्वितत्वात् ।

वयस्त्वहीनो न विनाशमान् स यथा प्रसिद्धः खलु सिद्ध आत्मा ॥३३॥

अर्थ-जितने भी सचित्त-सजीव-पदार्थ हैं वे सब आयु कर्म से युक्त होने
के कारण यमराज के गाल के ग्रास बने हुए हैं, जो इस आयु कर्म से रहित
हो चुके हैं. वे ऐसे नहीं हैं-जैसे कि प्रसिद्ध सिद्ध भगवान् ॥३३॥

बेटला सचित्त-सज्ज पदार्थो छे, ते पधा आयुकर्म्मथी युक्त होवाना कारणे यम-
राजना गालना डोणीयाइप बनेल छे. न अा आयुकर्म्मथी रहित पनी गया छे तेजो
अेवा होता नथी जेमके-प्रसिद्ध, सिद्ध भगवान्. ॥३३॥

अत्रैव भूता बहवो धनाढ्याः येषां विभूत्या चकितो कुबेरः ।

कालेन ते ध्वस्तमदा बभूवुः गता क्व ते केचन वेत्ति कोऽपि ॥३४॥

अर्थ-यहां ऐसे र धनिक हो गये हैं कि जिनकी विभूति को देखकर कुबेर
भी चकित हो गया था. देखो वे भी यहां नहीं रहे. कालने आकर उनके मद
को चकनाचूर कर दिया. अब वे कहां गये और वे कौन थे. आज इस बात को
भी जानने वाला यहां कोई नहीं है ॥३४॥

अहीं अत्रा अेवा धनवानो थरि गया छे डे जेमनी समृद्धिने अेथिने कुबेर पणु
अकित चित्त थरि अय. छातां पणु जुअो तेजो पणु अहीं रखा नथी. काणे आचीने तेमना
मदना थूरेथुरा करी नाअ्या छे. अत्यारे तेजो क्या गया छे ? अने तेजो डाणु उता अे
वातने अणुनार पणु आने अहीं काठ नथी. ॥३४॥

अत्रैव ते मानधना बभूवुः प्राणानुपेक्ष्यैव च ये रक्षुः ।

कीर्तिं स्वकीयां न च तेऽवशिष्टा कालेन नीताः क्व गता न विद्मः ॥३५॥

अर्थ-जिनहोंने अपनी कीर्ति की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों तक की भी बाजी लगादी ऐसे मानधनवाले मानी-स्वाभिमानी-पुरुष यहीं पर हुए हैं. पर काल ने उन्हें भी नहीं छोड़ा और वह उन्हें ऐसी जगह ले गया कि जिनके पते ठिकाने का हमें कोई पता नहीं है. ॥३५॥

जैसे पोतानी भ्यातिनुं रक्षाय इत्या पोताना प्राणेषु सुद्धांतनी पशु आञ्ज लगावी द्वीधी जेवा मानश्ची धनवाणा स्वाभिमानी पुश्पो अहींयाञ्ज थया छे. परंतु कसण कण्ठे तेमने पशु छेडया नथी अने तेमने जेवी जय्याजे लड गया डे—जेना ठेकाशा पत्तानी पशु अमने कांठे न् अप्पर नथी. ॥३५॥

दुर्योधनाद्या अपकीर्तिपुञ्जा जाता सदाचारविहीनचित्ताः ।

भ्रातृव्यदायादविभागवित्तापहारयुक्तौ कुशला गताः क्व ॥३६॥

अर्थ-वे दुष्ट दुर्योधनादिक भी जो अकीर्ति के पुञ्ज थे सदाचार से विहीन चित्त वाले थे और अपने चाचा के लड़कों के हिस्से के द्रव्य के अपहरण करने की युक्ति में कुशल थे यहाँ नहीं रहे, काल के महमान बनकर वे भी यहाँ से चले गये ॥३६॥

अपकीर्तिना पुंञ्ज जेवा जे दुष्ट दुर्योधनादि डे जेयो सदाचारथी रहित चित्तवाणा उता अने पोताना काकाना पुत्रोना सागनी भिद्वक्त आणवतानी युक्तिभां कुशण उता तेयो पशु अहीं रखा नथी. परंतु कामना अतिथी अनीने अहींथी जता रखा छे. ॥३६॥

ये केऽपि जाता जगतीह जीवा यमालयद्वारमुपस्थितास्ते ।

अनागता येऽपि च वर्तमानाः सर्वेऽपि ते सन्ति विनाशशीलाः ॥३७॥

अर्थ-इस संसार में जितने जीव पहिले हो गये हैं, आगे होनेवाले हैं वर्तमान में जो मौजूद हैं वे सब यम के मकान के द्वार पर उपस्थित हैं, और विनाश नियत हैं ध्रुव स्थिर-स्थायी कोई भी पर्याय धारी जीव नहीं है ॥३७॥

आ जगतभां जटला जेयो पहेलां थड गया छे आगण थनारा छे, वर्तमानभां जेयो विवर्तमान छे. ते अथा यमना मकानना द्वार पर उपस्थित छे, अने विनाश निश्चित छे, ध्रुव, स्थिर, स्थायि पर्यायधारी कांठ पशु जत्र होता नथी. ॥३७॥

इत्थं विमोहं परिहृत्य भव्यैः पर्याय दृष्ट्या च विभावनीयम् ।
विनाश वद्धत्वममीषु भावेषु सत्यपाये समता विधेया ॥३८॥

इस प्रकार पर्याय दृष्टि का आश्रय करके भव्य जीवों को प्रत्येक पदार्थ में विनाश वद्धत्व का विचार करना चाहिये इससे उन पर जो जीव की आसक्ति है वह धीरे २ कम हो जाती है, और उनके विनाश हो जाने पर समता धारण करने की शिक्षा मिलती है ॥३८॥

आ प्रभाषे पर्याय दृष्टिना विचार करीने लव्य लवोअे इरेक पदार्थमां विनाशित पशुना विचार करेवे अेअे, तेनाथी तेना पर अुवनी अे आसक्ति छे, ते धीरे धीरे आश्री थती अय छे. अने तेना विनाश थसथी समता धारणु करवानी शिक्षा भणे छे. ॥३८॥

॥ अनित्य भावना वर्णन समाप्त ॥

अशरण भावना वर्णनम्—

अरण्यमध्ये पतितस्य सिंहाक्रान्तस्य सारङ्ग सुतस्य कोऽपि ।

त्राता यथा नास्ति तथा यमाङ्गागतस्य न कोऽप्यभयप्रदाता ॥३९॥

अर्थ—जिस प्रकार जंगल में सिंह के द्वारा पकड़े गये हिरण के बच्चे का रक्षक कोई नहीं होता है उसी प्रकार घस की गोदी में आये हुए इस जीव का कोई भी अभयदाता-रक्षक-नहीं हो सकता है ॥३९॥

अेअे अंगलमां सिंहे पकडेला हरणुना पशुयानुं रक्षणु करवनार डोअे डोअुं नथी अेअे प्रभाषे यमना थोणाभां आवेला आ अुवनुं रक्षणुकरवनार डोअे पशु नथी. ॥३९॥

विलेपनाद्यैः बहुभिः प्रयोगैः श्रृंगारितं यद्बहुशोऽश्नाद्यैः ।

पुष्पीकृतं गात्रमपीह हा हा ! तदा न जीवं शरणं ददाति ॥४०॥

अर्थ—जिस शरीर को विलेपनादिक अनेक प्रकार के प्रयोगों से सजाया और अनेक बार भोजन देकर जिसे पुष्ट किया दुःख है कि ऐसा वह शरीर भी अन्त समय में इस जीव को शरण नहीं देता है ॥४०॥

अे शरीरने विलेपन, भर्दनादि अनेक प्रकारना उपायोथी सलव्युं अने अनेकवार आन, पान आपीने पोष्युं दुःपनी वात छे दे अेवुं आ शरीर पशु अन्त समयमां आ अुवने शरणु आपतुं नथी. ॥४०॥

शरीरपुर्या च यदा यमोऽयं शनैः शनैरागमनोन्मुखः स्यात् ।

तदा प्रभृत्येव शरीरमेतत्स्वरक्षणे सादरभाववत्स्यात् ॥४१॥

अर्थ-इस शरीररूपी नगरी में जब यह यम धीरे २ आने की तैयारी करने लगता है तभी से लेकर यह शरीर अपने संरक्षण में आदरयुक्त भाववाला हो जाता है ॥४१॥

आ शरीर ३पी नगरीमां न्यारे ते यम धीमे २ आवयानी तैयारी करवा लागे छे, त्पारथी न आ शरीर पोताना संरक्षणमां आदरयुक्त भाववाणी अने छे. ॥४१॥

जीवः कदाचिद् यदि वाञ्छतीह कुर्यामहं धार्मिककृत्यमेतत् ।

तदा तदालस्यवशं गतं सत् तद्भावनां लुम्पति गात्रमेतत् ॥४२॥

अर्थ-जीव जब कभी व्रतादिक रूप धार्मिक कार्य करने की इच्छा करता है तब यह शरीर उसके करने में आलस्य के वश होकर उसकी भावना को चौपट कर देता है ॥४२॥

एव ङोम समये व्रतादि धार्मिक कार्य करवानी इच्छा करे छे त्त्यारे आ शरीर ते करवामां आणसने वश थधने तेनी अे आवनाने निर्भूण करे छे. ॥४२॥

व्रतादिकस्याचरणेन शुद्धिर्भवत्यनूनेति जिनागमस्य ।

श्रुत्वोपदेशं यदि कोऽपि भव्यः जीवो विघातुं च समुत्सुकः स्यात् ॥४३॥

व्रतादिकों के करने से नियम से आत्मा की शुद्धि होती है ऐसा जिनागम का उपदेश है सो कोई भव्य जीव जब इस उपदेश को सुनता है और उस ओर अपनी प्रवृत्ति करता है ॥४३॥

व्रतादि धर्माचरणे करवथी अचश्य आत्मानी शुद्धि थाय छे. अे प्रभाणु एना-गमनो उपदेश छे. तो ङोम भव्य एव न्यारे आ उपदेशने सांभणे छे अने ते तरङ् पोतानी प्रवृत्ति करे छे. ॥४३॥

कायस्तदायं स्वसुखाभिलाषी व्रतादिकस्याचरणेन कष्टम् ।

मत्वाऽऽत्मनस्तत्करणे विरुद्धां स्वसम्पत्तिं नित्यमसौ ददाति ॥४४॥

अर्थ-तब यह शरीर अपने सुख का अभिलाषी बनकर जीव को ऐसी सलाह देता है कि व्रतादि कों के आचरण करने से तुझे कष्ट होगा. क्यों कि शरीर को व्रतादिकों के करने में कष्ट होता है ऐसा स्वयं मानता है. इसीलिये वह आत्मा को उन्हें नहीं करने की खोटी सलाह-सम्पत्ति देता है ॥४४॥

त्यारे आ शरीर पोताना सुअनुं इच्छुक थर्धने एवने अेवी सलाह आपे छे ङे-व्रता-दिकनुं पावन करवथी तने कष्ट पडशे डेम डे शरीर नी व्रतादिनुं पावन करवथी कष्ट थाय छे अेम पोते माने छे. तेथी न आत्माने ते न करवानी पोथी सलाह आपे छे. ॥४४॥

स्वस्यावलम्बाद् यदि स कदाचित् किञ्चिच्च सत्कृत्यमसौ विदध्यात् ।
तदाप्ययं तत्करणे ह्यनेकान् करोति विघ्नान् ननु वारणाय ॥४५॥

अर्थ—यदि शरीर की उपेक्षा करके केवल अपना ही सहारा लेकर जीव किसी समय थोड़े बहुत ब्रतादिक करने लग जावे तो फिर देखो—यह शरीर उनके करने में जीव को कैसे २ विघनों को उपस्थित करता है ॥४५॥

जो शरीरनी परवा कर्या विना उक्ता भोतानुं न अवलम्बयन् क्रीने एव डोर्ल समये थोडा धरुं प्रताचरषु करवा वापी अथ तो पश्री ओध तो उ आ शरीर ते करवाभां एवने डेवा डेवा विघ्नो करे छे. ॥४५॥

कासं कदाचिच्च करोति छर्द्दिश्वासावरोधं बहुवातरोगम् ।

इत्याद्यनेकांश्च विधाय विघ्नान् भवत्यसौ तत्प्रतिकूलवर्ती ॥४६॥

अर्थ—कभी यह उसे खांसी से पीड़ित करता है. कभी वमन से दुःखित करता है, कभी श्वास की बीमारी से परेशान करता है. कभी अनेकविध वात रोग से व्यथित करता है. इत्यादि अनेक रोगों को उत्पन्न करके यह शरीर आत्मा के प्रतिकूल बन जाता है ॥४६॥

डोर्ल वप्यत ओ तेने उधरसथी पीडा उपजवे छे, डोर्लवार उदितथी दुःषी करे छे. डोर्ल-वार श्वासनी बिमारीथी हेसन करे छे. डोर्लवार अनेक प्रकारना वायुना रोगथी दुःष उपजवे छे, विगेरे प्रकारना अनेक रोगोने उत्पन्न करी आ शरीर आत्मानी विरुद्ध थथ अथ छे. ॥४६॥

शनैः शनैर्वा पलितच्छलेन शुभ्राभ्रच्छुभ्रपताकि भूत्वा ।

मुहुर्मुहुर्निगलितप्रश्लेष्मध्वनिच्छल दीर्घस्रं विधाय ॥४७॥

शरीरमेतच्च तदात्मनामा विरुद्धयोगं हृदतालहेतिम् ।

स्वाधीनमात्मानमदः करोति कृत्वा शरण्यं कथमात्मनस्तत् ॥४८॥

अर्थ—धीरे २ यह शरीर सफेद बालों के छल से मानों आकाश के जैसा सफेद झंडा लेकर आत्मा का साह्वना करने लगता है और बार बार निकलते हुए श्लेष्म के बहाने से उसके विरुद्ध नारे वाजी करना प्रारंभ कर देता है; जिस प्रकार आजकल मालिक को अपनी बात मनवाने के लिये मजदूर आदि झंडा लेकर और उसके विरुद्ध नारे लगाते हुए हड़ताल रूरी शस्त्र का प्रयोग करते हैं. ठीक इसी तरह यह शरीर भी आत्मा के प्रति इसी प्रकार का व्यवहार

करता है और उसे अपने वश में कर लेता है. अतः यह आत्मा के लिये शरण दाता कैसे हो सकता है. ॥४७-४८॥

धीरे धीरे आ शरीर सङ्केत वाणना पहानाथी ज्ञेयु आकाशना जेवी सङ्केत धन लक्ष्मीने आत्मानो सामनेो करवा लागे छे, अने वारंवार नीकगता कइना पहानाथी तेनी विरुद्ध अवाज उठाववानो प्रारंभ करी दे छे. जे प्रमाणे अत्यारना समयमां भावीकने पोतानी बात क्युल करवावा भगूर वर्ग धन लक्ष्मीने भाविकनी विरुद्ध अवाज उठावीने उडताल रूप शस्त्रनो प्रयोग करे छे. जेअ प्रमाणे आ शरीर पलु आत्मा प्रत्ये आ रीतनो व्यवहार करे छे. अने तेने पोताना वशवती अन्यावी ले छे. तेथी ते आत्माना हित भाटे शरण दाता डेवी रीते अनि शङ्के ? ॥४७-४८॥

एवं हि मण्यादिकभेषजान्ता आयुःक्षये क्षीणधनस्य पुंसः ।

मनोरथा वा न विधातुमीशाः प्रयोगयोगा न च किञ्चिदस्य ॥४९॥

अर्थ-क्षीण जिसका धन हो चुका है ऐसे पुरुष के मनोरथ जैसे अकिञ्चित्कर होते हैं वैसे ही आयु जिसकी क्षीण हो चुकी है ऐसे पुरुष के लिये किये गये मणि मंत्र तंत्र औषध आदि के प्रयोग कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं होते हैं ॥४९॥

जेतुं धन क्षीणु थयेल होय जेवा पुरुषना मनोरथो जेअ अकिञ्चित्कर होय छे, जेअ प्रमाणे जेतुं आयुष्य क्षीणु थयि यूकेल छे, जेवा पुरुष भाटे करवाभां आवेस भण्णि, मंत्र, तंत्र के औषध विगेरे प्रयोगो कइ पलु करवाभां शक्तिमान् थता नथी. ॥४९॥

करालकालेन च संगृहीतः जन्तुरयं धैर्यगुणात्प्रभृष्टः ।

विस्मृत्य शक्तिं च परावलम्बी भूत्वा विलापं विविधं करोति ॥५०॥

अर्थ-जब यह प्राणी कराल काल से गृहीत हो जाता है-तो वह अपने धैर्यगुण से च्युत हो जाता है. और अपनी शक्ति को भूलकर परावलम्बी बन जाता है. तथा अनेक प्रकार के विलापों को करने लगता है ॥५०॥

अ्यारे आ प्राणी कराल काणथी अहणु कराय छे, त्यारे ते पोतानी धीरज गुभावी भेसे छे. अने पोतानी शक्तिने भूलीने परावलम्बी अनि जय छे. तथा अनेक प्रकारना विलापो करवा लागे छे. ॥५०॥

तदापि दयनीयदशान्वितस्य न जायते कोऽपि शरण्यभूतः ।

न सेवको नापि पिता च माता पाणौ गृहीतानि न वाच पत्नी ॥५१॥

अर्थ-जब इसकी दयनीय दशा हो जाती है. उस स्थिति में इसे शरणदाता न कोई नौकर होता है. न पिता होता है. न माता होती और न जिसका हाथ पकडा है ऐसी पत्नी होती है ॥५१॥

न्यारे तेनी अत्यंत दयनीय दशा थी अप छे, अ स्थितिमां तेने शरणदाता केर नौकर होतो नथी. पिता माता के केने हाथ पकडयो होय तेवी पत्नी पणु शरणदाता थता नथी. ॥५१॥

चक्राधिपो वा न नराधिपो वा सुराधिपो योऽपि च कोऽपि सोऽपि ।

गतायुषो रक्षणबद्धकक्षः नैवास्ति धर्मेण विना शरण्यः ॥५२॥

अर्थ-चाहे चक्रवर्ती हो, चाहे राजा हो, चाहे इन्द्र हो कोई भी क्यों न हो जीव का जब आयु कर्म समाप्त हो जाता है तब इसे कोई भी रखने के लिये समर्थ नहीं हो सकता है. एक धर्म ही ऐसा है जो इसकी रक्षा कर सकता है ॥५२॥

चाहे राजा होय के चक्रवर्ति होय अथवा इन्द्र होय डोठपणु केम न होय अवनुं न्यारे आयु कर्म समाप्त थाय छे, त्यारे तेने डोठपणु राणवा समर्थ थता नथी. जेक धर्म अ अवे छे के के तेनुं रक्षण करी शके छे. ॥५२॥

पयोधिमध्ये च विनष्ट यानस्य जीव ! तेनास्ति च भुज्यमाने ।

गते सतीहायुषि विष्करस्य इवाश्रयः कोऽपि शरण्यभूतः ॥५३॥

अर्थ-समुद्र के बीच पतित पक्षी का कि जिसका सहारा के योग्य यान जहाज नष्ट हो गया है जैसे कोई आश्रय नहीं होता है इसी प्रकार हे जीव! जब तेरा भुज्यमान आयु कर्म समाप्त हो जाता है तब तुझे भी शरण्यभूत कोई नहीं होता है ॥५३॥

समुद्रनी मध्यमां पडेव पक्षीनुं के केतुं सहायभूत यान नौका के गडाव नाश पाभ्युं होय त्यां तेने डोठ आश्रयदाता होतुं नथी अेन प्रमाणे हे अणु ! न्यारे तार् सुज्यमान आयुध्य कर्म समाप्त थछ अथ छे, त्यारे तार् पणु डोठ शरणदाता होतुं नथी. ॥५३॥

एवं विभाव्यैव च भगवद्विः न कोऽपि कस्यापि शरण्यभूतः ।

रत्नत्रयात्मैव तथास्यवेत्य हितेषुभिर्ह्याश्रयितव्य एषः ॥५४॥

अर्थ-ऐसा विचार करके ही अपने हित की चाहना वाले भाग्यशाली पुरुषों को रत्नत्रय विशिष्ट आत्मा ही हमें शरण्यभूत हैं ऐसा समझकर उसी का आश्रय करना चाहिये ॥५४॥

आ प्रभाषे विचार करीने पोतानुं छित छिन्नार आग्यशाणी पुरुषे स्तनत्रयथी युक्त
आत्मा न् अमने शरणु दाता छे, जेम सभजने तेनो न् आश्रय करवो जेधये. ॥५४॥

॥ अशरण भावना समाप्त ॥

संसार भावना वर्णनम्—

शैल्लूषवद्वेषप्रनेकमेकः स्वकर्मपाकाद्धिदधान एषः ।

तिरश्चि पापान्निरयेव पुण्याद्विद्वयान्मानवजन्मनि च ॥५५॥

लेभे न शान्ति विषयैर्वराकः प्रवंचितः केवल भीर्ष्याऽसौ ।

वाचामगम्यां विविधामशान्तिं समापहा ! धिग्गृह्यविवेकिमंतम् ॥५६॥

अर्थ—अपने कर्म के विपाक से अकेला जीव नष्ट की तरह अनेक बेषों को
घारण करता हुआ पाप के उदय से तिर्यञ्चगति में, नरकगति में, पुण्य के उदय
से देवगति में और दोनों के उदय से मनुष्यगति में विषयों से ठगाया जाता
है. अतः कहीं पर भी इसे आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होती है. केवल उन उन
गतियों में ईर्ष्या वश जो यह विविध प्रकार की अशान्ति प्राप्त करता है उसके
वर्णन करने की क्षमता बचन में नहीं है सो इस जीव की इस अविवेकता को
धिकार है. ॥५५-५६॥

पोताना कर्मना विपाकथी जेकवो जव नटनी जेम अनेक बेषाने धारणु करतो थोडा
पापना उदयनी तिर्यञ्च गतिमां, नरक गतिमां, अने पुण्यना उदयथी देव गतिमां तथा
मन्नेना उदयथी मनुष्य गतिमां विषयोथी ठगाया करे छे. तेथी कयांय पणु तेने आत्मिक
शान्ति प्राप्त थती नथी. देवज ते ते गतियोमां छिर्ष्याना कारणे ते जे अनेक प्रकारनी
अशान्ति प्राप्त करे छे, तेतुं वर्णन करवानी शक्ति वचनमां नथी. तो आ जवना आ
अविवेक पणुने धिकार छे. ॥५५-५६॥

आमोक्षसौख्यान्मलपिञ्जरेऽस्मिन् देहे वसन् हा ! खलु जीव एषः ।

क्षणे २ दुःसहवेदनां तामनादितः स्वानुभवां करोति ॥५७॥

अर्थ—जबतक इस जीव को मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं होता है तबतक मल
के पीजरे रूप इस देह में रहता हुआ यह जीव क्षण क्षण में जो दुःसह वेदना
को भोगता आरहा है—वह आज की नहीं है—अनादि की है ॥५७॥

ज्यां सुधी आ जवने मुक्तिनुं सुख प्राप्त थतुं नथी, त्यां सुधी भणना पांजरा रुप
आ देहमां रहेवो आ जव क्षणु क्षणु जे दुःसह वेदाने भोगवे छे. ते आजनुं नथी.
अनादिथी न छे. ॥५७॥

जिह्वासहस्रैर्गदितुं ह्यशक्यां भ्रमन् २ कृच्छ्र परंपरां ताम् ।

भुङ्क्ते च मुक्त्यर्थमसौ शतांशं भुञ्जीत भूयात् नरजन्म शुद्धम् ॥५८॥

अर्थ-हजार जिह्वाओं से भी जो नहीं कही जा सके ऐसी जितनी दुःख परंपरा को चारों गतियों में बारंबार भ्रमण करता हुआ यह जीव भोगता है, उसके शतांश भी वेदना को यदि यह मुक्ति के निमित्त भोगे, तो इसका यह नर जन्म बिलकुल शुद्ध बन जाता ॥५८॥

हजारों जड़वायुओं से भी जो नहीं कही जा सके ऐसी जितनी दुःख परंपरा को चारों गतियों में बारंबार भ्रमण करता हुआ यह जीव भोगता है, उसके शतांश भी वेदना को यदि यह मुक्ति के निमित्त भोगे, तो इसका यह नर जन्म बिलकुल शुद्ध बन जाता ॥५८॥

संसारकान्तागतोऽथ जीवो भुक्तोज्झितं केवलमेव भुङ्क्ते ।

उच्छिष्ट भोजी तु भवेद्ब्रह्मः काकोऽथवाश्वापद तेषु कोऽयम् ॥५९॥

अर्थ-संसाररूप अटवी के भीतर फंसा हुआ यह जीव जिस किसी भी वस्तु का भोग करता है, वह अभुक्त पूर्व नहीं होती वह तो भुक्त पूर्व ही होती है, और भुक्त वस्तु को भोगनेवाला-खानेवाला-या तो सूकर होता है या कौवा होता है या कुत्ता होता है, अब कहो-यह जीव इनमें से कौन है? ॥५९॥

संसार ३पी अरुण्यमां इसायेव आ एव न डोष वस्तुना उपभोग करे छे ते पहेवां निना भोगवेदी वस्तु डोती नहीं, अर्थात् ते भुक्त पूर्व न होय छे, तथा भोगवेदी वस्तुने भोगवना अटवे डे आधे कुं आना अड डे कुतरा होय छे, तो कहे आ एव आ पैरी डोष छे? ॥५९॥

परंपरातोऽयमनाद्यनन्तः भवोऽस्ति जीवेन यदर्ज्यतेऽत्र ।

उच्छिष्टमेवेति विहाय तत्त्वं अभुक्तपूर्वं शिवसौख्यमिच्छ ॥६०॥

अर्थ-परंपरा की अपेक्षा यह संसार अनादि अनन्त है, अतः जीव के द्वारा यहां जो भी अर्जित किया जाता है वह सब उच्छिष्ट ही है इसलिये हे चेतन ! उसे छोड़ कर तूं अभुक्त पूर्व जो शिवसुख है उसकी चाहना कर ॥६०॥

परंपरानी अपेक्षार्थी आ संसार अनादि अने अनन्त छे, तेथी एवना द्वारा अर्जित न कांथ प्राप्त कराय छे ते तमाम उच्छिष्ट न छे, तेथी हे एव ! तेने छोडनि तुं अभुक्त पूर्व न शिवसुख छे तेनी आहना कर, ॥६०॥

अनादिसंसार परंपरायां मुहुर्मुहुः संभ्रमताऽऽत्मनेदृक् ।

नास्तीह कश्चित्पुद्गलोऽवशिष्टो भुक्त्वोज्जितो यो न भवेदनन्तम् । ६१॥

जब की यह संसार अनादि और अनन्त है और इसमें यह जीव बारबार जन्म मरण करता आ रहा है. तो बात स्वाभाविक है कि यहां ऐसा कोई सा भी पुद्गल नहीं बचा जो इसने अनन्त बार भोगकर नहीं दिया हो, इसलिये जो यहां इस जीव के द्वारा अर्जित किया जाता है, और अपने भोग में काम में लिया जाता है वह सब भुक्त पूर्व होने से उच्छिष्ट ही है. परन्तु अभी तक इस जीव ने मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं किया है अतः वह अभुक्त पूर्व है. ॥६१॥

अ्यारे आ संसार अनादि छे अने अनन्त छे, अने आमां आ एव वारंवार जन्म मरण धारणु करतो आवे छे, तो बात स्वाभाविक छे के अहीं एवुं डोछ पणु पुद्गल पयेल नथी के अने आ एवे अनन्तवार भोगवेल न होय तेथी अहीं आ एवे के कंठ अर्जित कर्युं होय अने पोताना भोगना काममां लीधेल होय ते तमाम भुक्त पूर्व होवथी उच्छिष्ट न छे, परंतु अत्यार पर्यन्त आ एवे मुक्तिनुं सुख भोगवेल नथी तेथी ते अभुक्त पूर्व छे. ॥६१॥

॥संसार भावना समाप्त॥

एकत्व भावना का वर्णन—

स्योपात्तकर्मादयतः समाप्त गत्यामसौ गच्छति जीव एकः ।

शुभाशुभं तत्फलमेक एव भुङ्क्ते न सप्यद्भस्वजनः परोवा ॥६२॥

अर्थ—जीव को जो भी गति प्राप्त होती है वह अपने द्वारा अर्जित कर्म के उदय के अनुसार ही प्राप्त होती है. उस गति में यह जीव अकेला ही जन्म मरण किया करता है और अकेला ही शुभ अशुभ कर्मफल को भोगता रहता है. उस समय इसका साथी न अपना माना हुआ कोई जन होता है और न कोई परजन होता है ॥६२॥

एवने के डोछ गति प्राप्त थाय छे, ते पोते करेला कर्मां उदय प्रमाणे न प्राप्त थाय छे, अे गतिमां आ एव अेकेला न जन्म—मरणु कर्या करे छे, अने पोते अेकेला न शुभाशुभ कर्मानुं इण भोगवे छे, ते समये तेनो साथी पोतानो मानेल डोछ थतुं नथी, तेभ परजन पणु थतुं नथी. ॥६२॥

ये बान्धवा वा स्वजनाः परे वा दिवंगते यान्ति न केऽपि सार्धम् ।
येषां कृतेऽनेन कृतं च पापं प्रक्षिप्यतेऽग्नौ स्वगृहं प्रयान्ति ॥६३॥

अर्थ—जब यह जीव वर्तमान पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय को धारण करता है उस समय जो अपने बन्धुजन हैं वे अथवा जितने भी परजन हैं वे कोई भी इसके साथ परगति में नहीं जाते हैं. प्रत्युत इसने जिनके लिये पाप किया है वे इसे अग्नि में डालकर अपने २ घर वापिस लौट जाते हैं ॥६३॥

अ्यारे आ ७व वर्तमान पर्यायने छोडीने भीअ पर्यायने धारणु करे छे, अे समये अे पोताना अंधुअन छे तेअे अथवा अटका परजनो छे तेडोई पशु तेनी साथे परगतिमां अतो नथी. परंतु, तेअे अना माटे पापकर्म करेअ छे तेअे तेने अश्रिमां नापीने पोत-पोताने धेर पाछा यादया अय छे. ॥६३॥

माता न पत्नी न पिता न पुत्रः अन्योऽपि वा कोऽपि सुहज्जनो वा ।
असातवेद्योदय आगते दा ! सध्यूङ् न सर्वेऽत्र यतो विभिन्नाः ॥६४॥

अर्थ—जीव जब असाता वेदनीय कर्म के उदय के चक्कर में आकर फँस जाता है—अर्थात् जीव के जब असाता का उदय आता है—तब माता, पत्नी, पिता, पुत्र, मित्र तथा अन्य और भी कोई उसके साथी नहीं होते हैं। क्यों कि यहाँ सब आपत्काल में भिन्न हो जाते हैं ॥६४॥

७व अ्यारे असाता वेदनीय कर्मना उदयना अकरमां अानीने इसाई अय छे अर्थान्तु ७वने अ्यारे असाता वेदनीय कर्मना उदय थाप छे, त्यारे माता, पिता, पत्नी, पुत्र, मित्र तथा अन्य डोई पशु तेना साथी यता नथी. डेमडे—अा संसारमां विपत्तिना समयमां अथा अ अलग थई अय छे. ॥६४॥

अहर्निशं ज्ञानधनेन तावज्जीवेन चित्ते परिशीलनीयम् ।

यदस्म्यहं जन्मनि चाथ मृत्वावेको न मेकोऽपि न कस्य वाहम् ॥६५॥

अर्थ—जब जीव के असाता वेदनीय का उदय आवे—तो उस समय ज्ञानी जन को रातदिन यही विचारते रहना चाहिये कि मैं अकेला ही जन्मा हूँ और अकेला ही मरूंगा. मेरा यहाँ कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ ॥६५॥

अ्यारे ७वने असाता वेदनीय कर्मना उदयकाय आवे त्यारे ज्ञानीअनेतो रात-दिवस अे अ विचारता रहेवुं अेअे डे डुं अेअेवो अे अन्थे अुं अने अेअेवो अे मरीश अेअीं माईं डोअ नथी अने अुं पशु डोअनो नथी. ॥६५॥

संयोगिनो येऽपि च केऽपि ते ते स्वस्वार्थलीना न परस्य हानौ ।
वृद्धौ च तेषां भवतीति हानिर्दृष्टिर्यतः स्वस्थमिदं हि विश्वम् ॥६६॥

अर्थ—जो स्त्री पुत्र मित्रादिक संयोगी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने स्वार्थ में लीन हैं. पर की हानि में और वृद्धि में उनकी न हानि होती है और न वृद्धि होती है. क्यों कि यह विश्व अपने में ही स्थित है ॥६६॥

जो स्त्री, पुत्र, मित्र विगरे संयोगी पदार्थ छे ते यथा पोतपोताना स्वार्थमां रय्या-
पर्या होय छे. परनी हानी डे वृद्धिमां तेमनी हानी डे वृद्धि थती नथी डेभडे व्या समथ
विश्व पोतानामां न स्थित छे. ॥६६॥

न कोऽपि कस्मै च ददाति दुःखं सुखं च कर्मैव ददाति सर्वम् ।
सुखेऽसुभिर्नित्यमतो विधेयं शुभं विमुच्याशुभकर्मजीवैः ॥६७॥

अर्थ—कोई भी जीव न किसी के लिये सुख देता है और न दुःख देता है जो कुछ देता है वह एक कर्म ही देता है. इसलिये जो सुखाभिलाषी जीव हैं उनका कर्तव्य है कि वे अशुभ कर्मों को—कार्यों को—छोडकर शुभ—अच्छे लोक-हितकारक—कार्य करें ॥६७॥

डोई पशु छुन डोईने पशु सुभ आपता नथी. अने दुःख पशु आपता नथी. जे
कंठ सुभ दुःख थाय छे, ते कर्म द्वारा न थाय छे. तेथी सुभेऽशु पुरुषनुं कर्तव्य छे डे
अशुसु कर्मेने छोडीने शुभ कर्म न करना. ॥६७॥

संयोगभाजश्च पदार्थसार्थाः स्वभाव संस्था नहि तेन्यरूपाः ।

भवन्त्य भूवँश्च न भाविनस्ते तथा ह्यतस्त्वं स्वत एक एव ॥६८॥

अर्थ—जितने संयोगी पदार्थ हैं वे सब अपने २ स्वभाव में जब स्थित हैं तो फिर वे अन्य स्वरूप कैसे हो सकते हैं. अर्थात् नहीं हो सकते इस तरह पदार्थों का स्वरूप है और वह त्रिकालवर्ती है. तब यह मान्यता कि पदार्थ अन्य स्वरूप हो जावेंगे, पहिले अन्य स्वरूप हुए हैं, वर्तमान में होते हैं सर्वथा असत्य है. अतः अपना सुखःदुखादिकों का भोक्ता जीव आप स्वयं ही है दूसरा उनमें साझीदार न कोई होता है, न हुआ है और न आगे ऐसा होने वाला ही है. ॥६८॥

बेटला संयोगी पदार्थ छे ते यथा पोतपोताना स्वभावमां न्यारे स्थित होय तो
पछी तेजो गीज स्वरूपे डेवी रीते थई शई? अर्थात् न न थई शई व्या रीते पदार्थनुं

स्वर्षे छे, अने ते त्रिकाणवर्ति छे. तो पत्नी अे मान्यता अे छे के पदार्थ अन्य स्वर्षे थय अशे पहेक्षां अन्य स्वर्षे थया छे. वर्तमानमां थाय छे अे सर्वथा असत्य छे. तेथी पोताना सुअ, दुःआदिडोता लोडता अेव स्वयंम अ छे. पीले डोअ तेने साथीदार थये नथी. थतो नथी अने थशे नडीं. ॥६८॥

परत्र लोके ननु गच्छतस्ते न कोऽपि हाऽभीष्टजनः प्रयातुम् ।

सार्धं त्वया शक्यति चैक एव प्रयास्यसि त्वं भवरीतिरेषा ॥६९॥

अर्थ—हे जीव ! परलोक में प्रयाण करते समय तेरे साथ तेरा कोई भी अभीष्ट जन नहीं जावेगा. तूही अकेला जावेगा यही संसार की रीति है ॥६९॥

हे अेव ! परलोकमां प्रयाण करती वअते तारी साथे तारे हितेअधु डोअ, पशु तारी साथे आवशे नडीं तुं अ अेडो अश आअ संसारनी रीत छे. ॥६९॥

कलेवरद्वारमुपस्थितेन परेताराजा हियमाणकायः ।

जीवस्तदानीं समतां विधृत्य विकल्पमित्थं कुस्तान्न कुत्र ॥७०॥

अर्थ—कलेवररूपी द्वार पर आये हुए यमराज के द्वारा जिसका शरीर से संबंध छुडा दिया जानेवाला है ऐसा यह जीव उस समय समता को धारण कर इस प्रकार का विकल्प किसी संयोगी आदि के सम्बन्ध में न करे ॥७०॥

शरीररूपी द्वार पर आवेअ यमराज द्वारा शरीर साथेने अेने संबंध छेडावी हेवाने छे अेवा आ अेवे अे समथे समताने धारण करीने आ रीतने विकल्प डोअ संयोगीना निषयमां न करेवे. ॥७०॥

दिवानिशं यत्परिपोषणाय भक्ष्यं ह्यभक्ष्यं गणितं न किञ्चित् ।

गात्रं तदेतच्छयधुनन्तकाले सार्धं मया नैत्य कृतज्ञमेतत् ॥७१॥

अर्थ—देवो—मैंने रातदिन जिस शरीर के पोषण निमित्त भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ भी खयाल नहीं किया वही मेरा यह शरीर अब अन्तकाल में मेरे साथ नहीं जाता है. यह कितना कृतघनी है ॥७१॥

में गत हियस अे शरीरना पोषण भाटे अक्षय असक्षयने डोअ अ विचार कर्यो नथी. अेअ आ भाअं शरीर अेवे अन्त समथे मारी साथे आवतुं नथी. अे डेटलुं कृतघनी छे. ॥७१॥

ये केऽपि हा ! मां प्रियमाणमत्र श्रुत्वाऽऽगता आप्तजनाः परे वां ।

एकोऽपि वा कोऽपि न तेषु सार्धं गन्तुं मया चेच्छति धिक्च तं माम् ॥७२॥

अर्थ-जो कोई आसजन अथवा अन्य दूसरे जन मुझे मरनेवाला सुनकर यहां आये हैं-उनमें से कोई भी मेरे साथ चलने को तैयार नहीं है। धिक्कार है मुझे और उसे ॥७२॥

जो डोढ़ छितेच्छु अथवा अन्यजन भने मरवानो अण्णिने अहीं आवेद छे, तेभांथी डोई पणु भारी साथे आवना तैयार नथी धिक्कार छे भने अने तेभने. ॥७२॥

येषां कृते हा ! मयकाऽधमेन पापान्यनेकानि कृतानि ते माम् ।

अस्यां विपत्तौ पतितं विलोक्य रुदन्ति न कोऽपि मया सहैति ॥७३॥

अर्थ-जिनके लिये मुझ अधम ने अनेक पाप किये वे मुझे इस विपत्ति में पडा हुआ देखकर के रोते तो हैं. पर कोई भी उनमें से मेरे साथ चलने को कटिबद्ध नहीं होता है ॥७३॥

अधम अेवा भे जेने भाटे अनेक पाप कया तेअो भने आ विपत्तिभां पडेद अण्णिने इवे तो छे परंतु तेभांथी डोई पणु भारी साथे आवना तैयार थता नथी. ॥७३॥

एकाकिनं मां प्रविहाय सर्वे मे बान्धवा कुत्र गता इदानीम् ।

समागता येऽत्रजनाश्च केचिद्वाचैव ते मामनुशासतीह ॥७४॥

अर्थ-देखो अकेला मुझे छोडकर वे मेरे सब बन्धुजन इस समय कहां पर चले गये हैं. और जो कोई व्यक्ति यहां आये हुए हैं वे केवल मुझे वाणी द्वारा ही समझा बुझा रहे हैं (साथ देने को कोई तयार नहीं दिखाई देते हैं) ॥७४॥

बुवो अेकला भने छेडीने अे भास सधणा अन्धुजने आ वधते कयां आदया गया छे, तेअो डेवण वाण्णुथी ज भने समअनी रखा छे. साथ देना डोई तैयार देणाता नथी. ॥७४॥

सार्धं च यातुं यतते न कोऽपि गत्यन्तरं याम्यहमेक एव ।

न कोऽपि मां रक्षति हा ! इदानीं गताःक्व ते हन्त जना मदीया ॥७५॥

अर्थ-मेरे साथ चलने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं कर रहे हैं. मैं अकेला ही दूसरी गति में जा रहा हूं मेरी इस समय रक्षा करनेवाला कोई नहीं है. दुःख है कि वे मेरे आत्मीय जन इस समय कहां पर चले गये हैं ॥७५॥

મારી સાથે આવવા કોઈ પણ પ્રયત્નશીલ નથી હું એકલો જ અન્ય ગતિમાં જઈ રહ્યો છું આ સમયે મારી રક્ષા કરનાર કોઈ નથી. દુઃખની વાત છે કે એ મારા સ્વજનો આ સમયે ક્યાં ચાલ્યા ગયા ? ॥૭૫॥

क्व यामि किंवा कस्वाणि नाहं पश्यामि तं मयामा- ।

गन्तुं भवेद् यः कटिबद्धकक्षः कृत्यानुगो याम्यहमेक एव ॥७६॥

અર્થ-અબ મેં કહા જાઝું, કયા કરું મેં એસે અપને કિસી મી ઇષ્ટ જન કો નહીં દેખતા હું જો મેરે સાથ ચલને કે લિયે કમર બાંધકર તયાર હો જાય કેવલ અબ મેં હી કિયે દુષ્ટ શુભાશુભ કો લેકર અકેલા જા રહ્યા હું ॥૭૬॥

હવે હું ક્યાં જઈ અને શું કરું. એવો મારો કોઈ પણ સ્વજન દેખાતો નથી કે જ મારી સાથે આવવા કમર કરીને તૈયાર થાય કેવળ હું એકલો જ કરેલા શુભાશુભ કર્મને લઇને જઈ રહ્યો છું ॥૭૬॥

आसं यदाऽहं ननु शक्तिशाली आसंस्तदा मामनुगा अनेके ।

अस्यां विपत्तौ पतितस्य कोऽपि वातां न मे पृच्छति संसृतिं धिक् ॥७७॥

અર્થ-જવ મેં શક્તિશાલી થા તબ મેરે પીછે ૨ ફિરનેવાલે અનેકજન થે ઓર અબ હસ સ્થિતિ મેં પડજાને પર મેરી વાત તક મી પૂછનેવાલા કોઈ નહીં હૈ. હસ સંસાર કો ધિકાર હૈ ॥૭૭॥

બ્યારે હું સશક્ત હતો ત્યારે મારી પાછળ પાછળ કરનારા અનેકજનો હતા, અને અત્યારે આ સ્થિતિમાં આવી પડતાં મારી વાત પૂછનાર પણ કોઈ જ નથી. એવા આ સંસારને ધિકાર છે. ॥૭૭॥

एतद्विकल्पाकरणे कारणमाह-

जीवोऽस्त्ययं जन्मनि वाथ मृत्यावेको न कोप्यस्य न कस्य चायम् ।

संयोगिनः सर्वपदार्थसार्थाः कथं भवेयु स्तदधीनकामाः ॥७८॥

અર્થ-યહ જીવ અકેલા હી જન્મતા હૈ ઓર અકેલા હી મરતા હૈ. ન કોઈ હસકા હૈ. ઓર ન યહ કિસી કા હૈ । જવ એસી સ્વતંત્રતા હૈ તો જિતને મી સંયોગી પદાર્થ હૈં વે હસકી અધીનતા સે યુક્ત ઇચ્છાવાલે કૈસે હો સકતે હૈં ॥૭૮॥

આ જીવ એકલો જ જન્મે છે, અને એકલો જ મરે છે, તેનું કોઈ જ નથી અને તે કોઈનો નથી. બ્યારે એવી સ્વતંત્રતા છે તો જેટલા સંયોગી પદાર્થો છે, તે તેની આધીનતા વાળી ઇચ્છાવાળા કેવી રીતે થઈ શકે ? ॥૭૮॥

गन्तुं क्षमः कोऽपि न केन सार्धं गत्यन्तरं क्वेष्टजनस्य वार्ता ।

समागतं तं प्रसमीक्ष्य सत्त्वं निजात्मनीहा कुलतां न कुर्याः ॥७९॥

अर्थ—कोई भी जीव किसी के भी साथ दूसरी गति में जाने के लिये समर्थ नहीं है. तो फिर इष्टजन की तो बात ही क्या है. इसलिये आये हुए इष्टजन को देखकर हे जीव ! तुझे अपनी आत्मा में ऐसे समय पर आकुलता नहीं करनी चाहिये ॥७९॥

डोछ पशु छव डोछनी पशु साथे अन्य गतिमां जवा भाटे समर्थ नथी. तो पछी इष्टजननी तो बात न शुं करवी ? तेथी आपेक्षा इष्टजनोने जेधने हे छव । तारे पोताना आत्माभां आवा समये व्याकुणता करवी न जेधये. ॥७९॥

संवीक्ष्यते त्वामनुशासतीह तत्केवलं मोह विमोचनार्थम् ।

मत्त्वेति जीवं ! त्वं माऽऽकुलत्वं गमः सुशिक्षां हृदि धत्स्व गुर्वीम् ॥८०॥

अर्थ—जो तुम्हें देखकर वे समझाते बुझाते हैं वह केवल अपने प्रति-जो तुम्हारा मोह है उसके छुड़ाने के लिये ऐसा करते हैं ऐसा समझ हे जीव ! तुझे आकुलित नहीं होना चाहिये और उनके द्वारा दी गई अच्छी शिक्षा को हृदय में धारण करना चाहिये. ॥८०॥

तमने जेधने तेज्या न समजये छे ते इवण पोताना प्रत्ये तमारो न मोड छे ते छेडाववा भाटे तेम करे छे, तेम समजने हे छव ! तारे व्याकुण थवुं न जेधये अने तेमथे आपेक्ष सारी शिष्यामणु हृदयमां धारणु करवी जेधये. ॥८०॥

उपस्थितो वाप्यनुपस्थितो वा स्वेष्टोऽथवा कोऽपि भवेत्परो वा ।

तेभ्यः स्वदोषं क्षमया विशुद्धं कृत्वा विधेया परलोकयात्रा ॥८१॥

अर्थ—इसलिये ! आत्मा को उस समय इस प्रकार समझना चाहिये कि हे आत्मन् ! उस समय चाहे अपना इष्ट जन अथवा और भी कोई पर जन उपस्थित हो अथवा उपस्थित नहो—उन सब से अपने दोषों को क्षमा से विशुद्ध कराकर परलोक की यात्रा करनी चाहिये ॥८१॥

तेथी आत्माये जे समये आ रीते विचारवुं जेधये डे हे आत्मन् ते समये पोताना सज्जन अथवा अन्य डोछ परजन छाजर होय अथवा न होय पशु ते पथा पासे पोताना देखेने क्षमाथी विशुद्ध करवीने परलोकनी यात्रा करवी जेधये. ॥८१॥

॥ एकत्वभावना वर्णनं समाप्तम् ॥

दुग्धाम्भसोर्योग इवास्ति जीव शरीरयोः कोऽपि विशिष्टयोगः ।

तथापि तौ लक्षणभेदवत्वात् पृथक् पृथक् स्तः स्वत एव सिद्धौ ॥८२॥

अर्थ-दूध और पानी का जैसा योग है वैसा ही योग जीव और शरीर का है. फिर भी अपने अपने लक्षण से ये दोनों पृथक् पृथक् हैं यह बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है. ॥८२॥

दूध अपने पाण्डूने लगे योग है, जेवो ज योग एव अपने शरीरने है, तो पण पोतपोताना लक्षणुथी जे अपने जुदा जुदा है ते वात स्वतः सिद्ध थई जय है. ॥८२॥

शिलीमुखेऽस्तीह यथा पृथक्त्वं निषंगतो वाथ यथा कृपाणे ।

निबोलतो देहगृहा द्विभाग स्तथैव जीवस्य जडो न वेत्ति ॥८३॥

अर्थ-जैसा शिलीमुख-बाण और भाथे का आधाराधेय सम्बन्ध है और इसी से उन दोनों में भिन्नता है, अथवा कृपाण-तलवार और ग्यान में आपस में भिन्नता है वैसा ही देहरूप गृह से जीव का विभाग है. इस विभाग को जड-बहिरात्मा-जीव नहीं जानता हैं ॥८३॥

जेवी रीते पाणु अपने लाथाने आधाराधेय संबन्ध है अपने तेथी ज जे अपनेसां जुदापणुं है. अथवा तलवार अपने ग्यानमां परस्पर जेवी जुदाई है, जेवी ज जुदाई देह-रूप धर अपने एवमां है. आ विभागने जड एव जणुतो नथी. ॥८३॥

देहात्मकोऽहं ननु भाव एषोऽज्ञानसंमूलक एव हेयः ।

अचेतनात्संहननाच्च जीवः सचेतनत्वाद् ध्रुवमेव भिन्नः ॥८४॥

अर्थ-मैं देह स्वरूप हूं ऐसा यह भाव अज्ञान है. मूल-कारण जिसका ऐसा है. अतः हेय है. क्यों कि संहनन-शरीर-अचेतन है और जीव सचेतन है. इन दोनों में नियम से भिन्नता ही है ॥८४॥

हूं देह-रूप हूं जेवो ज भाव है ते अज्ञान है. मूल कारण जेनुं जेवुं है ते त्याज्य है. डेभडे संहनन-शरीर अचेतन है. अपने एव सचेतन है. आ डेडमां नियमथी जुदाई रहेली है. ॥८४॥

॥ अन्यत्वभावना समाप्त ॥

अशूचि भावना वर्णनम्-

अस्पष्टपृष्ठं प्रतिभाति रम्यं शरीरं मेतच्च बहिर्युतं स्यात् ।

अन्तः स्वरूपेण तदाऽत्र कोऽपि तद् दृष्टुं मिच्छुर्न भवेन्नरागी ॥८५॥

अर्थ-यह शरीर ऊपर २ से ही सुन्दर लगता है-यदि भीतर का जो इसका स्वरूप है उस स्वरूप से यह युक्त हो जावे तो न तो कोई इसे देखना चाहेगा और न कोई इसमें राग ही करना चाहेगा: ॥८५॥

आ शरीर ऊपर ३ परती न सुंदर लागे छे. तेनुं अंदरनुं न स्वर्प छे ते ३ परती न्ने अ युक्त थई अय तो तेने कोछ न्नेवा आछे नही के तेनी साथे कोछ राग करवा पणु छ्छे नही ॥८५॥

यदङ्ग सङ्गादिह जायते हा ! मध्येप्यमेध्यत्वमलं कथं तत् ।

गात्रं पवित्रं भवतीति चेत्कः मलेऽपवित्रे भवतादतोषः ॥८६॥

अर्थ-जिस शरीर के सम्बन्ध से पवित्र वस्तुओं में अपवित्रता आ-जाती हैं. ऐसा वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है. उसे पवित्र माना जावे तो फिर अपवित्र मल को भी पवित्र मान लेना चाहिये ॥८६॥

न शरीरना संबन्धती पवित्र वस्तुओमां अपवित्रपणुं आवी अय छे, अणुं आ शरीर पवित्र केवी रीते कही शक्य ? न्ने तेने पवित्र मानवामां आवे तो पछी अपवित्र अवा भणने पणु पवित्र मानवो न्नेई अ. ॥८६॥

गात्रं तदेतत्क्षणनश्वरं भोः ! विज्ञाय सर्वैरशुचीति यत्नः ।

कुर्याऽस्य साफल्य कृते तपस्यायामाशुजीवैर्न यतः स्थिरं तत् ॥८७॥

अर्थ-यह शरीर क्षणनश्वर है और अपवित्र है ऐसा जानकर भो ज्ञानीजन ! इसकी सफलता के लिये शीघ्र ही तपस्या में यत्न करते रहो. क्यों कि यह स्थिर नहीं है ॥८७॥

आ शरीर क्षणुविनश्वर छे अने अपवित्र छे. अम समलने पणु हे ज्ञानी पुरुषो ! तेनी सक्षणता भाटे त्वरीत गतिथी तपस्यामां प्रयत्नशील अने. केभके आ शरीर स्थिर नथी. ॥८७॥

स्वभावतस्तावदिदं ह्यपूतं रत्नत्रयेणैव पवित्रितं स्यात् ।

गात्रं तदेतद्धृदि धारणीयं तल्लुद्धिकामैर्णिभिर्वरेण्यैः ॥८८॥

अर्थ-यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है. यदि पवित्र बन सकता है तो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन, और सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय से ही बन सकता है. इसलिये जो शुद्धि की कामना वाले श्रेष्ठ गुणिजन हैं वे इस रत्नत्रय को धारण करें ॥८८॥

आ शरीर स्वभावथी न अपवित्र छे, जे ते पवित्र थछ शके तो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन
अने सम्यक् चरित्ररूप रत्नत्रयथी न अनी शके तेथी शुद्धिनी धर्मभावणा जे उत्तम युगुवान
अन छे, तेज्येज्ये आ रत्नत्रयने धारणु करवा. ॥८८॥

अक्षय्यशंक्रुद्यदि गात्रमेतद्भवेच्च भव्यस्य तदात्तसाम् ।

पूतं तदैवेति वदन्ति विज्ञा नो चेदशुच्येव च निष्फलं तत् ॥८९॥

अर्थ—कभी नष्ट नहीं होने वाले ऐसे सुख का करने वाला यदि यह शरीर
बन जाता है तो भव्य जीव का यह शरीर आत्त सार वाला हो जाता है—स-
फल हो जाता है. और तभी यह पवित्र बन जाता है. ऐसा विज्ञ जन कहते
हैं. नहीं तो यह अपवित्र का अपवित्र ही रहता है और इस के पाने का
कोई फल प्राप्त नहीं होता है. ॥८९॥

कट्टी नाश न पाये जेना सुअने अनावनार जे आ शरीर अनी अय तो अण्य अत्रनु
आ शरीर प्राप्त सारवाणुं अनी अय छे. जेपुं विज्ञजनो कहे छे. नहींतर आ अपवित्रनुं
अपवित्र न रहे छे. तथा तेने भोगवत्रातुं कर्षं क्षण प्राप्त थतुं नथी. ॥८९॥

॥ अशुचि भावना समाप्त ॥

आस्रव भावना वर्णनम्—

यथाऽम्भसापूर्णं पिचण्डकुण्डः क्षिप्तस्तडागे च निमज्जतीद्धः ।

दुर्मोचकर्मावलिभिस्तथैव अधोह्यधो याति मृतोऽयमात्मा ॥९०॥

अर्थ—चाहे कितना बडा कलश रूपी कुण्ड हो—पानी से भरा हुआ जैसे वह
तलाब में डाले जाने पर उसमें डूब जाता है इसी प्रकार दुर्मोच कर्मावलि से
भरा हुआ यह आत्मा भी नीचे नीचे—अधोगति में—जाता है ॥९०॥

याहे गमे तेठवो भोटो कलशरूपी कुंड होय पणु पाणुथी अरेवा तणावमां जे तेने
नापत्राभां आवे तो ते तेमां डूणी अय छे. जेअ प्रभाणु दुर्मोच कर्मावलीथी अरेवो आ
आत्मा पणु अधोगतिमां अय छे. ॥९०॥

अथास्रवोऽयं भववृद्धि हेतुर्योगक्रियैवास्ति स वारणीयः ।

तस्यैव सद्भावयुतोऽयमात्मा दुःखं गिरीन्द्रोपममभ्युपैति ॥९१॥

अर्थ—यह आस्रव ही संसार की वृद्धि का कारण है. योगों की जो हलन-
चलन आदि रूप क्रिया है वही आस्रव है. इसी के सद्भाव से युक्त हुआ यह
जीव सुमेरु पर्वत जैसे दुःखों को उठाता रहता है ॥९१॥

आ आस्रव न संसारनी वृद्धितुं कारणु छे, योगीनी न हलनयलनरूप द्विया छे. अेन आस्रव छे. तेना सद्भावथी युक्त थयेल एव सुभेइ परत नवा दुःषोने उपाडता रहे छे. ॥६१॥

॥ आस्रव भावना समाप्त ॥

संवर भावना वर्णनम्

कर्मागमद्वारपिधानरूपः भवत्यसौ संवर आत्मशुद्धेः ।

हेतुश्च मुक्तेः कमनीय कान्ता या अङ्गलाभे प्रबल प्रतापी ॥९२॥

अर्थ-कर्मों के आने के द्वार का बन्ध होना इसका नाम संवर है. यह संवर ही आत्मा की शुद्धि का हेतु होता है. और मुक्ति रूपी कमनीय कान्ता के अङ्गलाभ कराने में प्रभाव शाली होता है ॥९२॥

कर्मेना आवावना द्वारतुं पंध थवुं तेनुं नाम संवर छे, आ संवर न आत्मानी शुद्धिना हेतुरूप होय छे अने मुक्तिरूपी कमनीय कान्ताना अंगनो लाभ करावनामां प्रभावशाली होय छे. ॥६२॥

भवत्यसौ गुप्ति समित्यनुप्रेक्षाद्यैर्विशिष्टैः खलु साधनैश्च ।

अतोऽस्त्ययं साधनसाध्यरूपो मुनीन्द्रसेव्यो भवनाशकारी ॥९३॥

अर्थ-यह संवर गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा आदि विशिष्ट साधनों से होता है अतः यह साध्य रूप है. और निर्जरा का कारण होता है इसलिये यह साधन रूप है. इसकी सेवा मुनीन्द्र करते हैं क्यों कि यह उनके संसार का नाशक है. ॥९३॥

आ अधुं संवर, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा विगेरे विशेष प्रकारना साधनोथी थाय छे. तेथी अे साध्यरूप छे, अने निर्जराना कारणरूप होय छे. तेनी सेवा भोटा भोटा मुनियो करे छे. ठभेडे ते अेना संसारनो नाश करनार छे. ॥६३॥

द्रोण्या यथाब्धिं तरतीह जीवस्तथाऽमुनेमं भववारिधिं सः ।

हितैषिभिर्ह्यम्बरवत्प्रबुद्धै जीवैः सदा संवर एव सेव्यः ॥९४॥

अर्थ-जैसे नौका द्वारा समुद्र पार कर दिया जाता है-वैसे ही जीव इस संवर द्वारा अपने संसार रूप समुद्र से पार हो जाता है. अतः वस्त्र की तरह इस संवर की आत्महिताभिलाषी प्रबुद्ध जीवों को सेवा अवश्य ही करनी चाहिये ॥९४॥

जेम नौकाथी समुद्र पार करवाभां आवे छे, जेज प्रमाणे जेन आ संवर द्वारा पोताना संसाररूप समुद्रथी पार थई जय छे. तेथी वस्त्रनी जेम आ संवरनी सेवा आत्मछिताभिक्षापी अथत जेवोअे नर नर करवी जेईअे. ॥६४॥

यथा विपत्तौ च सखा, सखायं आपत्सु राजानमपात्यवर्गः ।

रणे क्षतं क्षत्रिय आतपत्रं त्रायेत धर्माज्जनमात्मनीनम् ॥९५॥

अर्थ-जिस प्रकार विपत्ति में पड़े हुए मित्र की मित्र रक्षा करता है, आपत्ति के समय राजा की मंत्री रक्षा करता है, युद्ध में घायल हुए व्यक्ति-योद्धा की रक्षा क्षत्रिय करता है, और धूप से मनुष्य की रक्षा छाता करता है उसी प्रकार धर्म अपने सेवक की रक्षा करता है ॥९५॥

जेम विपत्तिभां पडेला मित्रनी मित्र रक्षा करे छे. आपत्तिना समयभां राजनी मंत्री रक्षा करे छे. युद्धभां घायल थयेल योद्धानी रक्षा क्षत्रीय करे छे अने तडकाथी मनुष्यनी रक्षा छत्री करे छे. जेज प्रमाणे धर्म पोताना अनुयायिनी रक्षा करे छे. ॥६५॥

एवं जिनेन्द्रोक्तविमुक्तिमार्गे रक्षेदयं संवस्तां मुनीनाम् ।

चारित्ररत्नं किल संवरस्तद्भटं तनुत्राणमिवाजिरेऽजम् ॥९६॥

अर्थ-जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित मार्ग में विचरण करनेवाले मुनिजनों के चारित्र रत्न की रक्षा करने वाला यदि कोई है तो वह एक संवर ही है. जैसे जहर-बख्तर जो कि अज-बहुत पुराना होकर दृढ मजबूत हो गया हो-अपने को धारण करने वाले सुभट की युद्ध में रक्षा करता है. ॥९६॥

जेनेन्द्र देवे प्रतिपादन करैल मार्गभां विचरणे करनारा मुनिजनोना चारित्र रत्ननी रक्षा करवावाणुं जे डोई डोय ते ते अेक संवर ज छे. जेम अप्पतर धरुं जुनुं डोवाथी मज्जपूत थई गयुं डोय ते अेने धारण करनारा सुभटनी युद्धभां रक्षा करे छे. ॥६६॥

दृढप्रहारो निशितेषु योद्धा युद्धस्थले शत्रुजनं रुणद्धि ।

यथा, तथा संवर एष वीरो नवमं च कर्मागमनं रुणद्धि ॥९७॥

अर्थ-जैसे दृढ है प्रहार जिसका ऐसा तीक्ष्ण बाणों वाला योद्धा युद्ध स्थल में अन्य शत्रु को नहीं आने देता, वैसे ही यह संवर रूपी वीर नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है. उन्हें नहीं आने देता ॥९७॥

जेम मज्जपूत छे. प्रहार जेने अेवा तीक्ष्ण बाणोवाणो योद्धा युद्धस्थलभां भीज शत्रुने प्रवेश करवा देता नथी जेज प्रमाणे आ संवररूपी वीर नवा कर्मेना आगमनेने रोधी हे छे. तेने आववा देता नथी. ॥६७॥

॥ संवर भावना समाप्त ॥

निर्जरा भावना वर्णनम्-

अनास्रवात् संचितकर्मणां च देशक्षयात्संभवति प्रकर्षात् ।

रत्नत्रयस्यैव, विमुक्तिमार्गे, वाच्यमानां च हितावहेयम् ॥९८॥

अर्थ-नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाने से तथा संचित कर्मों का थोडा र क्षय होते रहने से पंच रत्नत्रय की ही प्रकर्षता होने से यह निर्जरा होती है. यह निर्जरा मोक्ष के मार्ग में मुनिजनों की हितकारक होती है ॥९८॥

नवा कर्मोना आस्रव रोकार्थं ज्ञवाथी तथा संचित कर्मोना थोडा थोडा नाश थवाथी अने रत्नत्रयनी वृद्धीथी निर्जरा थाय छे. आ निर्जरा मोक्ष मार्गमां मुनिजनोने हित करनार होय छे. ॥९८॥

सम्पूर्णकर्मक्षयरूपमुक्ते सद्यास्ति जननीयं निर्जरेति ।

प्रधार्य चित्ते मुनिभिर्महत्या भक्त्या सदेयं च समर्चनीया ॥९९॥

अर्थ-समस्त कर्म क्षय रूपी मुक्ति की यह निर्जरा पहिली माता है. ऐसा चित्त में निर्धारण करके मुनिजनों के द्वारा यह बडी भक्ति के साथ सेवन करने योग्य है ॥९९॥

सधया कर्मोना क्षयरूप मुक्तिनी अे पडेकी माता छे, अेम चित्तमां निर्धारणु करीने मुनिजनो द्वारा अे धरणी अे अक्तिपूर्वक सेवना योग्य छे. ॥९९॥

बाह्यान्तरैः साच तपोभिरित्या तपांसि कर्मक्षयकारणानि ।

विज्ञाय जीवेन निरन्तरं तत्तपोऽनुरूपं चरणीयमेव । १००॥

अर्थ-यह निर्जरा ६ बाह्य तपों से और ६ आभ्यन्तर तपों से प्राप्त होती है. तप कर्मों के क्षय में कारण होते हैं. ऐसा समझ कर जीवका कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार तपों का आचरण करें. ॥१००॥

आ निर्जरा छ बाह्य तपोथी अने छ आभ्यन्तर तपोथी प्राप्त थाय छे. तप कर्मोना क्षयमां कारणरूप होय छे. अेवुं समञ्जने अतनुं कर्तव्य छे के-ते पोतानी शक्ति प्रभाणु तपोतुं आव्यरणु करे. ॥१००॥

॥ निर्जरा भावना समाप्त ॥

लोक भावना वर्णनम्-

उर्वादि भेदादयमस्ति लोकस्त्रिधा प्रदेशोऽपि न कोऽपि तस्य ।

यस्मिन् न जातोऽथ मृतो न जीवस्तथापि सद्वबोधमसौ न लेभे ॥१०१॥

अर्थ-ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक इस प्रकार से लोक के ३ तीन विभाग हैं, इस लोक का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं बचा है कि जिसमें यह जीव जन्मा न हो और मरा न हो. फिर भी इसने सदबोध प्राप्त नहीं कर पाया ॥१०१॥

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक અને અધોલોક આ રીતે લોકના ત્રણ વિભાગ છે, આ લોકનો કોઈ પણ એવો પ્રદેશ બચેલ નથી કે જ્યાં આ જીવ જન્મે તો હોય અને મર્યો ન હોય તો પણ એણે કંઈ જ સદ્બોધ મેળવ્યો નથી. ॥૧૦૧॥

अकृत्रिमोऽयं खलु लोक एषः, जवादिपद्द्रव्यमयो ह्यनन्तः ।

अभव्यदृष्ट्या, पुनरस्ति सान्तः भव्यस्य वायुत्रयवेष्टितश्च ॥१०२॥

अर्थ-यह लोक अकृत्रिम है-किसीने इसे बनाया नहीं है. यह जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यमय है. अभव्य-जीव की अपेक्षा अनन्त हैं-इसका कभी विनाश होने वाला नहीं है. तथा, भव्यजीव का यह लोक सान्त है. एवं तीन वातवलयों से यह वेष्टित है ॥१०२॥

આ લોક અકૃત્રિમ છે. કોઈ એ એને બનાવેલ નથી. આ જીવ, પુદ્ગલ, ધર્મ, અધર્મ આકાશ અને કાળ આ છ દ્રવ્યમય છે. અભવ્ય જીવની અપેક્ષાથી અનન્ત છે. આનો ક્યારેય નાશ થવાનો નથી. તથા ભવ્ય જીવનો આ લોક સાન્ત છે-અને ત્રણ વાતરૂપી વલયોથી વીંટાયેલ છે. ॥૧૦૨॥

जीवो भ्रमन् नित्यमुपैति दुःखं निर्व्याकुलत्वं नहि द्विद्वित्र ।

अतः सुखावाप्ति रसंभवैव मोक्षोऽति सा भोः ! कुरु तत्र यत्नम् ॥१०३॥

अर्थ-इस लोक में भ्रमण करता हुआ जीव नित्य दुःख को ही भोगता रहता है उसमें किञ्चित् भी निराकुलता नहीं आती है. इसलिये यहां सुख की प्राप्ति असंभव ही है. वह तो-सुख की प्राप्ति तो-मोक्ष में ही है. इसलिये हे जीव ! उसकी प्राप्ति करने का ही तू प्रयत्न कर. ॥१०३॥

આ લોકમાં ભ્રમણ કરતો જીવ નિત્ય દુઃખને જ ભોગવતો રહે છે. તેમાં જરા પણ નિરાકુળપણું આવતું નથી. તેથી અહીં સુખની પ્રાપ્તિ અસંભવિત જ છે. તે સુખની પ્રાપ્તિ તો મોક્ષમાં જ છે. તેથી હે જીવ ! તેને પ્રાપ્ત કરવાનો તું પ્રયત્ન કર. ॥૧૦૩॥

॥ लोक भावना समाप्त ॥

बोधि दुर्लभ भावना-

बोधेः सुलाभान्नरजन्मसिद्धिः नोचेत्तदा निष्फलमेव चेदम् ।

मूढात्परो कोऽस्ति जनोऽपरो वा दहेन्मणिं भस्म निमित्तप्रघर्षम् ॥१०४॥

बोधि के लाभ से ही नर जन्म की सिद्धि होती है. यदि उसकी प्राप्ति नहीं हुई तो यह नरजन्म निष्फल ही मानना चाहिये मूल के सिवा कौन ऐसा मनुष्य होगा जो कीमती मणि को भस्म के निमित्त जलायेगा. ॥१०४॥

बोधीना लाभधी न मनुष्य जन्मनी सिद्धि थाय छे. जे तेनी प्राप्ति न थई तो आ मनुष्यमव निष्फल न जलुवे मूढ शिवाय क्यो जेवो मनुष्य हसे के जे कीमती मणिने भस्मने माटे आणी नाथे ॥१०४॥

भव्यत्वकर्मक्षितिमर्त्यजन्म जितेन्द्रियत्वं च सुबोधलाभः ।

स्तत्रप्राप्तिः क्रमशः शृणुध्वं भवे भवे ह्यस्ति सुदुर्लभाऽस्मै ॥१०५॥

अर्थ-सुनो भव्यत्व भाव, कर्म भूमि में जन्म, इन्द्रियों की वदयता, सम्यग्ज्ञान का लाभ और स्तत्रय की प्राप्ति ये सब इस जीव के लिये क्रमशः भव २ में प्राप्त होना बहुत दुर्लभ हैं ॥१०५॥

भव्यत्वभाव, कर्मभूमिमां जन्म धद्रियोनुं वशीपणु सम्यग्ज्ञाननो लाभ अने स्तत्रयनी प्राप्ति जे अथुं आ जने क्रमशः अवलामां प्राप्त थवुं ते धणुं न दुर्लभ छे. ॥१०५॥

॥ बोधि दुर्लभ भावना समाप्त ॥

धर्म भावना-

लोकद्वये जीव हितानुबंधी धर्मस्त्रिहालेऽप्यविकृतस्वरूपः ।

वस्तुस्वभावः स इति प्रतीत्या प्रतीयते नात्र वितर्कतर्कौ ॥१०६॥

अर्थ-दोनों लोकों में जीव का हित करने वाला एक धर्म ही है. इसका स्वरूप त्रिकाल में भी बाधित नहीं होता है. यह धर्म "वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है" इस प्रतीति से प्रतीत होता है. यहां स्वभाव में तर्क और वितर्क को जगह नहीं है ॥१०६॥

अने लोकमां जवनुं हित करनार जेक धर्म न छे. तेनुं स्वरूप त्रणे कालमां बाधित थतुं नथी. आ धर्म "वस्तुनो जे स्वभाव छे जेक धर्म छे." आ प्रतीतिथी प्रतीत थाय छे. अर्द्धी स्वभावमां तर्क के वितर्कने स्थान नथी. ॥१०६॥

जिनेन्द्रचन्द्रैः प्रतिपादिताद्धि धर्मादहिंसादि मयात्स्वबोधः ।

जीवस्य तावद्भवति स्वरूपात्सः स्यान्मुमुक्षुः स्वहिताभिलाषी ॥१०७॥

जिनेन्द्र चन्द्र के द्वारा कहे गये अहिंसादिरूप धर्म से जीव को अपना बोध होता है. और जिसे अपना बोध हो गया है ऐसा वह स्वहिताभिलाषी जीव ही मुमुक्षु होता है ॥१०७॥

जिनेन्द्रजी यंत्रे कहेल अहिंसादी धर्मथी जेवने पोतानो बोध थाय छे अते जेने पोतानो बोध थई गयो छे, जेवो जे स्वहिताभिलाषी जेव जे मुमुक्षु थाय छे. ॥१०७॥

॥ धर्म भावना समाप्त ॥

उक्ता इमे द्वादश भावना ये पुनः पुनश्चेतसि भावयन्ति ।

ते भव्यवृन्दाः सततं विरागोत्कर्षान्न मार्गाच्छिथिला भवन्ति ॥१०८॥

कही गई इन १२ भावनाओं को जो भव्यजीव बार बार अपने हृदय में धारण करते हैं अर्थात् इनका चिन्तन करते हैं—वे निरन्तर वैराग्य के उत्कर्ष होते रहने से कभी भी गृहीत जैन मार्ग से शिथिल नहीं होते हैं ॥१०८॥

कहेवाभां आवेस आ १२ बार भावनाज्येने जे लव्य जेव बार बार पोताना हृदयभां धारण करे छे. अटवे के जेतुं चिंतन करे छे ते निरन्तर वैराग्यनो उत्कर्ष थतो रहेवाथी पोते गृहीत जैन मार्गथी क्यारे पण शिथिल थता नथी ॥१०८॥

इत्थं श्रीपति पूज्यपाद गुरुदेवानां मुखाद्दुग्ताम्,

श्रुत्वेमां खलु भारतीं हितवहां मोदप्रकर्षं वहन् ।

हेमोज्यं गतवान् स्वसद्भवगुरुं नत्वाऽऽचरत्सादरम्,

न्यायोपार्जितवित्तमित्ररसिकः सागारधर्मं मुदा ॥१०९॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीपति पूज्य गुरुदेव के मुख से निकली हुई हित-कारण वाणी—को देशना को सुनकर हैमचन्द्र सेठ आनंद में मग्न होते हुए बड़े ही आदर भाव से गुरु देव को प्रणाम कर के अपने घर गये. वहाँ वे न्यायो-पार्जित वित्त वाले मित्रों के साथ २ अपने गृहस्थ धर्म के पालन करने में सावधान हो गये. ॥१०९॥

आ प्रभाणु श्रीपति पूज्य गुरुदेवना मुभारविंथी नीकणेली छितकर देशनाने सांभ-णीने हैमचन्द्र सेठ आनंद सागरभां मग्न थइने थणुा जे आदरभावथी गुरुदेवने प्रणाम करीने पोताने धेर गया त्यां तेज्या न्यायथी भेणवेला धनवाणा मित्रोनी साथे पोताना गृहस्थ धर्मना पालन करवाभां सावधान थई गया. ॥१०९॥

धर्मस्तावदयं गृहस्थनिलयस्याधारभूता शिला,
 निःस्वस्यापि जनस्य वा निधिरयं दारिद्र्यदुःखान्तकृत् ।
 एतत्सुन्दर मालयं ह्युपवनं विश्रान्तभूश्चेतसः,
 क्रोऽश्रीरुरुसश्च शीतलमही निर्वाणभूर्नेत्रयोः ॥११०॥

यह धर्म गृहस्थरूपी घर की एक आधार भूत शिला है. धनसे रहित भी जन की यह दारिद्र्य के दुःखों को चूर २ कर देने वाली एक निधि है. जीवन का यह एक सर्वोत्तम भवन है, चित्त को रमाने का-जी को बहलाने का यही एक सुन्दर उपवन है. मन की थकावट को उतारने के लिये यही एक विश्राम-भूमि है । छाती को ठंडक पहुंचाने वाली एक शीतल भूमि है. और आंखों की यही एक निर्वाण भूमि है. ॥११०॥

आ धर्म गृहस्थरूपी घरको एक आधार स्तंभ छे. धन रहित जननी पासु आ दरिद्रपणुना दुःखोने यूरेयूरा करी नापनार एक निधि छे. उपवननुं आ एक सर्वोत्तम भवन छे. चित्तने रमाउवातुं जेटवे के उपवने अडेभाववा भाटे आ एक सुंदर उपवन छे. मननी थकावटने उतारवा भाटे आज एक विश्रामभूमि छे. छातीने शीतगता पढोंवाउ-नारी आज एक शीतल भूमि छे अने आंभोनी आ एक निर्वाणभूमि छे. ॥११०॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर श्रीधामीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते
 लोकाशाहचरिते पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः सर्गः प्रारभ्यते

अथैकदा तत्त्वविदां वरेण्यो गतो गुरुणां सविधे शरण्यः ।

जहर्ष भक्त्यानतपूर्वकायः शान्तं मुनीन्द्रं प्रसमीक्ष्य हैमः ॥१॥

अर्थ—एक दिन की बात है कि हैमचन्द्र जो कि तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ माने जाते थे और दीन हीन जनों को शरण देते थे. गुरुदेव के पास गये. उन शान्त मुनिराज को देखते ही उनका पूर्वकाय भक्ति से नम्रीभूत हो गया और उनके मन में अपार हर्ष का हिलोरे लेने लगा ॥१॥

तत्त्वज्ञानीयोमां उत्तमं अने दीनहीनानेने शरण्युं—आश्रय आपनार अत्रा हेमचन्द्र श्रेष्ठ अेक द्विपस गुरुदेवनी समीपे गया. शांत्स्वभावी अे मुनिराजने अेठने तेमनुं शरीर अकृतिभावना अतिरेकधी नअ अनी गयुं अने तेमना मनमां अत्यधिक अेवा हर्षता हिलोरा आपवा लाग्या.

सदस्यवगै विनियोपचारं कृतं पृहीत्वाऽऽनतमस्तकेन ।

विधाय भक्तिं स ननाम मूर्ध्ना, गुणैः पदाब्जं प्रमदाश्रुनेत्रः ॥२॥

अर्थ—बहिले से बैठे हुए सदस्यों ने जो इनका विनयोपचार किया उसे इन्होंने अपना मस्तक झुकाकर स्वीकार किया. उस समय इनकी दोनों आंखों हर्ष के मारे डबडबा आई थीं उसी स्थिति में गदगद कंठ होकर इन्होंने गुरुदेव की भक्ति की और उसके अनन्तर उनके चरण कमलों में मस्तक नवाकर नमस्कार किया ॥२॥

पहेलेधी अेठेला सभाजनेअे तेमनी आगण विनय अताअे तेने तेमणे अस्तक नभावीने स्वीकार कर्या. ते वअते तेमनी अने अांभोमां हर्षने हिले अश्रु अरार्थ आअ्या. अे स्थितिमां गदगद कंठ तेमणे गुरुदेवनी अकृति करी अने ते पछी तेमना अरण्य कमलोमां अस्तक नभावीने नमस्कार कर्या. ॥२॥

गुरोः पदस्पर्शकृतार्थभूमिं, उपाश्रयं श्रोतृजनेन स्म्यम् ।

हैमो निरीक्ष्य क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं महानन्दमसौ बभार ॥३॥

अर्थ—गुरुदेव के चरणों के स्पर्श से जहां की भूमि कृतकृत्य हो गई है ऐसे उपाश्रय को श्रोता जनों से सुहावना-भरा हुआ-देखकर एक क्षण के लिये हैमचन्द्र को अपार-अमन्द-आनन्द हुआ ॥३॥

गुरुदेवना अरण्योना स्पर्शधी अ्यांनी भूमि कृतकृत्य अनी गर्थ अे. अेवा उपाश्रयने श्रोताजनेधी अरपूर अेठने अेक क्षण हेमचन्द्रशेठने अपार-अमन्द आनन्द अये. ॥३॥

मनोनवद्वाग्निषिद्धवृत्तिं कृत्वा स्थिरं ध्यानगतं मुनीन्द्रम् ।

मुहुर्मुहुर्ह्यानतपूर्वकायस्त्रियोगशुद्धया स ननाम मूर्ध्ना ॥४॥

अर्थ-नौ द्वारों में जिसकी वृत्ति निषिद्ध कर रखी है ऐसे अपने मन को करके ध्यान में स्थिर हुए मुनिराज को मन वचन और काय की शुद्धि पूर्वक बार २-तीन बार-उस हेमचन्द्रने अपने आधे शरीर एवं मस्तक को झुकाकर नमस्कार किया ॥४॥

नौ द्वारोंमें जैसी वृत्ति निषिद्ध करैल छे, जेना पोताना मनने स्थिर करीने ध्यानमां लीन थयेला मुनिराजने मन, वचन अने कायनी शुद्धिपूर्वक बार-बार अर्थात् त्रयुक्तार जे हेमचंद्र शेठे पोतानुं अधुं शरीर अने मस्तकने नमस्कार कर्या. ॥४॥

नमस्क्रियान्ते ह्युपविष्ट एषः, गुणानुभागी च विलोचनानि ।

संमील्य दध्मौ मुनिकायकान्तिं निरीक्ष्य त्रिते स्वमनोऽनुकूलम् ॥५॥

अर्थ-नमस्कार करके ये वहीं पर बैठ गये; चूंकि ये गुणानुरागी थे, अतः इन्होंने मुनिराज के शरीर की कान्ति को देखकर अपनी दोनों आंखों को बन्द कर लिया एवं मन में फिर इस प्रकार विचार किया ॥५॥

नमस्कार करीने ते त्यांज भेरी गया, कारण तेज्जे गुणानुरागी छता. तेथी तेभजे मुनिराजना शरीरनी कान्तिने जेईने पोतानी अने व्यांभो अंध करी अने ते पट्टी मनमां आ प्रभाणे नियार कर्यो. ॥५॥

नायं स्मरो देह समन्वितत्वात् देवोऽपि नौदारिककायवत्त्वात् ।

निशाकरोनाप्यकलंकवत्त्वादनृष्णगुत्वाद् रविरप्ययं न ॥६॥

अर्थ-शरीर सन्वित होने के कारण यह कामदेव तो हो नहीं सकता. औदारिक शरीरवाला होने के कारण यह देव भी नहीं हो सकता, अकलंक-होने के कारण यह चन्द्रमा भी नहीं हो सकता एवं असंतापकारी वाणी-वाला होने के कारण यह सूर्य भी नहीं हो सकता-तर्हि-॥६॥

शरीर युक्त होवाथी आ कामदेव तो नथी ज औदारिक शरीरवाणा होवाथी आ देव पणु नथी कलंक रहित होवाथी आ अंद्रमा पणु नथी अने संताप रहित वाणीवाणा होवाथी आ सूर्य पणु नथी. ॥६॥

कोऽयं तपस्यद्भुनकायकान्त्या समन्वितोऽपूर्वमहौजसाब्जः ।

क्षीणोऽपि देहेन तथापि सौम्ये रात्मप्रभावैर्दुर्लभ्य एषः ॥७॥

અર્થ-તબ ફિર અનૌઘી કાયકાન્તિ સે યુક્ત એવં અપૂર્વ તેજ સે વ્યાપ્ત યહ તપસ્વી કૌન હૈ. યદ્યપિ યહ શરીર સે ક્ષીણ હૈ ફિર ખી અપને સૌમ્ય પ્રભાવ સે યહ પ્રશંસનીય હૈ. ॥૭॥

તો પછી અદ્ભૂત શરીરની કાન્તિવાળા અને અપૂર્વ તેજથી વ્યાપ્ત આ તપસ્વી કાણુ છે? એકે આ શરીરથી ક્ષીણુ-દુર્બળ છે તો પણુ પોતાના સૌમ્ય પ્રભાવથી તેઓ પ્રશંસનીય છે. ॥૭॥

इत्थं वितर्काधिगतः स हेमो ध्यानोत्थितं तं मुनिवर्यमार्यम् ।

निरीक्ष्य सम्यग् नियमं ग्रहीतुं तस्यान्तिकं गन्तु मियेष भव्यः ॥८॥

અર્થ-હસ પ્રકાર કી તર્કણા મેં પડે હુણે ઊન હૈમચન્દ્ર ને ધ્યાન સે ઉઠે હુણે ઊન આર્ય મુનિવર્ય કો દેઘ્નકર ઊનકે પાસ નિયમ લેને કે લિયે જાને કા વિચાર કિયા ॥૮॥

આ પ્રમાણેના તર્કમાં પડેલા એ હૈમચંદ્રે ધ્યાનથી ઉઠેલા એ આર્ય મુનિવર્યને દૃષ્ટીને તેમની પાસે નિયમ લેવા માટે જવાનો નિચાર કર્યો. ॥૮॥

अहो ! मुनीनां महतः प्रभावात् तपोधनानां तपसुः पवित्रात् ।

ज्ञितिः पवित्रा भवतीति नूनं सत्यं तपस्याद्भुतशुद्धिहेतुः ॥९॥

અર્થ-ઓહ ! તપ હી જિનકા ધન હૈ એસે મુનિજનોં કે મહાન્ તપ કે પવિત્ર પ્રભાવ સે ભૂમણ્ડલ પવિત્ર હો જાના હૈ યહ વાત સર્વથા સત્ય હૈ. કયોં કિ તપસ્યા હી અદ્ભૂત શુદ્ધિ કા કારણ હૈ ॥૯॥

ઓહ! તપ એજ જેનું ધન છે એના મુનિજનોના મહાન્ તપના પવિત્ર પ્રભાવથી ભૂમંડળ પવિત્ર થઈ ગય છે. આ વાત અરેખર સાચી છે કેમકે તપસ્યા જ અદ્ભૂત શુદ્ધિનું કારણ છે. ॥૯॥

धन्या धम सा जगति प्रसिद्धा जाता पदन्यासवशान्मुनीनाम् ।

तीर्थस्वरूपा हि सुसाधवोऽत्र पूज्या जगत्यां न शिलोच्चयाद्याः ॥१०॥

અર્થ-વહી ભૂમિ જગત મેં પ્રસિદ્ધ ઓર તીર્થ સ્વરૂપ હોકર ધન્ય હુઈ હૈ કિ જહાં મુનિજનોં કે ચરણ પડે હૈં કયોં કિ સંસાર મેં સાધુજન હી પૂજ્ય હોતે હૈં. પહાડ આદિ નહીં ॥૧૦॥

એજ ભૂમિ જગતમાં પ્રસિદ્ધ છે અને તીર્થરૂપ બનીને ધન્ય બની છે કે આં મુનિજનોના ચરણો પડેલા છે. કેમકે-સંસારમાં સાધુજનો જ પૂજ્ય હોય છે. પહાડ વિગેરે નહીં. ॥૧૦॥

न मन्दिरेऽन्तः प्रभुरस्ति नापि पाषाणखण्डे न च शाणखण्डे ।

दृषत्समुत्कीर्णं तदाकृतौ वा न सोऽन्य शुद्धात्ममयैकरूपात् ॥११॥

अर्थ—प्रभु न मन्दिर के भीतर है, न किसी पाषाणखण्ड में है, न शाणखण्ड में है और न पत्थर के ऊपर उकेरी गई प्रभु की आकृति में वह प्रभु है, क्यों कि प्रभु तो शुद्ध आत्म स्वरूप वाले है, ॥११॥

धृश्वर डोई मन्दिरनी अन्दर नहीं, तथा पत्थरना टुकड़ाभां पशु नहीं, अण रीते शाणु षंडभां पशु नहीं अने पत्थरनी उपर डोतरवाभां आवेस प्रभुनी आकृतिभां पशु अे प्रभु नहीं डेभडे प्रभु तो शुद्ध आत्म स्वरूप अे होय छे, ॥११॥

तद्भारती सार्तिहरा जनानामभ्यस्य मानाऽल्पतरापि सम्यक् ।

आपद्धिपत्यां पतितोऽपि जन्तुः सुरक्षितोऽजायत तत्प्रभावात् ॥१२॥

अर्थ—उस देव की वह वाणी यदि थोड़ी भी जीवों द्वारा हृदयंगम अच्छी तरह से कर ली जावे तो उसके प्रभाव से आपत्ति और विपत्ति में पड़ा हुआ जन्तु—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त प्राणी अर्थात् मनुष्य सुरक्षित हो जाता है ॥१२॥

अे देवनी अे वाणी थोड़ी पशु अेवो द्वारा हृदयंगम सारी रीते करवाभां आवे तो अेना प्रभावशी आपत्ति अने विपत्तिभां पडेस अंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त प्राणी अर्थात् मनुष्य सुरक्षित थई अय छे, ॥१२॥

येषां पदन्यासपवित्रपांसु र्धराधरापीह वसुन्धराऽभूत् ।

भवेच्च तेषां हृदयारविन्दे वासः कथं स्यान्न जनः स पूज्यः ॥१३॥

अर्थ—जिन के चरणों के निक्षेप से पवित्र हो गई है धूलि जिसकी ऐसी अधरा—जिसका कोई सहारा नहीं है ऐसी—धरा—पृथ्वी भी जब वसुंधरा बन जाती है—तब जिसके हृदयकमल में उनका—गुरु—देवों का निवास है वह मनुष्य जगत्पूज्य क्यों नहीं हो जावेगा ॥१३॥

अेना अरखोना स्पर्शशी पवित्र थयेस छे धूण अेनी अेवी अधरा—अेना डोई आधार नहीं अेवी धरा—पृथ्वी पशु अयारे वसुंधरा अनी अय छे, तयारे अेना हृदय कमलभां तेभना अेहेवेनेा निवास छे अे मनुष्य जगत्पूज्य डेम नहीं अने? अर्थात् अेहे अने छे, ॥१३॥

धन्या इमे मे गुरुः पवित्राः सम्यक्त्व सद्भावयुतान्तरङ्गाः ।

भवार्णवे सेतुनिभा यदीयं सदृशनं पापविघातकृन्मे ॥१४॥

अर्थ-जिनका अन्तरङ्ग सम्यक्त्व के सद्भाव से युक्त हो रहा है ऐसे ये मेरे पवित्र गुरुदेव धन्य हैं। ये संसार रूपी समुद्र में पुल के समान हैं, इनका दर्शन मेरे पापों का विनाशक है ॥१४॥

जन्तुं अंतःकरणं सम्यक्त्वना सद्भावथी युक्तं अन्युं छे, जेनां आ भारा पवित्र गुरुदेव धन्य छे, तेज्जा संसाररूपी समुद्रमां पुलनी सरणा छे, तेमनुं दर्शन भारा पापानुं विनाशक छे, ॥१४॥

पुण्योदयेनैव मयाप्तमेतत्सदर्शनं पुण्यवतामभीषाम् ।

प्रलभ्यमानं खलु तद्वचनक्ति पुण्योदयं पूर्वमुयार्जितं मे ॥१५॥

अर्थ-पुण्यशाली इन गुरु देवों का दर्शन मैंने पुण्योदय से ही प्राप्त किया है, प्राप्त हो रहा यह दर्शन नियमतः मेरे पूर्वोपार्जित पुण्य को प्रकट करता है ॥१५॥

पुण्यशाली जेवा आ गुरुदेवतुं दर्शन में पूर्वना पुण्योदयना प्रभावथी न प्राप्त क्युं छे, प्राप्त थतुं आ दर्शन निश्चय भारा पूर्वोपार्जित पुण्यने प्रकट करे छे, ॥१५॥

युग्मम्-

पदेपदे ये खलु सन्ति दीनाः परस्वचौर्याय कृतप्रयत्नाः ।

हिंसारता वाञ्छृतभाषिणो वा पराङ्गनालिङ्गनतत्परा वा ॥१६॥

मन्ये न तैः क्वापि भवे युनीनां तपस्विनां धर्ममयात्मनां वै ।

सदर्शनं वाथ हितोपदेशोऽवाप्तोऽन्यथेदृक् प्रकृतिः कथं स्यात् ॥१७॥

अर्थ-मैं तो ऐसा मानता हूँ कि जगह २ जो दीन-हीन पुरुष हैं, दूसरों के द्रव्य को चुराने में प्रयत्नशाली जो पुरुष हैं, हिंसा करने में दत्तचित्त जो पुरुष हैं, झूठ बोलने में प्रवीण जो पुरुष हैं और परस्त्रीसेवन करने में कटिबद्ध जो पुरुष हैं इन्होंने किसी भी भव में धर्मात्मा तपस्वी मुनि महाराजों का न तो हितकारी उपदेश सुना है और न उनके पवित्र दर्शन ही किये हैं, यदि हितकारी उनका इन लोगों ने उपदेश सुना होता या उनके दर्शन किये होते तो उनकी इस प्रवृत्ति पर अङ्कुश अवश्य २ लगा हुआ होता ॥१६-१७॥

हूँ तो जेवुं मानुं छुं के-स्थणे स्थणे जेज्जा दीन-हीन पुरुषो छे, अन्यना द्रव्यने चौरवामां प्रयत्नशील न पुरुष छे, हिंसा करवामां जेजे चित्त पथेवेस छे, जुंहुं भोलवामां न पुरुष प्रवीण छे जे जे परस्त्री सेवन करवामां कटिबद्ध न पुरुष छे तेमजे इहाँ पणुं जवमां धर्मात्मा तपस्वी मुनि महाराज्जेनो हितकर उपदेश सांभण्ये नथी जेने

तेमना पत्रिषु दर्शनं पशु कर्था नथी अे तेमनो हितकर उपदेश सांबल्यो होत अगर्
तेमना दर्शनं कर्था होत तो तेमनी आ प्रवृत्ति पर अ कुश लाग्यो होत. ॥१६॥-१७॥

धन्या इमे मे गुरवो युगला स्तपोधना शान्तनिर्गम्याः ।

येषां न काये ऽपि समत्वमास्था अहो वितृष्णत्वमभीषु कीदृक् ॥१८॥

अर्थ-गुणों की कद्र करने वाले ये तपोधन मेरे गुरुदेव धन्य हैं जो कि
शान्त स्वभाव से मनोहर हैं, जिन्हें अपने शरीर में भी ममता नहीं है, और
न किसी प्रकार उसमें आस्था है, देखो-कैसी इनकी निस्पृहता है. ॥१८॥

युष्मिनी कद्र करवावाणा आ तपोधन अेवा मारा गुरुदेवने धन्य छे, के जेवो शांत
स्वभावथी मनोहर छे, जेमने पोताना शरीरमां पशु ममत्वबाव नथी अने डाई प्रकारनी
शरीरमां आस्था नथी. जुओ अेमनी निस्पृहता केनी छे ? ॥१८॥

समत्वमेषां स्पृहणीयमेव पञ्चेन्द्रियाणां विषयेष्वरागात् ।

वशत्वमन्तःकरणस्य सम्यक् विनिग्रहो ध्यानवशात्प्रतीये ॥१९॥

अर्थ-इन में जो समता है वह तो कमाल की है. स्पृहणीय है मैं ऐसी
समता को धारण करूँ ऐसी इच्छा होती है. विषयों में इन्हें राग नहीं है.
इससे ये इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त किये हैं, ध्यान के प्रभाव से मन भी
इन्हों ने अपने आधीन कर लिया है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥१९॥

तेमनामां जे समता छे ते तो स्पृहणीय छे. हुं पशु अेनी समताने धारण करी लउ
अेनी इच्छा थाय छे, विषयोमां तेमने राग नथी अथी तेमणे इंद्रियोनी उपर विजय
प्राप्त कर्था छे. ध्यानना प्रभावथी मन पशु तेमणे पोताने वश करी लीधुं छे, अेम मने
आनी थाय छे. ॥१९॥

धन्या धरेयं ह्यधरा ऽपि पादस्पर्शं समाप्यास्य जनेषु जाता ।

मान्या यथाऽप्योऽस्ति रसोपविद्ध सुवर्णभावं च विभित्तिं सम्यक् ॥२०॥

अर्थ-यद्यपि यह धरा अधर है-निःसहाय-है फिर भी इस गुरुदेव के
चरणों के स्पर्श को पाकर यह जनता में मान्य हो गई है. अर्थात् सहाय
सहित हो गई है ॥२०॥

जेके आ धरा अधर अर्थात् निःसहाय छे, तो पशु आ गुरुदेवना अरथोना स्पर्शने
प्राप्तिने आ जगतमां मान्य अनी गई छे. अेटवे के सहाययुक्त अनी छे. ॥२०॥

अत्रान्तरेऽभूद्गुरुदेववाणी आकर्षयन्ती स्थितमानवानाम् ।

मनांसि, हैमोऽपि विचारमालां विहाय तां श्रोतुमना बभूव ॥२१॥

अर्थ-इसी समय वहां बैठे हुए मनुष्यों के चित्त को आकर्षित करती हुई गुरुदेव की वाणी प्रकट हुई, हैमचन्द्र जो कि विचारों में मग्न थे अपनी विचार धारा को छोड़कर उस वाणी को सुनने के लिये उत्कण्ठित हो उठे ॥२१॥

आ समये त्यां अडेसा मनुष्योना चित्तने आकर्षण करती अवी गुरुदेवनी वाणी प्रगट थई. हेमचंद्र शेठ के अये विचारतंद्रामां उता तेअे अेकदम पोतानी विचारधाराने छोडीने अे वाणी सांभणवा तत्पर थया. ॥२१॥

दयां विना निष्फल एव ब्राह्म्याचारः शृणुध्वं हृदि संप्रधार्यम् ।

आख्यानमेकं कथयामि तावच्चित्तं स्थिरीकृत्य विचारणीयम् ॥२२॥

अर्थ-हे महानुभावो ! सुनो और सुनकर हृदय में धारण करो कि दया के विना बाहरी आचार निष्फल ही है, इस विषय में मैं आप सब को एक आख्यान सुनाता हूँ. सो उसे चित्त को स्थिर कर विचार करो ॥२२॥

हे महानुभावो ! सांभणो अने सांभणीने हृदयमां धारणु करे के दया विना अहारनेां आचार निष्फल अ छे. आ संबंधमां हुं तमेां सोने अभ्यान संभणायुं छुं तो तेने चित्तने स्थिर करीने सांभणो. ॥२२॥

आसीत्पुरा भूचर खेचराणां प्रियाऽमराणां नगरीव रम्या ।

भामाभिरामाऽप्सरसां विलासैः पूर्णा विशालाख्य पुरी विशाला ॥२३॥

अर्थ-पहिले के समय में एक विशाला नामकी नगरी थी जो बहुत बड़ी थी. भूचरों और खेचरों-देवताओं को यह अत्यन्त प्रिय थी. भामाजनों से यह अमिराम थी तथा अप्सराओं के विलासों से यह परिपूर्ण थी, अतः यह अमरावती के जैसी सुहावनी थी ॥२३॥

पूर्वकालमां अेक विशाला नामनी नगरी उती. अे धणी अे भोटी उती. भूचरो अने अेचरो-देवोने ते धणी अे प्रिय उती. अियेथी शोभित उती. तथा अप्सराअेना विलासोथी परिपूर्ण उती. ते अमरावतीना अेवी शोभायमान उती. ॥२३॥

पुण्येश्वरा विष्टरसंस्थिता हि सर्वाणि वस्तूनि विनैव यत्नात् ।

संप्राप्नुवन्तीह किमत्र चित्रं देवा अपि तांश्च भजन्त एव ॥२४॥

राकैव सर्वत्र चकास्ति तेषां सखास्ति येषां ननु पुण्यरत्नम् ।

अमायते जीवनमेव तेषां येषां सखा नास्ति च पुण्यरत्नम् ॥२५॥

अर्थ—जो पुण्य के अधिपति हैं वे बिना परिश्रम के ही समस्त वस्तुओं को अपनी गद्दी पर बैठे ही पा लिया करते हैं सो इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। ऐसे पुण्यशालियों की तो देवतक भी सेवा किया करते हैं। जिन जीवों की मित्रता पुण्य रत्न के साथ है उनके जीवन में सर्वत्र ही पूर्णिमा है—प्रकाश है और जिनकी मित्रता पुण्य के साथ नहीं है उनका जीवन अमावास्या के समान अन्धकारमय है. ॥२४-२५॥

જોવો પુણ્યના સ્વામી છે તેઓ પરિશ્રમ વિના જ સઘળી વસ્તુઓને પોતાની ગાદી પર બેઠા બેઠા જ મેળવી લે છે. તે તેમાં કોઈ આશ્ચર્યની વાત નથી એવા પુણ્યશાળીઓની તો દેવો પણ સેવા કર્યા કરે છે. જ જોવોની મિત્રતા પુણ્યયુક્ત છે તેમના જીવનમાં બધે જ પૂર્ણિમા છે. અર્થાત્ પ્રકાશ પથરાયેલ છે. અને જોની મિત્રતા પુણ્યની સાથે નથી તેતું જીવન અમાવાસ્યા સરખું અંધકારયુક્ત છે. ॥૨૪॥૨૫॥

बीजादृते नास्ति यथाऽङ्कुरस्य मूलं विना नैव च पादपस्य ।

समुद्भवो वा स्थिरता तथैव दयां विना क्वापि न धर्मजन्म ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार बीज के बिना अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती है जड के बिना वृक्ष की स्थिरता नहीं होती है उसी प्रकार दया के बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है ॥२६॥

જેમ વિના બીજ અંકુર ઉત્પન્ન થતો નથી મૂળ વિના વૃક્ષનું સ્થિરપણું થતું નથી. એજ રીતે દયા વિના ધર્મની ઉત્પત્તિ થતી નથી. ॥૨૬॥

विलोचनाभ्यां च यथाऽऽननस्य कराङ्गुलीभिश्च यथाकरस्य ।

श्रीस्त्यहंतोक्तिवशात्तथैव धर्मस्य सास्तीह न तद्विनाऽसौ ॥२७॥

अर्थ—जिस प्रकार दोनों नेत्रों से मुख की शोभा होती है, अङ्गुलियों से हाथ की शोभा होती है, उसी प्रकार दया से धर्म की शोभा होती है. दया के बिना नहीं ॥२७॥

જેમ બંને આંખોથી મુખની શોભા દેખાય છે, આંગળીયોથી હાથની શોભા જણાય છે, એજ પ્રમાણે દયાથી ધર્મની શોભા થાય છે. દયા વિના નહીં. ॥૨૭॥

दयाङ्गिनामत्र परत्र लोके सर्वत्र शान्तिं प्रददाति नित्यम् ।

एतद्विना केवलमस्ति बाह्याचारोऽसदाचारनिभः स हेयः ॥२८॥

अर्थ-दया जीवों को इसलोक में और परलोक में नित्य शान्ति प्रदान करती है. इसके बिना बाह्य जितना भी आचार है वह सब असदाचार के समान है और छोड़ने योग्य है ॥२८॥

दया श्रवणे आ लोकां अने परलोकां नित्य शान्तिं आपे छे. तेना विना नै कर्छि बाह्य आचार छे, ते अथा असदाचारनी समान छे अने त्यजना योग्य छे. ॥२८॥

दया द्विधा स्वस्य परस्य भेदात् रागाद्यभावः प्रथमा सती सा ।

सत्त्वानुकंया भवति द्वितीया तस्यां च सत्यां नियमेन चेयम् ॥२९॥

अर्थ-दया दो प्रकार की होती है एक स्वदया और दूसरी परदया. आत्मा में रागादिरूप भावों का नहीं उठना यह स्वदया है. और यही उत्कृष्ट दया है. जीवों के ऊपर जो अनुकंया है वह पर दया है; स्वदया के होने पर नियम से परदया का अस्तित्व रहता है. ॥२९॥

दया ये प्रकारनी होय छे, अक स्वदया अने भीछ परदयां आत्माभां रागादिबायोतुं न छडुं ते स्वदया छे. अने अक उत्कृष्ट दया छे. श्रवोनी उपर नै अनुकंया छे, ते परदया छे, स्वदया होय तो अवश्य परदयानुं अस्तित्व रहे नै छे. ॥२९॥

एकेन्द्रियाद्याःखलु देहिनस्ते भवन्ति जीवा निखिला भवस्थाः ।

पंचेन्द्रियान्ता गदितास्त्रसथावर इमे सन्ति विकल्पवन्तः ॥३०॥

अर्थ-जितने एकेन्द्रियादिक जीव हैं-वे सब संसारी जीव हैं. ये संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं-एक त्रस और दूसरे स्थावर ॥३०॥

बेटका अकेन्द्रियादि श्रव छे अे अथा संसारी श्रवो छे, आ संसारी श्रव ये प्रकारना होय छे. अक त्रस अने भीअ स्थावर. ॥३०॥

एकेन्द्रिया भूजलवायुवह्ने र्वनस्पतीनां च विभेदतः स्युः ।

अनेकधैषां वपुसायुशदेर्दानं प्रणीतं च जिनागमेषु ॥३१॥

अर्थ-पृथ्वी, अप्, तेजः, वायु और वनस्पति ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं. इन जीवों के और भी अनेक प्रभेद हैं. इनकी आयु, शरीर आदि का प्रमाण आगम शास्त्रों में कहा गया है. ॥३१॥

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु अने वनस्पति आ पंचा अकेन्द्रिय ज्यो है. आ ज्योना पील पञ्च अनेक बेदापलेह है. तेमनुं आयुष्य शरीर आदिनुं प्रमाण आगनेमां कहेवामां आवेक है. ॥३१॥

त्रसाश्च ते द्वित्रिचतु हृषीकै र्युतास्तथा पंचभिरिन्द्रियैश्च ।

इमे चतुर्धा गदिता दयार्हाः संकल्पतो नैव कदापि पीडयाः ॥३२॥

अर्थ-जो जीव दो इन्द्रियों से तीन इन्द्रियों से, चार इन्द्रियों से एवं पांच इन्द्रियों से युक्त हैं वे सब त्रसजीव हैं इस प्रकार ये त्रसजोव ४ चार प्रकार के हैं. ये सब दया के योग्य हैं. गृहस्थ इनकी संकल्प से हिंसा नहीं करता है ॥३२॥

जो ज्यो अे ईन्द्रियोथी त्रसु ईन्द्रियोथी, चार ईन्द्रियोथी अने पांच ईन्द्रियोथी युक्त है, ज्ये पंचा त्रस ज्यो है, आ रीते ज्ये त्रस ज्यो चार प्रकारना है. ज्ये पंचा द्याने योग्य है. गृहस्थ संकल्पथी पञ्च तेमनी हिंसा करता नहीं. ॥३२॥

इत्थं दयास्थानमसौ निरूप्य प्रस्तूयमानं तदुदन्तमूचे ।

निदर्शनोक्त्या खलु गम्यमानज्ञेयस्य पुष्टि भवतीति सम्यक् ॥३३॥

अर्थ-इस प्रकार से दया के स्थान जीव का निरूपण करके उन गुरुदेव ने प्रस्तुत दृष्टान्त के वृत्तान्त का कथन करना प्रारंभ किया. क्योंकि दृष्टान्त के कथन से गम्यमान विषय की अच्छी तरह से पुष्टि हो जाती है ॥३३॥

आ प्रमाणे द्याना स्थानरूप ज्योनुं निरूपण करीने ज्ये गुरुदेवे प्रस्तुत दृष्टान्तना वृत्तान्तनुं कथन करवानो प्रारंभ कर्यो, डेमके-दृष्टान्तना कथनथी आलु विषयनी सारी रीते पुष्टि थाय है. ॥३३॥

आसीदेकः फलिततरुभिः संकुलान्तः प्रदेशः,

पक्षिवाता कुलितविटपव्याप्त दिक्चक्रवालैः ।

पुष्पश्रेण्या वितरित सुगन्धान्धगन्धान्ध यूथः,

रम्या रामो नगर निकटे निर्झरनिर्झराम्भा ॥३४॥

अर्थ-उस नगरी के पास एक सुन्दर बगीचा था. जिसका भीतरी भाग फलयुक्त वृक्षों से सघन था. वृक्षों की शाखाएँ दूर २ तक फैली हुई थीं उन पर पक्षियों का समूह बैठा रहता था. बगीचे में खिले हुए फूलों की सुगंधि

से खिंचा हुआ भ्रमरों का समूह उन पर बैठा रहता था; इसमें एक स्वच्छ जल का झरना था. ॥३४॥

ये नगरीनी पासे एक सुंदर अगीयेो हते. जेनी अंदरतेो लाग इणवाणा अडोथी गीय हतेो, वृक्षोनी उणो हूर हूर सुधी इलायेल हती. तेना पर पक्षियोने समूह भेसी रहेतेो हतेो. अगीयाभां भीवेला कूवोनी सुगंधीथी भेयायेल अमराओनेो समूह तेनी पर भेसी रहेतेो हतेो तेभां एक योइप्पा जणनुं अरखुं हतुं ॥३४॥

काचि द्रामा तरलनयना चन्द्रिकां ह्रूपयन्ती,
कान्त्या यूनां मनसि विविधाः कल्पनाः कास्यन्ती ।
अंगाकृत्या कस्कशलतां व्यञ्जयन्ती विस्ञ्चेः,
धृत्वा कुम्भं शिरसि मदनागारभूमेश्चाल ॥३५॥

अर्थ—कोई एक स्त्री उस झरने से पानी भरने के लिये अपने घर से मस्तक पर घड़ा रखकर निकली. वह इतनी सुन्दर थी कि चन्द्रिका भी उसे देखकर लजाती, एवं तरुण व्यक्ति उसकी कान्ति से प्रभावित होकर अपने मनमें अनेक प्रकार की कल्पना करने लग जाते वह सौन्दर्य की अनुपम रचना थी. ॥३५॥

कोई एक स्त्री ये अरणाभांथी पाणी अरवा पोताना वेरथी माथा पर भेडुं राभीने नीकणी. ये स्त्री अटकी अधी सुंदर हती हे चन्द्रिका पणु तेने अेईने शरमाती अने युवान व्यक्ति तेनी रमणीयताथी आकर्षाईने पोताना मनभां अनेक प्रकारनी कल्पना करवा लागी जाता. अेना सौंदर्यनी अनुपम रचना हती. ॥३५॥

स्वैरं स्वैरं चरणकमलं निःक्षिपन्ती सलीलं,
प्रापत्तन्वी धृतकरघटोद्यानभूमिं मनोज्ञाम् ।
तस्मिन् काले श्रमपरिगतो वृद्ध एक स्तृषार्त्तः,
आगात्तत्र श्लथतनुनिधि र्यष्टिपाणिर्नैताङ्गः ॥३६॥

अर्थ—धीरे २ अपने पैरों को बढाती हुई वह तन्वी सुन्दर उस उद्यान में पहुँची. इतने में ही मार्गश्रम से थका हुआ एक वृद्ध जो कि प्यास से आकुलित हो रहा था. वहाँ पर आ गया. हाथ में उसके एक लाठी थी. कमर उसकी झुकी हुई थी ॥३६॥

धीरे धीरे पोताना उगला पधारीने ये सुंदरांगी रमणीय अेवा अे उद्यानभां पडोन्थी.

अटलाभां न मार्गानां श्रमथी थडिल ऐक वृद्ध के न तरसथी व्याकुण थड गयो हतो त्यां आन्यो. तेना हाथमां ऐक लाकडी हती. तेनी कमर नमी गर्ह हती. ॥३६॥

सान्द्रां छायां श्रमितकृशकायो विभाव्याग्रामार्गम्,
गन्तुं सोऽयं बलविरहितोऽभूत्तदानीमशक्तः ।
विश्रान्त्यर्थं निहितलकुटस्तत्र भूमौ न्यपपात्,
वृद्ध प्राणी भवति नितरामाश्रयाधीनवृत्तिः ॥३७॥

अर्थ-वह वृद्ध मार्गश्रम से थक गया था अतः घनी छाया देखकर वह वहाँ ठहर गया. आगे जाने की उसमें उस समय शक्ति रही नहीं विश्राम करने के निमित्त वह वहीं जमीन पर लेट गया. एक तरफ उसने अपनी लकड़ी रखदी. सच बात है वृद्धावस्था ही ऐसी होती है कि जिसमें पराश्रय लिये बिना काम नहीं चलता. ॥३७॥

ऐ वृद्ध पुरुष रस्ताना परिश्रमथी थाकी गयो हतो. तेथी गाढ छाया जेई ने ते त्यां भेसी गयो. आग्रणं ज्वानी तेनामां ते समये शक्ति रही नहोती थक उतारवा भाटे ते त्यां न जमीन पर सूई गयो. ऐक तरई तेजे पोतानी लाकडी भूकी दीधी साथी न वात छे के वृद्धावस्था न ऐनी हाथ छे के नमां अन्यनो सहारे दीधा बिना आवतुं नथी. ॥३७॥

पानीयार्थी दिशि दिशि भृशं शुष्ककंठस्तृषाऽसौ,
वीक्षांचके जिगमिषुरहो वाःस्थलं किन्त्वशक्तेः ।
यातुं तत्राभवदथनुत्साहचित्तः स खिन्नः,
शक्त्या लभ्ये शिथिलवपुषो दुःखदा चित्तवृत्तिः ॥३८॥

अर्थ-प्यासा तो यह था ही. अतः यह पानी की चाहना से इधर उधर पानी की तलाश करने लगा, शक्ति उसमें इतनी रही नहीं कि वह स्वयं जाकर किसी जलाशय पर पहुंच जावे. प्यास से उसका कंठ सूख चुका था उत्साह ने उससे विदा मांगली थी. ऐसी अपनी स्थिति पर वह दुःखी हो रहा था. ठीक बात है जो चीज शक्ति के द्वारा प्राप्त होने योग्य होती है उसकी प्राप्ति की यदि क्षीणशक्तिवाला कामना करे-तो उसे कष्ट के सिवाय और क्या प्राप्त हो सकता है ॥३८॥

ऐ तरस्यो तो हतो न तेथी पाणी भेगवज्वानी घरछाथी आभतेभ पाणी भाटे तपास करवा लाग्यो. तेनामां अटदी शक्ति रही न हती के पोते नहने डेई नलाशय पर पहोयी

અય. તરસથી તેનો કંઠ સુકાઈ રહ્યો હતો. તેનામાં ઉત્સાહ હતો જ નહીં તેની પોતાની અવસ્થા પર તે દુઃખી થઈ રહ્યો હતો. એ ઠીક જ છે કે જે ચીજ શક્તિથી પ્રાપ્ત થવાને યોગ્ય છે તેની પ્રાપ્તિની ઇચ્છા જે ક્ષીણ શક્તિવાળો કરે તો તેને કષ્ટ વિના પીછું શું પ્રાપ્ત થઈ શકે ? ॥૩૮॥

અમ્ભઃપૂર્ણ કલશયુગલં મૂર્ધ્નિ ધૃત્વા પ્રયાન્તીમ્,
ઘાત્રા સ્ષટ્તાં કુવકઠિનતાં પાદયોઃ પ્રાર્થયન્તીમ્ ।
વલાતુઙ્ગસ્તનભરમહામન્દગત્યા વ્રજન્તોમ્,
શ્યામાં વામામમસ્યુવર્તિં વાઽઽલુલોકે તદાઽસૌ ॥૩૯॥

અર્થ-ઉસી સમય ઉસને દેખા ફિ દેવાઙ્ગના કે જૈસી કોઈં એક સુન્દરી તરુણ નારી પાની સે ભરે હુણ દો કલશોં કો મસ્તક પર રાગ્ગર મન્દ ર મમન કરતી આ રહી હૈ. ॥૩૯॥

એજ સમયે તેણે એયું કે-દેવાંગના સરખી કોઈં એક સુંદરી પાણીથી ભરેલા બે વાસણેને મસ્તક પર રાખીને ધીરે ધીરે આવી રહી છે. ॥૩૯॥

તાં તન્વંગીં નિધિમિવ દરિદ્રઃ પ્રમોદપ્રકર્ષ,
ક્ષુત્ક્ષામો વ્યઙ્ગનમિવ મહા તુષ્ટિપુષ્ટિં વિભર્તિ ।
દૃષ્ટ્વા હિસ્મઃ પુલકિતમુખં કન્દનાદયો યથાઽમ્બાં
તદ્રદ્વૃદ્ધોઽપ્યહમિવમનાં વાકપરાં પ્રાપ શાન્તિમ્ ॥૪૦॥

જિસ પ્રકાર દરિદ્ર નિધિ કો દેખકર અપાર હર્ષ કો ધારણ કરતા હૈ, ખૂસા ખોજન કો દેખકર સંતોષ કો પ્રાસ કરતા હૈ રોના હુઆ ચાલક માંકો દેખકર પુલકિત મુખવાલા હો જાતા હૈ. ઉસી પ્રકાર ઉસ વૃદ્ધ ને ખી ઉસ તન્વંગી કો દેખકર વચનાતીત શાંતિ કો પ્રાસ ક્રિયા. ॥૪૦॥

જેમ દરિદ્ર પુરૂષ ધનભંડાર બેઠને અત્યંત હર્ષિત થાય છે. ભૂખ્યે ભોજનની સામગ્રી બેઠને સંતોષ ધારણ કરે છે. રડતું બાળક પોતાની માતાને બેઠને હર્ષિત મુખવાળું થઇ અય છે. એજ પ્રમાણે એ વૃદ્ધને પણ એ સુંદરાંગી સ્ત્રીને બેઠને અવર્ણનીય શાંતી થઇ. ॥૪૦॥

તામાકૃત્યા હૃદિ કરુણયા વ્યાપ્તચિત્તાં પ્રધાર્ય,
મર્યાઽનન્તામુપકૃતિતર્તિં બ્રહ્મણસ્તદ્વિધાતુઃ ।

वाण्याऽरोचद् भगिनि ! सुभगे ! दीनयोदन्ययात्तां,

याभ्या भे पायय कुरु कृपां देवि ! भूयाच्छुभंते ॥४१॥

अर्थ—“सुशायी आकृति में गुग बसते हैं” इस नीति के अनुसार उस वृद्ध ने उसे दयालु समझा—और उसे बनाने वाले विधाता का अनन्त उपकार माना बाद में उसने दीनता भरी वाणी से उससे ऐसा कहा कि हे भगिनि ! मैं प्यास से आकुलित हो रहा हूँ अतः मुझे दयाकर पानी पिलादे. (भगवान्) तेरा भला करेगा ॥४१॥

सुंदर आकृतिमां गुणो नसे छे. ऐ नीति अनुसार ऐ वृद्धे तेने दयालु आशी अपने तेने पनावनार विधातानो अनन्त उपकार मान्यो, ते पछी तेषु दीनतावाणी वाणीथी तेने आ प्रभाणु कहुं-हे पडेन ! हुं तरसथी अकण्ठ गयो छुं तेथी दया करीने भने पाणी पीवडावी हे लगनान् तार् भखुं करशे. ॥४१॥

श्रुत्वैवं सा झटिति कुपिता निर्निमेषाक्षियुग्मा,

ऊचेऽन्वस्त्वं किमिह पुरतो प्रेक्षसे यन्न नीरम् ।

गत्वा तत्र प्रशमय्य तृषां नातिदूरं च तत्ते,

हस्तौ पादौ विकृतिरहितौ याचसे लज्जसे न ॥४२॥

अर्थ—वृद्धे की इस बात को सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ. उसी समय वह क्रोध में भरकर उससे कहने लगी क्या तुम अन्धे हो जो पास में रहे हुए पानी को भी नहीं देख सकते हो; वहाँ जाकर अपनी प्यास बुझाओ. पानी यहाँ से बहुत दूर नहीं है; हाथ पैर भी तुम्हारे ठीक हैं. उनमें कोई खामी नहीं है फिर भी तुम पानी मांग रहे हो तुम्हें इसमें शर्म आनी चाहिये ॥४२॥

वृद्ध पुरुषनी ऐ बात सांसणीने तेने धणुं अ आश्चर्य थयुं. तेअ समये ते डोअ करीने वृद्धने कडेवा लागी शुं तुं आंधणो छुं, के नञ्जकमां रहेला पाणीने ओअ शकतो नथी ? त्यां अंधने पोतानी तरस शांत करे. पाणी अछीथी अहु दूर नथी. तभारा हाथपग पणु अरोअर छे. तेमां कंध अ आभी नथी, तो पणु तमे पाणी भागो छे ऐ आटे तभने शरभ आनवी ओअअ. ॥४२॥

वृद्धौऽवादीद्भगिनि ! दयनीयो जनोऽयं न चान्धः,

पाणी पादौ न विकृति युतौ साम्प्रतं तौ तथास्तः ।

मार्गोद्भूतश्रमपरिवशात्क्षीणसत्त्वं वपु मे,

वारिस्थानं जिगमिषुमनाः किन्तु गन्तुं न शक्तः ॥४३॥

अर्थ-वृद्ध ने कहा हे बहिन ! यह मनुष्य दया करने योग्य है. यह अन्धा नहीं है और न हाथ पैर इसके खराब हैं. परन्तु इस समय वे रास्ता चलने के कारण शिथिल हो रहे हैं. वृद्धावस्था होने से मेरा शरीर भी शक्ति हीन हो रहा है अतः मैं चाहता तो हूँ कि मैं इस झरने के पास जाकर वहाँ अपनी प्यास शान्त कर लूँ-किन्तु इस समय मैं वहाँ जाने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥४३॥

वृद्धे क्लृप्ते अरे अहेन ! आ मनुष्य दया करवा जेवो छे, जे आंधिणो नथी तेमज तेना हाथपग पणु पराय नथी. परंतु अत्यारे रस्तामां यासवाथी नरम पडी गयेस छे. वृद्धावस्था होवाथी माईं शरीर पणु क्षीण शक्तिवाणुं अनी गयुं छे. तेथी हुं धरुं तो छुं के हुं पोते आ अरुणा पासे जधने त्यां भारी तरस शांत करूं. परंतु अत्यारे हुं त्यां जध शकवाने समर्थ नथी, ॥४३॥

आकर्णैवं विकृतनयना यौवनोन्मादिनीयं,

कस्ते वंशः कुत इह समागाश्च बन्धुर्नवास्ति ।

गतव्यं किं स्थलमिति जगौ व्याकुलीकृत्य वृद्धम्,

प्रश्नैरेभि भवति शुभकार्येऽलसा मत्तवृत्तिः ॥४४॥

अर्थ-वृद्ध की इस बात को सुनकर यौवन के उन्माद से भरी हुई वह उससे पूछने लगी कि तुम किस जाति के हो यहाँ कहां से आये हुए हो घर में तुम्हारा कोई बन्धु है या नहीं तुम्हें कहां जाना है. इस प्रकार के प्रश्नों से उसने उस वृद्ध को व्याकुल बना दिया. ठीक बात है-अच्छे कार्य में मदीन्मत्त व्यक्तियोंकी चित्तवृत्ति प्रमादपतित हो जाया करती है ॥४४॥

वृद्धनी जे बात सांभणीने जुवानीनी मस्तीथी भरैली ते जे वृद्धने पूछवा लागी. के तमे कध अतना छे ? अही कयांथी आव्या छे ? धेर तभारे डाध हितेअछु छे के नही ? तभारे कयां जवुं छे ? आवा प्रकरना प्रश्नोथी तेणु जे वृद्धने अकणावी भूकेथो ठीक ज छे के-सारा कसोमां उन्मत्त व्यक्तिनी चित्तवृत्ति प्रमादथी पतित थम जय छे. ॥४४॥

जात्या शूद्रो जगति मम बन्धुर्निजः कोऽपि नास्ति,

अस्यैकाकी हतसुतकलत्रादिसंपत् यमेन ।

अन्यग्रामादहमिह समागां व्रजाभ्यन्यपुर्यां,

मित्राभ्यर्णे गिरिधरमुरारेः सुदामेव पार्श्वे ॥४५॥

अर्थ-बुद्ध ने कहा-मैं जाति का शूद्र हूँ, संसार में मेरा निज का कोई बन्धु नहीं है. मैं अकेला ही हूँ; पुत्र कलत्र आदि सब काल कवलित हो चुके

हैं. मैं दूसरे गांव का हूं. वहां से यहाँ आया हूँ. दूसरे गांव मित्र के पास कृष्ण के पास सुदामा की तरह जा रहा हूँ ॥४५॥

ते वृद्धे कर्तुं-हुं शूद्र अतनो छुं नगतमां भारो नशुकनो डोष्ठ अंधु नथी, हूं अेक दोष्य छुं स्त्री, पुत्र विगेरे अथा कणना डोणीया अनी गया छे. हूं पीअ गांमे मित्ररूप कृष्णनी पासे सुदामानी जम अशिं छुं. ॥४५॥

क्वास्ते पात्रं पिबसि सलिलं प्रत्यहं यत्र भृत्वा,
पातुं तस्मिन् हिमकरनिभं ते ददेऽम्भो यथेच्छम् ।
तस्याः श्रुत्वाऽमृतरसज्ञरस्यन्दिनीं वाचमित्थम्,
सन्तुष्टोऽभूद्ध्वजपगतपथश्रान्तिरिव तत्क्षणेऽसौ ॥४६॥

अर्थ-तब उस नारीने उससे ऐसा कहा-जिसमें भरकर तुम प्रतिदिन पानी पीते हो ऐसा वह पात्र तुम्हारा कहां है. मैं तुम्हें पीने के लिये पानी उसमें डाल देती हूँ सो जितना तुम्हें पीना हो उतना पी लेना. उसकी इस प्रकार की वाणी सुनकर वह वृद्ध इतना सन्तुष्ट हुआ कि मानों उसका मार्ग खेद सब दूर हो गया ॥४६॥

त्यारे अे स्त्रीअे तेने कर्तुं-अमां क्षरीने तमे दरशेअ पाणी पीता हो अेवुं तभारं पात्र कथां छे? हुं तमने पीना भाटेनुं पाणी तेमां नापी आपुं. तो तभारे अेटकुं पीवुं होय अेटकुं पीय वे अे. तेनी आ प्रकारनी वाणी सांअणीने अे वृद्ध अेटवो अथा पुश थयो के तेना भार्गने तभाम परिश्रम अेकदम भटि गयो. ॥४६॥

नत्वा कृत्वाऽऽननतगतं सोऽञ्जलिं द्रागुवाच,
नीरं देहि त्वमिह कृपया देवि ! पात्रं ममेदम् ।
भूमिः शय्या ह्युपधिग्धुना दोः सत्वा मेऽत्र यष्टिः
पादौ यानं गतविभवपुंसोऽत्र कोऽन्यः सहायः ॥४७॥

अर्थ-उसी समय उसने उसे नमस्कार किया और फिर हाथों की अंजलि बनाकर उसे उसने अपने मुख पर रखा और कहा हे देवि ! दयाकर इसमें पानी डाल. मेरा यही पात्र है. जमीन ही मेरी शय्या है बाहू ही मेरे लिये तकिया हैं मेरी लकड़ी ही मेरा मित्र है और मेरे ये दोनों पैर ही मेरे लिये सवारी है क्योंकि जब मनुष्य विभव हान हो जाता है तब इनके सिवाय उसका और कोई सहायक नहीं होता ॥४७॥

अब वधते तेषु तेमने नमस्कार कर्था अने ये हाथनी अंजली अनावी तेने तेषु पोताना मुण पर राणी अने कधुं हे देवी! दयाकर आमां पाणी नाथ माश् आब पात्र छे. जमीन ज भारी पथारी छे. आवडा ज भारे तडियो छे. भारी लाकडी ज भारे भित्र छे अने भारा आ भेड पगोज माश् वाहन छे. केमके ज्यारे माणुस वैभव रहित यनी अथ छे, त्यारे आना विना तेना अन्य कोछ सहायक होतो नथी. ॥४७॥

इत्युक्ते सा जललवकणैरंजलेः संपतद्भिः,

स्पृष्टाऽस्पृष्ट्या मम तनुभवेच्छाटिकैवं शशङ्के ।

तत्संपर्कादहमपि तथा वारि वा पात्रमेतत्,

वृद्धायास्मै जलवितरणाद्वाऽशुचि स्याच्च सर्वम् ॥४८॥

अर्थ-बुद्धे ने जब ऐसा कहा तो उसने अपने मनमें ऐसा विचार किया कि जब मैं इसकी अंजली में पीने के लिये पानी डालूंगी तो उसकी अंजलि से पानी के छीटे बहार पड़ेंगे और वे मेरे ऊपर आवेंगे, अतः मैं उनसे स्पृष्ट होती हुई अपवित्र हो जाऊंगी और यह मेरी पहिरी हुई धोती भी अपवित्र हो जावेगी. जल अपवित्र हो जावेगा; मेरे ये पात्र भी अपवित्र हो जावेंगे, इस तरह इस एक शूद्र बुद्धे को जल पिलाने से मेरा तो सब का सब अपवित्र हो जावेगा. ॥४८॥

अब वृद्धे ज्यारे अरे रीते कधुं, त्यारे ते स्त्रीअे पोताना मतमां अरेवो विचार कर्था हे-ज्यारे हुं तेना भोआमां पीना माटे पाणी नाथीश तो तेना भोआमांथी पाणीनां छांटा अडार पडशे अने अरे भारा पर आवशे, तेथी हुं तेनाथी स्पर्शाधने अपवित्र थछश अने आ भारी पडेरेशी साठी पणु अपवित्र थशे, पाणी अपवित्र थशे भारा आ वासणु अपवित्र थशे. आ रीते आ शूद्र पुरुषने पाणी पावाथी भारी तमाम वस्तुअे अपवित्र थछ नशे. ॥४८॥

इत्याशङ्गाकुलितहृदया सा च भङ्गयन्तरेणा

गादीत्पात्रं यदि करपुटो नाम्बु दातुं क्षमाऽहम् ।

पात्रं न्यस्तं शिरसि गलितं शीघ्रमेवं कृते स्यात्,

भंगस्तस्मात्करचरणयोस्तेच भेवात्र भानी ॥४९॥

अर्थ-इस प्रकार अपने शरीर, साड़ी और बर्तनों के अपवित्र हो जानेकी आशंका से आकुलित हृदयवाली उस गर्वीली महिलाने इस बुद्धेसे बहाना बनाकर इस प्रकार कहा कि यदि तुम खोबा बनाकर पानी पीना चाहते हो तो

मैं तुम्हें पानी नहीं पिला सकती हूँ, क्योंकि खोबा में अंजलि में पानी डालने के लिये मुझे झुकना पड़ेगा ऐसी स्थिति में मस्तक पर रखे हुए पानी से भरे पात्र-वर्तन-बहुत ही जल्दी नीचे गिर जावेंगे और इस तरह की क्रिया से तुम्हारे और मेरे हाथ पैरों में चोट आजावेगी. ॥४९॥

आ प्रभाषे पोतानुं शरीरं, साडी अने वासयौना अपवित्र थवानी शंकाथी व्याकुल हृदयवाणी अे गर्विष्ठ स्त्रीअे अे वृद्धने अडानुं कडाडीने आ प्रभाषे कुंठुं डे अे तमे भोआमां पाणी पीवानी अरुअा राणता डो तो डूँ तमने पाणी पाछ शक्रीश नहीँ. डेमडे भोआमां पाणी नापवा माटे मारे नमवुं पडे ते समये माया पर रापेस पाणीथी बरेस वाससु अेकदम नीचे पटी अय अने तेम थवा ी तमारा अने मारा लाथमां लागी अय. ॥४८॥

यस्मिन् लाभो भवति बहुला हानि संभावनाऽल्पः,

कृत्यं तत्तु अत्रचिदपि कदाचिन्न कृत्यं महद्भिः ।

एतन्मार्गो जगति विदितः किन्तु जानासि नीतेः;

वाञ्छन्त्या मे तदनु सरणं संविधेयं शुभं ते ॥५०॥

अर्थ-जिस कार्य में लाभ तो थोड़ा हो और हानी होने की संभावना बहुत हो जेसा कार्य कभी भी कहीं पर महान् पुरुषों को नहीं करना चाहिये; जगत्प्रसिद्ध यह नीति का मार्ग है। सो क्या तुम इसे नहीं जानते हो? अतः तुम्हारा हित चाहने वाली मुझे इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये. ॥५०॥

अे कार्यमां लाभ थोडा होय अने नुकसान वधु पडतुं थवानो संभव होय अेवुं काम उपारेय क्यार्थ पासु मदान् पुरोधेअे करवुं न अेअेअे. आ जगत् प्रसिद्ध नीतिनो मार्ग अे. तो शुं तमो तेने अनुसरा नहीँ? तो तमाइँ हित अरुअती मारे आ मार्गानुं अनुसरण करवुं अेअेअे. ॥५०॥

उक्तैर्वं सा विवृतवदनं गुण्ठिनं संविधाय,

अत्राजीद्धा सकलजनता सत्कृपापात्रवृद्धे ।

कृत्वोपेक्षां वदत करुणा वर्जितत्वात् किमेषः,

बाह्याचारो भवति भविनां श्रेयसे खादयाय ॥५१॥

अर्थ-इस प्रकार कह कर वह अपने खुले हुए मुख को घूंघट से युक्त करके वहाँ से चली गई, जो सकल जनता का कृपा का पात्र हो जाता है ऐसे उस वृद्ध

के ऊपर उसने उपेक्षा की अतः कहो ! क्या ऐसा बाह्याचार करुणा से रहित होने के कारण क्या आत्मा के कल्याण का कारक बन सकता है । और क्या प्राणी ऐसे कोरे बाह्याचार से अपनी उन्नति कर सकता है ॥५१॥

आ प्रभाषे क्लीने ते पोताना उवाडेवा सुप्पने धुंधटथी अंध करीने त्यांथी यादी गर्ह. जे तमास जनताना कृपापात्र पनी अय छे, जेवा जे वृद्ध पुरुषनी उपर तेणे उपेक्षा करी. तो कहे आवा बाह्याचार ह्या यिनानो होवथी आत्माना कल्याणकारक पनी शकसे ? अने शुं प्राणी आवा डारा बाह्याचारथी पोतानी उन्नति करी शके छे ? ॥५१॥

व्यावहारिककार्येषु यतनाभावहेद्गृही ।

यतनापूर्वकं कार्यं क्रियमाणं न दोषद्वत् ॥५२॥

अर्थ—व्यावहारिक कार्यों में—प्रतिदिन के कामों में—गृहस्थ का यही कर्तव्य है कि वह उन्हें यतनाचार पूर्वक करे—क्योंकि यतनाचारपूर्वक किया जाता कार्य दोषप्रद नहीं होता । प्रमाद से किया गया कार्य ही दोषदायक होता है ॥५२॥

व्यावहारिक कार्योंमें—रोजका कार्योंमें गृहस्थनुं जेव कर्तव्य छे—ते जेने यतनाचारपूर्वक करे केअडे यतनाचारपूर्वक करवामां आवेस कार्य दोषप्रद थतुं नथी. प्रमादथी करवामां आवेस कार्य दोषदायक थाय छे. ॥५२॥

दया यतनयोरस्ति, साहचर्यं स्वभावतः ।

एकस्याः खल्वभावे च द्वितीयस्या अभावतः ॥५३॥

अर्थ—दया और यतन इन दोनों में स्वभावतः साहचर्य संबन्ध है, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे का अभाव हो जाता है. ॥५३॥

दया अने यतना जे अेअमां स्वभावथी व साहचर्य संबन्ध छे. केअडे—जेअना अभावमां अीअनो पशु अभाव थछ अय छे. ॥५३॥

तेषां खलु वचनमिदं विपश्चितां नैव जायते मान्यम् ।

शास्त्रेषु यतो गदिता ह्यनुकंपा भूतहितरात्री ॥५४॥

सर्वप्राण्यनुकंपा शास्त्रे विश्वोपकारिणी भणिता ।

कुत्रापि नास्ति तस्या अपवादः कथं सा क्षेप्या ॥५५॥

सर्व भूतानुकंपा सद्व्युत्पन्ननी दृगादिदृष्टवीजम् ।

एतत्प्रभावतस्तेऽव्रतिनोऽपि स्वर्गे प्रक्रीडन्ति ॥५६॥

अर्थ—ऐसा उनका कहना विद्वज्जनों को मान्य इस कारण नहीं हो सकता है कि शास्त्रों में अनुकंपा नियम से समस्त प्राणियों के लिये हित-कल्याणकारक कही गई है। ऐसी कथनी कहीं पर भी शास्त्रों में नहीं आई है कि दया नहीं करनी चाहिये। इसलिये विश्वकल्याणकारिणी सर्वप्राण्यनुकंपा आक्षेप करने के योग्य नहीं है। यह सर्वभूतानुकंपा समस्त सद्गुणों की माता है एवं सम्यग्दर्शन आदि की उत्पत्ति में दृढ बीजरूप है, इसके प्रभाव से ही अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में आनन्द करते हैं ॥५४-५५-५६॥

अथ तेमनुं कथन विद्वानोमां अये कारणे मान्यथतुं नथी दे-शास्त्रोमां दया अये अयस्य सधणा प्राणियो माटे कल्याणकारक कहेल छे, अयुं शास्त्रोमां कथांय पणु कहुं नथी दे दया न करवी जेठअये, तेथी विश्वकल्याण करनारी प्राणीमात्र परनी अनुकंपा आक्षेप करवा योग्य नथी, आ सर्वभूतानुकंपा सधणा सद्गुणोनी जननी छे अने सम्यग् दर्शन विगरेनी उत्पत्तीमां प्रीतिरूप छे, अना प्रसावथी ज सम्यग्दृष्टिवाणो जव स्वर्गमां अविरत आनन्द करे छे, ॥५४॥५५॥५६॥

अव्रतिनोऽपि क्रमशः स्वदयया समन्विता हि भवसिन्धुम् ।

प्रशमादिभावयुक्ता नियमेन तरन्ति ते जीवाः ॥५७॥

यद्यध्यस्ति दयायां रागो बन्धस्य कारणं सोऽल्पः ।

दुष्कृतपन्नहि सोऽस्ति निविडाशुभबन्धनहेतुः ॥५८॥

पुण्यास्त्रवस्य हेतुः करुणाभावः सगस्ति जिनदेवैः ।

कथितस्तथापि जीवः तस्मादाप्तोत्ययं शुद्धिम् ॥५९॥

अर्थ—प्रशम, संवेग आदि भावों से युक्त हुए अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपनी निजकी दया के प्रभाव से ही नियमनः संसाररूपी समुद्र को पार कर देते हैं। यद्यपि दया में रागांश होता है इसलिये वह बन्धकारण बनता है, फिर भी दया पाप की तरह निविड अशुभ कर्मों की बंधक नहीं होती है। क्योंकि उसमें रागांश अल्प होता है, जिनेन्द्र देव तो करुणाभाव को पुण्य का कारण बतलाया है परन्तु फिर भी उसके अबलम्बन से जीव शुद्धि को पालेता है ॥५७-५८-५९॥

प्रशम, संवेग विगरे भावोथी युक्त थयेल अविरत सम्यग्दृष्टि जव पोतानी नीज ध्याना प्रसावथी ज निश्चय रीते संसाररूपी समुद्रने पार करी दे छे, जेठे दयामां रागांश अल्प छे, तेथी अये अन्धनुं कारणे अने छे, तो पणु दया पापनी जेठ अयेकदम अशुभ

कर्मेनी अथक् थती नथी. डेभडे तेभां सगांशअदप डेअथ छे, अनेन्द्रदेवे तो कर्णुआवने पुण्यनुं कारणु कछुं छे. तो पणु तेना अचलंअनथी अच शुद्धि पाभे छे. ॥५७॥५८॥५९॥

शुद्धया संवरमार्गे विचरन् जीवो रुग्द्धि भववृद्धेः ।

कारणभूतां स्तांस्तान् विधींश्च पश्चात् चित्तान् क्रमशः ॥६०॥

तान् परिशाटयतीत्यं मुक्तिं लब्ध्वा चिरं च नन्दयति ।

स्वात्मानं तस्माद् भोः ! भव्याः पुण्यं समुपार्जयत ॥६१॥

अर्थ-शुद्धि से जीव संवर के मार्ग में विचरण करता है. और इस कारण वह संसार की वृद्धि के कारण भूत उन उन कर्मों का निरोध कर देता है, तथा पूर्व संचित् कर्मों की निर्जरा करना रहता है; इस तरह विशुद्ध हुआ वह जीव मुक्ति को प्राप्त कर अपने आपको आनन्दित कर लेता है. इसलिये हे भव्य जीवो ! जैसे भी बने दया-पुण्य का उपार्जन करना चाहिये ॥६०-६१॥

शुद्धिथी अच संवर मार्गमां विचरे छे अने ते कारणुथी अ संसारनी वृद्धिना कारणुभूत ते ते कर्मेना निरोध करी दे छे. तथा पूर्व संचित् कर्मेनी निर्जरा करतो रहे छे. अ रीते विशुद्ध थयेअ अ अच मुक्तिने प्राप्त करीने पोताने आनन्दित करी दे छे. तेथी हे भव्य जीवो ! जेभ अने तेभ व्याइपी पुण्य भेगवी देवुं जेअंअ. ॥६०॥६१॥

पापासक्ता जीवा एतन्मार्गं च नैव विन्दन्ति ।

दाने तपसि च तेषां चित्तं चित्तं न संलगति ॥६२॥

द्यूतादिव्यसनेषु च सक्तचित्ताः प्रयान्ति ते श्वभ्रम् ।

तत्रोद्भूतां पीडां सोढ्वा सोढ्वा स्वशिरो वनन्ति ॥६३॥

अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पांचों में आसक्त हुए जीव इस संवर के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाते हैं. इसलिये दान में और तपस्या में न तो उनका मन लगता है और न द्रव्य ही लगता है, “द्यूतादि व्यसनेषु च सक्तचित्ताः प्रयान्ति ते श्वभ्रम्” अतः इस कथन के अनुसार उनका समस्त द्यूतादि सात व्यसनों के सेवन करने में ही निकलता है. अतः वे कुगति में जाते हैं और वहां की वेदना को-दुखों को सहन करते हैं ॥६२-६३॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील अने परिग्रह अ पांचेमां आसक्त थयेअ अच अ संवरना मार्गने प्राप्त करी शकता नथी. तेथी दानमां अने तपस्यामां तेनुं मन लागतुं नथी. तेभअ द्रव्य पणु लागतुं नथी. ‘द्यूतादि व्यसनेषु च सक्तचित्ताः प्रयान्ति ते श्वभ्रम्’

तेषी आ कथनं प्रमाणे तेमनो समय धूतादि साते व्यसनेना सेवन करवाभां व पसार थाय छे. तेषी तेआ कुगतिभां जय छे अने त्यांनी वेदनाने अने दुःखेने सहन करे छे. ॥६२-६३॥

येषां खलु जीवानां चित्ते नैर्वास्त किञ्चिदपि करुणा ।

तन्नाम स्मृतिमात्रा दप्यत्र भयं भवति जन्तोः ॥६४॥

अर्थ-जिन जीवों के चित्त में जरासी भी दया नहीं होती है. उनके नाम की स्मृति से भी प्राणी को भय लगता है ॥६४॥

वे जिवाना चित्तभां जरा पशु दया होती नथी. तेषु नाम याद करवाभां पशु प्राणीने उर लागे छे. ॥६४॥

दया विहीनानां खलु पापद्वर्यामपि संभवति प्रीतिः ।

तस्माज्जीवः सत्यं जीववधाल्लिप्यते पापैः ॥६५॥

अर्थ-दया से जिनका हृदय खाली है ऐसे प्राणियों की शिकार करने में प्रीति होती है। इसलिये यह बात सत्य है कि जीववध से जीव पापों से लिप्त होता है ॥६५॥

दयाथी जेतुं हृदय खाली छे अत्रा प्राणीयेने व शिकार करवाभां प्रीति थाय छे. तेषी अ नत साथी छे के-जव वधथी जव पापेथी देपाय छे. ॥६५॥

पापेभ्योऽशुभकर्माण्युगर्जयन् जीव एष नाशयति ।

पुण्यप्रकृतीस्तस्माद्दुर्गतिपात्रं भवेन्नूनम् ॥६६॥

अर्थ-यह जीव पंच पापों को करता हुआ अपनी पुण्य प्रकृतियों को नष्ट कर देता है, इसी कारण यह दुर्गति का पात्र बनता है ॥६६॥

आ जव पांच पापेने करीने पोतानी. पुण्य प्रकृतियेना नाश करे छे. तेषी व ते दुर्गतितुं पात्र अने छे. ॥६६॥

शंका - एष दयाया भावः किमस्ति माष्टुं क्षमो नु जीवस्य ।

अशुभं कर्म कथय नोचेत् किंवा प्रयोजनं तस्य ॥६७॥

अर्थ-क्या यह दया का भाव दवाह जीव के अशुभ कर्म को मेट सकने में समर्थ हो सकता है? यदि नहीं-तो फिर इसके करने का तात्पर्य ही क्या है? ॥६७॥

शुं आ द्याने भाव द्याने योग्य एवना अशुभ कर्मेनि मटाडी शकवाभां समर्थ
थुं शकं छे? जे न थछ शकं तो पछी ते करवानी जरुं शुं छे? ॥६७॥

मैवं खलु वक्तव्यं आर्त्तस्यास्य स्वकर्मफलभोगे ।

धैर्यालम्बनतः स्यात् सद्भावो नार्त्तध्यानं च ॥६८॥

अर्थ-ऐसा नहीं कहना चाहिये-क्योंकि दुःखि प्राणी को अपने कर्म के फल को भोगने में दया का सहारा मिलने से धैर्य प्राप्त होता है, अतः उसके सहारे से वह सद्भाव पूर्वक अपने दुःख को भोगता है. उसे उसके भोगने में आर्त्तध्यान नहीं होता है ॥६८॥

अपुं कहेवुं न जेधजे. उभेके-दुःखी प्राणीयाने पोताना कर्मना श्य भोगववाभां द्याने टेका भगवाथी धीरज आवे छे. तेथी तेना टेकाथी ते सद्भावपूर्वक पोतानुं दुःख भोगवे छे. तेने जेना भोगववाभां आर्त्तध्यान थतुं नथी. ॥६८॥

इत्थं धैर्याद् भोक्तुः स्वकृतकर्मणः फलस्य संभोगे ।

अशुभास्रवस्य रोधात् शुभास्रवस्यैव संप्राप्तिः ॥६९॥

अर्थ-इस प्रकार अपने द्वारा किये गये धैर्य पूर्वक कर्म के फल के भोगने में भोक्ता को अशुभ कर्म का निरोध हो जाता है और शुभ पुण्य की ही उसे प्राप्ति होती है. ॥६९॥

आ प्रभाषे पोते करेला कर्मना श्यने धैर्यथी भोगववाभां भोगवनारना अशुभ कर्मेनि निरोध थछ अथ छे. अने शुभ पुण्यनी तेने प्राप्ति थाय छे. ॥६९॥

शुभप्रणालिकया सः शनैः शनै रत्नशोधने मार्गे ।

आरूढः सन् मुक्तिं लभते करुणा प्रभावोऽयम् ॥७०॥

अर्थ-शुभ पुण्य रूप प्रणाली के द्वारा धीरे धीरे वह जीव आत्मा को शोधने वाले मार्ग में आगे बढ़ता हुआ मुक्ति को प्राप्त कर लेता है. यही करुणा का अन्तिम प्रभाव है ॥७०॥

शुभ पुण्य रूप प्रणाली-नीकथी धीरे धीरे जे एव आत्माने शोधवाना मार्गभां आगण वधीने मुक्ति प्राप्त करी ले छे. जेन कश्चानो अन्तिम प्रभाव छे. ॥७०॥

न वर्ततेऽस्मिन्नह भारताख्ये क्षेत्रे कलौ कोऽपि च केवलीद्धः ।

तथापि स्तत्रयथास्मिन्स्ते सन्त्यत्र तन्मार्गता मुनीन्द्राः ॥७१॥

अर्थ—यद्यपि इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में कोई केवलज्ञानी आत्मा नहीं है, फिर भी उनके मार्ग में वर्तमान-लवलीन-रत्नत्रयधारी मुनिराज तो हैं ॥७१॥

लेख आ भरत क्षेत्रमां आ पंचम कालमां कौं डेवणज्ञानी आत्मा अस्तित्वमां नथी तो पणु तेना मार्गमां त्रियरनारा रत्नत्रयधारी मुनिराजे तो छे न. ॥७१॥

तद्वाचमालम्ब्य हितैषिभिस्तन्निर्णय तत्त्वं स्वहितं विधेयम् ।

श्रेयोऽस्ति तेषामतिचर्चिनां नो यतो मुनीनां वचनं प्रमाणम् ॥७२॥

अर्थ—अतः उनके वचनों पर विश्वास करके दयारूप तत्त्व का निर्णय करके प्राणी को अपना हित करलेना चाहिये. जो व्यक्ति व्यर्थ का क्षोद विनोद करते हैं उनका कल्याण नहीं हुआ करता है. क्योंकि मुनियों के वचनों में अप्रमाणता नहीं आती है । ७२॥

तेथी तेमना वचनो पर विश्वास राणीने दयारूप तत्त्वो निर्णय करीने प्राणिये पोतानुं हित साधी देवुं लेखजे. ले व्यक्ति व्यर्थेन आनंद प्रमोद करे छे, तेमनुं कल्याणुं थेतुं नथी डेमडे मुनियोना वचनोमां अप्रमाणुपणुं आवतुं नथी. ॥७२॥

श्रवोऽमृतस्यन्दिनमित्थमस्य श्रुत्वोपदेशं भवनं जगाम ।

गुरो हि मेन्दु हृदयेन शंसन् तं श्रावकैः श्राविकया समेतः ॥७३॥

अर्थ—कानों में अमृत बहाने वाले गुरुदेव के उपदेश को सुनकर हैमचन्द्र उसकी हृदय से अनुमोदना करते हुए अपनी श्राविका और श्रावकों से युक्त होकर—अर्थात् उनके साथ—अपने घर की तरफ चल दिये ॥७३॥

कानोमां अमृत बहेवडावनार गुशेवना उपदेशने सांलणीने हेमचन्द्रशेठ हृदयथी तेने अनुमोदन आपता थका पोतानी श्राविका अने श्रावकोनी साथे पोताने घेर नना यासता थया. ॥७३॥

रागद्वेषौ वचसि भवतः कारणं ह्यप्रमायाः,

सद्युक्त्या तौ प्रलयमुपयातौ नरे वीतरागे ।

तस्मात्तस्यातिविमलमते बाधकं नास्ति किञ्चित्,

स्वेषं मानं तदविषयतो जैनमार्गोऽस्तदोषः ॥७४॥

अर्थ—उन्होंने विचार किया—कि राग और दोष ही वचन में अप्रमाणता के कारण होते हैं, वीतराग पुरुष में इनका सर्वथा अभाव होता है यह बात शास्त्र कल्पित नहीं है. क्योंकि युक्ति से यह बात उनमें प्रतिष्ठित की गई है,

अतः अतिशय विमलमति वाले-सर्वज्ञ का कोई भी प्रमाण बाधक नहीं होता है. आत्मा रागद्वेष के अभाव में सर्व पदार्थ का ज्ञाता दृष्टा हो जाता है. इस बात का विरोधी कोई भी प्रमाण नहीं मिलता है. क्योंकि वह प्रमाण-अभाव प्रमाण उस सर्वज्ञ को विषय नहीं करता है. अतः वह उसका बाधक नहीं हो सकता है. इसलिये जैनमार्ग निर्दोष है ॥७४॥

तेमणु विचार कर्यो डे-राग अने द्वेष अ वचनमां अप्रमाणिकपाणामां कारण थाय छे. वीतराग पुत्रपमां तेने भिदुक्क अभाव होय छे. आ वात केवण कल्पना मात्र नथी परंतु युक्तिथी अ वात तेनामां स्थापित करवामां आवी छे. तेथी अत्यंत निर्भण युद्धिवाणा सर्वज्ञने डोछ पणु प्रमाणु आधक थतुं नथी. आत्मा रागद्वेषना अभावमां सर्व पदार्थना ज्ञाता अने दृष्टा अनी अय छे. आ वाततुं विरोधी डोछ पणु प्रमाणु भणतुं नथी. डेभडे अ प्रमाणु अटवे डे अभावतुं प्रमाणु अ सर्वज्ञने विषय करतुं नथी. तेथी अ तेनुं आधक थथ शकतुं नथी. तेथी अ जैन मार्ग निर्दोष छे. ॥७४॥

वीतरागस्य सन्मार्गे रागद्वेषादयोऽखिलाः ।

दोषा ध्वस्ताः नु सेवन्ते तं मार्गं गतस्पृहाः ॥७५॥

अर्थ-वीतराग का मार्ग निर्दोष होता है. इसमें रागद्वेष आदि दोषों के लिये स्थान ही नहीं है. जो जीव निस्पृह होते हैं वे ही इस मार्ग का सेवन करते हैं ॥७५॥

वीतरागने मार्ग निर्दोष होय छे, तेमां रागद्वेष विगेरे दाषेने स्थान अ नथी. अ अणु स्पृहारहित होय छे, अणु अ मार्गतुं सेवन करे छे. ॥७५॥

विषयाशावशातीता स्त्यक्तारंभपरिग्रहाः ।

आढ्या महाव्रतैरीर्या समित्याद्यभिसंभृताः ॥७६॥

मुनयोऽस्तंगतदोषत्वान्छ्रेयवचना हि ते ।

मुनिवचनविश्वासः, परमं भंगलं मतम् ॥७७॥

अर्थ-मुनिजन पंचेन्द्रियों के विषयों की वाञ्छा से रहित होते हैं आरंभ और परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं, पांच महाव्रतों के पालक होते हैं, एवं ईर्या समिति आदि पांच समितियों से युक्त होते हैं. प्रत्येक प्रवृत्ति में अन्यथापन लानेवाले दोषों से वे रहित होते हैं. इसलिये इनके वचन आत्म हितैषियों के लिये विश्वास करने योग्य होते हैं. मुनि वचनों का विश्वास ही जीवों को परम भंगलरूप माना गया है ॥७६-७७॥

• मुनिजन पंचेन्द्रियोना विषयोनी ध्येया रहित होय छे, आरंभ अने परिग्रहना उभेसां त्यागी होय छे. पांच महाव्रतोना पाबक होय छे, तथा ईर्या समिति विगेरे पांच, समितियोथी युक्त होय छे, दरेक प्रवृत्तिमां अन्यथापणुं वाचनास दोषोथी तेओ रहित होय छे. तेथी तेमनी वाणी आत्महितेरुओओे विधास करवा योग्य होय छे. मुनियोना वयनोमां विधास अ एओे माटे परम भंगणरूप मानवामां आवेस छे. ॥७६-७७॥

अन्यथा भाषणस्यात्र कारणं न च किंचन ।

कारणाभावतस्तस्मात्प्रमाणं साधुदेशना ॥७८॥

अर्थ-मुनिजन जो उपदेश देते हैं-वह झूठा देते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता-क्योंकि अन्यथा भाषण करने का वहाँ कोई कारण नहीं है. अतः उनका वह उपदेश स्वयं में प्रमाण भून ही होता है ॥७८॥

मुनिजन के उपदेश आपे छे, ते ओटा आपे छे, ओम नथी. केभडे-विपरीत बापणु करवानुं तेमने डोअ कारण नथी. तेथी तेमने ओ उपदेश स्वयं प्रमाणरूप अ होय छे. ॥७८॥

धन्यावनिः साऽभ्युषिता पवित्रैः महाव्रताराधनतत्परै स्तैः ।

दया दमत्यागवयस्य युक्तैः परोपकारप्रवणैः मुनीन्द्रैः ॥७९॥

अर्थ-स्वयं में पवित्र, महाव्रतों की आराधना करने में तत्पर दया, दम एवं त्यागरूप भिन्नों से युक्त और दूसरे जीवों की भलाई करने में प्रविण ऐसे मुनिजनों से जो भूमि युक्त हो जाती है वह धन्य है ॥७९॥

स्वयं पवित्र, महाव्रतोनी आराधना करवामां तत्पर दया दम त्यागरूप भिन्नोथी युक्त अने श्रीअ एओेनी अवाध करवामां प्रवीण ओवा मुनियोथी के भूमि युक्त थाय छे, तेने धन्य छे. ॥७९॥

वचांसि तेषां हृदि संप्रधार्य जनाः स्ववृत्तिं खलु येऽपि केऽपि ।

कुर्वन्त्यदुष्टां विहितोपदेश समन्वितां ते सुखिनो भवन्ति ॥८०॥

अर्थ-जो कोई भी मनुष्य उनके उपदेश को हृदय में धारण करके अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाते हैं और जैसा वे कहते हैं उसके अनुसार अपने आपको सुधार लेते हैं वे ही सुखी होते हैं ॥८०॥

के डोअ मनुष्य तेमना उपदेशने हृदयमां धारण करीने पोतानी प्रवृत्तिने निर्मल बनावे छे, अने ओवुं तेओे कहे छे ते प्रमाणे पोताने सुधारी वे छे ओअ पुरुष सुभी थाय छे. ॥८०॥

धर्मासृतं पान्ति पिबन्ति येऽन्यान् तं पाययन्तीह वसुंधरास्थान् ।
दृग्बोधवृत्तैर्निचिताः शरण्याः शिवैषिणस्ते गुह्यः सुसेव्याः ॥८१॥

अर्थ-जो गुरुजन परम्परा से चले आये धर्मरूपी अमृत की रखवाली करते हैं, उसे स्वयं पीते हैं और पृथ्वी मंडल पर स्थित दूसरे जीवों को भी उसे पीने के लिये देते हैं ऐसे वे गुरुजन जो कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य से भरे हुए हैं, दूसरे जीवों के रक्षक हैं, एवं शिवैषी-स्व पर के कल्याण की कामना वाले हैं अवश्य ही सुसेव्य हैं ॥८१॥

जो गुरुजन परंपरायी आसता आवेता धर्मरूपी अमृतनुं रभेवाणुं करे छे तेने पीते पीवे छे, अने पृथ्वीमंडल पर रहेला अन्य जीवोने पाशु ते पीवा मारे आपे छे, अवा सम्यग्ज्ञान, दर्शन अने चारित्र्यी भरेला गुरुजन पीअ जीवोना रक्षक अने छे. अने शिवैषी-स्व परना उदयाणुनी कामनावाणा छे तेओ अत्रश्य सेववाने योग्य छे. ॥८१॥

त्रैलोक्योदवर्तिजीवनिवहान् प्रत्यस्ति येषां दया,

मा भूत्कोऽपि च दुःखभागजगति जीवः स्यात्सदा मोदभाक् ।

युक्ता भावनयाऽनया च करुणा व्याप्तान्तरङ्गाश्च ते,

न स्युः सद्गुह्यः कथं ननु भवलोकोऽयमात्मस्थितः ॥८२॥

अर्थ-तीन लोक के भीतर रहे हुए समस्त जीवों के प्रति जिन्हें दया है और जिनकी सदा कोई भी जीव दुःखी न हो ऐसी भावना रहती है. तथा जिनके भीतर निरन्तर दया का प्रवाह बहता रहता है, ऐसे गुरुदेव यदि यहां न हों तो यह लोक अपने निज स्वभाव में स्थित कैसे रहता ॥८२॥

त्रेषु लोकमां रहेला सधणा जीवो प्रत्ये जेभने दया छे, जेभनी भावना सदा कोरुपणु जीव दुःखी न थाय अनी होय छे, तथा जेभनी अंदर अवरित दयानो प्रवाह चहेतो रहे छे, अवा गुरुदेव जे अक्षीं न होय तो आ लोक पोताना निज स्वभावमां डेवी रीते स्थित रहेत ? ॥८२॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥८३॥

अर्थ-अज्ञानरूपी तिमिर से अन्धे हुए जीव की अन्तरङ्ग-आंखों को जिन्होंने ज्ञानरूपी अंजन की शलाई से खोला है ऐसे उन गुरुदेवों को मेरा नमस्कार हो ॥८३॥

अज्ञानरूपी अंधकारधी अंध धयेव लुवनी अंतरंग आंघोने जमले ज्ञानरूपी आंघलुनी सणीथी थोली छे. अना अे युद्धेयोने भास नभस्कार छे. ॥८३॥

पुगतनोक्त्या ह्यनया गुरूणां प्रभाव आवेद्यत एव सम्यक् ।

गुरु मुनीनां भवसिन्धुमग्नजीवान् समुद्धर्तुमथ क्षमाणाम् ॥८४॥

अर्थ-गुरुदेव के सम्बन्ध में कही गई इस प्राचीन उक्ति से गुरुओं का महान् प्रभाव अच्छी तरह से प्रकटित किया गया है अतः भवसिन्धु में डूबे हुए जीवों को गुरुदेव ही पार उतारने में समर्थ होते हैं ऐसा ही उनका अनुपम प्रभाव है ॥८४॥

युद्धेवना विषयमां डहेव आ प्राचीन उक्तिथी युद्धेयोने महान् प्रभाव सारी रीते प्रगट करवामां आवेव छे. तेथी भवसिन्धुमां डूबेवा लुवोने युद्धेव न पार उतारनामां समर्थ छेव छे. अयो न तेभेनो अनुपम प्रभाव छे. ॥८४॥

मुनीन्द्र नामस्मरणादपीह जनस्य पापानि क्षयं व्रजन्ति ।

दानप्रदातुर्यमिने च तस्मै संसारभावोऽपि कथं न नश्चेत् ॥८५॥

अर्थ-जब मुनीन्द्र नाम के स्मरण से ही स्मरणकर्ता के पाप नष्ट हो जाते हैं तो जो जन इन मुनिराजों को दान प्रदान करता है उसका संसारभाव क्यों नहीं नष्ट हो जायगा अर्थात् अवश्य नष्ट हो जावेगा ॥८५॥

अथारे मुनीन्द्र अे नामना स्मरणथी न स्मरण करारना पापे नाश पावे छे, तो नै पुश्च अे मुनिराजेने दान प्रदान करे छे, तेनो संसारभाव डेव नाश नही पावे अर्थात् अवश्य नाश पावशेव. ॥८५॥

ते किं गृहाः किं ग्रहिणोऽपि ते ऽपि मुनीन्द्रचन्द्रा न चरन्ति येषाम् ।

अन्तश्च चित्तेषु समस्वभावा, शत्रौ च मित्रे मणिकाञ्चनादौ । ८६॥

अर्थ-वे कुत्सिन गृह हैं और वे कुत्सिन गृहस्थ हैं कि जिनके भीतर और चित्त में शत्रु मित्र में, मणि काञ्चन और पहाड में सम स्वभाववाले मुनिचन्द्र नहीं जाते हैं ॥८६॥

अे कुत्सित घर छे, अने अे कुत्सित गृहस्थ छे डे जेनी अंहर अने चित्तमां शत्रु मित्रमां, मणि अने सोनुं अने पहाडमां सरणा स्वभाववाणा मुनिंद्रो जाता नथी. ॥८६॥

सा का विभूति रथवाऽपि च को गुणो वा

लोके च किं तदिह शं न वशं प्रयाति ।

दातुः प्रदानजनितो यदि पुण्यमंत्रः

आस्ते जगत्त्रयवशीकरणे समर्थः ॥८७॥

अर्थ-नीनों लोगों को बश करने में समर्थ ऐसा पात्रदान जन्य पुण्य यदि दाता के पास में है तो ऐसी कौनसी विभूति है, ऐसा कौनसा गुण है और कौनसा ऐसा सुख है जो उसे प्राप्त नहीं होता ॥८७॥

त्रये वेदिने वश करामां समर्थं अत्रा पात्रदानथी तथेव पुण्य जे दातानी पासि छे, तो अत्री कर्ष विभूति छे, अत्रो कथो गुणु छे, अने क्युं अत्रुं सुख छेडे के तेने प्राप्त न थर्ष शके ? ॥८७॥

संसारदावानलदग्धजीवैः प्रलभ्यतेऽश्विपमौषधं तत् ।

यत्सेवनाज्जन्मजरादि रोगा यान्ति क्षयं जन्मवतां यपिभ्यः ॥८८॥

अर्थ-उत्तम पात्र मुनियों को सेवा-शुभूया से संसाररुही दावानल से संतप्त हुए प्राणी ऐसी सर्वोत्तम दानरुही औषधि प्राप्त कर लेते हैं कि जिसके सेवन से उनके जन्म जग आदि रोग नष्ट हो जाते हैं ॥८८॥

उत्तम पात्र मुनियोनी से ॥-सुश्रूपाथी संसाररुपी दावानलथी तथेवा प्राणी अत्री सर्वोत्तम दानरुपी औषधि प्राप्त करी वे छेडे-जना सेवनथी तेना जन्म जरा विगेरे रोगो नाश पावे छे. ॥८८॥

दानाय वित्तं व्रतधारणार्थं वपुः श्रुतं ज्ञानवतां शमाय ।

एतद् यदुक्तं तत्सत्यमेव स्वजन्मनाऽनेन समर्थितं यत् ॥८९॥

अर्थ-दान के लिये धन, व्रतधारण करने के लिये शरीर और शम-शान्ति के लिये श्रुत ज्ञानिजनों का होता है, ऐसी बात जो कही गई है वह बिल्कुल सत्य है इसका समर्थन ज्ञानी महात्माने अपने जन्म से किया है. ॥८९॥

दान भाटे धन व्रत धारणु करवा भाटे शरीर अने शान्ति भाटे श्रुतज्ञानिजनोनुं डेवुं अत्री के बात कहेनामां आवी छे, ते अिदुक्त सत्य छे. अत्रुं समर्थन ज्ञानी महात्माजे पोनाना जन्मथी करैव छे. ॥८९॥

यतीन्द्र दानेन च जायमानात्पुण्याद्रमा वर्धत एव नित्यम् ।

सद्दृष्टिपुंसस्तटिनीव कीर्त्या सत्रा सुवृष्ट्या जलदागमेन ॥९०॥

अर्थ-उत्तम पात्र मुनि महाराजों के लिये दिये गये दान से जायमान पुण्य से सम्यग्दृष्टि जीव के यहां सर्वदा कीर्ति के साथ २ लक्ष्मी की वृद्धि होती है, जैसे कि वर्षाकाल में हुई सुवृष्टि से नदियों में वृद्धि होती है ॥९०॥

उत्तमपात्र मुनिमहाराजओ भाटे आपनामां आवेवा दानथी थनारा पुण्यथी सम्भ्य-दृष्टि अत्रने त्यां सदासर्वदा कीर्तिनी साथे साथे लक्ष्मीनी वृद्धि थाय छे. केभडे वर्षाकालमां थयेव सुवृष्टिथी नदीथोमां वधारे थाय छे. ॥९०॥

भूम्युत्तमीजमिव पात्रगतं सुदानं काले ह्यनल्पफलमेव ददाति पात्रे ।
सत्पात्रदानशुभकृत्यविधौ गतेयं लक्ष्मीरुदेति वटवीजमिवा द्वितीया ॥९१॥

अर्थ-जिस प्रकार भूमि में बोया गया बीज समय पर बहुत फल देता है उसी प्रकार पात्रगत दान भी अपने उदयकाल में दाता को सर्वोत्तम फल प्रदान करता है; सत्पात्रों को दान देने रूप शुभकार्य में लगाई गई लक्ष्मी वटबीज की तरह अद्वितीय होकर दाता के पास आती रहती है ॥९१॥

ॐ प्रमाणे भूमीमां ववेष श्री समयथये सार्ं इण आपे छे. अत्र प्रमाणे पात्रने आपेक्ष दान पणु पोताना उदयकागमां दाताने सर्वोत्तम इण आपे छे. सत्पात्रेने दान देवाइप शुभ कार्यमां लगावनामां आपेक्ष लक्ष्मी वडना श्रीनी नम अद्वितीय थर्छने दातानी पासे आवती रहे छे. ॥९१॥

इत्थं सद्भावनाभिः सुभरितहृदयः स्तूयमानो जनौघैः

गच्छन्प्रार्गेष्वलामिर्ललितपदलसेद् गीतिभिर्वीक्ष्यमाणः ।

पांसुक्रीडां चरद्भिर्बहुतरचपलैर् बालकैर् दत्तमार्गः,

सोऽयं हैमो निशान्तं निगमजनसमूहैः स्तुतश्चाज्जगाम ॥९२॥

अर्थ-इस प्रकार की सद्भावनाओं से जिनका हृदय अच्छी तरह भरा हुआ है ऐसे वे हैमचन्द्र मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होते हुए अपने घर पर आ गये. जब वे घरकी ओर आ रहे थे-उस समय रास्ते में गोतों को गाती हुई एवं लीलापूर्वक चली आ रहीं महिलाओं ने उन्हें देखा था तथा गलियों में जो बालक खेल रहे थे और अधिक चपल थे उन्होंने भी उन्हें रास्ता दिया था. आते हुए उन्हें देखकर वहां के निवासियों ने भी उनके सम्बन्ध में आपस में उनकी प्रशंसा की थी ॥९२॥

आ प्रमाणेनी सद्भावनाथी ननुं हृदय सारी रीते भरेश छे अथा अ हेमचंद्र मनुष्यो द्वारा प्रशंसित थर्छने पोताने घर आवी गया. अयारे तेअा घर तरश् आवी रवा हता, अे समये रस्तामां गीतो गाती अने लीलापूर्वक यावती आवती श्रीअेतेमने अेया हता, तथा गलियोमां न्ने आणंका अेशता हता अने अधिक चपल हता तेमणु पणु तेअेने रस्ते आपेया हतो. आवता अेया तेमने अेर्छने त्यांनः रहेवासीयोअे पणु तेमना संबंधमां परस्पर तेमनी प्रशंसा करी. ॥९२॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिया हर श्रीवासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥

अथ सप्तमः सर्गः प्रारभ्यते-

अथास्य हैमस्य सुधर्मपत्नी गर्भदधाना सुदतीराज ।

सा भारतीवातिगभीरमर्थं शार्दूलपोतं गिरिगह्वरेव ॥१॥

अर्थ-अत्यन्त गंभीर अर्थ को धारण करनेवाली भारती के समान एवं सिंह शिशु को धारण करनेवाली पर्वतीय गुफा के समान हैमचन्द्र सेठ की वह सुन्दर चमकीले दांतोंवाली धर्मपत्नी गंगादेवी गर्भ को धारण करती हुई सुशोभित हुई ॥१॥

अत्यन्त गंभीर अर्थने धारण करवावाणी भारती-विद्यानी समान अने सिंढना अन्व्याने धारण करनारी पर्वतनी गुफानी भाङ्क सुन्दर चमकदार दांतोंवाणी हेमचन्द्रसेठनी धर्मपत्नी गंगादेवी गर्भने धारण करीने शोभायमान अनी. ॥१॥

पौरंदरी गौरिव सूर्यगर्भावेलेव वाधर्मणिमण्डल्या ।

वर्मा सगर्भा सरसीव गंगाऽप्यंमोजिनी सा हिमचन्द्रकान्ता ॥२॥

अर्थ-गर्भवती वह हैमचन्द्र की पत्नी गंगादेवी उस समय ऐसी सुहावनी लगती थी जैसी कि सूर्य के गर्भ में रहने पर पूर्वदिशा सुहावनी लगती है तथा मणिमण्डल से युक्त जैसी समुद्र की वेला-तट सुहावनी लगती है, और जैसी पद्मवाली छोटी तलैया सुहावनी लगती है ॥२॥

हेमचन्द्रसेठनी सर्गभा पत्नी गंगादेवी अे समये अेवी शोभायमान लायती हती के अेव सूर्य गर्भमां आववाथी पूर्वदिशा शोभायमानु लागे अे, तथा मणिमण्डलथी युक्त अेव समुद्रनो किनारो सोभायमानु लागे अे. अने कमणोवाणुं नामुं सरारो सोभायमानुं लागे अे. ॥२॥

ममादराद्रीक्ष्य बभूव सार्था दृष्टिः स्वभर्तुः सफलेति मत्वा ।

निःस्वेन सा लब्धमहार्घरत्ना स्वगर्भसंरक्षणतत्पराऽभूत् ॥३॥

अर्थ-जिस प्रकार कोई गरीबिनी-निर्धन नारी कि जिसे बहुत कीमती रत्न मिल गया हो उस प्राप्त रत्न की संभाल में तत्पर बनी रहती है उसी प्रकार वह गंगादेवी भी यह समझकर कि मुझे गर्भवती देखकर मेरे पतिदेव मेरा बहुत ही आदर करते हैं और अपनी दृष्टि को सार्थक एवं सफल मानते हैं अपने गर्भ की रक्षा करने में सदा तत्पर रहने लगी. ॥३॥

अेव डोअ गरीब निर्धन नारीने धणुं अे मुदयवान् रत्न भणी गयुं हेय अे भणोअ रत्ननी संभाल राअवामां उदुक्त रहे अे, अेव प्रभाणु अे गंगादेवी पाणु अेव समणुने अे

भने सगर्भावस्थां गर्भिणीने भारा पतिदेव भारे धरौ ७ आदर करे छे, अने पोतानी दृष्टिने सार्थक अने सङ्ग माने छे, अम भानीने पोताना गर्भानुं रक्षणु करवांमां सदा तत्पर रहेती छती. ॥३॥

दिनेषु गच्छत्सु कियत्सु तस्या गर्भस्य तथ्यस्य निवेदकानि ।

प्रत्यक्ष गम्यानि बभार चिह्नान्यसौ स्वनाथाहृतचित्तवृत्तेः ॥४॥

अर्थ-जब कितनेक दिवस व्यतीत हो चुके तब गर्भ होने की सच्चाई को प्रत्यक्ष रूपसे स्पष्ट बतानेवाले चिह्न गंगादेवी में प्रकट हुए इन चिह्नों-लक्षणों को देखकर उनके पति हैमचन्द्र त्रेष्ठी का मन बड़ा ही प्रफुल्लित रहेने लगा. ॥४॥

अधारे डेटवाक दिवसो वीति गया त्तारे गर्भ रहेवानी सत्यताने प्रत्यक्षपणुथी स्पष्ट अतावनास चिह्नो गंगादेवीमां आपोआप प्रगट थया. अे लक्षणुने अेधने तेमना पति हेमचन्द्रशेठनुं मन धरुं प्रकुल्लित रहेवा लाग्युं. ॥४॥

गर्भ रहने पर जो लक्षण स्त्रियों में प्रकट होते हैं-उनका वर्णन—

गर्भप्रभावादभयन्नताड्याः पाण्डुत्वमास्य जठरे विवृद्धिः ।

धावत्यमक्षो हृदयेऽनुरागः सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रभोदः ॥५॥

अर्थ-गर्भावस्था में गर्भिणी में और क्या २ चिह्न दिखलाई देने लगते हैं= यह बात हम श्लोक द्वारा यहाँ बतलाई गई है. गर्भ के प्रभाव से उस विनम्र अङ्गवाली गंगादेवी के मुख पर शुभ्रता की झलक आ गई-उसका मुख पहिले से भी अधिक गौर वर्णवाला बन गया, उदर उसका बढ गया, आंखों में सफेदी आ गई हृदय में सब के प्रति अनुराग जग गया, समस्तजीवों के प्रति उसके मन में मित्रता का भाव भर गया और गुणजनों के प्रति उसके चित्तमें आदर भाव समा गया! ये सब चिह्न गर्भस्थ भ्रूण की शुभ स्थिति के एवं शुभ भावों के अत्यंत होते हैं. ॥५॥

गर्भावस्थां गर्भिणीमां वीज कया उभा चिह्नो देणाय छे, अे वात आ श्लोकथी अही अतावनामां आनी छे. गर्भना प्रभावथी अे नम्र अंगवाणी गंगादेवीना मुण पर श्वेततानी छाया आवी गई. तेनुं मुण पहेलां कस्तां पणु वधारे गौरवणुवाणुं अनी गयुं. तेनुं पेट वधवा लाग्युं. आपोमां धवलना आवी गई. हृदयमां दरेकना प्रत्ये अनुराग अण्यो. सत्रणा अेयो प्रत्ये तेना मनमां मित्रपणुानो भाव प्रगट थयो. अने गुणवानो प्रत्ये तेना चित्तमां आदरभाव उत्पन्न थयो. आ सत्रणा चिह्नो गर्भमां रहेल पाणकनी शुभ स्थितिना अने शुभ वातेने अतावनासो होय छे. ॥५॥

यदा क्वचित्सा प्रतिबद्धरुद्धान् जीवानपश्यद् धृदये तदास्याः ।
दयाऽभवत्तेन चक्रांक्ष तेषां मनस्विनीयं परिमुक्ति सौख्यम् ॥६॥

अर्थ—वह गर्भिणी गंगादेवी जब कभी कहीं पर बंधे हुए और पिंजरे आदि में बन्द करके रोके हुए जीवों को देखती—तो उसके हृदय में उनके प्रति दया का प्रवाह हिलोरे लेने लग जाता और वह मनस्विनी उनकी मंगल कामना से प्रेरित होकर उन्हें वहां से छुटकारा पाने के सुख की आकांक्षावाली बन जाती ॥६॥

ये गर्भिणी गंगादेवी अपने कयांक अंधायेसा अने पांजरा विगरेमां पूराधने रोडी राभेसा छेवने जेती हती तयारे तेना हृदयमां तेमना प्रत्ये द्याने प्रवाह छिवेसा वेना लागते हते अने मनस्विनी अथी ते तेमनी मंगल कामनाथी प्रेरित थईने तेमने त्यांथी छुटकारे अपाववानी अस्त्रिशाधावाणी अनी अति. ॥६॥

दानादिसत्कृत्यविधानदक्षा साधूपदेशेऽर्पित मानसा सा ।
गर्भस्थ सत्त्वप्रभवप्रभावात्स्वधर्म्यकृत्ये शिथिला न जज्ञे ॥७॥

अर्थ—यद्यपि गर्भिणी वह गंगादेवी अन्य घर के कार्यों के करने में इस अवस्था में उमङ्गवाली नहीं बनती थी, परन्तु फिर भी वह सुपात्रों को दान देने रूप जो धार्मिक कृत्य हैं उनके संपादन करने में पहिले कभी भी आलस्य युक्त नहीं देखी गई, क्योंकि उनके करने में तो उसका भाव सदा उमंगवाला बना रहता. तथा साधुमहाराजों के उपदेश श्रवण में भी उसका मन पहिले से ही खूब लगता; अतः अब भी यह जो इन कार्यों के करने में उद्यमशील रहती सो यह सब गर्भस्थ जीव का ही प्रभाव था कि जिसकी वजह से उसका सांसारिक कार्यों के करने में तो मन नहीं लगता और धार्मिक कार्यों के करने में वह सदा अग्रेसर रहता. ॥७॥

गर्भिणी अथी ते गंगादेवी जेके धरना थीअ कामे करवामां अकरथाने कारणे उमंग राभती न हती, ते पशु ते सुपात्राने दान देवार्प अ धार्मिक कामे छे, ते करवामां क्यारेथ पशु आगसवाणी जेवामां आवती न हती. केभके ते करवामां ते तेना खान उमंग युक्त रहेते हते. तथा साधु महाराजने उपदेश सांख्यवामां पशु तेनुं मन पहिलेथी पूअ उत्कंठावाळुं हतुं. तेथी अत्यारे पशु ते आ कार्यों करवामां प्रवृत्तीवाणी रहेती ते आ अधुं गर्भमां रहेअ छेवने अ प्रभाव हते के जेना कारणथी सांसारिक कार्यों करवामां ते तेनुं मन लागतुं न हतुं पशु धार्मिक कार्यों करवामां ते सदा अग्रेसर थईने रहेती हती. ॥७॥

भर्ता तदा तां तरुणेन्दुगौरीं निरीक्ष्य संजात सुखस्तदानीम् ।

पुण्येन लब्धं स्वगृहस्थधर्मं धन्यं ह्यमंस्ताङ्गनयाऽनयाऽसौ ॥८॥

अर्थ—जब पूर्णमासी के चन्द्र जैसी गौरवर्णवाली गर्भिणी गंगादेवी को पतिदेव हैमचन्द्र श्रेष्ठी ऐसी परिणतिवाली देखा तो वे देखकर अपने आपको बहुत सुखी अनुभव करते और मन में यही मानते कि पुण्य से प्राप्त हुआ यह गृहस्थाश्रम मेरा इसी अङ्गना के लाभ से आदर्शरूप में बना है ॥८॥

व्यारे पुनमना चंद्रमा जेवी गौरवर्णवाणी गर्भिणी गंगादेवीने हेमचंद्रशेठे आ प्रकारनी देश्कारवाणी जेअ तो ते जेअने पोताने अधिक सुखी मानता डे पुण्यथी प्राप्त थियेअ आ भाशे गृहस्थाश्रम आ स्त्रीना भगवाथी आदर्शरूप थियेअ छे ॥८॥

नाथऽस्मदीयं मन एवमाह निवेदयामि त्वदनुग्रहार्थम् ।

सुपात्रदानाच्चिनुयां सुधर्मं यतो भवेऽस्मिन् खलु तस्य लाभः ॥९॥

अर्थ—नाथ! मेरा मन यह चाहता है कि मैं सुपात्रों के लिये चारों प्रकार का दान देकर धर्म का संचय करूं, क्योंकि इस भव में ही जीव को उसका लाभ हो सकता है. अन्य भव में नहीं. यह बात मैंने इसलिये आपसे कही है कि आपका मेरे ऊपर अधिक अनुग्रह है. अतः इसमें आप मेरे प्रतिकूलवर्ती नहीं बनेंगे ॥९॥

हे नाथ! भाई! मन जेअ धुअ छे डे-डुं सुपात्रोने वारे प्रकारनुं दान आपीने धर्मनो संचय करूं, डेभडे-आ लवमां न जेअने ते लाभ भणी शके छे. अन्य लवमां ते लाभ भगतो नथी. आ बात में जे भाटे तमेने कही छे डे-आपनो भास प्रत्ये अधिक अनुग्रह छे. तेथी आमां आप भने प्रतिकूल थाय तेम वर्तेशे नही. ॥९॥

अनेकयोनी परितो भ्रमद्भिः मयेदं संप्राप्यते मानवजन्म पुण्यात् ।

बहोरिदं व्यर्थगतं तदेतत् प्राप्तं न वाप्तं सममेव जातम् । १०॥

अर्थ—क्यों कि अनेक योनियों में—८४ लाख योनियों में—परिभ्रमण करने के बाद बहुत बड़े पुण्य के उदय से जीव को यह मनुष्यजन्म प्राप्त होता है ऐसा बहुपुण्यलभ्य यह मनुष्य जीवन यदि व्यर्थ चला गया तो फिर प्राप्त हुआ वह नहीं प्राप्त हुआ जैसा ही हो गया ॥१०॥

डेभडे-अनेक योनियोमां जेठवे डे ८४ योयांशी लाख योनियोमां भ्रमण कर्या पछी न धणा पुण्यना उदयथी जेअने आ मनुष्यभन प्राप्त थाय छे. जेवी रीते धणा न

पुण्य प्रभावथी भेणवेस आ मनुष्यभव जे व्यर्थ न आयेओ अथ तो पछी प्राप्त करेस
ते न भेणव्या जेवुं न थरुं नशे. ॥१०॥

क्षिप्तं महाव्यौ महनीयस्त्वं प्राप्तिः पुनस्तस्य सुदुर्लभैव ।

यथा तथा नाथ सुकृच्छ्रलब्धं गतं हतं चेद्विषयैस्तथेदम् ॥११॥

अर्थ—हे नाथ ! जिस प्रकार बड़े समुद्र में प्रक्षिप्त हुए महनीय रत्न की पुनः
प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियों के विषयों से हरण किया
गया यह बहु कष्ट लभ्य मानवजन्म यदि उनके सेवन करने में ही नष्ट हो
जाता है तो इसकी भी समुद्र में फेंके गये उस रत्न की प्राप्ति के समान पुनः
प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है ॥११॥

हे नाथ ! जेम मोटा समुद्रमां नाभेस दीमती रत्ननी इरी प्राप्ती थनी ते थलुं न
मुक्केस छे. पंचेन्द्रियोना विषयोथी हरणु करयेस आ थणी न मुक्केसीथी प्राप्त थयेस
मनुष्य जन्म जे तेना सेवन करवाभां न नाथ पाभी नशे तो तेनी पणु समुद्रमां ईकेस
जे रत्ननी प्राप्तिनी जेम इरी प्राप्त थवुं थलुं न दुर्लभ छे. ॥११॥

सदोहलां तां दक्षिणां निरीक्ष्य वाचामगम्यां मुदमाय हैमः ।

नवाङ्कुरोत्पत्तिविशिष्टभूमिं विलोक्य तत्राथ इव प्रकृत्या ॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार की मनोरथवाली अपनी धर्मपत्नी गंगा को देखकर हैम-
चन्द्र श्रेष्ठी को अनिर्वचनीय-वचनों से नहीं कहा जा सके ऐसा आनन्द हुआ।
ठीक बात है. जब भूमि का मालिक-किसान अपनी भूमि को नवीन अङ्कुर की
उत्पत्ति से युक्त देखता है तो उसे स्वभावतः आनन्द होता ही है ॥१२॥

आ प्रमाणुना मनोभावनावाणी पोतानी धर्मपत्ति गंगाने जेधने हेमचन्द्रशेठने
वाणीथी वरुंवी न शकय तेने आनंद थयो. अङ्कुर छेके-अथारे जमीनने मालिक
जेडुत पोतानी भूमिने नवा अङ्कुरेना उत्पन्न थवावाणी जेधने तेने स्वाभाविक आनंद
थाय न छे. ॥१२॥

उवाच ते तन्वि मनोस्थोऽयं प्रशस्त भावान्वित एव तं त्वम् ।

कुरुष्व पूर्णं च यथाभिलाषं ममास्त्यनुज्ञापतिपन्थ्यहं नो ॥१३॥

अर्थ—इस प्रकार धर्मपत्नी के मनोरथ को जानकर हैमचन्द्र श्रेष्ठी ने
उससे कहा हे तन्वि ! तेरा यह मनोरथ प्रशस्त-शुभ भावों से युक्त है अतः
तुम इसकी पूर्ति अपनी रुचि के अनुसार करो, इस विषय में मेरी तुम्हें आज्ञा

है. मुझे तुम अपना प्रतिपत्नी-कार्य में बाधक मत समझो. मनोरथों को सफल करने में तुम मुझे अपना सहयोगी ही मानो. ॥१३॥

(पूर्वोक्त प्रकारથી પોતાની ધર્મપત્નીને મનોરથ બંધીને) હેમચંદ્રશેઠે તેને કહ્યું. હે તન્નાંગી ! તારો આ મનોરથ પ્રશસ્ત અર્થાત્ શુભ ભાવનાવાળો છે. તેથી તમે તમારી ઈચ્છા-નુસાર તે પૂર્ણ કરો. આ સંબંધમાં મારી તમોને અનુમતિ છે. મને તમે પોતાના પ્રતિ-પત્ની એટલે કે કાર્યમાં બાધ કરનાર ન સમજો. તમારા મનોરથો સફળ કરવામાં મને તમારો સહયોગી જ સમજો. ॥૧૩॥

विहाय सर्वं चर चारुनेत्रे ! सुपात्रदानादि च धर्म्यकृत्यम् ।

सुपात्रदानेन यतोऽस्ति शोभा गृहस्थधर्मस्य नचान्यथा सा ॥१४॥

अर्थ-इसलिये घर के और सब कामों को छोड़कर हे चारुनेत्रे ! तुम सत्पात्रों के लिये दानादि रूप धार्मिक कृत्यों को करो. क्योंकि गृहस्थ धर्म की शोभा सत्पात्रों को दिये गये दान से है. और किसी प्रकार से नहीं है ॥१४॥

તેથી ધરના બીજા સઘળા કામોને છોડીને હેચારુનેત્રવાણી ! તમે સત્પાત્રોને દાનાદિરૂપ ધાર્મિક કૃત્ય કરો કેમકે-ગૃહસ્થ ધર્મની શોભા સત્પાત્રોને આપવામાં આવેલ દાનથી છે. અન્ય કોઈ પ્રકારથી નથી. ॥૧૪॥

विधेः कृपाण्यां च जिनेन्द्रवाण्यां यस्यास्ति चित्ते सुदृढा प्रतीतिः ।

भद्रः प्रकृत्या सजघन्यापात्रः, पूज्यः स इन्द्रादिपदैः सुदृष्टिः ॥१५॥

अर्थ-कर्मों के सर्वथा विनाश करने में जो कृपाण के जैसी है ऐसी जिनेन्द्र वाणी ऊपर जिसके हृदय में अदृढ श्रद्धा है, तथा स्वभावतः जिसकी कषायें मन्द हैं ऐसा भद्रपरिणामी वह सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र है, सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वह इन्द्रादिपदों द्वारा पूज्य-सेवनीय होता है. ॥१५॥

કર્મોનો સર્વથા નાશ કરવામાં જે તત્વારની ધાર જેવી છે, એવી જીનેન્દ્રદેવની વાણી ઉપર જેના હૃદયમાં અદૃઢ શ્રદ્ધા છે, તથા સ્વભાવથી જ જેનાં કષાયો મંદ છે, એવો ભદ્ર પરિણામી તે સમ્યક્દૃષ્ટિ જીવ જઘન્ય પાત્ર છે. સમ્યક્દર્શનના પ્રભાવથી તે ઈન્દ્રાદિ દેવો દ્વારા સેવનીય બને છે. ॥૧૫॥

संसारसौख्यं परिवर्ज्यमुक्त्यै शरीरवृत्तावपि निर्ममा ये ।

कुर्वन्ति वैविध्यतपोऽनुरक्ताः स्वात्मस्थितौ ते विरलाः पुमांसः ॥१६॥

અર્થ-પ્રાપ્ત સાંસારિક સુખોં કા પરિત્યાગ કરકે જો શારીરિક વૃત્તિ મેં નિસ્પૃહ બનકર મુક્તિ પ્રાપ્તિ કે નિમિત્ત અનેક પ્રકાર કી તપસ્યા કરતે હૈં એસે મુનિજન સંસાર મેં વિરલે હૈં ॥૧૬॥

પ્રાપ્ત થયેલ સાંસારિક સુખેનો ત્યાગ કરીને જ શારીરિક વૃત્તિમાં નિસ્પૃહ બનીને મુક્તિ પ્રાપ્ત કરવા અનેક પ્રકારની તપસ્યા કરે છે. એવા મુનિજન સંસારમાં વિરલ છે. ॥૧૬॥

उत्कृष्टपात्राः मुनयो भवन्ति भवन्ति ते चारुचरित्र वित्ताः ।

गृहादि मुक्त्वा विचरन्ति भिक्षाशना विपत्यापि न हार्य धैर्याः ॥१७॥

અર્થ-જો સદાચાર-નિર્દોષ ચારિત્રરૂપી ધન સે યુક્ત હૈં, ગૃહ આદિ પરિગ્રહ કા સર્વથા પરિત્યાગ કરકે જગત્ જીવોં કો સન્માર્ગ મેં લાને કે નિમિત્ત જો વિહાર કરતે હૈં, નિર્દોષ ભિક્ષાવૃત્તિ હી જિનકા ભોજન હૈ ઓર જો આપત્તિ વિપત્તિયોં સે અડિગ ધૈર્યસંપન્ન રહતે હૈં. ઉપસર્ગ એવં પરીષહોં કે આને પર મી જો અપને માર્ગ સે વિચલિત નહીં હોતે-એસે મુનિજન હી ઉત્કૃષ્ટ પાત્ર હૈં ॥૧૭॥

જ સદાચાર-નિર્દોષ ચારિત્રરૂપી ધનથી યુક્ત છે, ગૃહ વિગેરે પરિગ્રહનો એકદમ ત્યાગ કરીને જગતના જીવોને સન્માર્ગે લાવવા માટે એઓ વિહાર કરે છે, નિર્દોષ ભિક્ષાવૃત્તિજ ભક્તિ આહાર છે, અને જ આપત્તિના સમયે અડગ બની ધીરજ યુક્ત રહે છે. ઉપસર્ગ અને પરીષદ આવી પડે તો પણ જ પોતાના માર્ગની અલિપ્ત થતા નથી. એવા મુનિજનો જ ઉત્કૃષ્ટ પાત્ર સમજવા. ॥૧૭॥

ये श्रावकाचारपवित्रचित्ता भवन्ति देशव्रतिनो गृहस्थाः ।

रागादिनिर्हासयुता मुनीनां धर्मोपसवः मध्यमपात्ररूपाः ॥१८॥

અર્થ-જિનકા હૃદય શ્રાવક કે ૧૨ વારહ વ્રતરૂપી આચાર કે પાલન સે પવિત્ર હૈ તેસે જો દેશવ્રતી ગૃહસ્થ હૈં વે મધ્યમપાત્ર હૈં. યે શ્રાવક પ્રતિમાઓં પર જૈસે ૨ આરૂઢ હોતે જાતે હૈં-વૈસે ૨ જનમેં રાગાદિ કોં કી હીનતા વધતી જાતી હૈ ઓર યે મુનિધર્મ કે અનુરાગી હો જાતે હૈં ॥૧૮॥

જમનું હૃદય શ્રાવકના ૧૨ વ્રતરૂપી આચારના પાલનથી પવિત્ર છે. એવા જ દેશવ્રતી ગૃહસ્થ છે, તેઓ મધ્યમ પાત્ર છે. આ શ્રાવક પ્રતિમાઓ પર જમ જમ ચડતા બંધ છે તેમ તેમ તેઓમાં રાગાદિકની હીનતા વધતી બંધ છે અને તેઓ મુનિ ધર્મના અનુરાગી થઈ બંધ છે. ॥૧૮॥

निदेशमेवं ह्यधिगम्य भर्तुः सत्पात्रदानाल्पकल्पवृक्षा ।

सती सती सा सधवा चकार मनोरथं स्वं सफलं प्रमोदात् ॥१९॥

अर्थ-उस सती गंगादेवी ने अपने पतिदेव की आज्ञा प्राप्त कर सत्पात्रों के लिये भक्तिपूर्वक दान देने से कल्पवृक्षों को भी तिरस्कृत कर दिया, इस तरह सधवा उस देवी ने बड़े आनंद के साथ अपना मनोरथ पूर्ण किया ॥१९॥

ये सती गंगादेवीके पोताना पतिदेवनी आज्ञा भेगनीने सत्पात्रोंने लक्ष्मिपूर्वक दान आपनाथी कल्पवृक्षोंने पाशु उदका पाडी दीया ये रीते सधवा जेना ये देवीके धाशा जे आनंदपूर्वक पोतानो मनोरथ पूर्ण क्यो. ॥१९॥

गर्भस्य वृद्धयानतकाययष्टिर्घदाऽभवत्साऽभ्यर्णे मुनीनाम् ।

यथाकथंचित्समुपेत्य तेषां मुखारविन्दादश्रुणोच्च धर्मम् ॥२०॥

अर्थ-धीरे २ जब गर्भ की वृद्धि हो चुकी तब उसकी कमर कुछ २ मुकसी गई और इस स्थिति में भी वह येनकेन प्रकारेण मुनि महाराजों के पास जाती और उनके मुखारविन्द से धर्म का उपदेश सुनती ॥२०॥

धीरे धीरे ज्यारे गर्भनी वृद्धि थछ गछ त्यारे तेनी कमर कंछक कंछक नभी गछ अने आ स्थितिभां पाशु ते येन डेन प्रकारथी मुनि महाराजनेनी पासो जती अने तेभना मुखार-विन्दथी धर्मने उपदेश सांभजती. ॥२०॥

धर्मानुगमाच्च यदा कदा सा, उपाश्रयं प्राप्य च मंगलीकम् ।

श्रवःपुटाभ्यां परिपीय पश्चाद्गुरोर्मुखात्स्वाश्रम माजगाम ॥२१॥

अर्थ-जब कभी तो यह धर्मानुराग से प्रेरित होकर उपाश्रय पहुँच कर केवल गुरुमुख से मांगलीक सुनकर ही अपने घर पर आ जाती थी ॥२१॥

डोछक समये ते धर्मानुरागथी प्रेरित थछने उपाश्रयभां पहुँचीने डेवण गुरुमुपथी मांगलिक सांभजीने जे पोताने वेर आनी जती. ॥२१॥

उपाश्रयं प्राप्य यदा कदा सा साधूँश्च साध्वीः पस्विन्द्य भव्या ।

धर्मानुरागा हृतचित्तवित्ता प्रमोदमत्ताऽऽलय माजगाम ॥२२॥

अर्थ-और जब कभी यह उपाश्रय पहुँच कर साधु और साधवियों की केवल वन्दना करके ही अपने घर पर आ जाती थी क्योंकि इसका हृदयरूपी धन धर्मानुराग के द्वारा चुरा लिया गया था. अतः इस ओर ही वह

खिंचा खिंचा सा रहता था. जब यह अपने घर पर आनी तब आनन्द आनन्द से भरी ही दिखती ॥२२॥

अने डोढवार ते उपाश्रयमां बर्धने साधु अने साध्वीज्योनी केवम वंदना करीने व पोताने घेर आवी जाती. डेमडे-तेतुं हृद्य रूपी धन धर्मानुरागथी योराई गयुं हुतुं. तेथी ज्ये तरई व ते भेयांछ रहेती हुती. ज्यारे ते पोताने घेर आवती त्यारे आनंदथी भक्ष रहेती हुती. ॥२२॥

कदाचिदेशा भवने स्वकीये सामायिकं वा समता विवृद्धयै ।

प्रतिक्रमं वा निजदोषशुद्धयै, अधीकरद्वा रहसि स्वयं सा ॥२३॥

अर्थ-कभी कभी तो वह अपने भवन में ही समता भाव की विशेषवृद्धि के निमित्त एकान्त में सामायिक किया करती और कभी यह अपने दोषों की शुद्धि के निमित्त स्वयं ही उभयकाल प्रतिक्रमण किया करती ॥२३॥

क्यारेक क्यारेक तो ते पोताना भवनमां व समता आनी विशेष वृद्धि निमित्ते ज्येकान्तमां सामायिक कर्था करती अने क्यारेक ते पोताना दोषोनी शुद्धि भाटे पोते अन्ने-काण प्रतिक्रमण कर्था करती. ॥२३॥

यदा कदा सा निलये सखीभिः मनोविनोदाय कथाश्चकार ।

सत्रा तपोवीर्यजुषां मुनीनां परीषहे धैर्यकरण्डकानाम् ॥२४॥

अर्थ-तथा-जब कभी यह सखियों के साथ मनोविनोद के निमित्त उन उन मुनिराजों की कि जो तपस्या करने में विशिष्ट शक्तिशाली हुए हैं और आये हुए परीषहों को सहन करने में धैर्य के पिटारे बने रहे अनेक कथाओं को किया करती. ॥२४॥

तथा क्यारेक ते सपियोनी साथे मनोविनोद करवा ते ते मुनिराजोनी डे ज्ये तपस्या करवामां वधारे शक्ति संपन्न अन्था छे, अने आवी पडेला परीषहे ने सहन करवामां धीरवना पटारा ज्ये अनी रखा छे तेमनी अनेक कथाज्ये कथा करती. ॥२४॥

समाप्य गार्हस्थ्यकक्रत्यमेषा कलस्वराभिः सवयः सखीभिः ।

आस्थाय माधुर्ययुतेन विज्ञा स्वरेण साध्विन्द्रगुणानगायत् ॥२५॥

अर्थ-अपने घर के सब कार्यों को समाप्त करके जब यह निश्चिन्त हो जाती तब अपनी मधुर स्वरवाली समान अवस्थावाली सखियों के साथ बैठकर यह मधुर स्वर से आचार्य महाराजों के गुणों का गान करती. ॥२५॥

पोताना धरना सधणा कार्यो समाप्त करीने अ्यारे ते निवृत्त अनी अती त्यारे ते पोतानी मधुर स्वरवाणी वाणीथी आचार्य महाराज्ज्योना गुणोतुं गान करती. ॥२५॥

कृपावती सा कशिषु प्रदानात् द्वारिस्थितान् दीनजनांश्च वान्यान् ।
अभ्यागतान् याचकभिक्षुकांश्च नाथाननाथानपुषस्त्वशक्त्या ॥२६॥

अर्थ-वह दयालु थी. इसलिये जो कोई भी दीन, हीन, अभ्यागत, याचक, भिक्षुक, सनाथ और अनाथ उसके द्वार पर आता वह सब के लिये अपनी शक्ति के अनुसार भोजनादि का दान दिया करती ॥२६॥

ये दयालुं होती, तेथी जे डोई दीन, हीन, अभ्यागत, याचक, भिक्षुक, सनाथ अने अनाथ तेना आरण्ये आवतुं ते तमाभने पोतानी शक्ति प्रमाणे भोजनादितुं दान आपती ॥२६॥

साहायित्वेय्यादरभावजुष्टा वात्सल्यभावेन युतान्तरङ्गा ।
धर्मज्ञविज्ञा स्वशनादिभिश्च सधर्मिणःस्वान् सत्कृत्य रेजे ॥२७॥

अर्थ-वह अतिथि का आदर सत्कार करने में बड़ी चतुर थी. इसका अन्तरङ्ग वात्सल्यभाव से भरा रहता था. इसकी बुद्धि सच्चे झूठे धर्मात्मा की परख करने में बड़ी पैनी थी. इसलिये यह बड़े आदरभाव से अपने सार्धर्मि बन्धुओं का अच्छे २ भोजनादिकों द्वारा आदर सत्कार करके बड़ी खुश होती ॥२७॥

ते अतिथिने आदर सत्कार करवामां धणी ज चतुर होती. तेनुं हृदय वात्सल्य भावथी भरेलुं रहेतुं હતું. तेनी बुद्धि साया जुडा धर्मात्माने पारखवामां निपुण होती. तेथी ते धणा ज आदर भावथी पोताना सार्धर्मिक बन्धुज्योनुं सारा सारा भोजनादि आपीने तेमने आदर सत्कार करीने धणी प्रसन्न रहेती होती. ॥२७॥

अपश्यदार्त्तान् खलु धार्मिकान् सा यदा च तत्कष्टं निवारणाय ।
तेभ्यो ह्यदादौषधिलाभहेतुं सारोग्यलाभार्थवती स्वधित्स् ॥२८॥

अर्थ-जब यह किसी धार्मिक जनको व्याधि से ग्रसित हुआ देखती तो उसके कष्ट के निवारण करने के लिये और अच्छी तरह से इसे आरोग्य का लाभ हो जाये इस अभिप्राय से औषधि को लाने के लिये यह अपने पास से उसे द्रव्य देती. ॥२८॥

अथरे ते ऋषि धार्मिक पुत्रधने व्याधिथी पीडा पाभतो द्वेषती तो तेना दुःखने दूर करवा भाटे अने सारी रीते तेने आशेष्यपणु भणी अथ ते हेतुथी तेने औषधि लाववा भाटे ते पोतानी पासेथी धनादि आपति. ॥२८॥

ज्ञानप्रदानेन च केवलान्तिर्भवेत्प्रदातु ह्यवधार्य सैषा ।

ज्ञानार्थिनेऽज्ञाननिवृत्तिहेतुं ज्ञानार्जनर्थं सद्भावतोऽयच्छत् ॥२९॥

अर्थ-इस गंगादेवी को यह पूर्णरूप से निश्चय था कि ज्ञानदान देनेवाले को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है. इसलिये इसने जो ज्ञान को प्राप्त करने के अभिलाषी थे उनके लिये अज्ञान की निवृत्ति के कारण भूत साधनों को ज्ञानार्जन के निमित्त बड़े प्रेक्ष से दिये. ॥२९॥

आ गंगादेवीने ये संपूर्ण आत्री होती है-ज्ञान दान आपनारने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे. तेथी ते अज्ञे ज्ञान सेणवदाने छेच्छता छता तेमने भाटे अज्ञाननी निवृत्तिना कारण-भूत साधनो ज्ञानार्जन भाटे धणु अ प्रेमथी आपती छती. ॥२९॥

निरस्तपूर्णाभरणा धृताङ्गसौभाग्यचिह्ना विबुधैर्व्यतर्कि ।

प्रभातसंध्या किमियं च किंवा निरस्तपत्रा सफला लतावा ॥३०॥

अर्थ-गर्भावस्था के कारण गंगादेवी ने सौभाग्यसूचक चिह्नों के सिवाय अन्य और सखस्त आभरण उतार कर रख दिये थे अतः ऐसी स्थिति में उसे देखकर समझदार मनुष्यों की-कविजनों की दृष्टि में ऐसा विचार उठा कि क्या यह जिसमें तारे तो अस्त हो गये हैं और चन्द्रमा अभी अस्त नहीं हुआ है ऐसी प्रातःकाल की संध्या है? या जिससे पत्ते तो झर चुके हैं और फल अभी झरे नहीं हैं ऐसी क्या यह लता है. ॥३०॥

गर्भावस्थाना कारणे गंगादेवीने सौभाग्य सूचक आभरणो शिवायना पीन सधणा आभूषणो उतारी भूकया छता. तेथी तेने अज्ञेने कविअने अवे विचार आव्यो छे अभा ताराअो अस्त पाभ्या छे अने अंद्र अस्त पाभेक्ष नथी अवी प्रातः कालीन आ संध्या छे? अथवा अना पांढडाओ अरी पडया छे, अने क्षण तेनी साथे रक्षा छे अवी आ वेक्षी छे? ॥३०॥

समस्तमेघप्रतिबन्धमुक्तं सतारकं राहुभयात्किमेतत् ।

धरावतीर्णं नु शशाङ्कबिम्बं मुखं तदीयं कविभिर्व्यतर्कि ॥३१॥

अर्थ-अथवा-जिससे मेघों का प्रतिबन्ध-आवरण-सर्वथा हट चुका है ऐसा यह क्या तारासहित चन्द्रमा का बिम्ब ही राहु के भय से भूतलपर उतर

आया है इस प्रकार कविजनों ने उसके मुख के विषय में विचार किया मुख पर लगा हुआ सौभाग्य चिह्न तारा के स्थानापन्न और मुख चन्द्रमा के स्थानापन्न यहां प्रकट किया गया है तथा शेष जो आभूषण उतार दिये गये हैं वे मेघ के अपगम तुल्य कहे गये हैं. ॥३१॥

अथना न्येमांथी वाहणाञ्चोनुं आवरण्णु पिदकुल उट्टी गयुं छे, अेवुं आ शुं ताराञ्चोथी युक्त यंद्रपिंथ न राहुना लयथी पृथ्वी उपर उतरी आञ्चुं छे? आ रीते कविञ्चोञ्चै तेना भुष्य विषे कल्पना करी. भुष्य पर लागेल सौभाग्य चिह्न तारा समान अने भुष्य यंद्र समान होवाथी अही कल्पना करी छे. अने पाद्रीना न्ये धरेणुञ्चो उतारी भूकया छे, ते वाहणना दूर थवा समान कल्पेल छे. ॥३१॥

पुष्पैर्लतेव क्षणदोज्ज्वलाभिस्ताराभिगसी न विहङ्गमैश्च ।

सरित्तिथेयं ललनाचकासे सौभाग्यचिह्नैः स्वशरीरसंस्थैः ॥३२॥

अर्थ-पुष्पों से जैसी लता सुहावनी लगती है चमकते हुए तारों से जैसी रजनी सुहावनी प्रतीत होती है और बैठे हुए पक्षियों से जैसी नदी सुहावनी लगती है उसी तरह वह गंगादेवी अंग उपांगों पर रहे हुए उन सौभाग्य चिह्नों से सुहावनी लगती थी. ॥३२॥

पुष्पोथी न्ये वेल सोढामण्णी लागे छे, यमकता ताराञ्चोथी न्ये रात्री शोभायमान लागे छे, अने भेडेला पक्षीञ्चोथी न्ये नदी शोभायमान न्येण्य छे अेन प्रमाणे आ गंगा-देवी अंग उपांगो पर रहेला अे सौभाग्यना चिह्नोथी शोभायमान लागती हती. ॥३२॥

यदा स्वसौन्दर्यदिदृक्षयात्म स्वरूपमादर्शनले ह्यपश्यत् ।

तदा स्वरूपं प्रति सा मुग्धोह स्वयंकथा कान्यजनस्य वाच्या ॥३३॥

अर्थ-वह गंगादेवी अपने सौन्दर्य को देखने की इच्छा से दर्पण में अपने स्वरूप को देखकर जब स्वयं अपने रूप के प्रति मोहित हो जाती तब उसके रूप को देखनेवाले अन्य मनुष्य की तो बात ही क्या कहनी. ॥३३॥

आ गंगादेवी पोताना सौंदर्यने जेवानी छ्येछाथी आयनाभां पोतानुं इष जेधने न्यारे ते पोते पोताना इषभां मोह पावती तो तेना इषने जेनार थीअ मनुष्यनी तो वात न्ये शुं करवी? ॥३३॥

सा कोकिलालापनिभालपजल्पा स्वल्पा शनाऽभाणिकयाऽपिसख्या ।

राकेन्दु नेवत्वं तन्वि ! शीघ्रं अलङ्कृता स्यास्तनयेन युक्ता ॥३४॥

अर्थ-गर्भावस्था के कारण गंगादेवी बहुत कम बोलती थी-पर जो भा बोलती थीं वह ऐसा प्रतीत होता था कि मानों कोयल ही बोल रही है. उनका आहार भी पहिले की अपेक्षा स्वल्प हो गया था. इन सब बातों को देखकर किसी एक सखी ने उनसे कहा तन्वि ! तुम शीघ्र ही चन्द्रमण्डल से पूर्णमासी के समान पुत्र से युक्त होकर अलङ्कृत होओ. ॥३४॥

गर्भावस्थाना कारणे गंगादेवी धृष्टं आशुं बोलती परंतु न कर्णं बोलती तेथी अमं न लागतुं के अणु डायस न बोलती रही छे. तेना आहार पणु पहेलांना करतां आछे थई गयो छेतो. आ सधणी उदीकत अेठने डोअ अेक सप्पीअे तेने कहुं के हे तन्वी ! तने हवे थोडा न समयमां अंद्रमंडलमां पूरिंभा नवा पुत्रयुक्त थईने अलङ्कृत थाव. ॥३४॥

श्रुत्वा ह्यवादी दपरा च काचिद्वयस्य मुष्पिन्नपिनेयमीदृक् ।

भवेद्वयस्ये ! वद किं जरायां पुत्रप्रसू जीर्णलतेव चेषम् ॥३५॥

अर्थ-इस प्रकार के उसके आशीर्वादात्मक वचन को सुनकर किसी दूसरी सखी ने उससे कहा-वयस्ये ! यदि यह इस अवस्था में भी पुत्रवती नहीं होगी तो क्या वृद्धावस्था में पुत्रवती होगी ? वृद्धावस्था में तो यह जीर्णलता जैसी हो जावेगी. अतः उस अवस्था में संतानोत्पत्ति असंभव ही है. ॥३५॥

आ प्रमाणेना तेना आशीर्वाद नवा वयनेा सांभलीने डोअ भीअ सप्पीअे तेने कहुं हे येन ! अे आ अक्स्थामां पणु पुत्रवाणी नहीं अने तो शुं वृद्धावस्थामां पुत्रवाणी थशे ? वृद्धावस्थामां तो आ अणु लता नवी अनी अशे तेथी अे अक्स्थामां तो संतानोत्पत्ती असंभवित न छे. ॥३५॥

दुर्भाषणे ! ते न च रोचते मे वचोयदुक्तं परिहासगर्भम् ।

अस्मत्सखीयं सततं स्थिरा स्याद् वयस्यमुष्पिन्नजरामरीव ॥३६॥

अर्थ-दुर्भाषणे ! मुझे तेरी यह हंसी मजाक की कही गई बातें अच्छी नहीं लगती हैं. हम तो यही चाहते हैं कि यह हमारी सखी सदा देवी के समान तरुण रहें और अजर रहें ॥३६॥

हे भोटुं बोलनारी ! मने तारी आ मशकरीवाणी वात सारी लागती नथी हुं तो अेअ अणु अणु के-आ अमारी सप्पी सदा देवनी नम तरणु अने अजर अने अमर रहे. ॥३६॥

श्रुत्वोक्तिप्रित्थं ह्यपराऽवदद्भोः ! जानासि किं त्वं न तदीयवृत्तम् ।

जरातुरा नैव भविष्यतीयं यतो विधाता स्वयमेव भर्ता ॥३७॥

अर्थ-इस प्रकार की उक्ति को सुनकर किसी दूसरी सखीने कहा अरी! तू इसकी हालत से परिचित थोड़े ही है. यह तुम विश्वास रखो- यह बुझी भले ही हो जाओ. पर यह दुःखित नहीं होगी क्यों कि इसका स्वयं पुण्य ही इसका भर्ता है. अर्थात् जिसका स्वामी कोटवाल-थानेदार-ग्राम का रक्षक हो तो फिर जैसे उसे किसी का डर नहीं होता उसी प्रकार इसका पुण्य स्वामी ही जब भर्ता पालनपोषण करनेवाला है तो फिर इसे वृद्धावस्था में आजाने पर भी उससे पीडित होने का जरा सा भी अंदेशा नहीं हो सकता है. ॥३७॥

आ प्रभाषेना कथनने सांख्यीने श्रीलुकोष सभ्ये कथुं अरे ! तुं आनी परिस्थितिथी वडिं थोडी न छे ? तुं अे आनी राण के आ वृद्ध लवे थछ नय परंतु ते दुःखी थरे नहीं. कारणु के तेनुं पुण्य न तेना स्वामी छे. अर्थात् जेना स्वामी न कोटवाल, थाणुदार के गामनुं रक्षणु करनार होय तो पछी तेनी पत्नीने कोषने पाणु डर होतो नथी. अेन रीते आना पुण्यइय स्वामी न अरे पालन पोषणु करनार लता छे तो पछी तेने वृद्धावस्था आववा छतां पाणु तेनाथी दुःखित थनाने नरा सरभो पणु संहै रहैतो नथी. ॥३७॥

भवेत्सदाऽस्याः पयसाऽभिषेकः पुत्रेण पौत्रेण समन्वितायाः ।

प्रतिप्रसादात् सफला समीहा भवेदियं पुत्रवतीषु मुख्याः ॥३८॥

अर्थ-इसलिये 'दूधन न्हाओ पूतन फूलो' की उक्ति के अनुसार हम तो इसे यही शुभाशीर्वाद देते हैं कि इसका दुग्ध से अभिषेक हो, और यह पुत्र और पौत्र से युक्त बने. पति की कृपा से इसकी इच्छा सफल होती रहे और यह पुत्रवती स्त्रियों में मुख्य मानी जावे. ॥३८॥

तेथी 'दूधथी नाव पुत्रथी कुलो' अे कथन प्रभाषे हुं तो तेने अेन आशीष आपुं छुं के-आने दूधथी अभिषेक थाय अने आ पुत्र अने पौत्रथी युक्त अने, पतिनी कृपाथी अेनी छरछा सङ्ग थती रहे, अने आ पुत्रवती स्त्रीअेमां उत्तम मानवामां आवे. ॥३८॥

पुत्रोऽपि भूयात्करजाग्रण्यो भूयात्स सौभाग्यनिधेकरण्डः ।

अनर्थदण्डप्रतिदण्डकर्ता भवेद् भवेत्सम्यग्बोधबुद्धः ॥३९॥

अर्थ-इसका पुत्र भी ऐसा हो कि जो अंगुलियों पर गिनने योग्य हो सौभाग्यरूप निधि का वह पिटारा हो. अनर्थदण्ड प्रतिदण्ड कर्ता हो जिन कार्यों के, समारंभादि करने में जीव को पाप लगता हो ऐसे कार्यों का निषेधक हो और समीचीन बोध से हर एक तत्त्व का विचारक हो. ॥३९॥

आने। पुत्र पशु अथवा थाव डे आंगणीयो पर गणुनापात्र अने अने लाग्ग्यरपी
बं डारने अये पटारो अने अनर्थ दंड अने प्रतिदंडना कर्ताअने अये कार्योना समारंभ
विगेशे करवाभां अने पातक लागे अथवा कार्योने रोकनार अने अने समीचीन थोथी
दरेक प्रकारना तत्त्वने विचारक थाव ॥३६॥

इत्थं सखीभिः स्वमनोऽनुकूलां निशम्य वाचं मुमुदेतरां सा ।

हितं मनोहास्विचश्चरित्रं मनोमुदे स्यान्न जनस्य कस्य ॥४०॥

अर्थ-इस प्रकार सखियों से कहे गये अपने मनोऽनुकूल वचनों को
सुनकर वह गंगादेवी अपने आप में बहुत अधिक आनंदित हुईं. सच बात
है हितकारी मनोहर वचन और सदाचार किस व्यक्ति के मनको प्रसन्न
नहीं कर देता है. ॥४०॥

आ प्रमाणे सखियोंके उडेली पोताना मनने अनुकूल वचनो सांखणीने अये गंगादेवी
पोते धरुणी अये आनंदित अनी. परी अ वात छे डे हितकारी अने मनोहर वचन अने
सदाचार क्या मनुष्यने पुश नहीं करता? ॥४०॥

प्रियंवदा साथजगाद किञ्चित्सस्मेर वक्त्रा परिभाव्यवाचः ।

विनम्य गृह्णामि शुभाशिषं वः काले जनः स स्मरणीय एषः ॥४१॥

अर्थ-प्रियंवदा गंगादेवी ने उनकी बातों का विचार कर बड़ी नम्रता के
साथ कुछ मुस्करा कर उनसे कहा-मैं आप लोगों के शुभाशीर्वाद को ग्रहण
करती हूँ, और यह प्रार्थना करती हूँ कि समय पर इस मनुष्य को आप भूल
न जायें याद रखें. ॥४१॥

प्रियंवदा गंगादेवीके सखियोंनी वातोने विचार करीने धरुणी अये नम्रभावथी कंठके
हसीने तेभने आ रीते कहुं-हुं तमारी शुभ कामनाअने स्वीकार छुं, अने अये अये
छुं डे समय आवेथी आ मनुष्यने तमो भूली न अये अये याद राखजे. ॥४१॥

धर्मप्रभावेण जनस्य कार्यं सर्वं सुसिद्धं भवतीति मत्वा ।

धर्माजने धीः सुजनैर्विधेया शिष्टायते कष्टमपीह तस्मै ॥४२॥

अर्थ-धर्म के प्रभाव से ही मनुष्य का प्रत्येक कार्य भले प्रकार से
सिद्ध होता है. ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है कि वह
धर्मोपार्जन करने में अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे. जो धर्मात्मा होते हैं
उनके लिये कष्ट भी शिष्ट के जैसा बन जाता है. अर्थात् कष्ट के आने
पर भी वे उससे पीडित नहीं हो पाते हैं. धर्म का ऐसा ही प्रभाव है. ॥४२॥

धर्मना प्रसावथी न गनुष्यना दरेक कथी सारी रीते सिद्ध थाय छे. जेभ समञ्जने पुद्धिमान् पुश्चनुं कर्तव्य छे के-ते धर्मपाज्जन करवामां पोतानी युद्धिनो सदुपयोग करे. जेओ धर्मात्मा होय छे, तेभने कष्ट पणु शिष्टना जेवुं थर्ष जय छे. अर्थात् कष्ट आवे तो पणु तेओ तेनाथी दुःखित यता नथी धर्मना जेवो न प्रसाव छे. ॥४२॥

सुरक्षितो रक्षति धर्म एव हतो यतो हन्ति च सत्यमेतत् ।

त्यक्त्वा प्रमादं सततं जनेन हितेच्छुना मुख्यतया स सेव्यः ॥४३॥

अर्थ-अच्छी तरह रक्षित हुआ धर्म ही अपनी रक्षा करने वाले की दुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है और जो इसका घात करता है-इसका सेवन नहीं करता है-ऐसे जीव का यह विनाश करता है दुर्गति के दुःखों से उसकी रक्षा नहीं करता है, ऐसा यह कथन सत्य है. जनः प्रमाद को छोड़कर आत्महिताभिलाषी जीव को निरन्तर मुख्यरूप से प्रमाद छोड़कर इसका सेवन करना चाहिये. ॥४३॥

सारी रीते रक्षा करयेव धर्म न पोतानी रक्षा करनारनी दुर्गतिना दुःखोथी रक्षा करे छे अने जेओ तेना घात करे छे, अर्थात् धर्मनुं सेवन करता नथी. जेवा जेवोना ते नाश करे छे. दुर्गतिना दुःखोथी तेनुं रक्षा करतो नथी. जेवुं या कथन सत्य न छे, तेथी प्रमादने छोडीने आत्महितने छिछनार जेवे उभेशां प्रमादने छोडीने तेनुं सेवन करुं जेठिजे. ॥४३॥

तदुक्तमेवं हृदि संप्रधार्य सा प्रेरिता तामिख्याश्रयाय ।

गता त्रिवारं प्रणिपत्य मूर्ध्ना गुरुन् गुरुन् भक्तियुता सप्रस्यात् ॥४४॥

अर्थ-गंगादेवी के द्वारा जब ऐसा कहा गया कि मुख्यरूप से धर्म का सेवन करना चाहिये तो इस बात को हृदय में अच्छी तरह से धारण करके उन्होंने गंगादेवी को उपाश्रय में चलने के लिये प्रेरित किया. वह उनके साथ उपाश्रय में गई. वहां जाकर उसने तीनवार मस्तक झुकाकर गुणशाली गुरुदेवों को भक्ति से युक्त होकर नमस्कार किया-बन्दना की-फिर वह वहीं पर बैठ गई. ॥४४॥

गंगादेवीजे ज्यारे या प्रमाणे कथुं के-मुष्य इपथी धर्मनुं सेवन करवुं जेठिजे तो जेवातेने हृदयमां सारी रीते धारण करीने तेभजे गंगादेवीने उपाश्रयमां जवा भाटे प्रेरणा करी. तेओ तेनी साथे न उपाश्रयमां गर्ष त्यां जर्षने तेजे त्रयवार मस्तक नमाथीने

शुश्रुवान् शुश्रूवेवने लक्ष्मिभावथी प्रेरित यथने नमस्कार कर्था—वन्दना करी अने ते पछी ते त्यां न येसी गर्ह. ॥४४॥

तत्र स्थितान् भव्यजनान् निरीक्ष्य निरीक्ष्य धर्माश्रितपानसोत्कान् ।
संबोधयन्ती गुरुदेववाणी विनिर्गता तान् पुरतस्तमोऽध्नी ॥४५॥

अर्थ—उपाश्रय में उपस्थित हुए भव्यजनों को देखकर और उन्हें धर्माश्रित पान करने की उत्कंठावाले जानकर गुरुदेव की अज्ञान अंधकार को नष्ट करनेवाली वाणी उन्हें संबोधित करती हुई उन सबके समक्ष निकली. ॥४५॥

उपाश्रयमां आवेला लव्यजनोने जेधने अने तेमने धर्माश्रितपान पान करवानी उत्कंठावाणा आशीने गुरुदेवनी अज्ञानरुपी अंधकारने नाश करवावाणी वाणी तेमने संबोधित करीने अ सौनी सन्मुख नीकणी. ॥४५॥

भो ! भव्यवृन्दाः ! शृणुतावधानात्परे स्वसिद्धान्तसुपक्षपातात् ।

विमोहितान्तः करणाः कुतीर्थ्याः प्रवादिनः केचिदिदं वदन्ति ॥४६॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! तुम सब सावधान होकर सुनो. कितनेक प्रवादी जन अपने सिद्धान्त के दृढ पक्षपात से विमोहित बुद्धिवाले होकर इस प्रकार से कहते हैं ॥४६॥

हे लव्य ज्यो ! तमो सौ सावधान थधने सांलणो. डेटलाक प्रवादी मनुष्यो पोताना सिद्धांतना दृढ पक्षपातथी मोहित बुद्धिवाणा थधने आ प्रमाणे कहे छे. ॥४६॥

भूनीखद्विश्चसनैर्मिलित्वा संघातरूपेण विधेयतेऽयम् ।

जीवो न तेभ्योऽस्त्यतिरिक्त एषःमद्याङ्गसंगैर्मदशक्तिवद्धि ॥४७॥

अर्थ—जिस प्रकार मद्याङ्ग—महुआ, गुड, जल आदि पदार्थों के मेल से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और हवा इन चार तत्त्वों के मेल से जीव पदार्थ उत्पन्न होता है. अतः यह उनसे अतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है. ॥४७॥

जम महुडा, गोल, पाणी विगेरे पदार्थोने भेणववाथी मदशक्ति पेदा थाय छे. अज प्रमाणे पृथ्वी, जल, अग्नि अने हवा आ चार तत्वोना भगवाथी जव पदार्थ उत्पन्न थाय छे. तेथी अ अनाथी बुद्धे स्वतंत्र पदार्थ नथी. ॥४७॥

देहादभिन्नः स्वल्पजीवः भिन्नस्य तस्यानुपलब्धतोऽस्मिन् ।

देहे विनष्टे सति तस्य नाशः जलक्षये बुद्बुद विन्दवो वा ॥४८॥

अर्थ-अतः पृथिवी आदि चार भूतों से निष्पन्न हुए इस शरीर से पृथक् रहनेवाला जीव नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है वह तो देह से अभिन्न ही है. वह देह से भिन्न है इस प्रकार से उसकी स्वतंत्र रूप से उपलब्धि नहीं देखी जाती है. इसलिये देह के नाश होते ही जल के नाश होने पर उसके बुद्बुद की तुल्य इसका विनाश हो जाता है. ॥४८॥

तेथी पृथ्वी विगेरे यार महाभूतोथी अनेक आ शरीरथी अलग रहेनारे एव नामनेो डोई स्वतंत्र पदार्थ नथी. अे तो देहथी अभिन्न अे छे. ते देहथी भिन्न छे, अे प्रमाणे तेनी स्वतंत्ररूपे उपलब्धि अेषाती नथी. तेथी देहनेो नाश थवाथी अवनो नाशथी तेना परपोटानी अेम अनो विनाश थाय छे. ॥४८॥

पुण्यस्य पापस्य फलस्य भोक्ता नेहास्ति कश्चित्परलोकवायी ।

पुण्यं च पापं च न कोऽपि धर्मः नाप्यस्त्यधर्मो न गुणी गुणो वा ॥४९॥

अर्थ-इसलिये पुण्य, पाप और उनके फल का भोक्ता कोई नहीं है तथा परलोक में जानेवाला भी कोई नहीं है. न पुण्य है, न पाप है, न धर्म है, न अधर्म है. न गुणी-आत्मा है और न उसके सम्यग्दर्शनादि गुण हैं. ॥४९॥

तेथी पुण्य, पाप, अने तेना क्षणे भोगवनार डोई नथी. तथा परलोकभां पणु डोई अनार नथी पुण्य नथी तेम पाप पणु नथी. धर्म डे अधर्म पणु नथी गुणी-आत्मा नथी अने तेना सम्यग्दर्शनादि गुणे पणु नथी. ॥४९॥

सर्वं तदेतत्कथनं मृषैव यतोऽस्ति भूतात्पृथगस्ति जीवः ।

कायात्मकोऽसौ न विरुद्ध धर्माध्यासात्तयोर्लक्षणभेदवत्त्वात् ॥५०॥

अर्थ-ऐसा यह सब कहना भूतवादी चार्वाक का झूठा ही है. क्योंकि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय से जीव भिन्न है इसी प्रकार यह शरीररूप भी नहीं है. क्योंकि शरीर का और जीव का लक्षण भिन्न २ है. अतः एक दूसरे की अपेक्षा भिन्न २ धर्मवाले होनेसे इनमें आपस में भिन्नता सिद्ध हो जाती है. ॥५०॥

आ पूर्वोक्त प्रकारथी भूतवादी चार्वाकितुं तमाम कथन असत्य अे छे. केभडे-पृथ्वी विगेरे यार महाभूतोथी एव भिन्न छे, तेमअे आ शरीररूप पणु ते नथी. केभडे शरीर अने एवना लक्षण अलग अलग छे. तेथी अेकथीअे करतां बुदा बुदा धर्मवाणा होनाथी तेओभां परस्पर भिन्नपणुं सिद्ध थछे अथे छे. ॥५०॥

भूतात्मकं तत्तु चतुष्टयं तच्चैतन्यरिक्तं कथमास्य युक्तम् ।

चैतन्यभावं प्रतिकारकत्वं विचाराणीयं स्वयमेव सम्यक् ॥५१॥

अर्थ-तुम्हें स्वयं ही इस बात का विचार करना चाहिये कि भूतात्मक जो चार सत्त्व हैं वे अचेतन हैं और जीव चेतन है. तो इस चेतन जीवरूप भाव के प्रति भूतचतुष्टय में कारणता कैसे बन सकती है. ॥५१॥

तुम्हारे पीतानी भेजे ∞ ये बातों का विचार करो ∞ ये के भूतात्मक के चार तत्व थे, ते अचेतन थे, अने ∞ चेतन थे, तो आ! चेतन ऐसा ∞ प्रत्ये चार भूतात्मा का कारणपण्डुं डनी रीते ∞ शके ? ॥५१॥

देहस्य नाशे यदि जीवनाशो भवेत्कथं संकलनात्मकं तत् ।

ज्ञानं यथाऽयं खलु देवदत्तः स एव कस्यापि भवेत्कथं वा ॥५२॥

अर्थ-देह के नाश होने पर यदि जीव का विनाश हुआ माना जावे तो फिर "यही वही देवदत्त है, ऐसा जो संकलनात्मक ज्ञान होता है. यह अब कैसे हो सकेगा ॥५२॥

देहनाश यथाथी ∞ ∞ नाश थयो तेम मानवामां आवे तो पछी आ ∞ देवदत्त थे ? ∞ के संकलनात्मक ज्ञान थाय थे, ते ∞ डनी रीते श्रे ? ॥५२॥

कालान्तरा विस्मरणे निमित्ताद् बोधात् स्मृतिर्वानुभवो यदा स्तः ।

इदं तदा संकलनात्मकं तज्ज्ञानं इदित्यात्मनि जायते हि ॥५३॥

अर्थ-जो वस्तु अवायज्ञान के द्वारा निश्चित की जा चुकी है उस वस्तु को कालान्तर में नहीं भूलने में जो हेतु है वह बोध धारणा नामका एक संस्कार है. इसी के प्रभाव से वस्तु की अनुपस्थिति में भी उसकी जीव को याद आती रहती है. याद आना इसका नाम स्मरण है. धारणा संस्कार इसका अव्यवहित कारण है. जब देखी हुई वस्तु पुनः देखने में आती है तो उसके देखते ही देखनेवाले को ऐसा ज्ञान होता है यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहिले देखा था. इसी ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान ज्ञान है. यह ज्ञान एक ही आत्मा में होता है-जिसने उसे पहिले देखा है. उसे ही उसका स्मरण होता है और पुनः उसके प्रत्यक्ष होने पर उसे ही यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहिले राजगिरि नगर में देखा था. ऐसा संकलनात्मक प्रत्यभिज्ञान होता है-आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव में ऐसा एकाधिकरक बोध नहीं हो सकता. ॥५३॥

ज वस्तु अत्राय ज्ञान द्वारा निश्चित कराध छे, जे वस्तुने काशान्तरमां न भूलवामां जे हेतु छे, ते भोध धारणा नामनो जेक संस्कार छे, जेना ज प्रभावथी वस्तुनी अनुपस्थितिमां पणु एवने तेनी याद आवे छे. याद आववुं जेतुं नाम स्मरणु छे. धारणा जे आनुं अव्यवहित कागणु छे, ज्यारे जेजेकी वस्तु इरी जेवामां आवे छे, तेने जेतां ज जेनारने जेवुं ज्ञान थाय छे जे-आ जेज वस्तु छे जेने में पहेलां जेई छती. आज ज्ञाननुं नाम प्रत्यक्षिज्ञान ज्ञान छे. आ ज्ञान जेक ज आत्मां थाय छे, जणु तेने पहेलां जेयेस छे. तेने ज तेनुं स्मरणु थाय छे. अने इरी ते जेवामां आवे त्यारे तेने ज आ जेज वस्तु छे, ज में पहेला राजगिरि नगरमां देवेस छती. आभ संकशनात्मक प्रत्यक्षिज्ञान थाय छे. आत्माना स्वतंत्र अस्तित्वना अभावमां आवो जेकाधिकारवाणो भोध थई शकतो नथी. ॥५३॥

अनेन तावत्खलु प्रत्ययेन देहाद्विभिन्नत्वमपि ध्रुवत्वम् ।

जीवे प्रसिद्धस्थितिमादधाति विरोधलेशोऽपि च नात्र शंक्यः ॥५४॥

अर्थ-इस प्रकार के इस संकलनात्मक प्रत्यय से आत्मा जीव देह से भिन्न है और ध्रुव-अविनाशी है यह बात सिद्ध हो जाती है. इसमें जरा सा भी विरोध नहीं है. ॥५४॥

आ प्रकारना आ संकशनात्मक प्रत्ययथी आत्मा एव देहपी सिन्न छे, अने ध्रुव-अविनाशी छे. जे वात सिद्ध थई ज्य छे. तेमां जरापणु निरोध नथी. ॥५४॥

लूने पुनर्जात नखे च सोऽयं नखो भवत्येष खलु प्रबोधः ।

न सोऽस्ति सम्यक् सदृशत्वतोऽसौ भ्रान्तेर्वशात्संभवति तथैषः ॥५५॥

अर्थ-कट जाने पर पुनः उत्पन्न हुए नख में यह वही नख है ऐसा जो बोध होता है-वह सत्य-प्रमाणरूप नहीं है क्योंकि यह नख पहिले के नख जैसा है ऐसा बोध होना चाहिये था. पर ऐसा न होकर जो यह वही नख है ऐसा बोध होता है वह सादृश्य के कारण भ्रान्ति के वश से होता है अतः भ्रान्त है-सत्य नहीं है. तात्पर्य इसका यही है कि भ्रान्त बोध के द्वारा सत्य एकत्व का बोध बाधित नहीं होता है. ॥५५॥

कपाई ने इरी ठगोला नथमां आ जेज नथ छे, जेवो ज भोध थाय छे, ते सत्य अर्थात् प्रमाणरूप नथी जेभई आ नथ पहेलांनानथ जेवो छे, जेवो भोध थवो जेई जे परंतु तेम न थतां आ जेज नथ छे जेवो ज भोध थाय छे ते समानताना कारणु भ्रांतिवशात् थाय छे, तेथी ते भ्रांति छे. सत्य नथी. आनुं तात्पर्य जेज छे जे-भ्रान्ती भोध द्वारा सत्य जेकत्वनो भोध बाधित थतो नथी. ॥५५॥

देहात्मनो नैक्यमसंभवित्वान्नोचेत्कथं तावक तत्त्वसिद्धिः ।

अतः पयः पावकयोस्वात्र पार्थक्यमेवेत्यवधार्यमार्यैः ॥५६॥

अर्थ-अतः देह आत्मा में असंभव होने के कारण एकता बन ही नहीं सकती है. यदि इस पर यों कहा जावे कि द्रव्यदृष्टि से दोनों में एकता बन जावेगी. सो ऐसी मान्यता में आपके यहां की तत्त्वचतुष्टय व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकेगी. अतः जैसे पय और अग्नि में लक्षणादि की भिन्नता से भिन्नता है उसी प्रकार देह और आत्मा में भी लक्षणादि की भिन्नता से भिन्नता है. ऐसा आप को निश्चय कर अपने चित्त में धारण करलेना चाहिये. ॥५६॥

तेथी देह अने आत्मांमां असंभवपणुं हेवाथी ऐकता पनी न शक्ती नथी जे आसंभंभमां जेम कडेवांमां आवे द्रव्यदृष्टिथी जेठमां ऐकता पनी नशे. तो जे मान्यतामां आपनी यार तत्व संभंधी व्यवस्था सिद्ध थम शकसे नही. तेथी जेम दूध अने अग्निमां लक्षणादिना बुद्धापणुंथी बुद्धापणुं छे तेम आपे निश्चय करीने पोताना चित्तमां विचारी लेवुं जेधजे. ॥५६॥

न भूतकार्यं न तु जीव एषः न जीव कार्यं खलुं भूततत्त्वम् ।

व्यवस्थितः कारणकार्यभावः यतः सजातीयपदार्थसार्थे ॥५७॥

अर्थ-यह जीव भूत का कार्य नहीं है और पृथ्व्यादि भूत जीव के कार्य नहीं हैं, क्योंकि कार्य कारणभाव सजातीय पदार्थों में ही व्यवस्थित माना गया है ॥५७॥

आ एव भूतसंभंधी कार्यं नथी. अने पृथ्वी विगेरे भूत एवसंभंधी कार्यं नथी कडे कार्यं कारणभाव सजातीय पदार्थोमां न व्यवस्थित मानवांमां आवेस छे. ॥५७॥

यद्भूतकार्यं भवतीन्द्रियैस्तद् ग्राह्यं यथैतद्ब्रह्मपुरादि नैतत् ।

चैतन्यरूपं ननु केवलेनाऽनुमानतः स्वानुभवेन गम्यम् ॥५८॥

अर्थ-जो भूतों-पृथिव्यादिक तत्त्वों का-कार्य होता है वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में आता है जैसे अस्मदादिकों के शरीर आदि परन्तु चैतन्य रूप पदार्थ किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है, वह तो केवलियों को केवलज्ञान से, अस्मदादिकों को अनुमान ज्ञान से और तपस्वि मुनिराज आदिकों को स्वानुभव से गम्य होता है. ॥५८॥

जे पृथिव्यादितत्त्वानुं कार्यं होय छे, ते छन्द्रियो द्वारा अहणु करी शकय छे. जेभ आपणु शरीर विगेरे परंतु चैतन्यरूप पदार्थं डोअ छन्द्रियथी आद्य थतो नथी. जे तो डेवलियोने डेवग ज्ञान द्वारा आपणु विगेरेना अनुमान ज्ञानथी अने तपस्वी मुनिराजेने स्वानुभवथी आणुनामां आवे छे. ॥५८॥

विलोक्यते जन्म समानहेतोः समानकार्यस्य मृदो घटस्य ।

यथाऽसमानाच्च न कारणाच्च न तन्तुना कुण्डसमुद्भवोऽत्र ॥५९॥

अर्थ-सदृश कारण से ही सदृश कार्य की उत्पत्ति होती देखी जाती है. जैसे कि मिट्टी से घटकी. असदृश कारण से समान कार्य की उत्पत्ति नहीं होती जैसे कि-तन्तु से कुण्ड की. ॥५९॥

सरभा कारणुथी ज सरभा कार्यनी उत्पत्ति थती देखनामां आवे छे. जेभके-भाटिथी घडानी असमान कारणुथी समान कार्यनी उत्पत्ति थती नथी. जेभके तंतुथी कुंडानी. ॥५९॥

तत्काल जातस्य च बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तेर्विधानात् ।

चैतन्यमेतन्नहि भूतकार्यं संस्कार एषोऽत्र कुतोऽन्यथा स्यात् ॥६०॥

अर्थ-जब बालक का जन्म होता है तो हम देखते हैं कि वह इकदम दुग्धपान में प्रवृत्ति करता है. यदि चैतन्य नया पैदा हुआ होता तो यह संस्कार उसमें सहसा कहां से आता इसलिये चैतन्य भूत का कार्य है यह बात कथमपि सिद्ध नहीं होती है. ॥६०॥

अ्यारे आणकेने जन्म थाय छे, त्यारे देखनामां आवे छे डे-ते जेकदम दूध पीना भाटे प्रवृत्त थाय छे. जे चैतन्य नवीन उत्पन्न थयेस्र होत तो आ संस्कार तेनामां जेकदम क्याथी आवत ? तेथी चैतन्य जे भूतनुं कार्यं छे, जे बात डोअ पणु रीते सिद्ध थती नथी. ॥६०॥

यत्र क्वचित्पूर्वभवस्मृतेश्च विलोकनात्तत्र न कार्यताऽस्य ।

प्रसिद्धयतीत्यं खलु जीव एष आद्यंतहीनः परलोकगामी ॥६१॥

अर्थ-तथा कहीं २ पर पूर्वभव की स्मृति जीवों में होती हुई देखने में आती है. इसलिये भी जीव में भूतकार्यता सिद्ध नहीं होती है. इस प्रकार यह जीव आदि अंत से हीन-अनादि अनन्त और परलोकगामी सिद्ध होता है. ॥६१॥

તથા કયાંક કયાંક જીવોમાં પૂર્વજન્મની સ્મૃતિ થાય છે. તેથી પણ જીવમાં ભૂત કાર્યપણું સિદ્ધ થતું નથી. આ રીતે આ જીવ આદિ અંત વિનાનો અનાદિ-અનંત અને પરલોક ગામી છે તેમ સિદ્ધ થાય છે. ॥૬૧॥

ન ગોમયાદ્વૃશ્ચિકચેતનાયાઃ સમુદ્રવઃ કેવલમેવ તસ્ય ।

દેહોત્પત્તિર્ગદિતાઽગમેઽસ્ય સંમૂર્ચ્છનં જન્મ યતઃ પ્રસિદ્ધમ્ । ૬૨॥

અર્થ-ગોમય સે વૃશ્ચિક ચૈતન્ય કી ઉત્પત્તિ નહીં હોતી હૈ કિન્તુ ઉસકે શરીર કી ઉત્પત્તિ હોતી હૈ ક્યૌંકિ શાસ્ત્ર મેં હસકા સંમૂર્ચ્છન જન્મ કહા ગયા હૈ ॥૬૨॥

છાણુમાંથી વીંછીરૂપ ચૈતન્યની ઉત્પત્તિ થતી નથી. પરંતુ તેના શરીરની જ ઉત્પત્તિ થાય છે. કેમકે શાસ્ત્રમાં તેનો સંમૂર્ચ્છન જન્મ કહેવામાં આવેલ છે. ॥૬૨॥

અચેતનૈસ્તૈર્મદિરાજ્જાતૈઃ સા જાયમાના મદિરા તથાસ્તિ ।

યુક્તં તદેતત્પરમત્ર સામ્યં વૈષમ્યતો નાસ્ય સમત્વમસ્તિ ॥૬૩॥

અર્થ-મદિરા જિનસે ઉત્પન્ન હોતી હૈ એસે શુદ્ધ-પ્રહુવા-પાની-આદિ યે સબ જડ મૂર્તિક અચેતન હૈં તથા હજસે જો મદશક્તિ પૈદા હોતી હૈ વહ મી જડ અચેતન હૈ સો યહ વાત તો બન જાતી હૈ. પર હજસે મદશક્તિ કી તરહ ચૈતન્ય ઉત્પન્ન હોતા હૈ એસા જો આપ યહ ઉદાહરણ દેકર સમજા રહે હૈં સો યહ ઉદાહરણ વિષમ હોને સે યહાં ફિટ નહીં વૈઠતા હૈ અતઃ મયાંગો સે મદશક્તિ કી તરહ ભૂત ચતુષ્ટય સે ચૈતન્ય કી ઉત્પત્તિ હોતી હૈ. યહ કથન વિષમ ઉદાહરણવાલા હૈ. ॥૬૩॥

મદિરા જેનાથી બને છે, એવા ગોળ, મહુડા, પાણી ત્રિગેરે આ બધા જડ મૂર્તિક અચેતન છે, તથા તેનાથી જે મદશક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે, તે પણ જડ અચેતન છે. તે વાત ઠીક છે પરંતુ તેનાથી મદશક્તિની માફક ચૈતન્ય ઉત્પન્ન થાય છે, એવું જે આપે આ ઉદાહરણ આપીને સમજાવ્યું છે પણ આ ઉદાહરણ વિષમ હોવાથી અહીં બધું બેસતું નથી તેથી મયાંગોથી મદશક્તિની માફક ચાર મહાભૂતોથી ચૈતન્યની ઉત્પત્તિ થાય છે, આ કથન વિષમ ઉદાહરણવાળું છે. ॥૬૩॥

સંયોગતો ભૂતચતુષ્ટયસ્ય જાયેત ચૈતન્ય મથો કથં ન ।

ચુલ્લિસ્થિતે તચ્ચુલુકેઽપિ તસ્ય ભાવો ભવેત્તત્ર સનસ્તયોગાત્ ॥૬૪॥

અર્થ-ભૂતચતુષ્ટય કે સંયોગ સે યદિ ચૈતન્ય કી ઉત્પત્તિ હો જાતી હૈ તો

चूल्हे पर-स्थित छोटी सी हांडी में भी उन चारों का संयोग होने के कारण चैतन्य की उत्पत्ति हो जानी चाहिये ? ॥६४॥

यार मडाभूतोना संयोगथी जे चैतन्यनी उत्पत्ति थछ जय तो यूला पर शभेक्ष नानी हांडडीमां पशु जे यारेतो संयोग थयाथी चैतन्यनी उत्पत्ति थई जवी जेधजे. ॥६४॥

चैतन्यतत्त्वं परमस्ति भिन्नं न भूतवादाभिमतं सुतत्त्वम् ।

तथागतैर्यत्क्षणेश्वर तत्प्रोक्तं विचारं सहते न न्याय्यम् ॥६५॥

अर्थ-अतः चैतन्य तत्त्व एक स्वतन्त्र तत्त्व है भूतचतुष्टय से भिन्न तत्त्व है. भूतवाद ने जैसा आना है वह सुतत्त्व नहीं है. इसी तरह जीव तत्त्व के विषय में जो बौद्धों ने ऐसा कहा है कि वह क्षण विनश्वर है सो यह कथन भी न्यायानुकूल विचारों को सहन करनेवाला नहीं है. युक्ति युक्त नहीं है. ॥६५॥

चैतन्य तत्त्व जेक स्वतंत्र तत्त्व छे अर्थात् यार मडाभूतोथी जुडु ज तत्त्व छे. भूतवादे जेम मान्युं छे ते सुतत्त्व नथी जेज प्रमाणे जव तत्त्वना संबंधमां औधेजे जे आ प्रमाणे कछु छे ते दासु विनश्वर छे, तो ते कथन पशु न्यायानुक्षण नथी अर्थात् युक्ति संगत नथी. ॥६५॥

पर्यायदृष्ट्या विगलस्वरूपं क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति ।

तथापि तद्द्रव्यदृशाऽन्वयित्वात् न मूलरूपं विजहाति नित्यम् ॥६६॥

अर्थ-पर्याय प्रतिक्षणमें अपने २ रूप को-पूर्व पूर्व पर्याय को छोड़कर जो उत्तर पर्यायरूप नवीनता को प्राप्त करता रहता है सो उस अवस्था में उसका सर्वथा विनाश नहीं होता है. किन्तु उन दोनों पर्यायों में द्रव्य की दृष्टि से मूलद्रव्य का अन्वय बना रहता है. इसलिये पर्यायों के परिवर्तन में भी द्रव्य अपने मूलरूप को नहीं छोड़ता है. अतः वह परिणामि नित्य है सर्वथा नित्य नहीं है. ॥६६॥

दरेक पर्याय क्षणे क्षणे पोतपेताना रूपने पूर्वपूर्वना पर्यायाने छोडीने उत्तर पर्यायरूप नूतनपशुाने प्राप्त करे छे, तो जे अवस्थामां तेनो सर्वाथा विनाश थतो नथी. परंतु जे जने पर्यायामां द्रव्य दृष्टिथी भूण द्रव्यनो अन्वय जनीने रहे छे. तेथी पर्यायाना परिवर्तनमां पशु द्रव्य पोताना भूणरूपने छोडता नथी. तेथी जे परिणामी नित्य छे. सर्वाथा नित्य नथी. ॥६६॥

यथा घटाकारतया विनश्यन्मृदादिद्रव्यं न च सर्वथाऽस्तम् ।

किन्तुत्तराकारमदोदधत्तद् दशाद्रव्यव्यापि च नित्यरूपम् ॥६७॥

अर्थ-जैसे जब मृत्तिकादि द्रव्य अपने पूर्वाकार के रूप से नष्ट हो जाता है तब वह सर्वथा नष्ट हुआ नहीं माना जाता क्यों कि वह उस समय पूर्वाकार का त्याग करके उत्तराकार रूप परिणाम को धारण कर लेता है. इसीलिये वह परिणमन करता हुआ भी दोनों अवस्थाओं में अपनी स्थिति रखने के कारण नित्यरूप-परिणामि नित्य-माना गया है. ॥६७॥

अपारे मृत्तिकादि द्रव्य पोताना पूर्वना आकारना इपथी नाश पामे छे, त्पारे ते सर्वथा नाश थयुं तेम भनातुं नथी. डेभडे डे अे समये पूर्वना आकारना त्याग करीने पछीना आकाररूप परिणामने धारणु करे छे. तेथी ते परिणमन करवा छतां पणु भेड अवस्थाभां पोतातुं अस्तित्व राभवाना कारणे नित्यरूप-परिणामि नित्य मानवाभां आवेक्ष छे. ॥६७॥

न सर्वथा नित्यमनित्यमित्यं वस्तु प्रसिद्धं भवतीति विज्ञैः ।

समुच्यते जैनदृशा कथञ्चित् तथैव तत् सिद्ध्यति निर्विरोधात् ॥६८॥

अर्थ-इस तरह कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है ऐसा विद्वानों का कहना है जो वस्तु नित्य मानी गई है वही जैन दृष्टि से कथञ्चित् अनित्य और जो अनित्य मानी गई है. वही कथञ्चित् नित्य मानी गई है. ऐसा सिद्ध होता है. इसमें कोई विरोध नहीं आता है. ॥६८॥

आ प्रमाणे ढाछ पणु वस्तु सर्वथा नित्य नथी. अने सर्वथा अनित्य पणु नथी. तेम विद्वानोतुं कडेवुं छे, अे वस्तुने नित्य मानवाभां आवी छे, अेअ जैन दृष्टिथी कथञ्चित् अनित्य अने अे अनित्य मानवाभां आवी छे, अेअ कथञ्चित् नित्य मानेक्ष छे. तेम सिद्ध थाय छे आनाथी कथञ्च विरोध आवतो नथी. ॥६८॥

दत्तग्रहादि व्यवहासलोधात् क्षणक्षयो नाञ्चति सिद्धिसौधम् ।

कृतप्रणाशा कृतकर्मभोग दोषात्तया संसृतिभङ्गसङ्गात् ॥६९॥

अर्थ-क्षणक्षय सिद्धान्त एकान्तरूप से इसलिये भी सिद्धिरूपी धवल महलपर विराजमान नहीं हो सकता है कि उसके मानने में दत्तग्रादिरूप व्यवहार नष्ट हो जाता है. क्षण क्षय की मान्यतानुसार जो बीज किसी के लिये दी गई है वह तो उसी समय नष्ट हो जाती है और जो प्राप्त होती है वह अन्य है अतः दी गई वस्तु के ग्रहण करने रूप जो लौकिक व्यवहार है इस क्षणिक सिद्धान्त में निर्दोष नहीं बन सकता है. इसी तरह कृतप्रणाश और अकृतकर्मभोग यह दूषण भी इस सिद्धान्त में आकर उपस्थित हो जाता है जैसे-जिसने अच्छे बुरे कर्म किये हैं वह तो सर्वथा नष्ट

हो गया और उत्तर क्षण में जो उत्पन्न हुआ है कि जिसने अच्छे बुरे कर्म नहीं किये हैं उसे उन कर्मों का फल भोगने को मिल रहा है. इस तरह वहाँ स्मृतिज्ञान भी नहीं बन सकता क्यों कि जिसने अनुभव किया है-वह तो नष्ट हो चुका है. अब स्मरण किसको होगा ? ॥६९॥

क्षणवादीने सिद्धांत निश्चितपक्षाधी अथी पक्ष सिद्ध थर्श शकते नथी. डे तेने मान-वाधी दत्तप्रहाद्विरूप व्यनहारने नाश थाय छे. क्षणक्षणनी मान्यता प्रमाणे के बीज कोषने भाटे आपी छे, अने तो अने समये नाश थाय छे. अने के प्राप्त थाय छे ते बुद्धी छे. तेथी आपेक्षी वस्तुने वेवाश्च के दौकिक व्यनहार छे ते आ क्षणिकना सिद्धांत प्रमाणे इतप्रमाणे अकृत कर्मलोग आ दूषण पक्ष आ सिद्धांत प्रमाणे आपी अशे. केभडे-कोषअे सारा डे भोटा कर्म कर्षा होय ते तो सर्वथा नाश पाभ्या अने उत्तर क्षणमां के उत्पन्न थयेस छे डे अक्षे सारा भोटा कर्म कर्षा नथी. तेने अे कर्मेना क्षण भोगववा पडे छे, आ रीते त्यां स्मृतिज्ञान पक्ष अनी शकतुं नथी. केभडे-अक्षे अनुभव कर्षा छे ते तो नाश पाभेस छे अने तेनु स्मरणे काने थशे ? ॥६९॥

अतोऽस्ति जीवः परिणामि नित्यः ध्रुव स्वरूपोऽव्ययधर्मवत्वात् ।

पर्यायदृष्ट्या स भवेद्व्ययात्मा, उत्पादधर्मा च न सर्वथाऽजः ॥७०॥

अर्थ-अतः जीव परिणामि नित्य है. सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं है. वह अपने मौलिक स्वरूप से किसी भी अवस्था में रहित नहीं होता है. इसलिये अव्ययधर्मवाला होने से यह ध्रुव स्वरूप है. कभी यह नरकरणीय धारण करता है कभी निर्यय पर्याय धारण करता है. कभी मनुष्य पर्याय धारण करता है और कभी देवपर्याय धारण करता है इस तरह नवीन २ पर्यायों को धारण करने की अपेक्षा से यह उत्पाद और व्यय धर्मवाला है अतः यह सर्वथा नित्य नहीं है. ॥७०॥

तेथी अत्र परिणामी नित्य छे सर्वथा कूटस्थ नित्य नथी. ते पोताना मौलिक-पक्षाधी कोष पक्ष व्यनस्थाभां रहित थने नथी. तेथी अव्यय धर्मवालो होनाथी ते ध्रुवश्च छे. कोष वार ते नरक पर्याय धारण करे छे, क्यारेक निर्यय पर्याय धारण करे छे, क्यारेक मनुष्य पर्याय धारण करे छे. अने क्यारेक देव पर्याय धारण करे छे. आ प्रमाणे नवा नवा पर्यायिने धारण करवाना कारणे ते उत्पाद अने व्यय धर्मवालो छे. तेथी ते सर्वथा नित्य नथी. ॥७०॥

७१ से ७४ तक मूल श्लोक उपलब्ध हुवा नहीं है ।

अर्थ-कोई २ प्रवादी ऐसा कहते हैं कि जीव स्वभावतः चेतना-ज्ञान से रहित है. उसमें चेतना का समवाय संबंध है. इसलिये जीव ज्ञानवान् है ऐसा बोध होता है. ॥७१॥

कौंठ कौंठ वादी अेषुं कडे छे डे-एव स्वभावथी न चेतना-ज्ञानथी रहित छे. तेमां चेतनानो समवाय संबंध छे. तेथी एव ज्ञानवान छे अयो येष थाय छे. ॥७१॥

अर्थ-ऐसा जो नैयायिकादि का कथन है ठीक नहीं है क्यों कि स्वभावतः जीव जब जड है तो उसमें चेतना का समवाय संबंध रूपी जो योग है वह नहीं हो सकता है. और यदि होता है. तो आकाश में भी उसका योग होना चाहिये. इस तरह होने से अजीव तत्व सिद्ध नहीं हो सकता है ॥७२॥

अेषुं न नैयायिकतुं कथन छे ते परेपर नथी. डेम डे-जे एव स्वभावथी नड छे, तो तेमां चेतनानो समवाय संबंध रूपी न योग थाय छे ते थई शडे नडीं अने जे थाय तो आकाशमां पणु तेनो योग थयो जेअये. आम होवाथी अएवतत्व सिद्ध थतुं नथी. ॥७२॥

अर्थ-इसलिये जीवतत्व चैतन्य स्वरूप ही है. यदि ऐसा न माना जावे तो स्वरूप की हानि होने से स्वयं उस जीव का भी अभाव हो जावेगा. इसलिये इस हानि से बचने के लिये जीव स्वभावतः चैतन्य स्वरूप ही है ऐसा मानना चाहिये. इस प्रकार में कोई विवाद की बात नहीं है ॥७३॥

तेथी एवतत्व चैतन्य स्वरूप न छे. जे तेम न मानवामां आवे तो स्वइपनी हानी थवाथी सयं जे एवनेो पणु अभाव थई नशे. तेथी आ हानीथी अयना भाटे एव स्वभावथी न चैतन्य स्वरूप छे तेम मानवुं जेअये आमां कंध न विवाहनी वात नथी. ॥७३॥

अर्थ-इसी प्रकार सांख्य आत्मा अकर्ता है. ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि वह भोक्ता है. सो ऐसी यह मान्यता भी ठीक नहीं है. क्यों कि ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं. यदि वहां अकर्तृत्व है तो भोक्तृत्व वहां सिद्ध नहीं होता. जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है. ऐसा माना गया है. अचेतन प्रकृति में कर्तृत्व है ऐसा जो उनका मानना है वह वहां बनता नहीं है. ॥७४॥

जेअ प्रमाणे सांख्यमतवाशा आत्मा अकर्ता छे. तेम माने छे, अने कडे छे डे-जे लोडता छे, तो आ मान्यता पणु परेपर नथी. डेम डे आ अने वात परेपर विरुद्ध छे. जे त्यां अकर्तापणुं छे, तो लोडतापणुं सिद्ध थतुं नथी. न कर्ता होय छे, जेअ लोडता होय छे. तेम मानवामां आवेअ छे. अचेतन प्रकृतिमां कर्ता पणुं छे जेम न तेमनी मान्यता छे, ते त्यां अनी शकती नथी. ॥७४॥

नित्यत्ववादे खलु विक्रियाया अभावतः कार्यसमुद्भवः स्यात् ।

कथं, यतो नात्र भवोऽस्ति तस्याः, क्रमाक्रमाभ्यां तदवस्त्वभावात् ॥७५॥

अर्थ—जो सबर्था नित्यपक्ष को अंगीकार करता है उसके इसपक्ष में किसी भी प्रकार की विक्रिया-अर्थक्रिया-जहीं बनती है. अर्थक्रिया के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है. क्यों कि वहां ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि जो नित्य है वह क्रम से अर्थक्रिया करता है, या अक्रम से अर्थक्रिया करता है? क्रम से वह अर्थ क्रिया इसलिये नहीं कर सकता है कि वह प्रथम क्रिया काल में ही कालान्तर भाविनी अर्थक्रियाओं को करने में समर्थ है फिर उसे काल की प्रतीक्षा करने की जरूरत ही नहीं है. यदि वह भिन्न २ काल में होने वाली अर्थक्रियाओं को भिन्न २ काल में करता है तो वह समर्थ नहीं माना जा सकता. और यदि वह अक्रम से अर्थक्रिया करता है तो द्वितीयादिक क्षण में फिर वह क्या करेगा. इस तरह नित्य पक्ष में क्रम और अक्रम से अर्थ क्रिया नहीं हो सकने के कारण वह नित्य पदार्थ अवस्तु स्वरूप ही ठहराता है. ॥७५॥

जो सर्वथा नित्य पक्षाना पक्षनो स्वीकार करे छे. तेना छे पक्षमां डोद्यपणु प्रकारनी विक्रिया-अर्थक्रिया बनती नथी. अर्थक्रियाना अभावमां कार्यानी उत्पत्ति थती नथी. डेम डे-त्यां जेयो प्रश्न उपस्थित थाय छे डे- जे नित्य छे ते डमथी अर्थक्रिया करे छे डे अक्रमथी अर्थक्रिया करे छे ? डमथी ते अर्थक्रिया जे माटे नथी करता डे ते प्रथम क्रिया-क्षणमां जे कालान्तरमां थनारी अर्थ क्रियाज्येने करवामां समर्थ छे. तो पछी तेने काणनी शंभ जेवानी जरूरत जे रहेती नथी, जे ते अलग अलग काणमां करे छे, तो तेने समर्थ मानवामां आवशे नहीं ज्येने जे ते अक्रमथी अर्थक्रिया करे तो द्वितीयादि क्षणमां पछी ते थुं करेथे ? आ रीते नित्यपक्षमां डम ज्येने अक्रमथी अर्थक्रिया न थवना कारणे जे नित्य पदार्थ अवस्तु स्वरूपथी जे सिद्ध थथे. ॥७५॥

न्याय रत्नस्य टीकाया मस्माभिर्बहुवर्चितः ।

युक्त्याऽवलोकनीयोज्यं विषयश्च बुभुत्सुभिः ॥७६॥

अर्थ—न्यायरत्न जो कि दर्शन शास्त्र का ग्रन्थ है उसकी टीका में यह विषय हमने युक्ति पूर्वक बहुत विस्तार के साथ स्वष्ट किया है. अतः जिज्ञासुओं को वहां से ही इसे समझ लेना चाहिये. ॥७६॥

न्यायरत्न डे जे दर्शन शास्त्रनो ग्रंथ छे तेनी टीकामां आ विषय ज्येने युक्तिपूर्वक धणा जे विस्तारथी स्पष्ट करेस छे. तेथी जेज्ञासुज्येने त्यांथी जे आ विषय समझ देवे. ॥७६॥

दुर्लभं तरजन्मेदं लब्ध्वा स्वहितकाम्यया ।

सुधीभिः स्वधिया बुद्ध्या सेव्यं सद्भिः सुसेवितम् ॥७७॥

अर्थ—दुर्लभ इस तर जन्म को पाकर के बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपने कल्याण की कामना से इस बात का विचार करे कि संत पुरुषों ने जिस मार्ग का सेवन किया है वही मार्ग मुझे सेवनीय है. ॥७७॥

दुर्लभ जेवा मनुष्य जन्मने भेषधीने बुद्धिमान् पुरुषतुं कर्त्तव्य छे के-ते पोताना कल्याणनी बावनाथी आ वातनो विचार करे के संत पुरुषो जे आ मार्गतुं सेवन करेव छे जेन मार्ग भारे पणु सेवनीय छे. ॥७७॥

गुरुमुखोद्गतां वाणीं श्रुत्वा तौ दम्पती तदा ।

गुरुं नत्वा गतौ मोदौ बह्यमानकर्मौ गृहम् ॥७८॥

अर्थ—इस प्रकार की गुरुदेव के मुख से निर्गत वाणी को सुनकर वे दोनों-गंगा देवी एवं हैमचन्द्र-गुरु की वन्दना करके हर्ष से जिनके दोनों पैर जल्दी २ आगे २ बढ रहे हैं ऐसे होकर अपने घर पर गये ॥७८॥

आ प्रभाषेनी गुरुदेवना सुपेशी नीकणेक्षी वाणीने सांभणीने जे अन्ने गंगादेवी अने हैमचन्द्र गुरुने वन्दना करीने हर्षथी जना अन्ने पणो त्वरित गतिथी आगण आगण वधे छे ते रीते पोताने घेर गया. ॥७८॥

साङ्गा बन्धुकुटुम्बसंगिनिकरा नो शक्तिमन्तोऽभवत्,

धैर्याच्चालयितुं स्थिरादपि पनाक् स्वान्तं यदीयंजवात् ।

वीरस्यास्य विचालनेकथमहो शक्तो भवेयं हहाऽ !

नङ्गत्वादिति वीक्ष्य घासिमुनिपं त्यक्त्वा सकामिस्थितः ॥७९॥

अर्थ—शरीरधारी ऐसे बन्धु और कुटुम्बी जन जिसके मन को अपने धैर्य से विचलित करने में जरा भी समर्थ नहीं हो सके तो भला ऐसे उस वीर (घासिलाल मुनिराज) को विचलित करने में शरीर रहित मैं कैसे समर्थ हो सकता हूं ऐसा सोच विचार करके वह कामदेव घासिलाल मुनिपति को छोड़कर अन्य कामि पुरुषों में स्थित हो गया. ॥७९॥

शरीरधारी जेवा अन्धु अने कुटुम्बीयो जना मनने पोताना धैर्यथी चलित करवाभां जरा पणु समर्थ न थया तो पछी जे वीर मुनिराजने विचलित करवाभां शरीर विनाना हूं केवी रीते समर्थ थाउं आ प्रभाषे समञ्ज विचारिने जे कामदेव घासिलाल मुनिने छोडीने भीअ कामि पुरुषोभां स्थिर थई गयो ॥७९॥

॥ सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

अथाष्टमः सर्गः प्रारभ्यते—

संदोहलां पूर्णमनोरथां तां प्रसन्नमुद्रां दयितां निरीक्ष्य
वाचामगम्यां मुदमानुवन् स तदभाविचिन्ताकुलितो बभूव ॥१॥

अर्थ—गर्भस्थ बालक के प्रभाव से अनेक मनोरथोंवाली और फिर उनकी पूर्ति हो जाने से प्रसन्नमुद्रावाली ऐसी अपनी पत्नी को देखकर हैमचन्द्र श्रेष्ठि को अनिर्वचनीय आनन्द होता था. परन्तु फिर भी वे उसके भावी जीवन की चिन्ता से आकुलित थे. ॥१॥

गर्भमां रहेषु पाण्डना प्रभावथी अनेक मनोरथो वाणी अने तेनी पूर्ति थवाथी प्रसन्न मुष्वाणी अनी पोतानी पत्नीने अछने हेमचंद्र श्रेष्ठने अवर्णनीय आनंद थतो हतो. तो पणु तेअो अना लविष्यता अवननी थिताथी व्याकुण थता हता. ॥१॥

कदाचिदेषा गुरुगर्भभारालसा प्रयान्ती स्वलिता भवेच्चेत् ।
तदा कृतशाङ्ग्याः कथमस्य रक्षा गर्भस्य वास्याश्च मया कृता स्यात् ? ॥२॥

अर्थ—(वे सोचते) गर्भ के गुरुभार से सुस्त बनी हुई यह यदि चलते २ कदाचित् गिर पडती है तो कृश अङ्गोवाली इसकी और इसके गर्भ की रक्षा मुझ से कैसे की जायगी ? ॥२॥

(तेअो विचारता हे) गर्भना गुरुतर भारथी सुस्त अनेअ आ अे आलना आलता कथय पडि अशे तो दुर्भाग अंगोवाणी तेनी अने तेना गर्भनी रक्षा भारथी कुवी रीते अर्थ शकशे ? ॥२॥

अस्याः क्षताङ्ग्या अबलाबलायाः स्याद्गर्भपातो यदि दैवयोगात् ।
निमित्तमासाद्य जनास्तदा मां विनिन्दन्निष्यन्ति मुहुर्मुहुर्वा ॥३॥

अर्थ—इधर उधर चलते समय गिर पडने के कारण चोट से युक्त शरीरवाली तथा अन्य अबलाओं को अपेक्षा बल रहित ऐसी इस पत्नी का यदि दैव के योग से गर्भ पतित हो जाता है तो इस निमित्त को लेकर मनुष्य मेरी बार २ निन्दा करेंगे. ॥३॥

आम तेम आलवाना समये पडि अवाना कारणे वा लागी अवाथी तथा अन्य भीथाना कर्तां निर्माण अवी आ भारी पत्नीने गर्भ अे दैवयोगे पडी अशे तो आ कारणथी अन्य मनुष्यो भारी बारवार निन्दा करशे ॥३॥

अस्याः कृशाङ्ग्या निकटप्रभूते स्तिस्ततश्चक्रमणाद्भवेच्चेत् ।
मयि स्थिते दैववशात्क्वचिद्वा गर्भस्य पातोऽप्यशो ममैव ॥४॥

अर्थ—जिसका प्रसव काल बिलकुल निकट है ऐसी इस शिथिल शरीरवाली पत्नी का इधर उधर बार २ घूमने से—चलने फिरने से—गर्भ का पतन यदि कहीं पर मेरे रहते हो जाता है, तो यह मेरे लिये ही कलङ्क की बात होगी ॥४॥

कनो प्रसवकाल अकृम नञ्क छे, अनी अने दुयणा शरीर वाणी आ भारी पत्नीनुं आभ तेम बारंवार इरवाथी गर्भानुं पतन थम अशे तो आ भारे भाटे भोटा कलंकइप छे. ॥४॥

इत्थं तदीयाहितशंकयाऽसावकल्य संकल्पशतोत्थयाऽथ ।
स्वापेन वाहारविहाररुच्या विवर्जितोऽभूल्ललना हितैषी ॥५॥

अर्थ—इस प्रकार कल्पना के अयोग्य सैकड़ों संकल्पों से उत्पन्न हुई अपनी कान्ता के अहित की आशङ्का से ये अपनी बल्लभा के हित की अभिलाषावाले हैमचन्द्र श्रेष्ठी निद्रा से एवं आहार विहार की रुचि से रहित हो गये. ॥५॥

आ प्रभाषेना अयोग्य कल्पनाअना सेंकडो विचारैथी उत्पन्न थयेथ पोतानी पत्नीना अहितनी शंकावाणा अ पोतानी पत्नीना हितनी उच्छावाणा हेमचंद्र श्रेष्ठ निद्राथी अने आहार विहारनी रुचि रहित अनी अथा. ॥५॥

स स्वस्त्रियाः मंगलकामनाढ्यः यदा कदाचिन्प्रलितैः सुहृद्भिः ।
प्रमोदितं संस्तुतिभिर्जिनानां भक्त्या गुरुणां सप्रयं निनाय ॥६॥

अर्थ—अपनी पत्नी के मंगल की कामना से भरे हुए उन हैमचन्द्र सेठ को उनके निकटवर्ती मित्रों ने उन्हें जिनेन्द्र देव की स्तुति और गुरुदेवों की भक्ति के लिये प्रेरित किया. अतः वे अपने दिनों को इसी प्रकार की दैनिक चर्या से व्यतीत करने लगे. ॥६॥

पोतानी पत्नीना मंगलनी कामना वाणा अ हेमचंद्र श्रेष्ठने तेमना सभोपना मित्रोअ तेमने अनेन्द्रदेवनी स्तुति अने गुरुदेवोनी भक्ति भाटे प्रेरणा करी. तेथी तेअ पोताना अ प्रभाषेनी दिनचर्याथी नीताववा लाग्या. ॥६॥

गर्भच्युतिं यावदसौ नियम्य व्रतोपवासैर्हितकाम्यया स्वम् ।
दिनानि शेषाण्यतिवाहते स्म धर्मानुगमात्सकलार्थसिद्धिः ॥७॥

अर्थ-इन्होंने ने अपनी धर्मपत्नी गंगादेवी के निर्विघ्न संतान उत्पन्न हो जावे इस प्रकार की उसकी हित चाहना से यावत्-तबतक अपने आपको व्रत और उपवासों द्वारा नियमित करके शेष दिनों को व्यतीत किया. सच है धर्मानुराग से सकल प्रयोजनों को सिद्धि होती है. ॥७॥

तेज्याञ्चे पोतानी धर्मपत्नी गंगादेवीने निर्विघ्ने संतानोत्पत्ती थाय त्या प्रभाषेनी तेमनी हितनी ध्येच्छाथी यावत् त्यां सुधी पोते व्रत अने उपवासेा द्वारा नियमित रहूनि पाद्रीना दिनसेा वितावना लाग्या. सायुं ङ छे डे-धर्मानुरागथी तभाम प्रयोजनेा सिद्ध थाय छे. ॥७॥

यथाऽऽलयद्वारि स वैनतये स्थिते प्रतीहारपदे गृहस्थः ।

सर्पोद्भवातंकनिःशंकितान्नो भूत्वा सुखस्थः स्वपति स्वतल्पे ॥८॥

अर्थ-जिस प्रकार जिस गृहस्थ के मकान पर गरुड पहरा देता हो तो वह सर्प के आतंक से निःशंकित होकर सुखपूर्वक अपनी सेज पर सोता है. ॥८॥

जम डोई गृहस्थने धेर गरुड पहरेा भरतुं होय तो ते गृहस्थ सर्पना लयथी निःशंक थईने सुख पूर्वक पोतानी शय्यापर सुवे छे. ॥८॥

तथा जिनेन्द्रकर्मकं जयुग्मं चित्ते स्थितं यस्य न कापि तत्र ।

आपत्तिरागच्छति पुण्ययोगाद्विपत्तिं निघ्ना प्रभुभक्तिरेव ॥९॥

अर्थ-उसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में जिनेन्द्र के चरण कमल निवास करते हैं उसके तज्जन्म पुण्य के योग से विपत्ति नहीं आती है. सच है प्रभुभक्ति ही विपत्ति को चक्रनाचर करनेवाली होती है ॥९॥

ज्ये प्रभाषे जेना अंतःकरणमां जिनेन्द्रप्रभुना चरणेषा वास करे छे, तेने ते पुण्यना योगथी विपत्ती आवती नथी. सायुं ङ छे डे प्रभुभक्तीज विपत्तीने दूर करनारी छे. ॥९॥

स्तुत्या मयूरध्वनिनेव सर्पाणां बन्धनानि द्रुमसंस्थितानाम् ।

मान्ति शैथिल्ययुतानि कर्मबन्धा मनोमंदिरसंस्थितानु ॥१०॥

अर्थ-जिस प्रकार मयूर की ध्वनि से द्रुम-वृक्ष-चन्दनवृक्षों पर लिपटे हुए सर्पों के बंधन ढीले पड जाते हैं उसी प्रकार स्तुति से-जिनेन्द्र प्रभु के गुणगान से-मनुष्य के मन मंदिर में स्थित कर्म बन्धन भी ढीले पड जाते हैं. ॥१०॥

जम मोरना अनाजथी चंदन वृक्षे पर लपेटायेला सर्पाना बंधन ढीला पडी अय छे, ज्ये प्रभाषे जिनेन्द्र प्रभुना गुणगानथी मनुष्यना मनमंदिरमां रहेला कर्मबंधनो पखु ढीला पडी अय छे, ॥१०॥

कुर्वन्तु मे मंगलपशु येषां पादारविन्देऽवनर्ताः शतेन्द्राः ।

हस्त्ये महोत्पादशतैर्मनुष्यो मुक्तो भवेदर्हति तस्करे गौः ॥११॥

अर्थ—जिनके चरण कमलों में सी इन्द्र नमस्कार करते हैं ऐसे वे अरहन्त भगवान् मुझे मंगलकारी हों, जिस मनुष्य के हृदय में इनका विश्वास है ऐसे उस मनुष्य को जिस प्रकार (प्रातः होते ही) चोर गाय को छोड़कर भाग जाते हैं उसी प्रकार बड़े २ सैकड़ों उपद्रव भी छोड़कर भाग जाते हैं ॥११॥

जैना चरण कमलों में सी इन्द्रो नमस्कार करे छे, जैना जे अरिहन्त भगवान् भने मंगल करनार थाव, जे मनुष्यना हृदयमां तेनो विश्वास छे जैना जे मनुष्यने जेम (प्रभात थतां) चोर गायने छोडीने लागी जय छे, जेज प्रमाखे मोटा मोटा सेकडे उपद्रवो पशु तेना मनुष्यने छोडीने लागी जय छे ॥११॥

जिनेन्द्र देव स्मरणं शुभं कृत् तन्नाम मंत्रं दुस्तिपहारि ।

तदेव रक्षाकृन्मैऽस्तु नित्यम् तदेव भूयादधुना शरण्यम् ॥१२॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव का स्मरण ही मंगलकारी (लोक में) है, जिनेन्द्रदेव का नामरूपी मंत्र ही मनुष्यों के पापों का विनाशक है, वही नाममंत्र नित्य मेरी रक्षा करनेवाला हो और वही मुझे शरणभूत हो ॥१२॥

जिनेन्द्रदेवतुं स्मरन् ज लोकां मंगल करनार छे, जिनेन्द्रदेवना नामरूपी मंत्र ज मनुष्योना पापोना नाश करनार छे, जेज नाममंत्र नित्य माई रक्षणु करे, जने जेज भने शरणभूत थाव ॥१२॥

तेषां जनानां निखिलापदोवा नश्यन्ति ये तान् हृदयारविन्दे ।

ध्यायन्ति जन्मोदधिमुत्तरीतुं धन्या जनास्ते शुभजन्म तेषाम् ॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य जन्मरूपी समुद्र से पार होने के निमित्त उन्हें अपने हृदय कमल में (स्थापित करके) ध्यान में जमाते हैं वे मनुष्य धन्य हैं और उनका ही जन्म पवित्र है ॥१३॥

जे व्यक्ति जन्मरूपी समुद्रथी पार उत्तरवा भाटे ते श्री जिनेन्द्रप्रभुने पीताना हृदयकमलमां राभीने ध्यान भजन थाव छे ते मनुष्यने धन्य छे, तेनो जन्म सक्षण छे ॥१३॥

यैश्चित्तल्पेऽस्ति धृतो जिनेन्द्रः शक्रादिभिस्ते च धृताः स्वलोके ।

अत्रापि ते धान्यपदं लभन्ते सान्निध्यतस्तस्य न कस्य सिद्धिः ॥१४॥

अर्थ-जिन्होंने जेनेन्द्रदेव को अपनी चित्तरूपी शय्या पर बैठाया है वे शक्रादिकों द्वारा स्वर्गलोक में अपने पास में बैठाये जाते हैं तथा यहाँ पर भी उन्हें प्रतिष्ठित पद मिलता है. सच है प्रभु की निकटता से सिद्धि प्राप्त नहीं होती है. ॥१४॥

ब्रह्मणे जेनेन्द्रदेवने पोताना चित्तरूपी शय्यापर भेसार्यां छे. तेने शक्रादिका द्वारा स्वर्गलोकमां पोतानी पासे भेसारवामां आवे छे. तथा अह्नीं पशु तेने माननीय पद भणे छे. सायुं न छे के- प्रभुना समीपपशुथी डाने सिद्धि प्राप्त थती नथी ? ॥१४॥

व्यथाऽधुना यास्ति प्रदीयचित्ते जानन्ति ते किन्नु वदाम्यहं ताम् ।

त्रैकालिकं वस्तु यतोऽस्ति तेषामध्यक्षगम्यं च शयाङ्गुलीव ॥१५॥

अर्थ-जो व्यथा इस समय मेरे चित्त में हैं वे उसे जानते हैं उसे मैं क्या कहूँ क्योंकि त्रैकालिक जो समस्त वस्तुएँ हैं वे उनके प्रत्यक्ष ज्ञानमें हस्तस्थित अङ्गुली की तरह झलकती हैं ॥१५॥

ब्रह्मीडा आ वथते भास चित्तमां छे, तेने अज्जा अशु छे. तेभने हूँ शुं कडुं ? केम के त्रशु कणमां थनारी सधणी वस्तुआने तेआना प्रत्यक्ष ज्ञानमां छथनी आंगणीनी ब्रम अण्डे छे. ॥१५॥

माता यथाऽऽक्रन्दनमन्तरेण स्वस्तन्धयं स्तन्यमशेष विज्ञा ।

न पाययत्यैव तथैव जीवो गुरोः पुगलोचनमन्तरा नो ॥१६॥

प्राप्नोति शान्तिं ननुत्प्रभावात् पापस्य हानिः सुकृनोदयश्च ।

तस्माद्भवेऽस्मिन् व्यवहार रीत्या जीवः सुखस्थं विलम्ब्यते स्वप् ॥१७॥

अर्थ-जिस प्रकार बच्चे के सम्बन्ध में पूर्णरूप से माता बिना रोये अपने बच्चे को दूध नहीं पिलाती है उसी प्रकार गुरुदेव के समक्ष आलोचना किये बिना जीव—॥१६॥

अर्थ-शान्ति नहीं पाता है आलोचना से पापकी हानि और पुण्य का उदय जीव के होता है. इसलिये इस संसार में वह जीव व्यवहारनय की अपेक्षा अपने को सुखी मानता है. ॥१७॥

ब्रम आण्डना २३॥ शिवाय माता तेने पूर्णपशु दूध पाती नथी अज्ज प्रभाशु गुरुदेव सन्पुत्र आलोचना कर्या बिना अपने शांती भणती नथी. आलोचनाथी अपने पापनी छानी अने पुण्यने उदय थाय छे. तेथी आ संसारमां ते अज्ज व्यवहार नयनी अपेक्षाथी पोताने सुणी माने छे. ॥१६-१७॥

यावान् भवः सोऽसि ग्रहं व्यथायाः नैवास्ति सौख्यं क्षणमात्रमत्र ।

तथाऽपि सातोदयतोऽथ जीवः स्वं मन्यते तावदसौ सुखस्थम् ॥१८॥

अर्थ—जितना संसार है वह व्यथा का ही घर है. यहां क्षणमात्र भी सुख नहीं है फिर भी यह जीव सातावेदनीय कर्म के उदय में अपने को सुखी मानता है. ॥१८॥

बेटलो संसार छे ते व्यापत्तिनुं न घर छे. तेमां अेक क्षण पण सुख नथी. छतां पणु आ छव सातावेदनीय कर्माना उदयथी पोताने सुणी माने छे. ॥१८॥

आस्तां व्यथा काच कथाऽपि तस्या तस्यास्ति चित्ते भगवन्निवासः ।

नश्यन्ति पापानि च तस्य शीघ्रं तमांसि सूर्यप्रभया यथाशु ॥१९॥

अर्थ—जिसके चित्त में अर्हन्त प्रभु का निवास है वहां व्यथा की बात तो बहुत दूर है. कथातक भी वहां उसकी सुनाई नहीं देती उस मनुष्य के पाप ऐसे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं कि जैसे सूर्य की प्रभा से अन्धकार नष्ट हो जाता है. ॥१९॥

बेना चित्तमां अर्हन्त प्रभुने निवास छे, त्यां व्यथानी बातते धरणी दूर रही. पणु तेनी वार्ता पणु त्यां संभणाती नथी. अे मनुष्यना पापे अेनां अदिद नाश पासे छे के-अेम सूर्यना प्रकाशथी अंधकार नाश पासे छे ॥१९॥

शैत्यं यथा घर्मतति निहत्य ह्युत्पादयच्छीतलतां तनोति ।

मुदं क्षिता वाकुलितां निरस्य तथैव तस्याद्भुतसंस्मृति र्नः ॥२०॥

आवीर्भवन्ती समतां ददाति करोति शान्ति हृदयालवाले ।

पुष्णाति सा चित्त समीहितानि पुनाति जीवं मुदमातनोति ॥२१॥

अर्थ—जिस प्रकार अत्यन्त ठंड गर्मी को दूर करके पृथ्वी पर शीतलता उत्पन्न करती हुई आनन्द का साम्राज्य जमा देती है उसी प्रकार उनकी अनौखी स्मृति हमारी आकुलता को दूर करके—॥२०॥

समता प्रदान करती है, उससे हृदय में शान्ति आती है. शान्ति से मानसिक सद्भावनाओं का पोषण होता है. इनके पोषण से जीव की शुद्धि होती है और शुद्धि से आनन्द मिलता है ॥२१॥

अम अत्यंत ठंडी गर्मीने दूर करीने पृथ्वी पर शीतपणुं ईशावीने आनन्दनुं साम्राज्य जमाने छे. अे न प्रमाणे तेनी स्मृति व्यापणी आकुलताने दूर करीने समता

आपे छे. तेनाथी हृदयमां शांति आवे छे. शांतिथी मानसिक सद्भावनाओनुं पोषणु थाय छे. तेना पोषणुथी लवनी शुद्धि थाय छे. अने शुद्धिथी आनंद प्राप्त थाय छे. ॥२०-२१॥

कृषीवलोवाथ कृषौ यथा वाऽऽनुषंगिकं घासतृणादिवस्तु ।

प्राप्नोति जीवोऽपि जिनेन्द्र भक्त्या सांसारिकं सौख्यमनेकरूपम् ॥२२॥

अर्थ-अथवा-किसान जिस प्रकार खेतीमें आनुषंगिक घासतृण आदि वस्तु पालेता है उसी प्रकार जीव भी जिनेन्द्र की भक्ति से अनेक प्रकार के सांसारिक सुख प्राप्त करता है. ॥२२॥

अथवा भेदुत जेभ भेतिमां अकस्मात् घास, तृणु विगेरे वस्तु भेणवे छे, जेज प्रभाषे लव पणु लनेन्द्रदेवनी लक्ष्मिथी अनेक प्रकारना सांसारिक सुखो प्राप्त करे छे. ॥२२॥

मनोव्यथाऽऽस्तां कथयापि तस्याः नैवास्ति साध्यं ममकिंचिदत्र ।

अतो गुणोत्कीर्तनमेव मंत्रो निहन्तु तां मां च सुखी करोतु ॥२३॥

अर्थ-भले ही मनोव्यथा रही आवे. यहाँ इसे इधर उधर कहने से मुझे कोई लाभ नहीं है. प्रभु के गुणों का स्तवन रूप मंत्र ही उस व्यथा को शान्त करेगा और वही मुझे सुखी बनावेगा. ॥२३॥

भले मननी पीडा रखा करे, अही तेने आम तेम कहेवाथी भने क'ईज लाभ नथी, प्रभुना गुणोना मानरूप मंत्र जे अ व्यथाने शांत करेसे अने जेज भने सुखी करेसे. ॥२३॥

इत्थं विनिश्चित्य स शान्तभावैर्गतो गुरुणां सविधे सुपश्र्वः ।

प्रणम्य चास्थाय चकार धर्म्याः क्रियास्तदादेशमवाप्य तत्र ॥२४॥

अर्थ-इस प्रकार हैमचन्द्र सेठ शान्त भावों से निश्चय करके गुरुजनों-साधुमहाराजों के पास (उपाश्रय में) पहुँचे वहाँ जाकर उन्होंने विराजमान मुनियों की वन्दना की और वहीं बैठकर उन्होंने उसका आदेश प्राप्तकर धार्मिक क्रियाएं की. ॥२४॥

आ प्रभाषे हेमचंद्र सेठे शांत आवेथी निश्चय करीने गुरुजनों-साधु महाराजनी पास गया त्यां अने तेमसे त्यां पिराजमान मुनियाने वंदना करी अने त्यां जे बेसीने तेसे तेमनी आज्ञा भेणवीने धार्मिक क्रियाओ करी. ॥२४॥

धर्म्यक्रियान्ते श्रुतवान् श्रुतज्ञः सश्रावकैः श्राद्धशुणाभिरामैः ।
दिव्योपदेशं वेरुणो यदिष्टं समागतैस्तत्र सहोपविष्टैः ॥२५॥

अर्थ—हैमचन्द्र सेठ की जब धार्मिक क्रियाएं समाप्त हो चुकी तब शास्त्र के ज्ञाता उन्होंने ने श्रावक के गुणों से श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति आदि सद्गुणों से-सुन्दर ऐसे पहिले से ही आकर बंटे हुए श्रावकों के साथ २ गुरुदेव के दिव्य उपदेश को सुना. ॥२५॥

हेमचन्द्रशेठनी धार्मिक क्रिया अगरे समाप्त थीं शास्त्रमां लक्षणकार अथा तेमणे श्रावकना गुणोथी श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति विगेरे सद्गुणोथी सुंदर अने पडेवेथी न आवीने थेडेला श्रावकानी साथे गुरुदेवना दिव्य अथो उपदेश सांभणो. ॥२५॥

उपदेशः—

आख्यायिकाचंयमिना तदा भो ! भो ! भव्यवृन्दाः शृणुतावधानात् ।
संसारसिन्धौ पतितस्य धर्मो जीवस्य संरक्षक एष एव ॥२६॥

अर्थ—वाचंयमी—मुनिराज ने कहा—हे हे भव्य जनो ! आप सब सावधान होकर सुनीये—यह संसार एक समुद्र है. इसमें जीव गोंते खा रहा है. ऐसी स्थिति में—यदी कोई इनका संरक्षक है तो वह यह एक धर्म ही है. ॥२६॥

वाचंयमी अथा मुनिराजे कथुं हे-हे अव्यजनो ! तमे सौ सावधान थीने सांभणो. आ संसार एक समुद्र छे, तेमां अथो दुभका भाई रथा छे, आवी स्थितिमां काई तेनुं रक्षण करी शके तेम होय तो ते आ एक धर्म न छे. ॥२६॥

धर्माप्तिमूलं यदि किञ्चिदस्ति दयैव तदुभव्यजनाः शृणुध्वम् ।

आख्यानमेकं कथयामि तावत्पुष्ट्यै मनोमोदकमत्र सम्यक् ॥२७॥

अर्थ—इस धर्म की प्राप्ति का यदि कोई मूल कारण है तो वह एक दया ही है. मैं उसकी पुष्टि के निमित्त एक सुन्दर रोचक कथानक कहता हूँ उसे हे भव्य जनो आप सुने. ॥२७॥

धर्मनी प्राप्ति यवानुं ने काई भूण कारण होय तो ते एक दया न छे. आ वातनी पुष्टि भाटे हूँ एक सुंदर कथा कहुं छुं हे अव्यजनो ! ते तमे सावधान थीने सांभणो. ॥२७॥

अथास्ति भूमण्डलमण्डनेऽस्मिन् श्री भारताख्ये प्रथिनो निवेशः ।

क्षेत्रे चतुर्वर्गं सगुत्थकीर्तिप्रभूति भूत्या खलु मालवाख्यः ॥२८॥

अर्थ—समस्त भूमण्डल के अलङ्कार स्वरूप इस भरत क्षेत्र में एक मालव नामना देश—स्थान है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गों से उद्भूत हुई कीर्ति रूपी विशिष्ट विभूति से प्रसिद्ध है। अर्थात् यहां की जनता इन चार पुरुषार्थों के सेवन करने में दत्तचित्त रहती है। ॥२८॥

सधया भूमं उगता आभूषणरूप आ भरत क्षेत्रमां मालव नामना येक प्रदेश छे, ये धर्म, अर्थ, काम अने मोक्ष ये चार वर्गोथी उत्पन्न यथेस कीर्तिरूपी विशेष प्रकारनी विभूतिथी प्रसिद्ध छे, येठवे के त्यांनो जनसभूड आ चार पुरुषार्थोना सेवन करवाभां तत्पर रही दत्तचित्त रहे छे। ॥२८॥

ग्रामाः समस्ता महिषीयुतत्वात् नरेन्द्ररूपाः प्रतिभान्ति यत्र ।

नक्षत्रराजि द्विजराजवत्वात् निशीथभावं ह्यनुकुर्वते ते ॥२९॥

अर्थ—यहां के समस्त ग्राम महिषी—मैस या पटरानी से युक्त होने के कारण नरेन्द्र के जैसे लगते हैं तथा नक्षत्र राजि और द्विजराज—चन्द्रमा वाले होने से वे रात्रि का अनुकरण करते हैं अर्थात् यहां ग्रामों में न क्षत्रिय हैं न द्विजराज हैं—केवल किसान ही हैं रात्रि का वे अनुकरण इसलिये करते हैं कि रात्रि में ही नक्षत्रों का और चन्द्रमा का उदय होता है, रात्रि को देखता है ॥२९॥

आ प्रदेशना सधया गात्रो महिषी भेसो अथवा पटरानीथी युक्त होवाथी नरेन्द्र अवा ज्ञाय छे, तथा नक्षत्रराज अने द्विजराज चन्द्रमा वाणा होवाथी तेओ रात्रिनुं अनुकरण करे छे, येठवे के अहीना गात्रोमां क्षत्रियो के द्विजे होतानथी, उवण जेडुतो न होय छे तेथी तेओ रात्रिनुं अनुकरण अे करणु करे छे के—रात्रे न नक्षत्रोना अने चंद्रमानो उदय थाय छे। ॥२९॥

पुर्षस्ति तत्रोज्जयिनी विशाला चतुर्वृहद्गोपुर वैर्यगम्या ।

विभाति यातीव दिवौकसां या पुरीं विजेतुं गगनंकपैः स्वैः ॥३०॥

सौधैः सुधादीधिति भूर्तिवद्भिः सुधा विलिप्ताङ्गविराजमानैः ।

अहर्निशं रक्षति या महीशो वप्रच्छलात्कुण्डलिताङ्गकान्तः ॥३१॥

अर्थ—इसी मालव देश में एक बहुत बड़ी नगरी है, जिसका नाम उज्जयिनी है, इसके चार बड़े दरवाजे हैं जिन के कारण शत्रुजन इसमें प्रवेश तक नहीं कर सकते हैं इसमें जो राजमहल बने हुए हैं वे इतने ऊँचे हैं कि इन्होंने आकाश को छू लिया है, इससे ऐसा होता है कि मानों यह नगरी सुर पुर को ही परास्त करने के लिये कटिबद्ध हो रही है वे राजमहल चन्द्रमा की जैसी

कान्ति वाले हैं उनकी भित्तियां चूना की कलई से पुनी हुई हैं कोट के बने इसपुरी की रक्षा स्वयं शेषनाग कि जिसने अपने शरीर को कुण्डलाकार कर लिया है रात दिन करता रहता है. ॥३०-३१॥

આ માળવા પ્રદેશમાં ઉજ્જयિની નામની એક મોટી અને સુપ્રસિદ્ધ નગરી છે, તેના મોટા મોટા ચાર દરવાજાઓ છે. જયી શત્રુઓ તેમાં પ્રવેશ કરી શકતા નથી. તેમાં જે રાજમહેલો છે તે એટલા ઉંચા છે કે—તેમણે આકાશનો સ્પર્શ કરી લીધો છે. તેથી એવું જણાય છે કે જણે એ નગરી ઈન્દ્રપુરીનો પરાજ્ય કરવા કટિબદ્ધ થયેલ છે. એ રાજમહેલો ચન્દ્રમાના જેવી કાંતીવાળા છે. તેની બીંતો ચુનાથી ઘોળેલ છે. કાંટના બહાનાથી આ નગરીનું રક્ષણ સ્વયં શેષનાગ કે જણે પોતાના શરીરને કુંડલાકાર બનાવી લીધું છે તે રાત દિવસ કરતા રહે છે. ॥૩૦-૩૧॥

जना मनोज्ञाः सुमनोऽभिरामाः सुलक्षणाः पुण्य विभूतिमन्तः ।

पुण्यप्रभावार्जितभूरिचित्ता प्रतापतस्तर्जित शत्रुचित्ताः ॥३२॥

अर्थ—यहां के मनुष्य पुष्प के जैसे सुन्दर हैं दूसरों के अन्तःकरण को अपनी ओर खींचने वाले हैं, सामुद्रिक शास्त्रोक्त अच्छे २ लक्षणों से युक्त हैं पुण्यरूपी विभूति से संपन्न हैं; पवित्र प्रभाव से संचितधन वाले हैं और प्रताप से अपने शत्रुओं के चित्त को कंपित कर देने वाले हैं ॥३२॥

અહીંના મનુષ્યો પુષ્પના જેવા સુંદર છે. બીજાના અંતઃકરણને પોતાના તરફ ખેંચનારા છે. સામુદ્રિક શાસ્ત્રોક્ત સારા સારા લક્ષણોથી યુક્ત છે. પુણ્યરૂપી વિભૂતિવાળા છે. પવિત્ર પ્રભાવથી મેળવેલ ધનસંપત્તિવાળા છે. અને પ્રતાપથી પોતાના શત્રુઓના હૃદયોને કંપાવનારા છે. ॥૩૨॥

अत्रत्य योषा ललना युवत्यः पतिप्रिया प्रीणित पोष्यवर्गाः ।

पुत्रन्ध्रयः सन्ति पतिव्रतास्ता विपत्प्रतीकारपरा विनीताः ॥३३॥

अर्थ—यहां की स्त्रियां अपने पति देवों को हर तरह से लाड प्यार से प्रसन्न करनेवाली हैं. यौवन के राग रंग से मंजी हुई हैं. अतः अपने २ प्राणनाथों के लिये बड़ी प्यारी हैं नौकर चाकरों को समय २ पर सन्तुष्ट करने वाली हैं. पुत्रवती पतिव्रता हैं, यदि कदाचित् किसी प्रकार की आपत्ति आ जावे तो उसके प्रतीकार करने में कटिबद्ध रहने वाली हैं और अपने सौभाग्यपर इठलाने वाली नहीं हैं—विनीता हैं. ॥३३॥

અહીંની સ્ત્રિયો પોતાના પતિદેવોને દરેક પ્રકારથી પ્રસન્ન કરવાવાળી છે. યૌવનના રાગરંગથી રંગાયેલ છે. તેથી પોત પોતાના સ્વામીઓને પ્રિય છે. નોકર ચાકરોને સમયે

समये संतोषि आपनारी छे. पुत्रवती अपने पतिव्रता छे. ओ कदाय कोष प्रकारनी विपत्ति आवी पडे तो तेनो सामनो करवाभां तत्पर रहे छे, अपने पोताना सौभाग्य पर भगव्णी करनार होती नथी पशु विनयवान् होय छे. ॥३३॥

तस्याः प्रशास्ता नरपालकान्तः बभूव भूपो वृषभाभिधानः ।

दधौ स्वचित्तं वृषभावनादयः प्रजाहितायैव स दुर्जनारिः ॥३४॥

अर्थ—उस नगरी के शासक वृषभ (सेन) नामके राजा थे. ये दुर्जनों के शत्रु एवं राजाओं में सब से अधिक अच्छे थे. धार्मिक भावना से ये भरपूर थे. प्रजा के हित में ही ये अपने चित्त लगाते रहते थे ॥३४॥

ते नगरीनुं शासन करनार वृषभसेन नामनो राजा होतो ते दुर्जनोनो शत्रु अपने राज्याभां सौथी श्रेष्ठ होता. ते धार्मिक भावनाथी रंगायेल होता. प्रजना हितमां न तेजो पोतानुं चित्त लगावे छे. ॥३४॥

तदेकनाम्नी महिषी तदीया बभूव तच्छंद्रसि वर्तमाना ।

स्मस्य पत्नीव विधोः प्रभेव मेवामवत्सा तरणेः स्वभर्तुः ॥३५॥

अर्थ—उस राजा की उसी नामवाली—वृषभसेना इसनामकी पटरानी थी. जो कि उसकी इच्छा के अनुसार चलती थी, अतः वह अपने पति के लिये काम की पत्नी के जैसी, चन्द्रमा की प्रभा जैसी और सूर्य की प्रभा जैसी लगती थी. ॥३५॥

ओ राजनी वृषभसेना ओ नामनी पटरानी होती. ओ ओ राजनी मुख्य प्रभाशु याद-नारी होती. तेथी ते पोताना पतिने भाटे कामदेवनी पत्नीनी जेभ चंद्रमानी प्रभानी भाक्ष अपने सूर्यनी प्रभा जेवी जशाती होती. ॥३५॥

धन्येषु धन्यो गुणपाल नाम्ना मतः प्रसिद्धिं क्षितिं पालमान्यः ।

आसीच्च तत्रैव गुणी गुणज्ञः श्रेष्ठी परस्त्वम्बक मित्रतुल्यः ॥३६॥

अर्थ—धनवालों में विशेष धनवाला ऐसा गुणपाल नामका एक राजमान्य सेठ वहीं पर रहता था. यह स्वयं गुणी था और गुणीजनों की प्रतिष्ठा किया करता था. (देखनेवालों को यह) कुबेर तुल्य प्रतीत होता था ॥३६॥

धनवानोभां विशेष धनादय गुणपाल नामनो ओके राजमान्य सेठ त्यां न रहेतो होतो, ते पोते शुश्रुवान् होतो अपने शुश्रुवानोनुं सन्मान करतो रहेतो होतो. (जेनाशयाने ते कुबेर जेवो जशातो होतो. ॥३६॥

गुणेष्वनेकेषु च सत्सु तस्मिन् संकल्पदाढ्यं गुण एव मुख्यः ।

आसीदतोस्मै ह्यरुचद् यथैव सोऽयं तथैवाथ चकार तत्तत् ॥६७॥

अर्थ-उस सेठ में अनेक सद्गुण थे, परन्तु उन गुणों में प्रधान इसमें एक संकल्प की दृढतारूप गुण ही था. इसलिये यह जिस कार्य को जैसा करना चाहता उसे वैसा ही करके छोड़ता था. ॥३७॥

ये शेषों में अनेक सद्गुणों में थे. परन्तु ये गुणों में मुख्य गुण संकल्पनुं निश्चय-पथुं ये एक न गुण होता. तथैव ते न कार्यं नम करवा छुटता तेने तेमन करीने रहेता होता. ॥३७॥

कृष्णस्य लक्ष्मीस्त्रिभामिनी भगन्वैव भार्याथ बभूव तस्य ।

रतिः स्मरस्यापि च शंकरस्यापणैव सौभाग्यवती गुणश्रीः ॥३८॥

अर्थ-कृष्ण की पत्नी लक्ष्मी के समान, मेरी पत्नी भगवा के समान, काम की पत्नी रति के समान और शंकर की पत्नी पार्वती के समान उस सेठ के सौभाग्यशालिनी धर्मपत्नी गुणश्री थी. ॥३८॥

कृष्णनी पत्नी लक्ष्मीनी नम भारी पत्नी भगवा तुल्य, कामनी श्री रतीनी नम अने शंकरनी पत्नी पार्वतीनी नम ये शेषने सौभाग्यशाली धर्मपत्नी गुणश्री होती. ॥३८॥

यथाब्धितः कीर्तिरभूत्तथाऽस्माज्जाता सुतैकाच विषाभिधाना ।

निशोऽवनौ नाम तदीयमेतन्न सार्थकं तद्रजनीव जातम् ॥३९॥

अर्थ-जिसप्रकार समुद्र से कीर्ति उत्पन्न हुई उसी तरह इस सेठ से एक सुता उत्पन्न हुई. इसका नाम विषा था. परन्तु उसका वह नाम रात्रि के नाम रजनी के जैसा सार्थक नहीं था. जो चमकती हो या पीली हो उसे रजनी कहते हैं परन्तु रात्रि तो अन्धकारपूर्ण होती है फिर भी दुनिया में लोग उसे "रजनी" इस नाम से कहते ही हैं. इसी प्रकार भी अपने नाम से उल्टे ही गुणवाली थी. ॥३९॥

नम समुद्रमांथी कीर्ति उत्पन्न थछ अण प्रभाषे अ शेषने अक पुत्री प्राप्त थछ, तेनुं नाम विषा रात्रिमां आव्युं. परंतु तेनुं अ नाम रात्रीनुं नाम रजनी छे तेनुं सार्थक न हुतुं. न यमकदार होय अगर पीली होय तेने रजनी कहेवामां आवे छे. परंतु रात्री तो अंधकारमय होय छे. तो पण दुनियाना बोडो तेने 'रजनी' अ नामथी-कहे न छे. अण प्रभाषे विषा पण पोताना नामथी उल्टा गुणवाणी होती. ॥३९॥

युग्मम्—

अथैकदा तत्र समागतौ द्वौ महामुनी मार्ग प्रकाशनार्थम् ।

तपस्यया क्षीणकलेवरौ तावुच्छिष्टभक्तं च सुभक्षयन्तम् ॥४०॥

अपश्यतां नन्दनमेकमेवं दृष्ट्वाऽपरः पृच्छति भो मुनीन्द्रो ।

सुलक्षणैः शोभित एष बालः, कस्माच्च दैन्यं गतर्वांश्च दायात् ॥४१॥

अर्थ—एक दिन की बात है कि सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गके प्रकाशन निमित्त दो महामुनि कि जिनका शरीर तपस्या से कृश था सेठ गुणपाल के घर पर आये वहाँ आते ही उन्होंने झूठे भोजन को रुचिपूर्वक खाते हुए ॥४०॥

एक बालक को देखा. देखकर एक मुनि ने दूसरे मुनिराज से पूछा—हे मुनि ! सुलक्षणों से शोभित यह बालक किस पाप से इस प्रकार की दीन दशा वाला हुआ है. ॥४१॥

एक दिवसे सम्यग् दर्शनार्थ सन्मार्गना प्रकाशन निमित्ते ये महामुनि के जन्तुं शरीर तपस्याथी दुर्भिक्षं लुतं. तेनो गुणपाल शैठने धेर आया. त्यां आनतां न तेभ्यो अंठा लोन्नते इत्थिपूर्वकं पाता अवा अकं आकने अथो. तेने अकने अक मुनिअे थीअ मुनीने पृथुं—हे मुने ! सुलक्षणैथी शोभायमान आ आक कया पापना प्रभावथी आ रीतनी दीन दशावाणुं छे ? ॥४०—४१॥

दशाऽस्य कीदृग्भविता ? प्रकाश्या त्वयेति साधो ! विरतेऽथ तस्मिन् ।

उवाच तावच्छृणु सर्वमेतद्वृतं मयोक्तं यद्भूच्च भावि ॥४२॥

अर्थ—तथा आगे इसकी क्या दशा होने वाली है. हे साधो ! आप इस पर प्रकाश डाले ऐसा पूछकर जब वे प्रथम मुनि चुप हो गये. तब दूसरे मुनिराज बोले. सुनो—मैं इसकी हुई और होने वाली दशा तुम्हें सुनाता हूँ. ॥४२॥

तथा आगत तेनी केवी दशा थवानी छे ? हे साधो ! आप आ विषे मने अणुवो. आभ पूछीने अयारे ते पूछनार मुनि शांत थया. तयारे थीअ मुनिराज कथुं—सांखणेो हुं आ आकनी थयेदी अने थनारी दशा विषे कहुं छुं. ॥४२॥

अत्रावसत्कोऽपि च सार्थवाहः श्रीदत्तनामाऽशुभकर्मपात्रः ।

निः स्वः स्वबन्धुप्रभृतीद्भवर्गैस्तिरस्कृतस्तोष विनोदरिक्तः ॥४३॥

अर्थ-यहाँ एक श्रीदत्त नामका सार्थवाह रहता था. यह अशुभ कर्म का पात्र था. निर्धन था. एवं अपने बन्धु आदि धनिक वर्ग द्वारा सदा तिरस्कृत था, अतः इसके चित्त में न चैन थी और न संतोष जैसी सुन्दर वस्तु ही थी ॥४३॥

आ नगरीमां अेक श्रीदत्त नामनो व्यापारी रहेतो હતો તે અશુભ કર્મ કરવાયાणો હતો. નિર્ધન હતો અને પોતાના બંધુ વિગેરે ધનવાન વર્ગ દ્વારા હંમેશાં તિરસ્કૃત હતો. તેથી તેના ચિત્તમાં ચેન કે સંતોષ જેવી કંઈજ સુંદર વસ્તુ હતી નહીં. ॥४३॥

यदावतीर्णः खलु चैव कुक्षौ हा हन्त हन्तास्य मृतोऽथ तातः ।

जातेऽपि तस्मिन् जननी परासु र्भूव धिग् धिग् दुष्कर्मवृत्तिम् ॥४४॥

अर्थ-जब यह बालक अपनी माता के गर्भ में आया-तो इसके गर्भ में आते ही पिता का देहांत हो गया. और जब यह पैदा हुआ तो इसके पैदा होते ही इनकी माता मर गई. दुष्कर्म, पाप कर्म की वृत्ति को अनेक बार धिक्कार है. ॥४४॥

જ્યારે આ બાળક પોતાની માતાના ગર્ભમાં આવ્યું તે તેના ગર્ભમાં આવતાં જ તેના પિતાનો દેહાંત થઇ ગયો. અને જ્યારે તે પેદા થયું ત્યારે તેની માતા મરી ગઇ દુષ્કર્મ-પાપકર્મની વૃત્તિને અનેકવાર ધિક્કાર છે. ॥४४॥

अस्यैव सच्छ्रेष्ठ महोदयस्य भवेत्सुताया दयितः प्रियोऽसौ ।

कालान्तरे स्याच्च नृपालमान्यः अहो विचित्राऽस्ति विधेर्व्यवस्था ॥४५॥

अर्थ-कालान्तर में यही बालक यहां के धनपतियों में जिसका उदय महान् वर्त रहा है ऐसे इसी गुणपाल सेठ की सुता का प्यारा पति और राजा से भी सन्मानित होगा. देखो-कर्म की गति बड़ी विचित्र है. ॥४५॥

કાલાન્તરમાં આજ બાળક અહીંના ધનપતિઓમાં જેનો પ્રભાવ વર્તાય રહ્યો છે, એવા આ ગુણપાલ શેઠની પુત્રીનો પ્રિય પતિ થશે. અને રાજથી પણ સન્માનિત થશે જુવો કર્મની ગતિ ઘણી જ વિચિત્ર છે. ॥४५॥

उक्त्वाऽथ पश्चात्पुनरस्य वृत्तं भवान्तरस्थं ह्यवदहयालुः ।

विज्ञायते कन्दुकवज्जनस्य भवे भवे वोत्पतनं निपातः ॥४६॥

अर्थ-ऐसा कह कर पश्चात् उन मुनिराज ने पुनः इसका अन्यभव सम्बन्धी वृत्तान्त कहा. जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि प्राणी का कन्दुक की तरह हर एक भव में उत्थान और पतन होता है. ॥४६॥

आम कहीने ते पछी अे भुनिराज् इरीथी तेना श्रीज् लव संभंधी वृतांत कछुं-
कथी अे निश्चित थर्य अय छे डे प्राणुनुं उत्थान अने पतन इडानी भाइक प्रत्येक लवभां
थया करे छे. ॥४६॥

आसीदयं पूर्वभवे तटिन्यास्तटेऽसिप्राभिधाया अवधौ स्थितायाम् ।
पत्न्यां स्वपत्न्या सह घंटया शिशपाभिधायां वसता ववात्सीत् ॥४७॥

अर्थ—यह पूर्वभव में सिप्रा नामकी नदी के तट पर स्थित शिशपा नाम की
बस्ती में एक झोंपड़ी में अपनी घंटा नाम की पत्नी के साथ रहता था. ४७॥

आ पूर्वलवभां सिप्रा नामनी नदीने किनारे आवेल शिशपा नामना गामभां अेक
जुंपडाभां पोतानी घंटा नामनी पत्नीनी साथे रहेतुं छतुं. ॥४७॥

धियाज्वरोऽसौ मृगसेन नामर सुधीवरो धीवर जाति जात्रः ।
ख्यातो बभूवादभूतजीवहिंसायां वेत्यहिंसां व्यसनप्रदात्रीम् ॥४८॥

अर्थ—इसका नाम मृगसेन था. यह धीवर जाति में उत्पन्न हुआ था. बुद्धि
इसकी अच्छी नहीं थी. जीवों की हिंसा करने में यह प्रख्यात था इसकी ऐसी
मान्यता थी कि अहिंसा दुःख की देने वाली है. ॥४८॥

आनु नाम मृगसेन छतुं ते बिल्ल अतभां उत्पन्न थयो छतो तेनी बुद्धि सारी न
छती. ज्योनी हिंसा करवाभां ते प्रसिद्ध छतो. ते अेवुं मानतो डे अहिंसा दुःख
देवावाणी छे. ॥४८॥

अथाऽन्यदा जालमसौ गृहीत्वा मत्स्यान् पस्त्रिहीतुमना अयासीत् ।
सिप्रां समीरेण च शुष्कसिप्रोऽपश्यत् पदव्यां नरवृन्दमेकम् ॥४९॥

अर्थ—एक दिन की बात है कि मृगसेन जाल लेकर मछलियों को पकड़ने के
लिये सिप्रा नदी पर गया. रास्ते पर चलने के कारण इसे पसीना आ गया.
वह वायु ने शुष्क करदिया चलते र इसने मार्ग में मनुष्यों की भीड़ देखी. ॥४९॥

डोछ अेक दिवसे मृगसेन अण् लरने माछलियोने पकडवा भाटे सिप्रा नदी पर गयो.
रस्ताभां आलवाथी तेने शरीरे परसेवे आवी गयो अने ते पवनथी सुकई गयो. आलता
आलता तेने भागभां मनुष्योनी भीड जेवाभां आवी. ॥४९॥

दृष्ट्वाज्वहद्विस्मयमेषयातः कुतूहलाकृष्टमना अपश्यत् ।
दया स्वरूपं प्रतिपादयन्तं मुनिं तनौ निस्पृह वृत्तिमन्तम् ॥५०॥

अर्थ-भीड को देखकर इसे आश्चर्य हुआ. फिर भी यह कौतुक वश उस ओर गया. वहां उसने दया के स्वरूप को प्रतिपादन करते हुए मुनि को कि जिन्हें अपने शरीर पर कोई अनुराग नहीं था देखा. ॥५०॥

भीडने ओधने तेने व्ययस्य थद्य तो पशु ते कौतुकवशात् ते तरङ्ग गयो त्यां तेष्णे दयाना स्वशपतुं प्रतिपादन करतारा अक मुनीने जेया के जेने पोताना शरीर पर पशु कांछ प्रीति न इती. ॥५०॥

शशाङ्कविम्बं किमयं स्वशिष्यैस्विच्छेद्वन्दैः परिवेष्टितोऽथ ।

वितर्कयन्नित्थपसौ च तस्थौ तत्रैव विस्मृत्य निजस्य कृत्यम् ॥५१॥

अर्थ-नक्षत्र मंडली के जैसी अपनी शिष्यमंडली से परिवेष्टित हुआ क्या यह चंद्र मंडल है इस प्रकारकी वितर्कणा करता हुआ मह मृगसेन धीवर अपने काम को भूलकर वहीं पर बैठ गया, ॥५१॥

नक्षत्र मंडलानी जेम पोताना शिष्य समूहथी युक्त थयेल तेज्या आ शुं चंद्र मंडल छे ? आ प्रमाणे तर्क करतो आ मृगसेन पार्थी पोतानुं काम भूलीने त्यां न थेशी गयो. ॥५१॥

यथात्मदेहे विशतः क्षुरप्रात् सहा भवति प्रपीडा ।

जन्तोः कथं स्यान्न तथाऽसिपाते परस्य बुद्ध्वा करुणेति धार्याः ॥५२॥

अर्थ-जिस प्रकार प्राणी को अपने शरीर में तीक्ष्ण कांटे के प्रवेश करने पर असह्य वेदना होती है उसी प्रकार वह वेदना क्या उन पर तलवार का चार करने पर उन्हें नहीं होती होगी अवश्य होती होगी. ऐसा समझकर हर एक प्राणी को दया का पालन करना चाहिये. ॥५२॥

जेम प्राणीने पोताना शरीरमां तीक्ष्ण कांटे लागनाथी असह्य पीडा थाय छे, जेन प्रकारनी जे वेदना शुं तेना पर तलवारना धा करवाथी तेने नही थती होय ? अवश्य थती न छे. तेम समजने दरेक प्राणिजे दयानुं पालन करयुं जेधजे. ॥५२॥

यथाऽस्मदीये हृदये समस्ति जिजीविषा सैव तथाऽपरस्य ।

मृत्योर्भयं सर्वभयप्रधानम् बिभेति जीवो निखिलोऽपि तस्मात् ॥५३॥

अर्थ-जिस प्रकार हम जीने की इच्छा करते हैं उसी प्रकार दूसरे जीव भी जीने की इच्छा करते हैं. क्यों कि मृत्यु का भय समस्त भयों में प्रधान है इससे समस्त जीव डरते हैं ॥५३॥

जेम आपणे जवानी धिंछा राणीये छीये जेज प्रमाणे भीज जवो पणु जव-
वानी धिंछा राणे छे. डेम डे मरुणेनो लय तमाम लयोथी लयंकर ते. तेनाथी सधणा जवो
डरे छे, ॥५३॥

श्रुत्वैव जीवो मरणेति शब्दं यः स्वं प्रयुक्तं कलहं करोति ।

स मारयेद्वा कथमन्य जन्तून् सुधीवरः स्याच्च कथं स हन्ता ॥५४॥

अर्थ-जो जीव अपने प्रति कहे गये “मरण” इस प्रकार के शब्दों को सुनते
ही लडने को तैयार हो जाता है वह बडे दुःख की बात है कि दूसरे जीवों को
कैसे मारता हैं और उन्हें मारते हुए वह समझदार कैसे कहा जाता है. ॥५४॥

जे जव पोताने उदेशीने उहेला ‘मरुणु’ शब्दने सांखणीने ज लडवा प्रेराय छे, तेज
जव दुःखनी बात छे डे-भीज जवोने डेम मारे छे? अने तेने मारनार जे समझदार उधी
रीते उही शक्य ? ॥५४॥

इत्थं गुरुक्तं हृदि संप्रधार्य विचारयामास स धीवरो द्राक् ।

महात्मनानेन यदुच्यते तत् सम्यग् यतः स्यां न सुधीवरोऽहम् ॥५५॥

अर्थ-इस प्रकार गुरुदेव का उपदेश सुनकर मृगसेन ने विचार किया कि
इस महात्मा ने जो कुछ कहा है वह सत्य कहा है. जीवों की हिंसा करने वाले
मैं सुधीवर कैसे हो सकता हूं ॥५५॥

आ प्रमाणे गुरुदेवने उपदेश सांखणीने जे मृगसेने विचार कर्यो डे-आ महात्माजे
जे कांय उहुं छे, ते सायुं ज छे. जवोनी हिंसा करवावाणो हुं सारे पारधी उधी रीते
अनी शकुं ? ॥५५॥

यथा प्रियाः सन्ति ममासवस्ते तथा परस्यापि च सन्ति तेऽपि ।

यथाऽधिकारो मम जीवनेऽस्ति तथाऽस्ति सर्वस्य स तुल्यरूपः ॥५६॥

अर्थ-जैसे मुझे अपने प्राण प्यारे हैं वैसे वे दूसरों को भी प्यारे हैं. तथा
जिस प्रकार मुझे जीने का अधिकार है. उसी प्रकार वह समानरूप से सब
जीवों को है. ॥५६॥

जेम मने पोताना प्राणो प्यारा छे, जेज प्रमाणे ते अन्यने पणु प्यारा छे. तथा
जेम मने जववानो उक छे, जेज प्रमाणे ते समान रीते अथा जे जवोने छे. ॥५६॥

इत्थं विचार्यैव गतो गुरुणां पार्श्वे समुत्थाय निपत्य भूमौ ।

संस्मृत्य पादौ वदति स्म देव मां पापिनं त्राहि दयां विधाय ॥५७॥

अर्थ-इस प्रकार से विचार करके वह उठकर गुरुदेव के पास गया। वहाँ भूमि पर पडकर उसने गुरुदेव के दोनों चरणों का स्पर्श किया और कहने लगा कि हे देव ! दया करके मुझ पापी की रक्षा करो. ॥५७॥

आ प्रभाषे विचार करीने ते त्यांथी उलो यधने उरुदेव पास गयो. त्यां जर्ण भूमि पर पडीने तेणे उरुदेवनां जेउ यरणोना स्पर्श कर्यो अने कहेवा लाग्यो हे दे देव ! दया करीने पापी जेवा मार रक्षाय करे. ॥५७॥

पापीयसो मे भगवान् ! कथं स्यादुद्धार एवं ह्युदितेऽथ साधुः ।

उवाच भो ! भव्य ! शृणु यथा ते भवेत्स तन्मार्गमहं वदामि ॥५८॥

अर्थ-हे भगवन् : मुझ पापी का उद्धार कैसे होगा ? इस प्रकार उसके कहने पर साधु महाराज ने कहा-हे भव्य ! तू सुन. मैं तेरे उद्धार का मार्ग तुझे बताता हूँ ॥५८॥

हे भगवन् ! पार्थी जेवा मारो उद्धार केवी रीते थशे ? आ प्रभाषे तेना कहेवाथी साधुमहाराज कथुं-हे भव्य ! तू सांखण ! हूँ तारा उद्धारनेो रस्तेो तने जतावुं छुं. ॥५८॥

ज्ञानेन पूर्वापरमस्य सर्वं मिमृश्य वृत्तं निजगात् साधुः ।

हिंसां परित्यक्तमना अपि त्वम् न तां विहातुं निखिलां क्षमोऽसि ॥५९॥

अर्थ-अपने ज्ञान से इसके आगे पीछे का सब वृत्तान्त विचार जानकर साधु महाराज ने इससे कहा-तुम हिंसा छोडना चाहते हो पर तुमसे पुरी हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है. ॥५९॥

साधुमहाराज पोताना ज्ञानथी तेना आगण पाछणनुं तमाम वृत्तांत अखीने तेने कथुं-तू हिंसाने छोडना छुंछे छे, परंतु ताराथी पूरेपूरी हिंसानेो त्याग थई शकशे नही. ॥५९॥

तथापि जाले पतितो भवेच्चेदादौ च जन्तुर्न स मारणीयः ।

त्याज्यस्त्वयेत्युक्तिमसौ निशम्य, साधोः पुरस्तद्वृत्तमाददौ सः ॥६०॥

अर्थ-इसलिये-तुम ऐसा करो कि जाल में सब से पहिले जो जन्तु मछली आदि प्राणी-आ जावे. उसे मत मारो. छोडदो इस प्रकार के मुनिराज के कथन को सुनकर उसने उनके समक्ष उसव्रत को अङ्गीकार कर लिया. ॥६०॥

तेथी तुं जेम कर के-अणमां सौथी पडेदो जे जव जंतु के माछवा विगेरे आवी जय तेने न मारवा छोडी देवा. आ प्रभाषेना मुनिमहाराजना कथनने सांखणीने तेणे तेमनी पास जे व्रतनेो स्वीकार करी दीथी. ॥६०॥

व्रतं यथा शक्ति जनेन तावद्ग्राह्यं प्रपाल्यं बहुयत्नतस्तत् ।

प्राणापहारोऽपि न तस्य कार्या विराधनाऽऽगदनयैव शंस्यात् ॥६१॥

अर्थ-मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार व्रत ग्रहण करना चाहिये. और उसे बहुत ही सावधानी के साथ पालन करना चाहिये. प्राण भले ही चले जावें पर उसकी आराधना से ही सुख प्राप्त होता है. ॥६१॥

इसके मनुष्ये पोतानी शक्ति प्रमाणे व्रत ग्रहण करवुं ओद्ये, अने तेने धर्षी अ सावधानीपूर्वक प्राणवुं ओद्ये. उभके तेना पालनथी अ सुख प्राप्त थाय छे. ॥६१॥

शुक्तिप्रसङ्गाज्जलबिन्दुवत्सत् सङ्गाज्जनो हीनतरोऽपि तावत् ।

संजायते मौक्तिकवत्पवित्रः संसंगतिः किं न करोति पुंसाम् ॥६२॥

अर्थ-शुक्ति (सोप) के संबंध से-शुक्ति की सङ्गति से-जिस-प्रकार जल की बिन्दु मोती है. वन जानी उसी प्रकार सज्जन की संगति से हीन जाति का प्राणी भी पवित्र हो जाता है. सत्संगति मनुष्यों को क्या नहीं बना देती है. ॥६२॥

धीयना संगथी अमं पाष्णीनुं दीपु मोती यनी अथ छे, अण प्रमाणे सज्जनना संगथी हीन अतना प्राणी यण पवित्र थअ अथ छे. सत्संगति मनुष्यने शुं नथी यनावी हेती ? ६२॥

गतोऽथ तस्माद् गुरुपादमूलात्स्वजालमादाय नदीं स सिप्राम् ।

क्षिप्रश्च जालः खलु तेन तस्यां तत्रासत्कश्चिन्म्रीन एकः ॥६३॥

अर्थ-इसके बाद वह मृगसेन धीवर गुरु के पास से अपने जाल को लेकर सिप्रा नदी पर गया. वहाँ उसने नदी में जाल डाला उस जाल में एक मछली आ गई। ॥६३॥

ते पछी ते मृगसेन पारधी गुरछनी पासेथी पोतानी अण लधने क्षिप्रा नदी पर गये, त्यां लधने तेथे नदीमां अण नाथी त्यारे तेमां अक भाछली आवी गअ. ॥६३॥

सचिहमेनं प्रविधाय पश्चान्मुक्त्वापुनर्जाल मसावमुञ्चत् ।

स एव तस्मिन् खल्वागतस्तं तथैव बुद्ध्वा व्यजहादिदानीम् ॥६४॥

अर्थ-उस मछली को चिह्न युक्त कर करके छोड़ दिया और छोड़ कर पुनः उसने जाल डाला. परन्तु वही छोड़ी हुई चिह्नवाली मछली उस जाल में आ गई

यह पहिले की ही मछली है ऐसा समझकर उसने इस समय भी उसे छोड़ दिया. ॥६४॥

जैसे माछलीने निरान करीने तेणु छोडी दीधी अने इरीथी तेणु जण नाभी तो जेज छोडी दीधेस चिहवाणी माछली जे जणमां आवी आ पडेवानी ज माछली छे तेम समज्जने इरीथी पणु तेने छोडी दीधी. ॥६४॥

एवं चतुर्वार मपीह मीनः स एव चागत्य चकार तस्य ।

यत्नेन साफल्यमतः स चिन्तां खिन्नश्चकाराथ करोमि हा किम् ॥६५॥

अर्थ-इस तरह उसने चार बार किया. परन्तु चारों बार भी वही मछली उसके जाल में आई. अतः उसका प्रयत्न सफल न हो सका. तब वह खिन्न होकर चिन्ता करने लगा कि हाय ! अब मैं क्या करूं ॥६५॥

आ प्रमाणु तेणु यारवार क्युं पणु यारवार जेज माछली तेनी जणमां आवी तेथी तेनी भडेनत सङ्ग न थछ त्यारे ते दुःभी थछने विचारवा लाग्यो डे हाय र हवे हुं शुं करं ? ॥६५॥

जाले समायाति ज्ञपः स एव हन्तव्य एषोऽत्र मया न नाथ ! ।

क्व यानि किंवा कस्वाणि पुत्र दाराः प्रतीच्छन्ति बुभुक्षिता माम् ॥६६॥

अर्थ-जाल में वही मछली आती है. इस समय यह मेरे द्वारा मारने योग्य नहीं हैं, हेनाथ ! अब मैं कहां जाऊं ? क्या करूं ? भूखे मेरे बाल बच्चे स्त्री आदि जन मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं. ॥६६॥

जणमां जेज माछली आवे छे अत्यारे तेने मारे मारवी योग्य नथी. हे नाथ ! हवे हुं क्यां जडं अने शुं करं ? भूख्या जेवा मारा पाणअर्या अने स्त्री विगेरे मारी वाट जेध रथा हशे. ॥६६॥

अम्बाधुना यावदनागतोऽथ क्व तातपादः क्व गतः कदा वा ।

आयास्यतीहा कुलितं मनोऽमे भ्रष्टः पथः किं चल मार्गणाय ॥६७॥

अर्थ-हे मा ! अभी तक पिताजी नहीं आये हैं. वे कहां रह गये हैं ? कहां पर गये हैं ? अब कब आवेंगे. मेरा मन आकुलित हो रहा है. वे रास्ता तो नहीं भूल गये, चलो उनकी खोज करें ॥६७॥

हे मा ! अत्यार सुधी मारा पिताज्ज आव्या नथी. तेज्जा क्यां गया छे ? अने क्यां शिकाया हशे ? हवे क्यारे आवशे ? मारं मन व्याकुण थाय छे. तेज्जा रस्ते तो भूली नहीं गया होय आवेते तेमनी शोध करीजे. ॥६७॥

मार्गे प्रयातस्य च वास्य कैश्चित् हिंस्रैर्मिलित्वा पशुभिः कृतंचेत् ।
हा ! भक्षणं, तात ! गतस्त्वमित्थं दुरन्तमन्तं किमु जीवनेन ॥६८॥

अर्थ—अथवा—रास्ते में चलते हुए उनका मिलकर किन्हीं हिंस्र जीवों ने भक्षण कर लिया हो, और इस तरह से हे तात ! तुम्हारी दुःख दायक मृत्यु हुई हो तो हम लोगों के जीवन से अब क्या ? ॥६८॥

अथवा रस्तामां आवतां तेभनुं डाँड छिंसक लुयो भणीने तेभने पाँड गया होय अने आ रीते छे पितालु । तमारं दुःख भरणु थयुं होय तो अमारु लुवीने हवे शुं करवुं ? ॥६८॥

क्षुत्क्षाम कुक्षिः खलु तातपादः केनापि प्रदात्रा कशिपु रदानात् ।
आहारपूर्णादरवान् कृतश्चेत्तेनार्जितं पुण्यमगण्य पण्यम् ॥६९॥

अर्थ—पिताजी भूखे हैं । यदि किसी दाताने आहार देकर उनके उदर को भर दिया है—तो उसने संसार में अगण्य पण्य देने वाले पुण्य का संव्य कर लिया है. ॥६९॥

पितालु लूण्या छे, ओ डाँड दाताये लेलन आपीने तेभनुं उदर लयुं होय तो तेभणु संसारमां अगणित पुण्य आपनारा पुण्यनो संव्य करी वीथि छे. ॥६९॥

बुभुक्षिताः स्मो वयमद्य सर्वे असाम कामं खलु चिन्तयाऽलम् ।
प्रत्यागतश्चेत्सुखसातयाऽसावुद्गादगारे मम हैमचन्द्रः ॥७०॥

अर्थ—यद्यपि हम सब आज भूखे हैं सो भले ही रहे. इसकी हमें चिन्ता नहीं है यदि पिता जी सुखशाता से घर पर वापिस आजाते हैं तो हम समझेंगे—कि घर में सुवर्ण का चन्द्रमा उदित हुआ है. ॥७०॥

ओके अमे सौ आल लूण्या छीये ते लवे रधा तेनी चिंता अमने नथी. ओ पितालु सुखपूर्क धेर आनी अय तो अमे मानीशुं के घरमां सोनानो सुख लुयो छे. ॥७०॥

दिवस्करोऽयं द्युमर्णिर्गमस्तिमाली भ्रमन् व्योम्यधुना प्रयाति ।
श्रान्तश्च विश्रान्ति निमित्तमस्ताचलं गृहं यामि च रिक्तगणिः ॥७१॥

अर्थ—आकाश मंडल का मणि यह सूर्य कि जिसने किरण रूपी माला ओं को धारण कर रखा है आकाश में भ्रमण करते हुए थक गया है, अब वह विश्राम करने के निमित्त खाली हाथ ही—प्रकाश की मंदता युक्त हुआ ही

अस्ताचल की ओर जा रहा है. मैं भी अब थक गया हूँ अतः मैं भी अब विश्राम करने के लिये घर पर खाली हाथ ही चलूँ. ॥७१॥

आकाश भंडगनो भलि आ सूर्य इ ळेणु डिण्णुइपी माणाओने धारणु करी राभी छे. ते आकाशमां भ्रमणु करतां करतां थाकी गयो छे. हवे तेओ विश्राम मांटे आली हाथे अर्थात् भंड प्रकाशवाणे थरुने अस्ताचल तरक्षु न्ध रथो छे. हूँ पणु हवे थाकी गयो छुं तेथी हूँ पणु विश्राम करवां मांटे आली हाथे वेर अडं. ॥७१॥

संध्याऽऽगता पक्षिकुला रवैः सा काष्ठां प्रतीचीं वदति स्म बाले ! ।

यावन्न ते नाथ उदेति तावत्त्वया प्रतीक्षा नियमाद्विधेया ॥७२॥

अर्थ-अब संध्या हो गई है. वह पक्षि कुलों की चहचहाट से प्रतीची-पश्चिम दिशा से कह रही है-हे बाले, जब तक तेरा नाथ-चंद्रमा उदित नहीं होता है-तबतक तू नियम से उसकी प्रतीक्षा करती रह. ॥७२॥

हवे संध्याकाण थयो छे, ते पक्षिसभूडोना डिलडिलाटथी पश्चिम दिशाने उली रथा छे. इ डे आणा ! ज्यां सुधी तारा स्वाभी अंद्रमानो उद्य न थाय त्यां सुधी तू तेनी राड अे. ॥७२॥

रवौ प्रयाते दिवसोऽपि यातः, याते च तस्मिन् तमसावृते मे ।

नेत्रे भवेतां गमनं कथं स्यादतोऽधुनैवेत्यमसौ विचार्य ॥७३॥

प्रदोषकालेऽथ गतः स्वपुर्यां सजाल पाणि ह्यवलोकितो द्राक् ।

तया स्वपत्न्या खलु घंटयाऽऽदौ क्रुधारुणाक्षयाऽक्रमनीयकान्तया ॥७४॥

अर्थ-सूर्य के अस्त होते ही दिन भर समाप्त हो गया है इसकी समाप्ति होने पर अब अंधेरा छा जायेगा. उससे मेरी दोनों आंखें आवृत हो जावेंगी अतः मुझ से चला नहीं जायगा. इसलिये अब ही चल देना चाहिये. इस प्रकार विचार कर यह- ॥७३॥

प्रदोष के समय में अपनी बस्ती में आया उसके हाथ में केवल जाल ही था सब से पहिले उसे क्रोध से जिसकी आंखें लाल हो रही हैं और इसीसे जिसकी आकृति भी विकराल-अशोभनीय बन गई है पत्नी घंटा ने देखा ॥७४॥

सूर्यनो अस्त थतां न दिवस समाप्त थयो छे ते समाप्त थतां हवे अंधकार छर्र न नशे. तेथी मारी ळेड आओ ढंकाअ नशे तेथी माराथी आली शकशे नडीं तेथी हवे आलपुं न ओर्र अे. आ प्रभाणु विचारीने ते संध्याकाणे पोताना गाममां आण्यो. तेना

हाथमां डेनण अण હતી. સૌથી પહેલાં તેને કાઢતી જની આંખો લાલ થઈ છે, અને તેથી જ જની આકૃતિ પણ વિકરાળ બની ગઈ છે, એવી તેની પત્ની ઘંટાએ બોલે. ॥૭૩-૭૪॥

युग्मम्-प्रतीक्षया तस्य च चिन्तया च रुष्टाऽसती सा तं रिक्तपाणिम् ।

दृष्ट्वैव हाऽचारविचारहीनाऽवदत्कथं निर्घृण ! रिक्तपाणी- ॥७५॥

भूत्वागतोऽरे तव बाल ! बाला इमे किमत्स्यन्त्यधुना प्रगेवा ।

उक्त्वा तयेत्थं गृहतोथ चक्रे बहिः स साऽभ्यन्तरमाधिवेश ॥७६॥

अर्थ-उसकी प्रतीक्षा और चिन्ता से रुष्ट हुई वह असती घंटा खाली हाथ उसे देखकर ही आचार और विचार से रहित बन गई और कहने लगी हे निर्दय ! तुम खाली हाथ होकर क्यों आये हो । रे मूर्ख ! ये तेरे बालक अभी तथा प्रातःकाल क्या खायेंगे ? ऐसा कह कर उसने उसे घर से बाहर निकाल दिया और आप स्वयं भीतर घुस गई ॥७५-७६॥

તેની ઘાંટ બેઈ અને ચિંતાથી રૂઠેલી તે ઘંટાએ ખાલી હાથે આવેલ તેને બેઠને તે આચાર કે વિચારશૂન્ય બની ગઈ અને કહેવા લાગી કે-હે નિર્દય ! તું ખાલી હાથે કેમ આવ્યો ? અરે મૂર્ખ ! આ તારા બાળકો અત્યારે અને સવારે શું ખાશે ! આમ કહી તેણીએ તેને ઘરની બહાર કહાડી મૂક્યો અને પોતે અંદર જતી રહી. ॥૭૫-૭૬॥

कपाटमुद्धाटय चारुनेत्रे ! श्रान्तोऽस्मि खेदं परिहाय कल्पे ।

यास्यामि, कोपं च कुरुष्व मात्वं बुभुक्षितानां रजनी प्रियैव (शरण्या) ॥७७॥

अर्थ-हे सुन्दर नेत्रोंवाली प्रिये ! किवाड खोल दो मैं थका हुआ हूँ थकावट उतार कर मैं फिर प्रातः काल जाऊंगा तुम क्रोध मन करो जो भूखे होते हैं उन्हें रात्रि ही प्यारी लगती है (शरण दायी होती है) ॥७७॥

તે સુંદર નેત્રોવાળી પ્રિયે ! ખારણા ઉઘાડો હું થાકેલો છું થાક ઉતારીને હું ફરી સવારે જઈશ તું ગુસ્સો ન કર જાઓ ભૂખ્યા હોય છે, તેમને રાત્રી જ પ્યારી લાગે છે. તેનું શરણરાત્રી જ હોય છે. ॥૭૭॥

अथैव मुक्तेऽपि तया न दत्तः प्रवेशमार्गः स्वप्ने तदाऽयम् ।

संतोषमास्थाय निमात्यमेकं पार्श्वस्थवृक्षं तदधोऽधिશिश्ये ॥७८॥

अर्थ-इस प्रकार कहने पर भी उसने उसे अपने घर में प्रवेश मार्ग नहीं दिया-अर्थात् दरवाजा नहीं खोला तब वह संतोष धर कर पास के एक वृक्ष को देखकर के उसके नीचे सो गया ॥७८॥

आ रीते कहेवा छतां पशु तेषुीअे तेने पोताना धरमां व्याववा रस्तेो न आध्थेो
अर्थात् आरखुं न ष्ठेद्युं त्पारे तेषु सतोष राष्ठीने नशुकना अेक त्राड नीचे
सुध गथेो ॥७८॥

निद्रागमात्पूर्वमसावचेतत् स्वार्थैरुनिष्ठा जगतीह सत्त्वाः ।

या माम दृष्ट्वाऽऽकुलिताऽभवत्सा गृहाद्बहिः मामशुना करोति ॥७९॥

अर्थ-निद्रा आने से पहिले इसने विचार किया-इस संसार में जितने भी
प्राणी हैं-वे सब अपने २ स्वार्थ में लीन हैं यह कितने दुःख की बात है कि जो
पत्नी मुझे देखे बिना आकुलित हो जाती थी. उसीने आज मुझे घर से बाहर
कर दिया है ॥७९॥

इंध आनतां अगाड तेषु विचार कर्यो डे-आ स'सारमां नटला प्राणियो छे, ते अंधा
न पोतपोताना स्वार्थमां लीन छे, अे डेटला दुःखनी वात छे डे-न स्त्री भने विना
दृष्ट्ये आकुण-व्याकुण थती डती तेषुीअे आन भने धर अडार कडाडी भुक्ये छे ॥७८॥

आज्ञातमद्यैव मया यदेतन्नारी तुग्मवा भगिनी सुता वा ।

न कोऽपि कस्यास्ति स्तं तदेतत् सम्यग्न मिथ्याऽन मनागिवागः ॥८०॥

अर्थ-यह बात मुझ (अधम) को आज ही ज्ञात हुई है कि "स्त्री, बेटा,
माता, बहिन और बेटा ये कोई किसी के नहीं हैं" ऐसा जो यह सिद्धान्तमत
है वह सच्चा है. झूठा नहीं है. और इसमें थोड़ी सी भी गलती नहीं है ॥८०॥

आ वात अधम अेवा भने आन न नशुाड डे-स्त्री, पुत्र, माता, अडेन अने पुत्री
डार्ड डेअना नथी. आवो न मत छे तेन साथे छे, अूडे नथी. अने तेमां नरा पशु
भूल नथी ॥८०॥

शरण्यमेवास्तु च केवलं मे, अस्यां दशायां पतितस्य नाथ ! ।

आत्तं तदेव व्रणमित्थमन्ते निधाय चित्ते स्वपिति स्व सोऽज्ञः ॥८१॥

अर्थ-इस स्थिति में पड़े हुए मुझे हे नाथ ! वही ग्रहण किया हुआ व्रत
शरण्यभूत हो इस प्रकार वह मन में रखकर निद्रा के वशीभूत हो गया ॥८१॥

आ परिस्थितिमां आनी पडेवा भने डे नाथ ! अेन पूर्वे अडणु करेल व्रत शरणभूत
थाव, आ प्रमाणे ते मनमां विचारीने निद्राधीन थर्छ गथेो ॥८१॥

प्रगाढनिद्रो विकरालकाल स्वरूपिणा तावदसौ च दष्टः ।

सर्वेण सन् दीर्घमवापनिद्रां वल्मीकतस्तत्र विनिर्गतेन ॥८२॥

अर्थ-उसे गाढ निद्रा आ गई इतने में वहां एक बिल में से विकराल काल की आकृति जैसा सर्प निकला. और उसने उसे काट लिया. और वह दीर्घ-निद्रा पतित हो गया-मर गया. ॥८२॥

तेने ऐकदम गाढ उंध आवी गर्भ ऐ वपते त्यां ऐक दरमांथी विकरण काणनी आकृति ज्येो काणोसभ्भर सर्प नीकज्यो अने ते तेने करड्यो अने ते दीर्घ निद्राधीन थयो अर्थात् भरणशरणु थर्ष गयो. ॥८२॥

स एव जातः खलु जातरूपः एषोऽर्भको वस्त्रविहीनगात्रः ।

उच्छिष्टमोजी स्वजनैर्विहीनः हीनस्थितिर्गर्हितकर्मणैव ॥८३॥

अर्थ-वह मृगसेन धीवर ही यह अच्छे रूप वाला बालक हुआ है. इस समय यह जो वस्त्र विहीन, उच्छिष्ट अन्न खाने वाला, स्वजन विहीन एवं हीन स्थिति वाला बना है वह अपने पूर्वोपाजित गर्हित कर्म-पाप-कर्म से ही बना है. ॥८३॥

ऐ मृगसेन पारधी व आ स्वर्पवान् पाणक थयेव छे, अत्यारे ते वस्त्रविनातो, अहु आनार, स्वजनोथी रक्षित अने अधम स्थितिवाणो अन्यो छे, ते पोताना पूर्वोपाजित पाप कर्मधी अनेव छे. ॥८३॥

धनैः शनैः सा शमितप्रवोपा विचारयामास मयार्थवृत्तम् ।

कृतं त, मे चंचलचित्तवृत्तिं धिास्तुतस्यास्मि कथं सुनारी ? ॥८४॥

अर्थ-धीरे २ जब घंटा का क्रोध शान्त हो गया तब उसने विचार किया कि मैंने यह आर्थ पुरुष के योग्य व्यवहार नहीं किया है. मेरी इस चंचल वृत्ति को धिक्कार दो. मैं ऐसी हालत में उसकी अच्छी नारी कैसे हो सकती हूं ॥८४॥

धीरे धीरे न्यारे घंटानो उरसो उतरी गयो त्यारे तेषुंन्ये विचार्युं के भे आ आर्थनारीने योग्य व्यवहार क्यो नथी. आ वृत्तिने धिक्कार छे, आ स्थितिमां हुं सन्नारी डेनी डीते अनी शकुं ? ॥८४॥

दौष्टित्यवृत्त्या न मया कृतं हा ! सम्यक् सुनार्या अनुकूलमेतत् ।

श्रान्तोऽथ नाथः क्षुधयाऽऽतुरोऽपि निष्कासितो दार कवद्वहाद्धा ॥८५॥

अर्थ-हा हा ! पागल जैसी चित्तवृत्ति वाली मैंने यह काम अच्छी-नारी के अनुकूल नहीं किया है जो थके हुए तथा भूखे अपने पति को बालक की तरह घर से बाहर निकाल दिया है. ॥८५॥

ढायढाय ! गांडा जेनी वृत्तिवाणी में आ काम सन्नारीने अनुत्प करेव नथी, जे थोडेल तथा लूभ्या पोताना पतिने आवडनी जेम धर अडार कडाडी भुडेल छे. ॥८५॥

गत्वाऽथ कुत्रास्त्यधुना धत्रो मे सोऽन्येषणीयो व्यवहास्सूर्यः ।

मयैव मे मूर्धनि वज्रपातः कृतः सुरद्राव कुठास्पातः ॥८६॥

अर्थ-अब जाकर मैं अपने सौभाग्य के सूर्य रूप पतिदेव की खोज-करूं कि वे इस समय कहां पर हैं. अरे ! मैंने ही अपने हाथों से मस्तक पर वज्र गिरा लिया है. और एक कल्पवृक्ष को मैंने ही कुल्हाड़ी से काट डाला है. ॥८६॥

उवे हूं मारा सौभाग्यना सूर्य जेवा पतिदेवनी तपास करूं के तेआ अत्यारे क्यां छे ? अरे ! में जे पोताना ढाथे जे माथा पर वज्रपात करेव छे, अने कल्पवृक्षने में जे कुडाडीथी कापी नापेव छे. ॥८६॥

इत्थं विनिश्चित्य गता स्वपत्युः कर्तुं समीक्षां च निशावसाने ।

निद्रागतं तं प्रविलोक्य घंटा चकांक्ष चात्थापयितुं महीस्थम् ॥८७॥

अर्थ-इस प्रकार वह घंटा निश्चय करके रात्रि की समाप्ति होने पर अपने पति की गवेषणा करने कि लिये निकली और जमीन के ऊपर सोये हुए उसे देखकर वह उसे जगाने लगी. ॥८७॥

आ प्रभाणे ते घंटाये विचारीने रात्री समाप्त थतां जे पोताना पतिनी शोध करवा भाटे अडार नीकणी अने जमीन पर सुतेका तेने ओधने ते तेने जगाना लागी. ॥८७॥

कृतप्रयत्नेऽपि च नोत्थितोऽसौ यदा तदा सा रुदती ह्यवोचत् ।

क्षमस्व दोषान् मम जीवितेश ! न विप्रियं तेऽथ पुनः करिष्ये ॥८८॥

अर्थ-प्रयत्न करने पर भी जब मृगसेन नहीं उठा तब उसने रोते २ कहा-हे नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करे. अब मैं तुम्हें बुरा लगे ऐसा व्यवहार आगे नहीं करूंगी. ॥८८॥

भडेनत करवा छतां पणु अयारे मृगसेन न जग्ये तयारे तेखीये रडतां रडतां क्युं-डे नाथ ! मारा अपराधीनी भने माझी आपो उवे हूं तमने पुराय लागे जेवो वडेवार करीश नही ॥८८॥

सगद्गदं साथ मुहुर्मुहुर् हा ! वाष्पार्द्रनेत्रोक्तवती प्रभो ! माम् ।

न भाषसे किञ्चिदपीह जोषमास्थाय सुप्तोऽसि च जाग्रहि त्वम् ॥८९॥

अर्थ—वह बार बार आंखों में पानी भर कर गद्गद कंठ से कहने लगी कि हे नाथ ! आप मुझ से इस समय कुछ भी नहीं कह रहे हो. तो क्या गुस्से में भर कर सोये हुए हो ? अब जग जाओ ! ॥८९॥

ते बार-बार आंभोभां आंसु क्षात्रीने गद्गदित कंठथी कहेवा लागी हे नाथ ! अत्यारे आप भने कंठे न कहेता नथी तो शुं गुस्साथी सूता छे ? हवे अगे. ॥८९॥

विभावरी देव ! गताऽऽगता वा प्रभातवेला त्वमिहोत्थितः स्याः ।

सुप्तं च वीक्ष्यात्र भवन्तमीशं मां निन्दयिष्यन्ति जन्ना इमे मे ॥९०॥

अर्थ—हे देव ! रात्रि समाप्त हो गई है. प्रभात की वेला आ चुकी है. अब तुम उठ बैठो. यहाँ जमिन पर सोये हुए आप नाथ को देखकर मेरे आत्मीयजन मेरी निन्दा करेंगे ॥९०॥

हे देव ! रात पूरी थछ गछ छे. प्रभातकाण आवी गये छे. तमे उठीने भेडा थाव अही जमीन पर-सुतेवा आपने जेठने आपणा स्वजनो भारी निन्दा करे. ॥९०॥

उत्तिष्ठ सन्नैहि जहीहि रोषं, मौनं विमुञ्चथ मयैव सार्धम् ।

निशान्तमभ्येत्य विधायसुप्तान् विनिन्द्रितान् स्वान् परिचुम्ब बालान् ॥९१॥

अर्थ—उठो. घर चलो रोष को छोड़ो, मौन को त्यागो और मेरे साथ घर पर चलकर सोये हुए अपने बच्चों को जगाकर उनका चुम्बन करो—उन पर प्यार बरसाओ ॥९१॥

उठो, घेर आलो गुस्से छोडो, मौननो त्याग करो अने भारी साथे घेर आवीने सुतेवा आपणा आण्डाने जगाडीने तेभने प्यारथी युंजन करी प्यार बरसावो. ॥९१॥

इत्थं गदित्वाथ गता समीपं संस्पृश्य तं नन्तुमसौ पपात ।

तत्यादयोः शैत्यमियं विबुद्धथ गतांसु देहो तमतो बुबोध ॥९२॥

अर्थ—इस प्रकार कहकर वह उसके समीप गई वहाँ जाकर उसने उसकी पादबन्धना की और फिर उसके शरीर को छुआ उसमें उसे शीतलता का अनुभव हुआ. इससे उसे निश्चय हो गया कि यह मर चुका है ॥९२॥

आ प्रभाणे उठीने ते अनेनी पासे गछे त्यां जेठने तेना पगभां पडी अने ते पछी तेना शरीरने स्पर्श करी त्यारे तेणीने तेमां उठकेना अनुभव थयो तेथी अने शिव थयो हे आ भरणु पाभेव छे. ॥९२॥

घंटा शिस्ताडनपूर्वकं हा ! रुोद संस्मृत्य निजस्य दोषम् ।

अन्तेऽमृता साप्यहिनैव दष्टा जाता विषाख्या गुणपालवाला ॥९३॥

अर्थ-घंटा छातीसूद कूट २ कर खूब रोई और मेरे दोष से ही इनकी यह दशा हुई है' ऐसा उसने माना. अन्त में उसे भी सांपने काटा और मर कर वह इस गुणपाल सेठ की विषा नामकी कन्या के रूपमें उत्पन्न हुई ॥९३॥

ते पक्षी घंटा छाती हूरीहूरीने भूष रडी अने मारा वांछणी न आनी आ दशा थई तेम तेष्णीअे मान्युं. अने तेष्णीने पशु साप करडेयो अने ते मरीने गुणुपाल शेठनी विषा नामनी कन्याअे उत्पन्न थई छे. ॥९३॥

इत्थं मुनीन्द्रोक्तमसौ प्रश्रुत्य वृत्तं तदीयं गुणपालपुत्रः ।

पित्रेऽथ स तदुवाच सम्यग् यथाश्रुतं विस्मय मावहत्सः ॥९४॥

अर्थ-जब वे दोनों मुनि महाराज आपस में इस प्रकार से कह रहे थे तब वहां पर गुणपाल सेठका पुत्र भी खड़ा हुआ था. वह उन दोनों की बातों को सुन रहा था. यह भिखमंगा उच्छिष्ट भोजी मेरी बहिन विषा का होनिहार पति है. जब ऐसी बात उसने सुनी तो उसने पिता गुणपाल से जैसी बात सुनी थी वैसी कह दी. सुनकर गुणपाल को आश्चर्य हुआ. ॥९४॥

अ्यारे तेअो अने मुनिमडाराअे परस्पर आ प्रभाषे बात करता उता त्यारे त्यां गुणुपालशेठने पुत्र पशु उलो उतो. ते अे अन्ते नशुनी वातो सांभगतो उतो. आ पीप-भांगनार अे हुं आनार मारी अडेन विषानो थनार पति छे, तेम अ्यारे तेअे सांभज्युं त्यारे तेअे पोताना पिता गुणुपालने नवी बात सांभणी उती अेन रीते कही सांभयावी ते सांभणीने गुणुपालने अ्यरन थई. ॥९४॥

वेणु प्रणष्टान्न यथाऽस्ति वीणोद्भवस्तथाऽस्य क्षयतो भवेन्नो ।

वृत्तं मुनीन्द्रोक्तमिदं स्वचित्ते निश्चित्य संतोषमथो दधौ सः ॥९५॥

अर्थ-"न रहेगा वांस न बजेगी वांसुरी" इसवात के अनुसार उसने अपने मन में ऐसा निश्चय किया कि जब मैं इसका विनाश ही कर दूंगा तो फिर मुनीन्द्र ने जो यह बात कही है वह बन ही नहीं सकेगी. इस तरह निश्चित कर के उसने संतोष की सांस ली ॥९५॥

'न रहेसे वांस नही वाजे वांसणी' अे कहेवत प्रभाषे तेअे पोताना मनमां अेवो निश्चय कर्यो डे अे हुं आनो नाश करी दडं तो पक्षी मुनिमडाराअे आ वात कही छे ते अनी न नही शके तेम वियाणीने तेअे संतोष मान्यो. ॥९५॥

आहूय मातङ्गमसौ करालं च्युतं नु कृष्णद्वारलं भवस्य ।

मलीमसं स्वेष्टमनोथं तं ब्रूते स्म नौत्वा त्वमिमं जहि द्राक् ॥९६॥

अर्थ—महादेव के कण्ठ से च्युत हुए विष के तुल्य भयङ्कर एक मातङ्ग-चाण्डाल को उसने बुलाया और उससे अपना मलिन इष्ट अभिप्राय कहा कि तू इस बालक को ले जाकर जल्दी मार डाल. ॥९६॥

महादेवना कंठमांथी पड़ी गयेस विष जना अथंकर अंक मातंग-यांटाणने तेषु योसाव्यो अने तेने पोतानो भेवो विचार ज्ञापी क्युं के तू आ पाणकने कर्षं जघने जदिथी भारी नाथ. ॥९६॥

प्रभूतमूर्तिं तदहं च तुभ्यं, दास्ये धनं न पुनर्यतः स्यात् ।

त्वं गर्हिते जीववधे कुकृत्ये निरुद्धवृत्त्या सततं सुखी स्याः ॥९७॥

अर्थ—मैं तुम्हें इतनी अधिक धनसंपत्ति दूंगा कि जिससे तुझे धनकी इच्छा ही फिर नहीं होगी. तथा निन्दित जो जीववध करने रूप कार्य है उसमें तेरी प्रवृत्ति सदा के लिए रुक जायेगी. इससे तुम बहुत ही सुखी हो जाओगे. ॥९७॥

तेथी हूं तने अटकुं अथुं धन आपीश के जथी क्षी तने धन उभावानी धरुछा ज थरो नही तथा एव वधरुप निहित कार्यमां तारी प्रवृत्ति सदाने भाटे रोकार्थ जशे अने तेनाथी तू धरुो सुधी थधश. ॥९७॥

इत्थं गिरं तस्य निशम्य सोऽयं स्वकृत्यकृत्यं च विचार्य सम्यक् ।

जगाद् “ओमेति” गृहं च पश्चाद्भिवृत्य तत्रैव मुदा समागात् ॥९८॥

अर्थ—इस प्रकार गुणपाल सेठ की बात सुनकर उसने अपने करने योग्य कार्य का अच्छी तरह विचार किया. और विचार कर उसने अपनी स्वीकृति देदी. पश्चात् वह अपने घर चला गया. बाद में वह लौटकर वहां से हर्षित होता हुआ आगया. ॥९८॥

आ प्रभाषुनी गुणपालशेठनी वात सांबलीने तेषु पोताने करवाना कामने सारी रीते विचार कयो. अने विचार करीने तेषु ते कथुल क्युं. ते पथी ते पोताने धेर जघने कर्षथी पाओ आपी गयो. ॥९८॥

भवेद् धनं पितृर्भयतान्ममैवं विधं न कृत्यं मयकायमेन ।

विधेयमस्य प्रतिपादनाद्धा निरागसोऽहं न करोमि हत्याम् ॥९९॥

अर्थ-मुझे धन की प्राप्ति होती हो तो भले हो जावे. परन्तु मुझ अधम के द्वारा इस सेठ के कहने से ऐसा कृत्य तो नहीं होगा. क्यों कि मैं निरपराधी जीव की हत्या नहीं करता हूँ ॥९९॥

मने धन भणतुं होय तो लदे पशु नीय अवा भारथी आ शेठना कडेवाथी आवुं कृत्य थसे नहीं केमडे-हूँ निना अपराधी जवनी हत्या करते नथी. ॥९९॥

इत्थं स्वचित्तेऽह्यवधार्य तेन प्रोक्तं भवद्भिः प्रतिपाद्यते यत् ।
तथैव तत्सर्वमहं करिष्ये भवादृशामस्मि निदेशवर्ती ॥१००॥

अर्थ-इस प्रकार उसने अपने चित्तमें निश्चय करके कहा कि आप जिस तरह करने को कहते हैं वह सब मैं उसी तरह से करूंगा. क्यों कि मैं तो आप जैसों की आज्ञा में चलने वाला हूँ ॥१००॥

आ प्रभाणो तेणो पोताना मनमां निश्चय करीने तेणो कहुं के आप के प्रभाणो करवानुं कहे छे ते अण प्रभाणो करीश केमडे हुं तो तभारा जवानी आज्ञाने पशवतीं छुं. ॥१००॥

गते त्रियामे चरमे च यामे प्राप्ते रजन्यां सफलं विधास्ये ।
अद्यैव नाथस्य तुगोऽथ हत्यां विधाय संकल्पमहं त्वदीयम् ॥१०१॥

अर्थ-हे नाथ! मैं आज ही रात्रि में तीन पहर समाप्त हो जाने पर और चतुर्थ पहर के आने पर इस बालक की हत्या कर के आपके मनोरथ को सफल कर दूंगा ॥१०१॥

हे नाथ! आणे रात्रे त्रसु पोर वीति गया पछी अने योथा पोरना आरंभमां आ आलकनी हत्या करीने तभारे मनोरथ हूँ सक्षण अनावीश. ॥१०१॥

उक्त्वाथ तं बालमसौ त्रियामा यां निद्रितं गाढतपोन्वितायां ।
उत्थाय कान्तारमुपा जगाम निरापदस्थानमिदं च मत्वा ॥१०२॥

अर्थ-इस प्रकार कह कर उस मातङ्ग ने गाढ अन्धकार वाली रात्रि में सोये हुए उस बालक को उठाकर "यह निरापद स्थान है" ऐसा समझकर वह जंगल में आगया. ॥१०२॥

आ प्रभाणो कहीने ते भातंगे गाढ अंधकारमय रात्रे सूतेका अे आणकने उठावीने 'आ निरापद स्थान छे' तेम भानीने ते जंगलमां आवी गयो. ॥१०२॥

द्रुमावलीभिश्च लताप्रसूनैस्तृणैश्चितं वीक्ष्य स भूमिभागम् ।

विमुच्य तत्रैव तमाजगाम निकेतनं स्वाकृतिलुब्धचित्तः ॥१०३॥

अर्थ-वहां उसने ऐसे भूमिभाग को देखा कि जो वृक्षों की पङ्क्ति से लताओं से पुष्पों से एवं घास से युक्त था. उसे देखकर उसने उस बालक को वहीं पर रखदिया और रखकर फिर वह उस बालक की सुन्दर आकृति में लुब्ध चित्त हुआ अपने घर पर आ गया ॥१०३॥

त्यां अेषु अयुं स्थान अयुं के अ वृक्षाना समूहोथी वेदोथी पुष्पोथी अने घासथी युक्त इतुं, ते अनेने तेषु अे आणकने त्यां अ भूमी दीधुं. अने ते पछी ते भातंग अे आणकना सुंदर आकारमां प्रेसने पोताने वेर गयो. ॥१०३॥

विनिद्रितो यावदसौ निरीक्ष्य सुस्मयमेतं विजनं प्रदेशम् ।

बभूवत्रित्ते चकितोऽथ हन्त ! कुत्रास्म्यहं किं करवाणि हाऽत्र ॥१०४॥

स्थानं किमेतन्ननुकोऽत्र हत्वा मां दुःखिनं हन्त ! च नीतवान् हा ।

मयाऽपराधो न कृतश्च कस्य को मे ऽस्ति निष्कारणमत्र शत्रुः ॥१०५॥

अर्थ-इतने में बालक जग गया. जगते ही उसने इस निर्जन किन्तु सुरम्य स्थान को देखा. देखकर वह भयभीत हुआ. कुछ उसकी समझ में नहीं आया. वह सोचने लगा. मैं कहां हूं. मैं यहां क्या करूं ? यह स्थान कौनसा है मुझ दुःखी को यहां कौन हरकर ले आया है. मैंने किसी का अपराध तो किया नहीं है. फिर कौन मेरा निष्कारण बेरी हुआ है. ॥१०४-१०५॥

अटक्षामां ते आणक अणी गयुं. अगतां अ तेषु आ निर्जन छतां समुष्णीय स्थान अनेने ते उरी गयुं तेने कंठ पासु समजत्रामां आव्युं नहीं. ते वियास्वा लायुं के हूं क्यां छुं ? हूं अहीं शुं कइं ? आ कयुं स्थान छे ? दुःखी अेना अने अहीं डोणु उरी लायुं हरे ? अे अनेने अपराध तो कर्यो नथी. तो पछी विना करणु डोणु माइं वेरी अन्थु. ॥१०४-१०५॥

शब्दायितस्तावति ताम्रचूडो ब्रुवन्निवेदं जनता समक्षम् ।

यद्दानवेन क्रियते कुकर्म तन्मानवेनाथ कथं ह्यकारि ॥१०६॥

अर्थ-इतने में ही जनता के समक्ष मानों इस बात को कि जो कुकृत्य दानव करता उसे मनुष्यने कैसे कर डाला कहता हुआ सुर्गा बोलने लग गया ॥१०६॥

अटलाभां न जनसभूदने अणो अेम कहेता डेय डे-ने दुःकर्म दानवो करे ते भाणुसे डेम कथुं तेम न्णुवता इडडा भोसवा वाग्ग्या. ॥१०६॥

अहारि तन्नन्दनरत्नमत्र धूर्तेन सत्यां मयि संस्थितायाम् ।

द्विपन्त एभिर्न मदीयतारा स्तान्युपादाय गता क्षिप किम् ॥१०७॥

अर्थ-यहां मेरे रहते हुए भी पुत्ररूपी रत्न जब धूर्त ने चुरा लिया तो इन धूर्तों के द्वारा मेरे तारा रूपी रत्न क्या नहीं चुरा लिये जावेंगे ? ऐसा विचार कर रात्रि उन्हें लेकर चली गई ॥१०७॥

अहीं हूं डेता छतां पणु ते पुत्ररत्नने न्यारे ठगे येरी वीधुं ते अ धूर्ते भारे तारास्पी रत्नो डेम येरी नही अय तेम वियारीने रात्री तेने लघने आही गई. ॥१०७॥

बालं हृतं वीक्ष्य सरोजबन्धु निरागमंतं क्षुधितं च भूत्वा ।

क्रोधारुणः क्षुब्ध इवाथ किञ्चित्कालान्तरं व्योम्नि रवि ह्युदस्थात् ॥१०८॥

अर्थ-बालक को कि जो निरपराधी एवं भ्रष्टा था हाज किया गया देखकर कुछ समय के बाद सरोजबन्धु सूर्य क्षुब्ध हुए पुरुष की तरह क्रोध से लाल होकर आकाश में उड़ित हो आये ॥१०८॥

विना अपराधी अने भूग्ग्या पाणकुतुं उरणु करेव अप्पिने येडीवार पेछी सरोज-सहोदर अये सूर्य क्षुभित थयेवा पुश्पनी लम डोधथी वास थर्धने आकाशमां उदित थयो. ॥१०८॥

जाते प्रभातेऽधिपतिः समाप्तात् स्वगोकुलं गोपजनस्य नीत्वा ।

गोविन्दनामा खलु गोपवृन्दैर्घृतोऽथ तत्रैव तदीयपुण्यात् ॥१०९॥

अर्थ-प्रातः हो जाने पर ग्वालों का अधिपति गोविन्द नामका ग्वाला अपनी गायों को लेकर उस बालक के पुण्य से ग्वालों से युक्त हुआ वहीं पर आया. ॥१०९॥

सवार थतां न गोवाणेनो सुणी गविः नामगे गोपाव पोतानी कथेने लईने अे पावडना पुण्योदयथी गोवाणियाओ साथे त्यां आओ. ॥१०९॥

तिष्ठद्द्यु तत्रास्य पिकीव दृष्टिः रसालतुल्येऽथ पपात तस्मिन् ।

मयूर वत्सोऽथ बलाहकं तं निरीक्ष्य डिम्भं सहसो ननन्दः ॥११०॥

अर्थ-जहाँ गाये उठती बैठती हैं ऐसे उस स्थान पर उसकी कोयल जैसी दृष्टि रसाल के तुल्य इस बालक पर पड़ी. अतः बलाहक-मेघ को देखकर जैसे मयूरआनंदित होता है उस प्रकार यह भी सहसा उस बालक को देखकर हर्षित हुआ ॥११०॥

ज्यां गाये। उठे ऐसे जेवा जे स्थान पर तेनी नऊर जेम डोयलनी नऊर व्यांवा पर पडे तेम जे आलक पर पडी. मेघने जेधने जेम मेर आनंद पावे छे. तेम जे गोविंद पणु जे आणकने जेधने जेकदम उर्पायमान थये. ॥११०॥

कोऽयं कुतस्तयोऽथ कथं च केन कस्माच्च हेतो रघुनात्र नीतः ।

वितर्कयन्नित्थमसौ तमाप्तुं द्रुतं गतस्तन्निकटे सयष्टिः ॥१११॥

अर्थ-यह कौन है ? कहाँ से आया है ? किस कारण से कौन इसे कैसे यहाँ लाया है ? इस प्रकार वितर्क करता हुआ यह उसे लेने के लिये उसके पास अपनी लाठी सहित गया. ॥१११॥

आ डोणु छे ? अने कथांथी आवेस छे ? कथा डारणुथी अने डोणु आने अहीं आवेस छे ? आ प्रमाणे संशय करतो ते तेने देवा माटे पोतानी बाकडी साथे तेनी पासे गये. ॥१११॥

संहृत्य दुष्टेन च मारणार्थं केनापि हा ! ऽसाविह रम्यरम्यः ।

संस्थापितोऽस्तीत्यनुमीयते तु प्रातर्भयात्सोऽथ विनिर्गतोऽस्मात् ॥११२॥

अर्थ-मुझे ऐसा अनुमान होता है कि किसी दुष्ट ने मारने के निमित्त इस सुन्दर शरीर वाले बालक को यहाँ हरण करके रखा है. और प्रातः काल के भय से वह दुष्ट अब यहाँ से चला गया है. ॥११२॥

भने जेम आवे छे डे-डोणु दुष्टे आने मारवा माटे आ सुंदरकृति आणकनुं उरणु करीने अहीं सभेस छे, अने सवार थरु जवाथी उरीने ते दुष्ट अहींथी आवेसो गये छे. ॥११२॥

मदीयसौभाग्यवशान्मयाऽयं, विचिन्त्यजग्राह तमर्भकं सः !

नीत्वाऽथ तं शान्त निशान्तमस्माद् ददौ स्वनार्थे मुदितोऽन्तरङ्गे ॥११३॥

अर्थ-मुझे यह बड़े सौभाग्य से ही प्राप्त हुआ है ऐसा विचार करके उस गोविन्द ने उस बच्चे को उस स्थान से उठा लिया और उस वन से उसे

अपने शान्त-बालक के हल्ला गुल्ला से रहित घर पर ले आया. लाकर मन में हर्षित हुए उसने अपनी पत्नी के लिये दे दिया. ॥११३॥

आ आणक मारा बाण्यथी न भने भणेश छे, तेम कहीने अ जेविह्वे अ आणकने त्यांथी उपाडी लीधुं अने ते बनमांथी तेने शांत अर्थात् आणकाना वेदाना विनाना पोताने धेर लाव्यो. अने मनमां उर्ष पाभतां तेणे पोतानी अने अ आणक सोण्यो. ॥११३॥

पति प्रसादोऽयमिति प्रबुद्धय प्रत्यग्रहीत्सापि पतिव्रता तम् ।

प्रपालयामास सरस्वतीव विपश्चितं मां विभवेन हीनम् ॥११४॥

अर्थ-यह पतिदेव ने मुझे प्रसाद दिया है ऐसा समझकर उस पतिव्रता ने उसे ले लिया, और मुझ गरीब पण्डित को जिस प्रकार सरस्वती ने पाला है उसी प्रकार उसने भी उसे पाला. ॥११४॥

मारा पतिदेवे आ भने प्रसादरूपे आपेस छे. तेम मानीने पतिव्रता अवी तेणीअ ते आणकने लक्ष लीधुं अने पंडितनुं नम सरस्वती पालन करे छे तेम तेणीअ अ आणकनुं पालन-पालन क्युं. ॥११४॥

अङ्गागतेन प्रसवप्रपीडा विवर्जिताऽपुत्रवती कलङ्कात् ।

रिक्ता कृता यौवनहानिहीना कथं न सौभाग्यवतीषु धन्या ॥११५॥

अर्थ-गोदी में आये हुए इस पुत्र के द्वारा प्रसव की पीडा से रहित मैं "अपुत्रवती हूँ" इस प्रकार के कलङ्क से विहीन कर दी गई हूँ और यौवन की हानि से रहित कर दी गई हूँ, अतः मैं सौभाग्यशालिनी स्त्रियों में धन्य कैसे नहीं हूँ. अवश्य हूँ ॥११५॥

गोदमां आवेस आ पुत्रथी प्रसवनी पीडा वीना न हूँ 'अपुत्र' छुं आ रीतना कलंक रहित थयेस छुं अने यौवनथी रक्षायेवी रही छुं. तेथी हूँ सौभाग्यवती स्त्रियोंमां धन्य डेम न अतुं ? अर्थात् धन्यतादने योग्य न छुं. ॥११५॥

द्वाभ्यां च ताभ्यां खलु गोप गोपीभ्यां पालितोऽसौ द्वितीयेन्दुवत्सः ।

गतोऽभिवृद्धिं स्पृहणीयभावं पुषोष नृणां ननु देहकान्त्या ॥११६॥

अर्थ-गोप और गोपी इन दोनों द्वारा पालित होता हुआ यह बालक-द्वितीया के चन्द्रमा की तरह वृद्धिगत होने लगा और अपनी शारीरिक कान्ति से लोगों की चाहना को पुष्ट करने लगा. ॥११६॥

गोत्राण्यने गोवाक्षसु अने अन्नेथी पजाते ते आणके भीजना अंद्रमानी भाङ्क वधवा
दाज्ये अने पोताना शरीरनी कांतिथी दोडिनी आडना वधारते रथो. ११६॥

शनै शनैर्यौवनमापसोज्यं चातुर्यमुद्राङ्कितचारुवेषः ।

किलौसादप्यधिकं सुतात्तं मुमोह तातं कुशली च गोपीम् ॥११७॥

अर्थ-धीरे २ यह युवावस्थापन्न हो गया और चतुराई की मुद्रा से इस की
वेष भूषा अङ्कित रहने लगी. इस चतुर ने उस गोपरूप पिता को और गोपी
को अपने व्यवहार से खाश पुत्र जैसे उन्हें विमोहित नहीं करता उससे भी
अधिक उन्हें अपने ऊपर विमोहित कर लिया. ॥११७॥

धीरे धीरे ते युवान अनी गयो अने चतुराईनी आङ्कतिथी तेना वेषभूषा शेषवा
दागी. चतुर अथा अने आणके तेना मातपिताइप गोत्राण्य अने गोवाक्षसुने पोताना वर्तनथी
सग्य युवनी केम नही पणु तेनाथी पणु अधिक रीते मोहित करी दीया. ॥११७॥

सर्वेऽपि तत्रत्यजनाः प्रसन्ना आसन्नमुष्यव्यवहारवृत्त्या ।

पुण्योदये जन्मवतां जगत्यां फलन्ति सर्वाणि समीहितानि ॥११८॥

अर्थ-वहां के जितने भी जन थे वे सब इसके व्यवहार से प्रसन्न थे.
मनुष्यों के जब पुण्य का उदय होता है तो उसकी सब भावनाएँ सफल
होती हैं ॥११८॥

त्यांना जेटला मनुष्यो होता ते अथा तेना वर्तनथी शुश होता मनुष्योने अ्यारे पुण्यने
उदय थाय छे त्यारे तेनी तमाम भावनाओ सङ्ग थाय छे. ॥११८॥

अथैकदा कार्यवशात् समागात् तस्यां च वस्त्यां खलु वलवानाम् ।

स एव धन्यो गुणपालनात् कृत्यैर्जघन्योऽपि च राजमान्यः ॥११९॥

अर्थ-किसी एक समय वही गुणपाल सेठ जो कि अपने कृत्यों से नगण्य
था फिर भी राजमान्य था उस ग्वालों की वस्ती में किसी कार्यवश
आया ॥११९॥

डाई समये अज गुणपालशेठ के जे पोताना कृत्योथी निहित होते छतां ते राजमान्य
होते ते डाई कार्य प्रसंगे अने गोवाणोना गाभमां आओ. ॥११९॥

दृष्ट्वा च तं यौवनभारनघ्नं कान्तं निशान्तं स्मणीयतायाः ।

सौभाग्यलक्ष्यङ्कितपुष्टगात्रं गोपालयस्थं बहु विस्मितोऽभूत् ॥१२०॥

अर्थ-घौवन के भार से नम्र सौन्दर्य के घर रूप एवं सौभाग्यलक्ष्मी से चिह्नित पुष्ट शरीर वाले ऐसे उस लडके को गोपाल के घर में रहता हुआ देखकर गुणपाल को बहुत आश्चर्य हुआ ॥१२०॥

यौवनना लारथी नम्र, अने सौन्दर्यना धामरूप तथा सौभाग्य लक्ष्मीना चिह्न युक्त तथा दृष्ट पुष्ट शरीरवाणा अे आणकने गोपालने धेर रहेको अेईने गुणुपालने धरुं अ आश्चर्य थयुं. ॥१२०॥

तं वीक्ष्य खिन्नोऽथ विकल्पमेनं समाप मे शत्रुरयं स पापः ।

भाति प्रतापोऽस्ति विधेगम्यो यन्मास्तोऽप्येष कथं जिजीव ॥१२१॥

अर्थ-उस दृष्ट पुष्ट शरीर संपन्न बालक लडके को देखकर वह दुःखी हुआ और उसने मन में ऐसा विचार किया यह पापी वही मेरा शत्रु प्रतीत होता है उसे तो मैंने मरवा दिया था. फिर वह जिन्दा कैसे रहा, भाग्य का-दैव का प्रताप अगम्य है. ॥१२१॥

दृष्टपुष्ट शरीरवाणा अे युवानने अेईने तेने दुःख थयुं. अने तेरो मनमां नियायुं डे आ पापी मारे शत्रु अेअुय छे. तेने तो में मरवी नाअेओ छते. तो पछी अे अुवतेो डेवी रीते रहो ? दैवने प्रताप अेअेअे अगम्य छे. ॥१२१॥

एवं विमृश्याथ पपृच्छ तं सः गोपालकं तेऽस्त्ययमेक एव ।

उतास्ति कश्चिद्धयपरोऽङ्गजोऽसावुवाच मे सन्ततिरेव नाभूत् ॥१२२॥

अर्थ-इस प्रकार विचार कर उसने गोपाल गोविन्द से पूछा यही तेरे एक लडका है या और भी कोई दूसरा लडका है? तब गोविन्द गोपालने कहा-मेरे यहां तो कोई सन्तान ही नहीं उत्पन्न हुई. ॥१२२॥

आ प्रमाणे नियाय करीने तेरो अे गोवाण गोविंदने पूछयुं डे-तारे अेक अे ओकरे छे ? डे अीअ पअु छे ? तयारे गोविंद गोवाणे कहुं डे-मारे तो ओछ संतान अे नथी. ॥१२२॥

वनप्रदेशे ह्यटता मयाऽयं लब्धस्तरोर्नाथ ! गतस्तलेऽथ ।

आदाय तं लालनपालनाभ्यां संवर्धितः पुत्रसमानबुद्धया ॥१२३॥

अर्थ-(एक दिन) मैं वन में गया था. वहां इधर उधर घूमते हुए मुझे यह एक वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ मिला. उसे मैं ले आया. और पुत्र की जैसी बुद्धि से इसे मैंने लाडप्यार से बड़ा किया है. ॥१२३॥

डोड-अेक दिवसे हूं वनमां गयो हतो त्यां आभतेम इस्ता भने अेक आड नीचे पडेल आ छोकरे! मज्यो छे. तेने हूं लध आण्यो अने पुनना नम तेने में लाडकाडथी छेथेयो छे. ॥१२३॥

विनीतभावेन ममायमस्ति प्रियः स्वपुत्रादपि रागवृद्धया ।

तदौरसात् स्नेहविहीनभावाद्दिनम्रतारिक्तहृदोधिकोऽथ ॥१२४॥

अर्थ-यह विनय शील है अतः इसके ऊपर मेरा अनुराग बढ़ गया है, इसलिये यह उस औरस पुत्र की अपेक्षा कि जो प्रीतिभाव से रहित एवं नम्रता से रिक्त हृदयवाला हो मुझे अधिक प्रिय हो गया है ॥१२४॥

आ विनयी छे. तेथी तेना पर भारे प्रेम वधारे छे तेथी आ डोड प्रेमभाव विनाना अने नम्रताशून्य सगा पुत्र करतां भने वधारे प्रेमभारपढ छे. ॥१२४॥

तदीयभावं ह्यधिगम्य सोऽयं, व्यचिन्तयद्घूर्त्तजनेन तेन ।

प्रवंचितोऽहं ननु बंचकोऽपि प्रत्यक्षमेवं तमुवाच तस्य ॥१२५॥

अर्थ-गोविन्द के भाव को अच्छी तरह समझकर गुणपाल सेठ ने विचार किया कि उस घूर्त्त मातङ्ग ने मुझे ठगिया को भी ठग लिया है. इसके बाद उसने उस गोपाल के समक्ष उस लडके से ऐसा कहा ॥१२५॥

गोविन्दना कथने सारी रीते समझने गुणपालसेठे विचार क्यो डे-अे धूर्त्त मातंगे ह्य अेवा भने पणु हणी लीधो ते पछी तेणे अे गोपालनी सामे न अे छोकराने आ रीते कछुं. ॥१२५॥

धन्योऽसि यत्त्वं ह्यनुकूलवृत्त्या प्रीणासि मातापितरौ स्वभवत्या ।

कृतज्ञतां तेऽथ मनोज्ञरूपा मूर्त्तिस्त्वदीयेत्थमसौ व्यनक्ति ॥१२६॥

अर्थ-तुम धन्य हो जो अपने इन माता पिता की अनुकूल वृत्तिवाली अपनी भक्ति से उन्हें संतुष्ट कर रहे हो ! तुम कितने कृतज्ञ हो यह बात तो तुम्हारी यह मनोज्ञरूपवाली मूर्ति ही स्पष्टरूप प्रकट कर रही है ॥१२६॥

तने धन्य छे डे तुं पोताना आ मातपितानी अतुइथ वृत्तिवाणी पोतानी लप्ति-भावथी तेने प्रसन्न करी रखो छुं तूं डेटवो कृतज्ञ छे? अे बात तो तारी आ सुंदर रूपवाणी मूर्ति न स्पष्ट रीते हेआर्थ आवे छे. ॥१२६॥

गोविन्द ! विन्द त्वं जीवनस्य, अमन्द मानन्दममुष्यसार्धम् ।

पुण्योदयाप्तेन च बालकेन नैसर्गिकर्जुप्रकृतिस्थितेन ॥१२७॥

अर्थ-हे गोविन्द ! इस जीवन का जो उत्तम आनन्द है वह तुम पुण्योदय से प्राप्त हुए इस बालक के साथ जो कि सहज सरल स्वभाव वाला है प्राप्त करो. ॥१२७॥

हे गोविन्द ! आ जन्मने के उत्तम आनन्द छे; ते तुं पुण्ययोगी प्राप्त थयेस-संलग्न करण स्वभाववाणा आ भाणकनी साथे प्राप्त कर. ॥१२७॥

कृतार्थवित्तोऽभ्युपयुक्तकृत्य ! श्लाघ्योऽसि निष्कंटकजीवनोऽसि ।

अग्नेसरः पुण्यवतां च पुत्रवतां त्वमेवाऽस्यमुना सुतेन ॥१२८॥

अर्थ-हे गोविन्द ! तुम्हारा धन सफल है. तुमने यहकार्य अच्छा किया. तुम प्रशंसा के योग्य हो. तुम्हारा जीवन निष्कंटक बन गया है. तुम ही इस पुत्र के द्वारा पुण्यशालियों में और पुत्रवालों में अग्नेसर बन चुके हो. ॥१२८॥

हे गोविन्द ! तमाइ धन सक्ष्ण छे. ते आ सइ काम कथुं. तुं वभाणुवा लायक छे. तारं जवन निष्कंटक बनी गयुं छे, तू आ पुत्रथी पुण्यवानोभां अने पुत्रवानोभां अग्नेसर अनेस छे. ॥१२८॥

भद्रः प्रकृत्याऽसि सुभद्र ! भद्रां भद्राकृते ! ते भणिति भणामि ।

शृणुष्व गोविन्द सुनन्दन ! त्वं भद्रं दिशेत्सा च मदुक्तिरेषा ॥१२९॥

अर्थ-हे सुभद्र ! तुम प्रकृति से श्रेष्ठ हो आकृती भी तुम्हारी सुहावनी है. मैं (तुम्हारे हित की दृष्टि से) एक अच्छी बात कहता हूँ. हे गोविन्द के सुनन्दन ! तुम उसे सुनो. मेरे द्वारा कही गई यह बात तुम्हारे कल्याण के लिये होगी. ॥१२९॥

हे सुभद्र ! तू स्वभावथी उत्तम छे. तारे आकार पणु शेआमणो छे. (तारा छित भाटे) अक सारी बात कहुं छुं हे गोविन्दना सुपुत्र ! तुं ते संलग्न. भे कडेस आ बात तारा कथ्याणुनी छे. ॥१२९॥

तातं कृतार्थं कुरु पुत्र ! भक्त्या कदापि कुत्रापि भवेन तस्मात् ।

विरुद्धवृत्तिस्त्वं, पितृभक्तः सुतः सुखी स्यात् सततं समृद्धः ॥१३०॥

अर्थ-हे पुत्र ! तुम अपनी भक्ति से पिताजी को सदा कृतार्थ करते रहो किसी भी अवस्था में कहीं पर भी उनसे विरुद्धवृत्ति वाले नहीं बनना. क्योंकि पितृभक्त पुत्र सदा सुखी और समृद्धिशाली होता है ॥१३०॥

हे पुत्र ! तारी ब्रह्मिणी तारा। पिताने सदा कृतार्थं करे डोह पणु अवस्थाभां कयाय पणु तेनाथी विद्वाय्यरणाणु न अनवुं, डेभडे पितृसक्त पुत्र सदा सुधीं अने समृद्धिवाणा थाय छे. ॥१३०॥

इत्थं स माधुर्यमयैर्वचोभिः पुत्रं च तत्तातमयं विधाय ।

स्वरागिणं स्वीयमनोरथाप्यै तयोः प्रियोऽभूत्कपटानभिज्ञम् ॥१३१॥

अर्थ-इस प्रकार उस सेठने अपने मधुर वचनों द्वारा पुत्र को और उसके पिता को अपने मनोरथ की सिद्धि के निमित्त अपने प्रति अनुरक्त बना लिया। अतः उसके कपट से अनभिज्ञ वे पिता पुत्र दोनों उस पर प्यार करने लगे ॥१३१॥

आ प्रभाणु अ शेटे पोताना भीडा वयनोथी पुत्रने अने तेना पिताने पोताना मनो- रथनी सिद्धि माटे पोताना प्रत्ये रागवान् अनावी दीधा। तेथी तेना कपटथी अणुणु ते पितो पुत्र तेना पर प्रेम करवा लाग्या। ॥१३१॥

अथैकदोवाच सुभद्रमेवं विशालशालां नगरीं प्रयातुम् ।

अस्त्यत्र कश्चिन्ननु शस्त्रजीवी पत्रं समादाय च मामकीनम् ॥१३२॥

अर्थ-एक दिन गुणपाल सेठने सुभद्र से ऐसा कहा कि क्या कोई यहां ऐसा भी मजूर है कि जो हमारे पत्र को लेकर विशाल कोटवाली नगरी- उज्जयिनी में जावे. ॥१३२॥

अडे दिवस गुणपालशेटे सुभद्रने आ प्रभाणु कहुं डे-अही डोह अवे माणुस छे ! डे ले माशे पत्र लईने विशाल कोटवाणी उज्जयिनी नगरीमां अय. ॥१३२॥

दास्ये च तस्मै भरणं स श्रुत्वा पितुः सकाशं गतवान् सुभद्रः ।

वृत्तं च पूर्वोक्तमुवाच तस्मै त्वमेव याहीत्यवदच्च सोऽपि ॥१३३॥

अर्थ-मैं उसके लिये मजदूरी दूंगा। इस प्रकार गुणपाल की बात सुन- कर सुभद्र अपने पिता के पास गया और गुणपाल के ये सब पूर्वोक्त समाचार उनके लिये सुना दिये सुनकर गोविन्दने उससे कहा तुम ही जाओ. ॥१३३॥

डे ते काम अदल मजुरी आपीश आ प्रभाणु गुणपालनी बात सांभणीने सुभद्र पोताना पिता पासे अई गुणपाले कहेल समाचार कही संभणाव्या ते सांभणी गोविंटे तेने कहुं डे तू अ. ॥१३३॥

पितुर्निदेशं ह्यधिगम्य सोऽयं, पत्रं समादाय मुदप्रकर्षत् ।

यत्तान्नथाऽनाय पुरस्य पार्श्वे, समासदद्वृक्षतले समस्थात् ॥१३४॥

अर्थ—पिताका आदेश प्राप्तकर और सेठ के पत्रको लेकर बड़े हर्ष से चलता हुआ यह बहुत ही जल्दी नगर के पास आ गया और एक वृक्ष के नीचे बैठ गया. ॥१३४॥

पितानी अनुमति भेगवीने शेठनो पत्र लई हर्षपूर्वक यात्रीने ते धल्लो न नदि उल्लैनी पासे आवी पडोऽथो, तथा विश्राम भाटे अक आउनी नीचे ते भेठो. ॥१३४॥

अध्वश्रमश्रान्तिवशेन सोऽयं, सुष्वाप तत्रैव वसन्तसेना ।

वाराङ्गना तत्समये च काचिन्मनोविनोदाय समागताऽथ ॥१३५॥

अर्थ—मार्ग में चलते २ यह थक गया था. सो उस थकावट के कारण इसे निद्रा आगई. इतने में वसन्तसेना नामकी एक वेश्या चित्त बहलाने के लिये वहां पर आई ॥१३५॥

रस्तामां यात्रवाथी ते थाडी गथो हतो अने तेने लीधे तेने उंध आवी गई अटलाभां वसन्तसेना नामनी अक वेश्या मनोविनोद भाटे त्यां आवी. ॥१३५॥

कोऽयं युवा मन्मथतुल्यरूपो भ्रान्तेः पथो वान्तर्हितविसगः ।

स्थानात्किमागाच्च विनिद्रयाऽसौ वशीकृतो वात्र कथं प्रसुप्तः ॥१३६॥

अर्थ—कामदेव के जैसी आकृतिवाला यह युवा है कौन ? (मालूम पडता है) यह रास्ता भूल गया है. इसलिये गन्तव्य स्थान पर जाने के लिये यह उदासीन हो गया है. यह आया क्यों ? और क्यों निद्रा के वशीभूत होकर यहां सोया हुआ है ? ॥१३६॥

कामदेव जेवा स्वर्पवान् आ युवान् डोऽथु हरो ? (मने लागे छे के) आ रस्ते भूली गथो छे. तेथी जवाना स्थान पर जवा ते उदासी छे. अही डेम आव्यो हरो ? अने निद्रा-धीन थईने अही डेम सूतो हरो ? ॥१३६॥

इत्यादिभिः कल्पनिभैर्विकल्पै, सालिङ्गिता वीक्ष्य च तं प्रसुप्तम् ।

पश्चाद्गले साऽथ लुलोक तस्य लंबायमानं दलमेव शुभ्रम् ॥१३७॥

अर्थ—इस प्रकार उसे सोया हुआ देखकर वह वसन्तसेना कल्पकालके-जैसे अपरिमित विकल्पों में पड गई. बाद में उसने उसके गले में लटकता हुआ एक सफेद पत्र देखा. ॥१३७॥

आ प्रभाषे तेने सूतेक्षे जेधने ते वसंतसेना कल्पकाण जेवा असंप्य संकल्प
विक्लपोभां पठि गध, ते पछी तेष्ठीजे तेना गणाभां लटकते अक सईद पत्र जेयो ॥१३७॥

कश्चिद्भवेदस्य जनस्य तावत्पत्रादमुष्मात् गलदेशबद्धात् ।

स्थानादिबोधो मम सेत्यवेत्य तस्मात्तदादाय पपाठ मोदात् ॥१३८॥

अर्थ-गले में बंधे हुए इस पत्र से शायद इसके रहने के स्थान आदि का
सुझे थोड़ा बहुत पता लग जाय इस प्रकार उसने सोचकर उसके गले से उस
पत्र को खोल लिया और फिर आनन्द से उसे पढ़ा ॥१३८॥

गणाभां पाधिक्षा आ पत्रथी कदाय तेना रहेकाणु विगेरे संपंधी कदाय मने थोडी-
धषी भाहेती मणी जय आ रीते विचारीने तेना गणामाना जे पत्रने थोलीने आनंदथी
ते वांये ॥१३८॥

पत्रं पठित्वा परमासमाद परं च तत्सा गणिकाऽथचोद्यम् ।

यतश्च तद्वृत्त मरुन्तुदासीत्तया तदेतत्पठितं क्लिथम् ॥१३९॥

अर्थ-परन्तु उस पत्र को पढ़कर उस वसंतसेना गणिकाको बड़ा आश्चर्य
हुआ, क्योंकि वह लिखित समाचार मर्मस्थान को भेदनेवाला था उसने उसे
इस प्रकार से पढ़ा ॥१३९॥

परंतु जे पत्रने वांयीने जे वसंतसेना गणिकाने धखुं आक्षर्य थयुं डमडे-जे लपेल
समाचार मर्मनिघारक हता, तेष्ठीजे ते आ प्रभाषे वांये ॥१३९॥

विषं सन्दातव्यं भवति परमागन्तुक नरे,

त्वयाऽमुष्मै सद्यो नहि किमपि चान्यत् प्रविचरेः ।

प्रिय ! त्वं चे द्वार्या सुबल ! यदि पुत्र स्त्वमथ मे,

मदादेशोद्दारे न पुनरधुना जातु विरमेः ॥१४०॥

अर्थ-हे प्रिये ! अगर तू मेरी अर्धाङ्गिनी है और हे महाबल ! तू अगर मेरा
सच्चा बेटा है तो यह जो पत्र लेकर मनुष्य आया है उसे तुरन्त तुम विष दे
देना, इसमें कुछ भी विचार नहीं करना मेरे इस आदेश को सफलित करने
में बिलकुल ढील नहीं होनी चाहिये ॥१४०॥

हे प्रिये ! जे तू भारी पत्नी हो अने हे महाबल ! तू जे भारी पुत्र हो तो आ
भुष्य पत्र लईने आये छे, तेने तमो विष आपी देजे तमां जरा पखु विचार करसो
नहीं भारी आ आज्ञाने सकण करवामां जरा पखु ढील करनी नहीं ॥१४०॥

चित्रं विचित्रं खलु पत्रमेतत्तेनैव दब्धं गुणपालनाम्ना ।

धन्येन नाहं वितनोयि चास्थां यतोऽसि भव्योत्तम एष साधुः ॥१४१॥

अर्थ—अत्यन्त आश्चर्यकारक यह पत्र उसी गुणपाल नाम के सेठ का लिखा हुआ है यह मैं नहीं मानती हूँ क्योंकि यह सेठ तो बहुत ही भला व्यक्ति है. ॥१४१॥

अत्यंत आश्चर्य करेवो आ पत्र ऐव गुणपाल नामना सेठे लिखेले छे, ते भास मानवामां आवतुं नथी. कारखु के अ सेठ तो धरो न लखे आदमी छे. ॥१४१॥

अहो ! महाभाग्य युतः किमेषः, विषप्रदानेन च मारणार्हः ।

शिरः प्रधार्योऽथ मणिर्न कुत्र कदापि पादस्खलनस्य योग्यः ॥१४२॥

अर्थ—ओह ! महा भाग्यशाली यह क्या विष देकर मारने के योग्य है भला ! जो मणि शिर पर धारण करने के योग्य हो वह क्या कहीं किसी भी काल में पैरों द्वारा आघात करने के योग्य होता है ? ॥१४२॥

अरे ! महाभाग्यशाली ऐवा आने शुं विष आपीने भासो योग्य छे ? न भणि मस्तक पर धारखु करवा लायक होय तेने शुं कौठ काणे पगथी तरछेउते ते योग्य छे ? ॥१४२॥

ज्ञातं मया तस्य समस्ति काचित् विषाभिधाना तनया वयः स्था ।

जाताऽधुना सैषयुवा तदर्थं संप्रेषितस्तेन च प्रोषितेन ॥१४३॥

अर्थ—हां अब मुझे खबर आई कि उस गुणपाल सेठ की कोई एक विषा नाम की पुत्री है. वह अब तरुण हो चुकी है. उसके योग्य वर की तलाश के लिये वह परदेश गया हुआ है. उसने ही उस कन्या के निमित्त इस युवक को भेजा है. ॥१४३॥

हा छेने मने याद आव्युं के अ गुणपालसेठने एक विषा नामनी पुत्रि छे. ते छे युवाअवस्थावाणी थछ छे. तेने योग्य वरनी शोध भाटे ते अन्यत्र गयेले छे, तेखु न अ कन्या भाटे आ युवानने भोडयो लसे. ॥१४३॥

संलग्नचित्तस्य च राज्यकार्ये तस्य प्रमादादभवच्चलेखे ।

विषाप्रयोगेऽथ विषप्रयोगो मन्येऽहमस्वस्थ हृदीस्थमेव ॥१४४॥

अर्थ—मैं ऐसा समझती हूँ कि राज्यकार्य में गुणपालका चित्त व्यस्त हो रहा होगा. इसलिये उसने असावधानी से इस लेख में लिखते समय विषा की

जगहं विषं लिखां दद्यात् । मनुष्यकां जब चित्तं अस्वस्थं होता है तब
ऐसा बनाव बन ही जाना है ॥१४४॥

मने अयेतुं अणुयं छे-राजकांजने लघु गुणुपात्रतुं चित्तं अमितं थयुं इक्षे तेथी तेणु
असावधपणुथी आ लणुणुमां लणुणुती वणुते विषाने ठेकाणु विषं अमं लणुणी दीधुं छे.
माणुसतुं चित्तं अयारे अस्वस्थं होय तयारे तेमं अनी अयं छे. ॥१४४॥

विभावरी चन्द्रमसा च चन्द्रस्तया यथा राजति राजतां तौ ।

मिथस्तथानेन विषैतयाऽसौ, गुणानुरूपो ह्ययमस्ति योगः ॥१४५॥

अर्थ-जैसे चन्द्रमा से रात्रि और रात्रि से चन्द्रमा सुहावना लगता है
उसी प्रकार वे दोनों भी परस्पर में सुहावने लगे। इससे विषा और विषा से
यह। इन दोनोंका यह योग गुणोंके अनुरूप ही है ॥१४५॥

अमं अंद्रथी रातं अने रातथी अंद्रं सोढामणु लागे छे, अणु प्रमाणु आ अने पणु
अकणीअथी सोढामणु लागे आनाथी विषा अने विषाथी आ अनेनेो योग गुणुपात्रुं
३५ अ छे. ॥१४५॥

बुद्ध्वेति विज्ञा निजलोचनस्य, शलाक्या कज्जल युक्तयाऽऽशु ।

“विषं” स्थले साऽथ “विषा” विधाय गलेऽस्य बुद्ध्वा च जगाम पत्रम् ॥१४६॥

अर्थ-पूर्वोक्त रूप से विचार करके इसने कज्जलयुक्त अपनी आंखोंकी
सलाई से बहुत ही जल्दी “विषं” की जगह “विषा” बना दिया फिर
पत्रको उसके गले में बांधकर वह चली गई ॥१४६॥

पूर्वोक्त प्रमाणु विचार करीने तेणु काणुणुवाणु पोताना नेत्रमांथी सणी वडे ‘विषं’ने
ठेकाणु ‘विषा’ लणुणी नाणुयुं. ते पछी पत्रने तेना गणुणुमां आंधीने ते त्यांथी
अती रही. ॥१४६॥

उत्थाय निद्रापगमे सुभद्र पुरीषवन्तीं प्रति संचाल ।

गत्वा च तस्यां भवनं विलोक्य तच्छेष्टिनोऽसौ किमिदं पपृच्छ ॥१४७॥

अर्थ-निद्रा की समाप्ति होने पर सुभद्र उठकर उज्जयिनी नगरीकी और
चल दिया। वहाँ पहुँच कर उसने भवन को देखकर क्या यही गुणपाल सेठका
भवन है ऐसा पूछा. ॥१४७॥

उंधं पुरी थया पछी सुभद्र त्यांथी उठीने उज्जयिनी नगरी तरुं आसतेो थयो. त्यां
अधने तेना रहेठाणुने अर्थने शुं आणु गुणुपात्रशेठतुं धर छे? तेमं पूछयुं. ॥१४७॥

ओमित्यथोक्त्वा गुणपालपुत्रो ज्येष्ठः समुद्रीक्ष्य मनोजरूपम् ।

आगन्तुकं तं सुकुमारमेकं स्थीयतामासन इत्यवोचत् ॥१४८॥

अर्थ—हाँ, यही गुणपाल सेठ का भवन है ऐसा गुणपाल सेठ के पुत्रने उससे कहा. और कहकर कामदेव के जैसे रूपवाले उस सुकुमार आगन्तुक को ऊपर से नीचे तक देखकर ऐसा कहा आप इस पर विराजिये. ॥१४८॥

हा आब गुणपालशेठनुं पर छे तेम गुणपालशेठना पुत्रे तेने कछुं अने कामदेव केवा स्वरूपवान् ज्ये सुकुमार आगन्तुकने जेधने कछुं डे आप आ आसन पर जेसो. ॥१४८॥

सर्वे च शिष्टाचरणं विधाय स्थितौ च तस्मिन् गुणपालपुत्रः ।

तस्मात्समादाय दलं पठित्वा च रत्नवृष्टिः पतिता नभस्तः ॥१४९॥

अर्थ—जब सुभद्र आसन पर बैठ गया तो गुणपाल सेठ के पुत्रने उसके साथ शिष्ट पुरुषों जैसा व्यवहार किया. एवं लाये हुए पत्र को उससे लेकर बाँचा और बाँच कर, “आकाश से रत्न वृष्टि हुई है” ऐसा कहा. ॥१४९॥

अधारे सुभद्र आसन पर जेठो त्यारे गुणपाल शेठना पुत्रे तेनी साथे सब्य पुरुष ज्यो उचित व्यवहार कर्यो, अने तेणे आपेस पत्र लखने वांग्यो अने वांग्यीने आकाशमांथी रत्नोने वरसाद थयो छे तेम कछुं. ॥१४९॥

कृत्यस्य बाहुल्यवशाच्च तातेऽनुपस्थिते तेन समं जनन्या ।

विचार्य सर्वं विहितं विवाह योग्यं सुकार्यं महतोत्सवेन ॥१५०॥

अर्थ—कार्य की अत्यधिकता के कारण सेठ गुणपाल नहीं आसके तब ज्येष्ठ—पुत्रने अपनी माता के साथ विवाह के योग्य समस्त करने लायक कार्य का विचार किया और उस सब को बड़े उत्सव के साथ सम्पादित किया ॥१५०॥

कार्यनी महत्वताने लीधे गुणपालशेठ आनी शक्या नथी. तेथी मोटा पुत्रे भातानी साथे विवाह योग्य करवा लायक सवणा कार्यनो विचार कर्यो, अने ते अधुं थणुा ज उत्साहपूर्वक गोडवणु करी लीधुं. ॥१५०॥

शुभे मुहूर्त्ते च तिथौ शुभायां जातोऽनयो मंगलकामनाभिः ।

प्रशंसितो मंगलकामिनीभिर्विवाहयोगो विधिना प्रणीतः ॥१५१॥

अर्थ—शुभ मुहूर्त्त में और शुभ तिथि में मांगलिक कामनाओं से प्रशंसित एवं सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा अच्छी तरह से गाया गया इन दोनों का विवाहरूप सम्बन्ध विधिपूर्वक हो गया. ॥१५१॥

शुभ सुदूर्तभां अने शुभ तिथिजे भांगसिद्ध कामनाज्योथी भरपुर तथा सौभाग्यवती श्रीयो वडे सारी रीते गवायेला आ भेडनेो विवाहसंभंध विधिपूर्वक थड गयो. ॥१५१॥

वधूर्विषाऽऽसीञ्चवरः सुभद्रः, जातोऽनयो मंगलयोग एषः ।

पुण्येन साध्यानि भवन्ति जन्तो रसाध्यकर्माण्यपि नात्र चित्रम् ॥१५२॥

अथे-विषा वधू थी सुभद्र वर था. उनका यह मंगल प्रद संबंध हुआ है. असाध्य कार्य भी प्राणी के पुण्य से साध्य हो जाते हैं. इसमें कोई अचरज की बात नहीं है. ॥१५२॥

विषा वधू डती अने सुभद्र वर डतेो आनेो आ मंगलमय संभंध थयो. असाध्य कामो पण पुण्योदयथी साध्य अनो जय छे. तेभां कर्तव्य आश्चर्यानी वात नथी. ॥१५२॥

दीप्या प्रदीपस्य यथाम्बुधेर्वा नद्या च सूर्यस्य यथाऽस्ति भासा ।

शोभा यथेन्दोः प्रभया तथाऽऽसीत्तयापि तस्यापि वरस्य तत्र ॥१५३॥

अर्थ-जैसी दिसि से प्रदीप की, नदी से समुद्रकी, कान्ति से सूर्यकी एवं चन्द्रमा को प्रभा-ज्योत्स्ना से शोभा है वैसी उस वर सुभद्र की भी उस विषा से शोभा वहां पर थी. ॥१५३॥

ज्म दीप्तिथी दिवानी, नदीथी समुद्रनी, कान्तिथी सूर्यनी अने चंद्रमाना प्रकाशनी शोभा छे, जेज प्रभाणु जे वर सुभद्रनी शोभा पणु जे विषाथी शोभित थई. ॥१५३॥

ज्येष्ठे सुते तज्जनकेच याते दिवं दयापालनजन्यपुण्यात् ।

बभूव तस्यैव गृहस्य भोक्ता सर्वाधिकारी स च राजमान्यः ॥१५४॥

अर्थ-ज्येष्ठ पुत्र और उसके पिता गुणपाल जब दिवंगत हो गये तब वही सुभद्र उसी घर का सर्वाधिकारी भोक्ता दयापालन जन्य पुण्य के प्रभाव से बन गया और राजमान्य भी हो गया. ॥१५४॥

गुणपालशेठ अने तेनेो भेटो पुत्र ज्यारे स्वर्गस्थ थया त्यारे जेज सुभद्र जेज धरनेो सर्वाधिकारी कर्ताडर्ता ने लोडता अन्यो, दयापालनरूप पुण्यना प्रभावथी आ सधणुं अनो गयुं तथा ते राजमान्य पणु अन्यो. ॥१५४॥

विस्तृतमिदमाख्यानं संक्षेपात्कथितं मया ।

श्रुत्वा शिक्षा गृहीतव्या दयायाः पालनस्य वै ॥१५५॥

अर्थ-यह कथानक बहुत विस्तृत है, मैंने तो उसे यहां संक्षेप से ही कहा है. अतः इसे सुनकर दया पालने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ॥१५५॥

आ कथा धाशुी न भोठी छे. भे आने आडीं दुंकाणुथी न कहेल छे. तेथी आ सांखणीने दया पाणवानुं शीअवुं जेधये. ॥१५५॥

इत्थं श्रीपति पूज्यपादगुरुभिः ख्यातं दयाख्यानकम्,
श्रुत्वाऽऽयात् स्वग्रहं प्रसन्नमनसा हैमः स्वपत्नीं प्रति ।

एतत्सर्वमसावदच्च सुकृती धन्यानिशम्याऽभवत्,
प्रोचेऽहं न गतेति दुःखितमनाः पत्या समाश्वासिता ॥१५६॥

अर्थ-इस प्रकार से श्रीपतिपूज्यपाद गुरुदेव के द्वारा कहे गये दया के सम्बन्ध में दृष्टान्त को सुनकर हैमचन्द्र सेठ अपने घर पर आये. वे उस समय बहुत अधिक प्रसन्न चित्त थे. आते ही उन्होंने यह सब कथानक अपनी धर्म-पत्नी गंगादेवी को सुनाया. सुनकर वह अपने आप को धन्य मानने लगी. और कहने लगी कि (आज मैं व्याख्यान-सुनने के लिये) नहीं गई इसका मेरे मनमें बड़ा दुःख है (सो ऐसा सुनकर) पतिदेवने उसे धैर्य बंधाया ॥१५६॥

आ प्रभाणे श्रीपति पूज्यपाद गुरुदेवे कहेल दया संभंधी दृष्टान्त सांखणीने हेम-चंद्रशेठ पोताने घेर आया. ते वपने तेआ धाशुी न वधारे प्रसन्न होता. त्यां आपीने तेमणे जे तमाम कथा पोतानी धर्मपत्नी गंगादेवीने सांखणीने. सांखणीने तेआ पोताने धन्य मानवा लागी. अने तेणीजे कथुं डे आजे हूं व्याख्यान सांखणीने न गध. तेनुं भारा मनसां धखुं न दुःख छे. (ते सांखणीने) तेना पति हेमचंद्रशेठे तेने आश्वासन आयुं. ॥१५६॥

वृत्तं विस्मयकारि सत्पथिक ! ते मुनेरिदं प्रोच्यते,
पुण्याभिवितनोषि योऽमृतप्रदाभिर्गोभिरात्यन्तिकम् ।

निर्दोषोऽयकलंकितोऽस्मरसखो हर्षप्रकर्षाञ्चितम्,

जीवन्जीवमतो विदांवरगुरो ! चन्द्रोऽस्य पूर्वोभुवि ॥१५७॥

अर्थ-विद्वानों में श्रेष्ठ हे गुरुदेव ! आप इस संसार में एक अपूर्व चन्द्रमा हैं. चन्द्रमाकी अपेक्षा आप में यही अपूर्वता है कि आप निर्दोष हैं, अकलंकित हैं, कामदेव के मित्र नहीं हैं और अमृत-मुक्तिप्रदान करनेवाली अपनी वाणी से प्रत्येक जीव को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले हैं. तब कि प्रसिद्ध

चन्द्रमा ऐसा नहीं है. क्योंकि वह दोषा-रात्रि-से युक्त होता है. कलंक सहित है. कामदेव का सखा है. और अमृतप्रदान करनेवाली अपनी पवित्र किरणों द्वारा वह जीवजीव-चक्रवाक और चक्रवाकी को अत्यन्त वियोगजन्य दुःखका देनेवाला है. अतः हे सत्पथ के पथिक गुरुदेव ! आप आचार्य का यह वृत्त-चरित्र-बडा ही अनोखा है. ऐसा मैं कहता हूँ ॥१५७॥

विद्वानोमां उत्तम ज्ञेवा हे गुरुदेव ! आप आ संसारमां जेक अपूर्व चंद्रमा जेवा छे, ज्येठलुं न नही पणु चंद्रमां करतां आपनामां जे विशेषता छे के आप निर्दोष छे. कलंक रहित छे. कामदेवना मित्र नथी, अने अमृत-मुक्ति आपवावाणी आपनी वाणीथी हरेके ज्वने अत्यंत आनंद आपनारा छे, त्तारे प्रसिद्ध चंद्रमा जेवा नथी. केमके तेज्जा दोषा-रात्रिथी युक्त होय छे. कलंकवाणी छे. कामदेवना मित्र छे. अने अमृत आपवावाणा पोताना किरणोथी ते ज्वंज्व यकवाक अने यकवाकीने अत्यंत वियोगरूपी दुःख आपनार छे, तेथी हे सत्पथना पथिक गुरुदेव ! आप आचार्यनुं आ वृत्त-चरित्र धलुं न बुधा प्रकारनुं छे, तेम हूँ कहुं छुं. ॥१५७॥

जीयात् काव्यमिदं जीयात् गुरो ! ते शासनं चिरम् ।

कान्ताचरणमग्नोवो मानवेभ्यो हितं प्रदम् ॥१५८॥

अर्थ-कान्त-सुन्दर निर्दोष-आचरण-चरित्र में मग्न मनुष्यों के लिये-साधु महात्माओं के लिये हितकारक तथा कान्ता के चरणों में मग्न-ऐसे गृहस्थों के लिये मंगलदायक यह काव्य और हे गुरुदेव ! आपका शासन चिर-काल तक जयवंत रहे. ॥१५८॥

कान्त-सुन्दर-निर्दोष-आचरण-चरित्रमां मग्न जेवा मनुष्यो भाटे तथा साधुमहात्माज्यो भाटे हितकारक तथा स्त्रियोना यरणोमां मग्न जेवा गृहस्थ मनुष्यो भाटे मंगलप्रद आ काव्य अने हे गुरुदेव ! आपनुं शासन दीर्घकाल पर्यन्त जयवंत अनी रहे. ॥१५८॥

श्रीमन्तोऽप्यकलंकितागुरुगुणैरावेष्टिता नम्रता,

दाक्षिण्यादि विशिष्टशिष्टचरित्रप्रख्यापकैः शोभिनः ।

सद्वृत्तैर्गुरुदेवभक्तिकरणात्रित्योत्सवाः प्रौढतो,

पेतास्ते "महतावचन्द्र" इति नामश्लोकिताः स्युश्चिये ॥१५९॥

अर्थ-जो श्रीमान् होते हुए भी कलङ्क से रहित है, नम्रता चतुराह आदि शिष्ट पुरुषों के भारी २ गुणों से कि जिनसे व्यक्तिका चरित्र आंका जाता है जो युक्त हैं. सदाचारसे जो शोभित हैं प्रौढता जिनकी रगरग में भरी हुई है

एवं गुरुदेव की भक्ति करने की महिमा से जिनके घर में उत्सव सदा अठ-
खेलियां किया करता है ऐसे वे "महताप चन्द्र" इस नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति
मेरी श्री वृद्धि में निमित्त बनते रहें ॥१५९॥

જ્યો શ્રીમાન્ હોવા છતાં કલંક વિનાના છે નમ્રપણું ચતુરાઈ વિગેરે શિષ્ટ પુરૂષોના
મહાન્ ગુણોથી કે જનાથી વ્યક્તિનું ચારિત્ર આંકવામાં આવે છે, તેનાથી જ્યો યુક્ત છે
સદાચારથી જ્યો શોભવાળા છે જની રંગેરંગમાં પ્રૌઢતા ભરેલ છે, અને ગુરુદેવની ભક્તિ
કરવાના મહીમાથી જના ઘરમાં સદા સર્વદા ઉત્સવો થયા કરે છે. એવા એ 'મહેતાપચંદ્ર'
એ નામથી સુપ્રસિદ્ધ વ્યક્તિ મારી શ્રી-વૃદ્ધિમાં નિમિત્ત બનતા રહે. ॥૧૫૯॥

एतच्चरित्रं विहितं तदर्थं, तस्यैव सत्पुण्यवशात् पवित्रम् ।

एषोऽष्टमोत्रोक्त इतः समाप्तिं, सर्गो विदध्याद्विदुषां प्रमोदम् ॥१६०॥

अर्थ—यह पवित्र लोकाशाह चरित्र उन्हीं के लिये उन्हीं के पुण्य के बश
से रचा गया है. इसमें यह कहा गया अष्टम सर्ग समाप्त हो गया है. यह
विद्वानों को आनन्ददायी हो. ॥१६०॥

આ પવિત્ર એવું લોકાશાહ ચરિત્ર તેમના પુણ્યવશાત્ તેમને માટે રચવામાં આવેલ છે.
તેમાં આ આઠમો સર્ગ સમાપ્ત થયો તે વિદ્વાનોને આનંદ પ્રમોદ આપનાર નિવડો. ॥૧૬૦॥

जैनाचार्य—जैनधर्मदिवाकर श्रीघासीलाल त्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥



अथ नवमः सर्गः प्रारभ्यते ।

अथ व्यतीताः क्रमशोऽष्टमासाः सुखप्रदा हैमवधुप्रियायाः ।

पुण्योदयात्तत्र न कापि चिन्ता चित्तं च तस्या व्यथितं चकार ॥१॥

अर्थ-सातावेदनीय कर्म के उदय से हैमचन्द्र की धर्मपत्नी गंगादेवी के आठ मास आनन्द पूर्वक समाप्त हो गये, इन दिनों किसी भी प्रकार की चिन्ता ने उसके चित्त को व्यथित नहीं किया ॥१॥

साता वेदनीय कर्मना उदयथी हेमवधुप्रियाया धर्मपत्नी गंगादेवीने आठ महिना आनन्दपूर्वक वीति गया अने दिवसोभां डोछ पणु प्रकारनी चिन्ताअने अना चित्तमां पीडा उपजवी नही. ॥१॥

यथाऽण्डजा यान्ति सर्गसि भृंगा पुष्पस्थलीं पद्मवनं च हंसाः ।

कुङ्कुमसङ्घाश्च वनस्थलीं वा तथैव सौख्यानि च पुण्यभाजः ॥२॥

अर्थ-जिस प्रकार पक्षिगण तालाव पर, भ्रमर पुष्पस्थली बगीचा आदि स्थानों पर, हंस कमलवन में और शृगगण वनमे स्वभावतः पहुँच जाते हैं वसी प्रकार सांसारिक सुख भी पुण्यात्माओं के समीप स्वतः पहुँच जाते हैं ॥२॥

अ प्रभाणो पक्षिसभूढो तलाव पर, अमराणो पुष्पित वृक्षा पर, अमराणो षगीया शोरे स्थानोभां, असे कभणवनाभां, अने शृगसभूढो वनाभां स्वाभाविक रीते अ पडोच्यी अथ अ, अअ प्रभाणो सांसारिक सुखो पणु पुण्यात्माओनी पासे स्वयमेव पडोच्यी अथ अ. ॥२॥

यदी हसे सौख्यसमृद्धिबुद्धिं, सौभाग्यसद्बुद्धियशांसि रूपम् ।

तन्मन्दिरं सुन्दर मन्दिरां सन्मित्राणि चेतुपुण्यमुपार्जयत्वम् ॥३॥

अर्थ-हे भाई ! यदि तुम सौख्य और समृद्धि की कामना करते हो, सौभाग्य, सद्बुद्धि, यश और रूपकी चाहना रखते हो और यह चाहते हो कि हमें सुन्दर भवन-मन्दिर-गृह-मिले, लक्ष्मीदेवी हम पर प्रसन्न बनी रहे तथा अनेक अच्छे २ मित्रों का हमें लाभ होता रहे तो तू पुण्य का उपार्जन कर. ॥३॥

हे भाव ! अने तमे सुख अने समृद्धिनी छुछा करता हो, सौभाग्य, सद्बुद्धि, यश अने रूपनी छुछा रापता हो अने अने छुछता हो अने अने सुन्दर भवन-मन्दिर-गृह धर

भगे लक्ष्मीदेवी भासा पर प्रसन्न भनी रहे अने अनेक सारा सारा भित्रोना भने लाभ भणतो रहे तो तूं पुण्य उपर्जनतुं कार्य कर. ॥३॥

मास्यष्टमे यानि च लौकिकानि कृत्यानि कृत्यान्यवमंश्च तानि ।

सर्वाणि तूत्साहसमन्वितेन कृतानि हैमेन महोत्सवेन ॥४॥

अर्थ-आठवें महिने में गर्भवती के सम्बन्ध में और भी जो करने योग्य लौकिक कृत्य किये जाते हैं. वे सब हैमचन्द्रने बड़े उत्साह के साथ उत्सव पूर्वक किये ॥४॥

आठमा भासमा गर्भवती श्रीने भीज्ज पणु करवा योग्य लौकिक व्यावहारिक कामे करवाभां आवे छे, ते अथा हेमचंद्रे धणा उत्साहपूर्वक कर्था. ॥४॥

अहर्निशं धार्मिककृत्यमेषा गृहादिकार्याद्विनिवृत्तचित्ता ।

प्राप्ते च मासे नवमे विशेषच्छक्त्यानुरूपं सुभगा चकार ॥५॥

अर्थ-जब से गंगादेवी का नौवां महिना प्रारम्भ हुआ तब से इसने घर के कामकाज से अपने चित्त को बिलकुल हटालिया और दिनरात वह अपनी शक्ति के अनुसार विशेषरूप से धार्मिक कार्यों के सेवन करने में दत्तचित्त हो गई. ॥५॥

अथारथी गंगादेवीने नवमा भासना आरंभ थये तथारथी तेषुीअ धरना कामकाजथी पोतानुं चित्त बिलकुल हटावी लीधुं अने रातदिवस ते पोतानी शक्ति प्रभाषु विशेष रीते धार्मिक कार्योंनी प्रवृत्तिभां परायणु रही. ॥५॥

कदाचिदेषा स्तवनं गुरुभ्यः प्रणम्य तेषामकरोन्मनोज्ञा ।

आहारदाने सततं सुभक्त्या तल्लीनचित्ता तदकारयत्सा ६॥

अर्थ-कभी २ यह गुरुदेवों को नमस्कार कर उनकी स्तुति करती और आहारदान करने में जिसका चित्त निरन्तर प्रसक्त है ऐसी यह गंगादेवी अपने ही घर पर दूसरों के हाथ से आहारदान करवा कर उसका लाभ लेती ॥६॥

क्यारिके क्यारिके ते गुरुदेवोने नमस्कार करीने तेमनी स्तुति करती अने आहार पाण्णु आभनाभां जेनुं चित्त हरहमेशां तत्पर रहे छे जेवी आ गंगादेवी पोताने ज धेर अन्य द्वारा आहारदान करानी तेनो अक्षय्य लाभ लेती. ॥६॥

कदाचिदेषा श्रुतभक्तिनुन्ना सिद्धान्तशास्त्राण्यपठत्सुचित्ता ।

सरस्वतीमंदिरमध्यसंस्था सामायिकार्थममावचेतीत् ॥७॥

अर्थ-कभी २ यह शास्त्र ही भक्ति से प्रेरित हुई सरस्वती गृह में बैठती और वहां यह सिद्धान्त शास्त्रों का स्वाध्याय करती एवं सुचित्त होकर सामा-
यिक आदि के अर्थ पर विचार करती. ॥७॥

क्यारेक-क्यारेक आ शास्त्रनी भक्तिथी प्रेराने ते सरस्वतीगृह (वांयनालय)भां
येसती अने त्यां सिद्धांत शास्त्रानो स्वाध्याय करती अने स्थिर चित्ते सामायिक विगरेना
अर्थ पर विचार करती. ॥७॥

कदाचिदेषा श्रुतबोधलब्धौ संजातशङ्का गुरुदेवपार्श्वे ।

आस्थाय पृष्ठा विनयेन तस्या लब्ध्वा समाधानमसौ तुतोष ॥८॥

अर्थ-कभी २ यह “श्रुत का बोध अच्छी तरह हो जावे” इस अभिप्राय
से स्वाध्याय किये गये किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में जब कभी इसे कोई
शङ्का हो जाती तो वह गुरुदेव के पास विनयपूर्वक बैठकर उस का समाधान
करती और उसे प्राप्त कर वह बड़ी संतुष्ट होती. ॥८॥

क्यारेक-क्यारेक आ ‘श्रुत-शास्त्रानो बोध सारी रीते थळ अथ’ आ अभिप्रायथी
स्वाध्याय करवाभां आवेना ‘डोर्’ अन्थभां प्रतिपादन करेळ विषयभां कंठ पणु शंका थळ
अथ त्यारे ते गुरुदेवनी पासे अळ विनयपूर्वक येसीने तेतुं समाधान भेणवती अने ते
भेणवीने ते धणु अ प्रसन्न थती हती. ॥८॥

समस्तविद्याधिगमे निमित्तं निरस्तविघ्ना गुरुभक्तिरेव ।

जलागमे छिद्रमिवाथ साध्यो मोक्षोऽपि सत्या ह्यनयैव कर्तुः ॥९॥

अर्थ-समस्त विद्या की प्राप्ति में निर्दोष गुरुभक्ति-गुरुदेव की विनय ही
निमित्त होती है. जिस प्रकार कूप आदि के भीतर जलके आने में छिरें निमित्त
होती हैं. यदि मन वचन और काय की शुद्धिपूर्वक गुरु भक्ति की जाति है तो
वह करनेवाले को मोक्ष भी दे देती है. ॥९॥

सथणी विद्यायेा प्राप्त करवाभां निर्दोष येवी गुरुभक्ति-गुरुदेव प्रत्येना विनय अ
निमित्त थाय छे, जेभ हूवाभां अण आववा अरणा निमित्त होय छे, तेभअ मन, वचन,
अने कायानी शुद्धिपूर्वक गुरुभक्ति करवाभां आवे छे. तो ते करवावागाने मोक्ष पणु
आपे छे. ॥९॥

सतीभिरेषा च यदा कदाचित् सप्तं समास्थाय च पृच्छति स्म ।

मात्राच्युतं गूढचतुर्थकं वा छन्दो निरौष्ठ्यं च मनोमुदेऽथ ॥१०॥

अर्थ—यह घदा कदा सखियोंके भी साथ बैठती और उनसे मनोविनोद के निमित्त मात्राच्युत, गूढचतुर्थक एवं निरौष्ठ्य छन्द पूछती. ॥१०॥

डाँठ डाँठ समये सभियोनी साथे पणु भेसती अने तेअने मनोविनोद भाटे मात्राच्युत, गूढचतुर्थक अने निरौष्ठ छंद विषे पूछती छती. ॥१०॥

विन्दुच्युतं व्यञ्जनलुप्तकं च स्पष्टान्धकं वाक्षरलुप्तकं च ।

प्रहेलिकैकाक्षरलुप्तपादं किमस्ति तच्छ्रावय भो ! वयस्ये ! ॥११॥

अर्थ—हे वयस्ये ! विन्दुच्युत, व्यञ्जनच्युत, स्पष्टान्धक, अक्षरलुप्त, प्रहेलिक एवं एकाक्षरच्युत छन्द कैसे होते हैं. सुनाओ. ॥११॥

हे सभि। विन्दुच्युत, व्यञ्जनच्युत, स्पष्टान्धक, अक्षर लुप्त प्रहेलिका। अने अएकाक्षरच्युत छन्द केवा होय छे ? ते कहे। ॥११॥

पृष्ठा वयस्याभिरसौ कदाचिद्

ब्रूहि त्वमप्यत्र च पञ्जरस्थः ।

कः कोऽस्ति वा कर्कश निस्वनो वा

कोऽस्ति प्रतिष्ठा खलु जन्मिनां वा ॥१२॥

अर्थ—कभी २ सखियां भी उससे ऐसा पूछती कि तुम भी तो बताओ पिंजड़े के भीतर कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? तथा जीवों का आधार क्या है ? उत्तर में वह कहती ॥१२॥

डाँठ डाँठ समये सभियो पणु तेने अणुं पूछती केतमो कहे के पांजरांनी अंदे डाणु रहे छे ? कठोर शब्द डाणु करे छे ? तथा प्राणियोनी आधारं शुं छे ॥१२॥

शुकश्च काकः खलु लोक एषः कलापिनः सन्ति च किं च केऽत्र ? ।

को मञ्जुलालापपर किलास्ति ब्रूह्यत्तरं साथ जगौः तदत्र ॥१३॥

अर्थ—शुक—तोता कौवा और यह लोक, पिंजड़े में तोता रहता है कठोर शब्द बोलने वाला कौवा होता है और जीवोंका आधार यह लोक है. इस प्रकार प्रश्न वाचक “कः” के पहिले एक एक शब्द जोड़कर इन प्रश्नोंका उत्तर हो जाता है. पुनश्च सखियोंने गंगादेवी से पूछा—यहां मीठे बोलने वाले कौन हैं ? तथा मञ्जुल आलाप करनेवाला कौन हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये. तब गंगादेवीने कहा—इन प्रश्नोंका उत्तर इसी श्लोक में है—अर्थात् मीठे बोलने वाले “कलापिनः” मयूर हैं और मञ्जुल आलाप करनेवाला जीव “कोकिल” कोयल है. ॥१३॥

પોપટ, કાગડા, અને આલોક અર્થાત્ પાંજરામાં પોપટ રહે છે. કઠોર શબ્દ કાગડા બોલે છે. અને જીવોનો આધાર આલોક છે. આ રીતે પ્રશ્નવાચક 'કુઃ'ની પહેલાં એક એક અક્ષર બદલવાથી આ પ્રશ્નોનો ઉત્તર થઈ જાય છે. ફરીથી સપ્તિએ ગંગાદેવીને પૂછ્યું—અહીં મીઠું ખોલનાર કોણ છે? તથા મધુર આલાપ કરવાવાળું કોણ છે? આ પ્રશ્નો ઉત્તર કહે તે સાંભળી ગંગાદેવીએ કહ્યું—આ પ્રશ્નોનો ઉત્તર આજ શ્લોકમાં અર્થાત્ મીઠું ખોલવાવાળા મધુરો હોય છે મધુર આલાપ કરનાર કોણ છે. ॥૧૩॥

उवाच काचित्सखि ! देहि मेत्वं समुत्तरं “उद्योऽग्नि च तस्य पादः ।

एको भवेन्निम्नगतास्त्रयश्च मेघं विना वर्षति वारि कः ? श्वा ॥૧૪॥

અર્થ—એક સહીને ગંગા સે પૂછા—હે સહિ ! તુમ મેરે પ્રશ્નકા ઉત્તર દો એસા વહ કૌનસા જીવ હૈ કિ જિસકા એક પૈર આકાશ મેં હો જાતા હૈ ઓર તીન ૩ પૈર જમીન ડપર રહતે હૈં તવ ડસસે પાની વરસતા હૈ. ફિર મી વહ મેઘ નહીં હૈ. તવ ઉત્તર મેં ગંગાને કહા—“શ્વા” સહિ ! એસા વહ જીવ કુત્તા હૈ. કુત્તા એક પૈર ડપર કરકે ઓર તીન ૩ પૈર નીચે જમીન પર રલ્કર કે પેશાબ કિયા કરતા હૈ. ॥૧૪॥

એક સપ્તિએ ગંગાદેવીને પૂછ્યું—હે સપ્તિ ! તેને મારા પ્રશ્નોનો ઉત્તર આપો એવા એ કયા જીવો છે કે જેનો એક પગ આકાશમાં હોય છે, અને ત્રણ પગ જમીન ઉપર રહે છે, ત્યારે તેમાંથી જલ વર્ષે છે છતાં પણ તે મેઘ નથી. તેના ઉત્તરમાં ગંગાદેવીએ કહ્યું—હે સપ્તિ ! એવો તે જીવ કુતરો છે. કારણ કુતરો એક પગ ઉંચો અને ત્રણ પગ જમીન પર રાખીને પેશાબ કરે છે. ॥૧૪॥

तल्पस्थितायां मयि तत्क्षणे य द्दारुह्य वक्षो मम कम्पते मे ।

सकम्पतन्व्यै खलु रोचते तत्पतिश्च किं ? नो सखि ! तालवृन्तम् ॥૧૫॥

અર્થ—હે સહિ ! જવ મૈં અપની સેજ પર સોને કો જાતી હૂં તો ડસે મેં અપને સાથ લે જાતી હૂં. જવ મેં લેટતી હૂં તો વહ મેરી છાતી કે ડપર વહ આતા હૈ ઓર ફિર આપ હિલતા હૈ ઓર સુજે મી હિલાતા હૈ. સુજે ડસકા હિલના વહા અઠ્ઠા લગતા હૈ. તો કહો કયા વહ પતિ હૈં ? ઉત્તર—સહિ ! વહ પતિ નહીં હૈ વહ તો પંખા હૈ. યહ પ્રશ્નોત્તર ગર્મી કે સમય પંખા ચલાનેવાલી નાયિકા કો લક્ષ્ય મેં લેકર હુઆ હૈ ॥૧૫॥

હે સપ્તિ ! જ્યારે હું મારી શય્યા પર સુવા માટે અડું છું તો તેને હું મારી સાથે લઈ અડું છું. જ્યારે હું સુઉ છું ત્યારે તે મારી છાતી પર ચઢી જાય છે. અને પછી પોતે હલે

छे ने मने यणु उलाने छे, तेनुं उलवुं मने धायुं साइं लागे छे, तो उडो ते शुं पति छे? तेना उत्तरमां गंगादेवीअे कछुं हे सपि ते पति नडीं पंथो छे. आ प्रश्नोत्तर गर्भिना समयमां पंथो यथावनार नायिकाने उदेशीने करवामां आवेला छे. ॥१५॥

परस्परालापपराभिरित्थं सार्धं सखीभिः कृत्वाग्विलासा ।

सुखेन गच्छन्तमपि स्वकालं न बोधति स्माथ पतिप्रिया सा ॥१६॥

अर्थ-इस प्रकार से परस्पर में वार्तालाप में प्रसक्त सखियोंके साथ अपने विचारों का आदान प्रदान करनेवाली उस गंगाने सुखपूर्वक व्यतीत होते हुए अपने समय को नहीं जाना. ॥१६॥

आ प्रभाषे अेकश्रीअनी साथे वार्ताविनोदमां सपियोनी साथे विचारोना आदान-प्रदान करवावाणी अे गंगादेवीअे सुखपूर्वक वीतता पोताना समयने अणुथो नडीं. ॥१६॥

प्रसूतिकालो निकटो मदीयः तदेति बुद्धं न निराकुलत्वात् ।

सत्यं सुखस्थैर्न हि बुध्यते स्म गच्छन्नपि स्वीयसुखस्य कालः ॥१७॥

अर्थ-मेरा प्रसव का समय समीप है यह उसने निराकुल होने के कारण नहीं जाना. सच बात है जो जीव सुखी होते हैं वे जाते हुए भी अपने सुख के समय को नहीं जानते हैं ॥१७॥

मारो प्रसवकाय नञ्क छे ते तेषिअे व्याकुण्णता न होवाथी अणुथुं नडीं. साथी अ वात छे के-अे एव सुभी होय छे तेअो अता अेवा पोताना सुअना समयने अणुता नथी. ॥१७॥

सुखेन भूयात्प्रसवोऽङ्गनाया इतीव सद्भाववशं गतेन ।

हैमेन दानादिप्रशस्तकार्ये द्रव्यव्ययस्तत्समये ह्यकारि ॥१८॥

अर्थ-गंगादेवी का प्रसव आनन्दपूर्वक हो इसी सद्भावनाके वशीभूत हुए हैमचन्द्र शेटने दानादिक प्रशस्त कार्य में उस समय अपने द्रव्य का व्यय किया. ॥१८॥

गंगादेवीने प्रसव सुअपूर्वक थाय अे सद्भावनाने वश थअने हेमचन्द्रशेटे दानादि उत्तम कार्यमां पोताना द्रव्यने व्यय आनंदथी कर्यो. ॥१८॥

सौभाग्यतोऽस्या भविताथ पुत्रो मनोरथो मे सफलो ध्रुवं स्वात् ।

इतीव हेतोः सुतलामकाम्या युतः स हैमो व्यथितं पुशोष ॥१९॥

अर्थ-सौभाग्य से यदि गंगा के पुत्र होगा तो मेरा मनोरथ नियम से सफल होगा. इसी कारण को लेकर मानों हैमचन्द्र सेठने सुत-प्राप्ति की कामना से युक्त होकर दीन दुःखितजनों का पोषण किया. ॥१९॥

सौभाग्यवशात् जे गंगादेवीने पुत्र थसे तो भारे मनोरथ निश्चय सफल थसे. जे कारणाथी हेमचंद्रशेठे पुत्र प्राप्तिनी कामनाथी युक्त थरने दीनदुःखीजनोतुं पोषण क्युं. ॥१९॥

विवस्त्रकेभ्योऽथ ददौ स वस्त्रं बुभुक्षितेभ्यः कशिपुं स्वभृत्ये-
भ्योऽदात् सुवृत्तिं सुमनाः श्रियं च कौटुम्बिकेभ्यो बहुमानभक्त्या ॥२०॥

अर्थ-अच्छे मनवाले हैमचन्द्र सेठने जिन के पास वस्त्र नहीं थे उन्हें वस्त्र प्रदान किये, भूखों के लिये अन्न दिया. अपने नौकर चाकरों के लिये अच्छी आजीविका दी. और अपने कुटुम्ब के लोगों के लिये बहुत सन्मान और भक्ति पूर्वक लक्ष्मीप्रदान की. ॥२०॥

सारा मनवाणा जे हेमचंद्रशेठे जनी पासे कपडां न उता तेने कपडा आभ्या. लूभ्या-जाने अन्नदान क्युं. तेमज नोकर चाकरोने सारी आछविका करी आपी जने पोताना कुटुम्बीजनोने धणा ज सन्मानपूर्वक द्रव्यदान क्युं. ॥२०॥

गंगा प्रसूत्या भवतात्सखिभ्यो हर्षोत्करोन्तःकरणे मदीये ।

समाधिराधिव्यसनादि हानिश्चकार सत्कारमसौ सखीनाम् ॥२१॥

अर्थ-गंगा की प्रसूति से मेरे मित्र जनोंके लिये अधिक आनन्द होगा और मेरे चित्त में समाधि-स्थिरता आजावेगी. मानसिक चिन्ता दूर हो जावेगी एवं कष्टोंकी समाप्ति हो जावेगी. इस ख्याल से हैमचन्द्रने अपने मित्रोंका मन खोलकर खूब सत्कार किया ॥२१॥

गंगादेवीनी प्रसूतिथी भारे मित्रोने धणो ज उर्ष थसे, जने भारे चित्तमां समाधि-स्थिरता आवी जसे. भारी मानसिक चिन्ता दूर थसे. जने कष्टो समाप्त थसे. जेवा विचारथी हेमचंद्रशेठे पोताना मित्र वर्गोने मन भूझिने पूज्य सत्कार क्युं. ॥२१॥

सधर्मणां स्वद्रविणानुरूपं चकार वात्सल्यमसौ दधानः ।

समानमानन्दमथ प्रलेभे तेषां शुभाशीर्वचनान्यमानि ॥२२॥

अर्थ-अपने विभव के अनुसार हैमचन्द्रने साधर्मि बन्धुओंका वात्सल्य भी समान आदर को धारण करते किया. सबने उनके लिये अमित आशीर्वाद दिया. ॥२२॥

पोताना वैभव प्रमाणे हेभयंद्र शेठे साधर्मिक अंधुआनुं वात्सल्य पणु आनंदपूर्वकं कथुं, अने अध्याये तेने धाशा न आशीर्वाद आया. ॥२२॥

अथैकदा तल्लतले शयानां गंगामकालेऽस्तगतप्रनिद्राम् ।

वीक्ष्य प्रबुद्धां स जगाम पार्श्वेऽवोचत्कथं त्वं सहसाह्य जागः ॥२३॥

अर्थ—एक दिन की बात है कि अपनी शैया पर सोयी हुई गंगा को अकाल में जागती हुई देखकर हैमचन्द्र सेठ ने उसके पास जाकर कहा कि तुम बीच में ही कैसे जग पड़ी हो. ॥२३॥

એક દિવસે પોતાની શય્યાપર સૂતેલ ગંગાદેવીને આકાળમાં અગેલ બેઠને હેમચંદ્ર શેઠે તેની પાસે જઈને તૂં એકાએક કેમ જાગી ગયેલ છે? ॥૨૩॥

चित्ते च ते कास्ति मदङ्गशोभे मनोज्ञरूपे ! युवधैर्यलोपि ।

तारुण्यमुद्राङ्कित चारुदेहे ! चिंता प्रिये ! जीवति जीवितेशे ॥२४॥

अर्थ—हे मेरे शरीर की शोभास्वरूप ! हे सुन्दर रूप संपन्न ! हे युवा-पुरुषों के धैर्य को विचलित करनेवाले तारुण्य की मुद्रा से अङ्कित मनोहर शरीरवाली ! हे प्रिये ! मुझ जीवितेश के जीते तेरे चित्त में कौनसी चिंता है. ॥२४॥

હે મારા શરીરની શોભાસ્વરૂપ ! હે સુંદર રૂપવાળી ! હે યુવાન પુરૂષોના ધૈર્યને ચલિત કરવાવાળા તારુણ્યની મુદ્રાથી અંકિત મનોહર શરીરવાળી ! હે પ્રિયે ! મારા જીવતાં તારા ચિત્તમાં કઈ ચિંતા રહેલ છે? ॥૨૪॥

पद्माक्षि ! चिंताग्रसितं त्वदीयं मुखं निरीक्ष्याद्य मदीयचित्तम् ।

दुनोति मां भामिनि ! तन्निवेद्यं निवेदय त्वं ननु कास्ति चिन्ता ॥२५॥

अर्थ—हे कमल के जैसी नेत्रोंवाली भामिनि—प्रिये ! चिन्ता से ग्रसित तुम्हारे मुख को देखकर मेरा चित्त मुझे इस समय बहुत दुःखीकर रहा है. अतः जो कहने के योग्य हो तो उसे कहो—चिंता का कारण क्या है? ॥२५॥

હે કમળ સરિખા નેત્રવાળી પ્રિયે ! ચિંતાથી અસાથેલ તારા મુખને બેઠને મારું ચિત્ત આ વખતે મને ઘણું જ દુઃખી કરે છે. તેથી બે કહેવા લાયક હોય તો મને કહે તમારી ચિંતાનું કારણ શું છે? ॥૨૫॥

भृत्येन वा केन तवाथ तन्वि ! निदेश भङ्गोऽद्य कृरोऽथवा ते ।

सख्या कयाचित्परिहासकाले गर्वोक्तिं रुक्ता कथयाशुक्रान्ते ! ॥२६॥

अर्थ—हे कान्ते ! क्या किसी नौकरने आज तुम्हारी आज्ञा का भंग किया किसी ने हंसी मजाक में तुम से कोई अहंकार भरी बार कह दी है, शीघ्र बताओ ॥२६॥

हे कान्ता ! शुं डोर्छ नोकरे तारी आज्ञानो बांग करेल छे ? डोर्छे छे मरकरीभां तभने डोछ मानडानी थाय तेवी वात कही छे ? ते नदिके कहे। ॥२६॥

मयापि तेऽशेषनिदेशसाध्ये त्रुटिर्न काचिद्विहिता कदाचित् ।
तथापि ते तन्वि ! न बुध्यते किं चिंता निदानं वद चन्द्रवक्त्रे ! ॥२७॥

अर्थ—हे चन्द्रवदने ! मैंने भी जो २ कार्य करने को तुमने मुझ से कहावे सब किये हैं, उनके करने में किसी भी प्रकार की त्रुटि मेरी और से नहीं हुई है, फिर भी हे तन्वि ! समझ में नहीं आ रहा है कि तुम्हारी चिन्ता का कारण क्या है ? ॥२७॥

हे यंद्रानने ! भने न न कार्य करवानुं तसे कहेलुं ते तभाम काम करेल छे, ते करवाभां डोछ पशु प्रकारनी पाभी भास तरक्षी थयेल नथी, छतां पशु हे तन्वांगी ! सम-
अनुं नथी के तारी चिंतानुं, कारणु शुं छे, ॥२७॥

सम्बन्धिनाकेन शुभे ! पुन्र्प्रया गर्विष्ठया वाऽथ कयाचिदुक्तम् ।
वार्ताप्रसङ्गे च कथाप्रसङ्गे मदादहंकारवशाद्विरुद्धम् ॥२८॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरे किसी सम्बन्धी जनने या किसी गर्वीली पुन्र्प्रयीने वार्तालाप के प्रसङ्ग में या कथा के प्रसङ्ग में मद और अहंकार के वशवर्ती होकर क्या कोई ऐसी विरुद्ध बात कह दी है कि जो तुम्हें अरुचिकर हो, ॥२८॥

हे प्रिये ! भास डोछ सम्बन्धीजने के डोछ गर्वीली नगरखीअे वार्तालापना प्रसंगमां मद अने अहंकारने वश थछने शुं डोछ अेवी वात कही छे के न तभाने अणु-
भमती छेय, ॥२८॥

प्राणप्रियेणोक्तमिदं निशम्य चन्द्रानना सा निजगाद गंगा ।
नाथ ! त्वदीयानुपमप्रभावात्संभाव्यते नैव तदत्र किञ्चित् ॥२९॥

अर्थ—अपने प्राणप्रिय के द्वारा पूर्वोक्तरूप से कहे गये इस कथन को सुनकर चन्द्रानना गंगा ने कहा हे नाथ ! आपके अनुपम प्रभाव से ऐसा व्यवहार किसीका भी मेरे साथ नहीं हो सकता है ॥२९॥

पोताना प्राणु प्रिये पूर्वोक्त प्रकारथी कहेल आ कथनने सांभणीने यंद्रवदना ज्येवी गंगादेवीजे कहुं हे नाथ ! आपना अनुपम प्रभावथी ज्येवो आणुछाजतो व्यवहार कोठे ज्ये भारी साथे करेल नथी. ॥२६॥

दरिद्रनागयण ! पुण्ययोगान्मयाऽथ संकल्पशतैरजसम् ।

पतित्वरूपेण भवान् सुलब्धः सौभाग्यग्रीहगजनिष्वस्त्यकल्प्यम् ॥३०॥

अर्थ-हे दरिद्रों के नारायण ! मैंने आपको प्राप्त करने लिये निरन्तर सौकड़ों संकल्प किये-तब कहीं पुण्य के उदय से मुझे पति के रूप में आपकी प्राप्ति हो सकी है, ऐसी सौभाग्य की कल्पना अन्य महिला में नहीं की जा सकती है. ॥३०॥

हे दरिद्रोंना नारायण ! में आपने प्राप्त करवा भाटे लभेशां से कडे संकल्पो कथां तयारे कोठे पुण्यना उदयथी भने पतिरूपे आपनी प्राप्ति थयेल छे. आना सौभाग्यनी कल्पना अन्य महिला भाटे करी शकय तेम नथी. ॥३०॥

भवत्प्रभावात्सुदुर्लभानि सौख्यानि नित्यं परिशीलयामि ।

कथं भवेदन्यकृताथ पीडा यदस्ति मेतां विनिवेदयामि ॥३१॥

अर्थ-हे नाथ ! आपके प्रभाव से मैं नित्य देव दुर्लभ सुखों को भोगती आ रही हूं, फिर ऐसी स्थिति में मुझे अन्यजन द्वारा कृत पीडा कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती, परन्तु जो पीडा हो रही है उसे मैं कहती हूं. ॥३१॥

हे नाथ ! आपना प्रभावथी हुं हर लभेशां देवोने पणु दुर्लभ सुखो भोगवुं छुं. ते आ स्थितिमां भने अन्यजने करेल पीडा डेवी रीते थाय ? अर्थात् न ज थाय, परंतु ज पीडा थय रही छे ते लवे हुं आपने कहुं छुं. ॥३१॥

अद्य प्रगे मे जठरे च किञ्चित् किञ्चिद् पीडा पतिदेव ! जाता ।

मया च बुद्धा भविताथ शान्ता शनैः शनैः सा त्वधुना विवृद्धा ॥३२॥

अर्थ-हे पतिदेव ! आज प्रातः मेरे पेट में कुछ २ पीडा हुई, मैंने समझा कि यह शान्त हो जावेगी, परन्तु वह शान्त न होकर धीरे २ अब वह बढ़ रही है. ॥३२॥

हे पतिदेव आज सवारे मास पेटमां कंठक कंठक हई थयुं, में अणुयुं डे ते मठी जशे परंतु ते न मटतां लवे धीरे धीरे वयतुं जय छे. ॥३२॥

मा गाः शुचं देवि ! जगाद तस्याः श्रुत्वा वचस्तन्मनसि प्रवृत्तम् ।
दुःखं विभक्तुं त्वरमाणवृत्तिः स व्याकुलोऽभूच्च समानदुःखः ॥३३॥

गंगा के वचन को सुनकर हैमचन्द्र सेठ ने उससे कहा—हे देवी ! तुम दुःखित मत हो ओ. इस प्रकार कह कर वे उसके मन में समाये हुए दुःख को विभक्त करने के लिये उतावली वाले बन गये और समान दुःखवाले होकर व्याकुल हो गये: ॥३३॥

गंगादेवीना वयनो सांख्यीने हेमचंद्र सेठे तोणीने क्खुं—हे देवी ! तमो दुःभी न थाव तेम क्खीने तेज्जा तेना मनमां समायेस दुःप्पने दूर करवा उतावणा थई गया अने सरप्पा दुःप्पणा थईने व्याकुण थई गया. ॥३३॥

प्रसूतिशालो निकटोऽथ जातः बहूनि यास्याश्च दिनानि तावत् ।
गतानि मासस्य च सेयमस्य भवेत्प्रपीडा खलु गर्भमुक्त्यै ॥३४॥

अर्थ—अब इसका प्रसव काल निकट आ गया है. क्योंकि इस नौवें महिने के इसके दिन भी बहुत व्यतीत हो चुके हैं अतः इसे जो यह पीडा हो रही है हो सकता है कि वह गर्भमुक्ति के लिये ही हो. ॥३४॥

उने आनो प्रसवकाल नल्लक आवेस छे. कारण उे आ नवमां महिनाना पणु धणु द्विसो वीती गया छे. तेथी आने न पीडा थाय छे ते अनना जेग उे गर्भमुक्ति माटे न होई शके. ॥३४॥

इत्थं स्वबुद्ध्या परिकल्प्य सोऽयं तदैव कौटुम्बिकवृद्धनार्याः ।
गतोऽथ पार्श्वे निखिलं च तस्यै न्यवेदयद्वृत्तमसौ सहागात् ॥३५॥

अर्थ—इस प्रकार अपनी बुद्धि से विचार कर हैमचन्द्र अपने कुटुम्ब की किसी वृद्धा के पास उसी समय गये. और सब समाचार उससे कहा. (सुनते ही) वह उनके साथ चली आई. ॥३५॥

आ प्रमाणे पोतानी बुद्धिथी विचार करीने हेमचंद्र पोताना कुटुम्बनी डोई वृद्ध श्रीनी पास जेज वपते गया. अने सधणा समाचार तेने क्खा ते सांख्यीने ते तेमनी साथे न त्यां तेमने धेर आवी. ॥३५॥

दृष्ट्वाऽवदत्सा निकटोऽस्ति पुत्र ! प्रसूतिकालः कुरु सद्रथवस्थाम् ।
अतो यथाऽवादि तथैव तेन सर्वा व्यवस्था ह्युचिता व्यधायि, ॥३६॥

अर्थ-देखकर उसने कहा-हे पुत्र ! इसका प्रसव का समय बिल कुल निकट है. तुम इसकी सुन्दर व्यवस्था करो. अतः जैसी व्यवस्था करने को उसने कहा वैसी सब उचित व्यवस्था हैमचन्द्र ने कर दी. ॥३६॥

ओधने ते वृद्ध स्त्रीञ्चै कर्तुं- हे पुत्र ! आना प्रसवने समय धरुणो न नश्वरीकं छे. तमे आनी सारी व्यवस्था करे तेथी न प्रमाणेनी व्यवस्था करवा तेणु कर्तुं तेन प्रमाणेनी सधणी उचित व्यवस्था हेमचंद्रे करी आपी. ॥३६॥

तिथौ शुभायां च शुभग्रहेषु ह्यवस्थितेषूत्तमवासरेऽथ ।

सा भावि साधूत्तमसाधुरत्नं देहप्रदीप्तं सुषुवे कुमारम् ॥३७॥

अर्थ-शुभतिथि में जब कि शुभग्रह अपने २ उच्च स्थान पर स्थित थे उस मंगा देवी ने शुभदिन में आगे होने वाले साधुओं में उत्तम साधुरत्न ऐसे पुत्र को जो कि अपनी देह की दीप्ति से चमक रहा था जन्म दिया. ॥३७॥

शुभ तिथिमां डे न्यारे शुभग्रह पोत पोताना उच्य स्थान पर रखा हुता त्यारे ये मंगादेवीञ्चै आगण थनारा साधुओमां उत्तम साधुरत्न एवा पुत्रने डे न पोताना देहनी कंतीथी चमदी रखो हुतो तेने जन्म आप्यो. ॥३७॥

शुक्ले शुभे कार्तिकमासि राकातिथिश्च तज्जन्मदिनं बभूव ।

चतुर्दशान्देऽभ्यधिके द्रचशीत्या हैमोऽभवत्पितृपदाधिरूढः ॥३८॥

अर्थ-८२ से अधिक १४ संवत्सर में १४८२ संवत् में कार्तिक सुदी पूर्णिमा का कुमार का जन्म दिन हुआ. उस दिन हैमचन्द्र पिता के पद पर आसीन हुए. ॥३८॥

८२ व्यासी अधिक १४ यौहमां संवत्सरमां अर्थात् १४८२ यौहसे व्यासी संवत्मां कार्तिक शुद्ध पुनमना दिवसे कुमारो जन्म थयो ते दिवसे हेमचंद्र पिताने स्थाने स्थापित थया. ॥३८॥

दिशः प्रसेदुः पटहाश्चनेदुः कौटुम्बिकानां च मनांसि रेजुः ।

वाता ववुः स्पर्शसुखावहाश्च प्रमोदमग्ना जनता प्रजज्ञे ॥३९॥

अर्थ-जब बालक का जन्म हुआ-तब चारों दिशाएं निर्मल हो गईं. बाजे बजाये गये. कुटुम्बिकानों के मन प्रफुल्लित हो गये हवाएं सुख स्पर्शवाली होकर चलीं और जनता में आनन्द छा गया ॥३९॥

न्यारे पाणकेतो जन्म थयो त्यारे आरे दिशाओ निर्माण पनी गर्धः वाज वगाडवाभां आप्या. कुटुम्बिकानोना मन आनंदित थय गया. हुवा सुख स्पर्शवाणी पनी. अने जनसभूहमां आनंद आनंद थय गया. ॥३९॥

प्राची यथाऽर्कं च तथैव गंगा सुतं प्रभामेदुरगस्तदोषम् ।

असूत तं वीक्ष्य न सा प्रजज्ञे प्रसूतिपीडां सुतजन्मतुष्टा ॥४०॥

अर्थ-पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य को जन्म देती है उसी प्रकार प्रभा से पुष्ट एवं निर्दोष पुत्र को गंगाने जन्म दिया उसे देखकर सुत के जन्म से संतुष्ट हुई गंगा को प्रसूति की पीडा का अनुभव नहीं हुआ. ॥४०॥

पूर्व दिशा जन्म सूर्यने जन्म दे छे, जेज प्रभासे प्रभाथी पुष्ट अने निर्दोष पुत्रने गंगादेवीजे जन्म आये. तेने जेठने आणकना जन्मथी संतुष्ट थयेस गंगाने प्रसूतिनी पीडा जणाय नहीं. ॥४०॥

गंगाऽभवत्पुत्रवतीति नार्यः श्रुत्वा समेत्याजग्मुस्तदैव ।

गृहांगणं गीतरवैस्तदीयैः रम्यैश्च नान्दीव बभूव तस्याः ॥४१॥

अर्थ-गंगा के पुत्र हुआ है ऐसी बात जब नगर की स्त्रियोंने सुनी तो वे सुनकर एकट्ठी होकर गंगा के घर के आंगण में उसी समय उपस्थित हो गईं और सुन्दर २ गीत-गाना उन्होंने प्रारंभ कर दिया उन गीतों के शब्दों से गंगा का गृहांगण नान्दी के जैसा बन गया ॥४१॥

गंगाने पुत्र प्रसव थये छे, जे बात ज्यारे नगरना स्त्री वर्गे सांखणी त्यारे ते सांखणीने अधी स्त्रीआ जेकठी थछने गंगाना घरना आंगणामां जेज वपते आती गद्य अने सारा सारा गीतो गावानुं तेमणु आलु क्युं. जे गीताना शब्देथी गंगाना धरनुं आंगणुं नाटक शाणा सरथु अनी गथुं ॥४१॥

चिरं जयेत् देवि ! तवैष पुत्रः नन्देच्चिरं देवि ! तवैष डिम्भः ।

वर्धेत तेऽयं सुत एष बालो भूयात्प्रबुद्धो जगतीह वृद्धः ॥४२॥

अर्थ-हे देवि ! यह तेरा बालक चिरकालतक जयवंता बनें. हे देवि ! तेरा यह बालक चिरकालतक सुख समृद्धिका भोक्ता बने हे देवि ! तेरा यह बालक दिन दूना और रात चौगुना बढ़े; हे देवि ! तेरा यह बालक इस जगत में विशिष्ट ज्ञानी हो और पूर्ण आयु का भोक्ता हो-बुद्ध हो ॥४२॥

हे देवी ! आ तारे आणक वामा काणपर्यंत जयवंता अने. हे देवी ! तार् आ आणक धणु काणपर्यंत सुख समृद्धिने भोगवनार अने. हे देवी ! तार् आ आणक द्विसे अमलु अने शत्रे आर गलुं वधतुं रहे. हे देवी ! तार् आ आणक आ जगतमां विशेष ज्ञानवान् अने. अने पूरु आयुध्य भोगवनार अने अर्थात् अतिवृद्ध अने. ॥४२॥

इत्थं शुभाशंसि सहस्रगीतैर्भृतं तदीयं भवनं तदानीम् ।

वाचालितं शब्दमयं बभूव पुण्यात्मनां जन्म परोदयाय ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार की मांगलिक कामनावाले हजारों गीतों से वाचालित हुआ उसका भवन शब्दमय बन गया. सच बात है. पुण्यात्माओं का जन्म दूसरों की उन्नति के लिये होता है. ॥४३॥

या प्रभाषेनी भंगमय कामनावाणा उअरे गीतोथी वाचालित थयेव तेनुं भवन शब्दमय भनी गयुं. साथी व बात छे के—पुण्यात्मायेनो जन्म थीअना उत्कर्ष भटे व होय छे. ॥४३॥

दिशावधूटी प्रमदातिरेकात् स्वच्छाम्बरा सा कलहंसनाद ।

च्छलेन जन्मोत्सववर्धनार्थं गीतान्यगासीद् ध्वनिभिर्गभीरैः ॥४४॥

अर्थ—दिशारूपी नवोढा ने स्वच्छ कपड़े पहिन कर कलहंसों के नाद के बहाने से जन्मोत्सव को बढ़ाने के निमित्त गंभीर ध्वनि द्वारा गीतों को गाया ॥४४॥

दिशाभी नवोढाये स्वच्छ कपडा पहिरीने कलहंसोना नादना पहानाथी जन्मोत्सव वर्धनवा भटे गंभीर ध्वनीथी गीतोना गुंअरव क्ये. ॥४४॥

नक्तंचरैर्जीवचयैः समेत्य स्वस्थानमित्यं मिलितैरमीभिः ।

कृता प्रतिज्ञा दिवसे न हत्या केनापि कस्यापि कदापि कार्या. ॥४५॥

अर्थ—रात्रि में जीवोंकी हत्या करनेवाले इन नक्तंचर जीवोंने अपने २ स्थान पर मिलकर ऐसी प्रतिज्ञा करली कि किसी भी जीव की कभी भी कोई जीव दिन में हत्या नहीं करे. ॥४५॥

रात्रे जिवोनी हत्या करनारा या रात्रिंचर जिवोये पोतपोताना स्थान पर येकडा थछने येवी प्रतिज्ञा करी केडोछ पणु जिवनी क्यारेय डोछपणु दिवसे हत्या करवी नहीं ॥४५॥

लताः प्रसूनानि विशिष्टमोदा दवाकिरं स्तज्जननाभिषेक ।

जलच्छलेनाथ तदीयपुत्रोपरि प्रसन्ना सुमनोभिरामाः ॥४६॥

अर्थ—लताओं ने पुत्र के उस अभिषेक के जल के छल से गंगा देवी के पुत्र के ऊपर प्रसन्न मन होकर बड़े ही हर्ष के साथ मानो पुत्रों की ही वर्षा की ॥४६॥

लतायेये पुत्रना ये अभिषेकना जणना पहानाथी गंगादेवीना पुत्र उपर प्रसन्न मनवाणा थछने प्रणु व उर्ष पुत्रके अणु पुत्रोना व वसाद वरसाये. ॥४६॥

केचन नगा गन्धवहेन धूता तदाददुः पुष्पफलानि तस्मै ।

परोक्षभूताय विधाय लक्ष्ये हेमार्भकायाथ सुरक्षकाय ॥४७॥

अर्थ-हवा से कंपित हुए कितनेक वृक्षों ने उस समय परोक्ष में वर्तमान हेमचन्द्र के शिशु के लिये जो कि अच्छा रक्षक था अपने लक्ष्य में लेकर पुष्प और फल प्रदान किये. ॥४७॥

हवाथी कंपायमान थयेला डेटलाक वृक्षोये ये समये परोक्षमां रहेला हेमचंद्रना पाणक भाटे डे ज सारी रीते रक्षक होता तेने पोतानुं लक्ष्य पनावीने पुष्पो अने फलो अर्पणुं कयां. ॥४७॥

नभोऽपि नक्षत्रचयच्छलेन महोच्चितं तं प्रविलोकितुं द्राक् ।

सहस्रमक्षणां च दधद्विरेजे तेजोदिदृक्षा प्रबला न केषाम् ॥४८॥

अर्थ-आकाश ने भी मानों नक्षत्रों के बहाने से प्रभावशाली उस पुत्र को देखने के लिये ही हजार आंखें धारण करली सच बात है तेज को देखने कि इच्छा किन के प्रबल नहीं होती. अर्थात् सब के प्रबल होती है. ॥४८॥

आकाशे पणु नक्षत्राना पहानाथी प्रभावशाणी ये पुत्रने जेवा भाटे ज हजर नेत्रो धारणुं करी लीया, साथी ज वात छे डे-तेजने जेवानी डाने प्रपण छिच्छा थती नथी ? अर्थात् सौने प्रपण छिच्छा थाय ज छे. ॥४८॥

वर्धापनं कृत्यममूच्च पश्चात्सीमन्तिनीभिः कलकंठनीभिः ।

गीतानि गीतानि च मंगलार्थं मोदैस्तदा विह्वल चित्तवृत्त्या ॥४९॥

अर्थ-जब वर्धापन कृत्य हो चुका-अर्थात् बच्चे के नाल काटने की विधि समाप्त हो चुकी-तब नवेली नायिकाओं ने मिलकर मधुर कंठ से आनंद में विभोर होकर मांगलीक गीत गाये. ॥४९॥

ज्यारे वर्धापन अर्थात् पाणकना नाणछेदनी क्रिया समाप्त थई गछ त्यारे नवोढा ॥४९॥ अये मणीने मधूर कंठथी आनंदविभोर पनीने मंगण कामनाथी मांगलिक गीतो गाया. ॥४९॥

बभूव मेघधनिवद्गभीरैर्वादित्रनादैश्च हिमस्य वेश्म ।

वाचालितं पौरजना निरित्य हृष्टास्तदा स्वीययहात्समीयुः ॥५०॥

अर्थ-मेघ की ध्वनि के समान गंभीर बाजों के शब्दों से जब हैमचन्द्रका घर वाञ्छालित हो गया-तब अपने २ घर से निकलकर पुरवासी जन आनन्द में मग्न होकर वहाँ पर आये. ॥५०॥

मेघनी ध्वनी सरथा गंभीर येवा वाञ्छयेना शब्दोथी न्यारे हेमचन्द्रनुं धर मुपस्ति थयुं त्यारे पोतपोताना धेरथी नीकणीने नगरनिवासीजनो आनन्दविभोर अनीने त्यां आया. ॥५०॥

लब्धोऽधुना भाग्यवता त्वयाऽयं वर्षस्व नन्दत्वमिति ब्रुवाद्भिः ।

पौरैर्जनैर्दत्त शुभाशिषं स हेमोऽथ जग्राह निबद्धपाणिः ॥५१॥

अर्थ-और कहने लगे-आप भाग्यशालीने आज पुत्ररत्न प्राप्त किया है अतः आपको बधाई है, आप आनन्दित हों, इस प्रकार पुरवासियों द्वारा दिये गये शुभाशीर्वाद को हैमचन्द्रने दोनों हाथ जोड़कर स्वीकार किया. ॥५१॥

अने उहेवा लाग्या डे-आप लाग्यशाणीये आजे पुत्ररत्न प्राप्त करेले छे, तेथी आपने वधाई आपीये छीये आप सदा आनन्दित रहे। आ प्रमाणे नगरवासियोंये आपेले आशीर्वादनो हेमचन्द्रशेठे अन्ने हाथ जोडीने स्वीकार कर्यो। ॥५१॥

स्वर्गिकरेभ्यः सुतजन्मवार्ता निवेदयद्ब्रुवोऽथ ददौ यथेच्छम् ।

नाजीगणहेयमदेयमत्र विशिषचित्तं न विचारदक्षम् ॥५२॥

अर्थ-सुत जन्म के समाचार देनेवाले अपने नौकर चाकरों के लिये हैमचन्द्र ने इच्छानुसार जो उन्होंने मांगा वह दिया, उन्होंने यह विचार नहीं किया कि यह इन के लिये देने योग्य है और यह देने योग्य नहीं है, सच बात है, जब चित्त स्थिर नहीं होता है तब वह विचार करने में असमर्थ बन जाता है ॥५२॥

पुत्र जन्मना समाचार आपनारा पोताना नोकर चाकरोंने हेमचन्द्रशेठे अथछा प्रमाणे न तेमण्णे भाग्युं ते तेमने आप्युं, तेमण्णे ये विचार न कर्यो डे-आ वस्तु आपवा योग्य छे अने आ आपवा योग्य नथी, सायुं न छे डे-न्यारे चित्त स्थिर न होय त्यारे ते विचार करवाभां असमर्थ अनी अय छे. ॥५२॥

स याचकेभ्यः सुतजन्मवार्ता श्रुत्वाऽऽलयद्वारि समागतेभ्यः ।

ददौ यथेच्छं वसुवर्जवस्त्रादिकं यथायोग्यमनल्पबुद्धिः ॥५३॥

अर्थ-विशिष्ट बुद्धिशाली उस हैमचन्द्रने पुत्रजन्म के समाचार को सुनकर दरवाजे पर आये हुए याचकों के लिये धनको छोड़कर वस्त्रादिक उनकी इच्छा के और योग्यता के अनुसार दिये ॥५३॥

विशेषं बुद्धिमान् अथ हेमचंद्रे पुत्रजन्मना समाचार सांख्यीने आंगणु आवेला
यायकाने धन शिवाय वस्त्र विगरे तेमनी छिछि अने योग्यता प्रभाषु आभ्या ॥५३॥

पुरं समस्तं परितोऽभवत्तद्धर्षाकुलं गायदतीव रम्यम् ।

नृत्यञ्च बलाद्रमसेन नासीज्जनः स चित्तं न विकसि यस्य ॥५४॥

अर्थ-बहु समस्त पुर उस समय हर्ष से विभोर हो गया. कोई उसमें गा रहा
था, कोई नाच रहा था, कोई बड़े वेग से इधर से उधर दौड़ रहा था.
ऐसा उस समय कोई मनुष्य नहीं बचा था कि जिसका मन प्रफुल्लित
नहीं हुआ हो. ॥५४॥

अथ सख्यं नगरं अथ समये हर्षविभोर अनी अयुं. तेमां कौठं गार्थं रक्षुं हंतुं. कौठ
नाथी रक्षुं हंतुं. कौठं धणुं अथ वेगपूर्वकं आभतेम दौडी रक्षुं हंतुं. ते वपते अथेवो कौठ
पथु माणुस न हतो के अंतुं मन विकसित थयुं न होय ॥५४॥

कौटुम्बिकानां च गृहेगृहेऽस्तं गतो विरोधोऽथ बभूव मैत्री ।

परस्परं तैर्मिलितैर्व्यधांयि प्रभावशाली जननोत्सवोऽस्य ॥५५॥

अर्थ-कुटुम्बियों के घर घर में विरोध शान्त हो गया और आपस में
उनमें मैत्री हो गई सबने मिलकर प्रभावशाली उसके जन्मका उत्सव
मनाया. ॥५५॥

धेर धेर कुटुंभियोनो परस्परो विरोध शांत थई गयो. अने परस्पर मित्रता थई गई.
सौअे साथे मथीने प्रभावशाली अना अथे आणकनो जन्मोत्सव उअथ्यो. ॥५५॥

सौ तमस्तोम इवोदितेऽस्मिन् विरोधलेशोऽपि दिवंगतोऽथ ।

कौटुम्बिहानां न विचित्रमेतत् पुण्यात्मनां जन्म जगद्धिताय । ५६॥

अर्थ-जिस प्रकार रवि के उदित होने पर अंधकार विलीन हो जाता है
इसी प्रकार उस पुत्र के उत्पन्न होने पर कुटुम्बीजनों का विरोध नष्ट हो गया.
हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है. क्योंकि पुण्यशालियों का जन्म जगत्
के हित के लिये होता है. ॥५६॥

अथ सूर्याना उगवाथी अंधकार नाश पावे छे. अथ प्रभाषु अथे आणकनो जन्म
प्राथी कुटुंभियोनो विरोध नाश पाव्यो. तेमां कंधं अथे आश्चर्यं अयुं नथी. इमके पुण्य-
प्राप्तिथेनो जन्म जगतना हित भाटे अ होय छे. ॥५६॥

अथाहि तावद्दशमे व्यतीते संभूय सर्वैश्च विनिश्चितं यत् ।

संबन्धिभिः बन्धुजनैश्च वंश्यैः महोत्सवः पुत्रभवादिधेयः ॥५७॥

अर्थ-जब दशमा दिन व्यतीत हो गया तब सब कुटुम्बियोंने सम्बन्धियोंने एवं बन्धुजनोंने मिलकर निश्चय किया कि पुत्र के जन्मका एक महोत्सव करना चाहिये. ॥५७॥

व्यारे दसमे दिनस वीति गये त्यारे यथा न कुटुम्बियो अने संबन्धियोअ तथा बन्धुवर्गे भगिनि निश्चय कर्योडे आ पुत्रना जन्म निमित्ते अक महोत्सव करयो ओअये. ॥५७॥

केनापि तावत्सुकृतोदयेन महज्जनानां सदनुग्रहेण ।

चिरेण दृष्टं खलु हैमगेहे पुत्रारविन्दं महनीयमेतत् ॥५८॥

अर्थ-किसी पुण्य के उदय से एवं महान् पुरुषों के अष्ट अनुग्रहसे लोगों ने बहुत दिनों में हैमचन्द्र के घर में यह महनीय पुत्ररूप कमल देखा है. ॥५८॥

कोअ पुण्यना उदयथी अने महान् पुरुषोना अत्यंत अनुग्रहथी अयोअे धणा क्षांभा कोअे हेमचन्द्रना घर आ पुत्र जन्मअ्प कभण हेअेअे अे, ॥५८॥

प्रभावशाली भवितैष बालो जातेऽपि यस्मिन् भवत्प्रशान्तः ।

कौटुम्बिकानां बहुशो विरोधो विवर्धितस्तत्र च रागभावः ॥५९॥

अर्थ-यह बालक प्रभावशाली होगा. इसके उत्पन्न होते ही कुटुम्बिजानों का अनेक प्रकार का विरोध शान्त हो गया और उनमें रागभाव-पारस्परिक प्रेमभाव-बढ़ गया है. ॥५९॥

आ आणक प्रभावशाणी अे तेना उत्पन्न थतां न अनेक प्रकारतेा कौटुम्बिक विरोध शांत थअ गयो अे. अने तेओभां परस्पर प्रेमभावनी वृद्धि थअ रही अे. ॥५९॥

इत्थं वितर्क्याथ महोत्सवस्तैः कृतस्तदानीं तदरिष्टशान्त्यै ।

त्र्यहानि तस्मिन् जनता बभूव एकत्रिताऽस्याश्च कृता व्यवस्था ॥६०॥

अर्थ-इस प्रकार अच्छी तरह से निश्चय करके उन सबने उस समय उसके अमंगल की शान्ति के निमित्त तीन दिनतक महोत्सव किया उसमें जनता एकत्रित हुई. उसकी सब व्यवस्था उन्होंने की. ॥६०॥

आ प्रमाणे निश्चय करिने ते सौअे अे वअते तेना अमंगलनी शांति भाटे त्पु दिवस पर्यन्त महोत्सव अ्अयो. तेभां न जनसभूअ अेकठो थयो तेनी सधणी व्यवस्था तेओअे करी. ॥६०॥

संमेलनेऽस्मिन् मिलितजनैश्च कैश्चिद्ब्रह्मधायि स्वभवो गुरुणाम् ।
संस्पृश्य पादौ सफलश्च कैश्चित्देशानां धर्ममयीं निशम्य ॥६१॥

अर्थ—इस महोत्सवरूप संमेलन में आये हुए—संमिलित हुए—कितनेक मनुष्यों ने गुरुदेवों के—मुनिमहाराजों के—पादों का स्पर्श कर और कितनेक मनुष्यों ने उनकी धर्ममयी देशना का पान कर अपने भव—मनुष्य पर्याय को सफल किया. ॥६१॥

आ महोत्सवरूप संमेलनमां आवेक्षा डेटलाक भाणुसोअे मुनिमहाराज्जोना यरथोना स्पर्श करीने अने डेटलाक भाणुसोअे तेमनी धर्ममयी वाणीनुं पान करीने पोताना मनुष्यपर्यायने सक्षण अनाअे. ॥६१॥

कैश्चिद् यथाशक्ति जनै ब्रतानि ह्यात्तानि कैश्चित् परिशीलितानि ।
कैश्चिन्मुनीनां खलु वंदनाद्यै रुपार्जितं पुण्यमनेकरूपम् ॥६२॥

अर्थ—कितनेक मनुष्यों ने यथाशक्ति उन से ब्रतों को ग्रहण किया और कितनेक मनुष्यों ने उन ब्रतों की बार २ आराधना की. तथा कितनेक मनुष्यों ने मुनिजनों की वंदना करने आदि रूप शुभ कार्यों से अनेक प्रकार का पुण्य उपार्जित किया. ॥६२॥

डेटलाक मनुष्योअे शक्ति प्रमाणे तेमनी पासेथी ब्रतोना स्वीकार कर्यो अने डेटलाक भाणुसोअे मुनिजोना वंदना करवा आदिश्च शुभ कार्योथी अनेक प्रकारना पुण्यनुं उपार्जन कर्युं. ॥ ६२॥

श्राद्धैश्च कैश्चित्प्रतिबुद्धय दीक्षा घृताऽर्हताया प्रतिपादिता सा ।
इत्थं वृषोत्कर्षकरः स जातः महोत्सवस्तज्जनने कृते यः ॥६३॥

अर्थ—कितनेक श्रावकों ने प्रतिबुद्ध होकर जो दीक्षा अरिहंत प्रभु ने धारण करने को कही है उसे धारण किया. इस तरह बालक की उत्पत्ति के समय में उन लोगों द्वारा किया गया महोत्सव धर्म की प्रभावना करने वाला हुआ. ॥६३॥

डेटलाक श्रावकोअे प्रतिबुद्ध थरुंने जे दीक्षा अरिहंत प्रभुअे धारणु करवा कहेस छे, ते दीक्षा धारणु करी आ प्रमाणे पाणकना उत्पत्तिकाले अे लोकोअे करैस महोत्सव धर्मनी प्रभावना करनारे अन्थे. ॥६३॥

हैमोऽपि सर्वैः खलु “चौधरीति” पदेन मान्येन विमूषितश्च ।
अलंकृतस्तेन राज सोऽयं ज्ञातीय पुंभिर्बहु सत्कृतश्च ॥६४॥

अर्थ-सब पुरुषों ने हैमचन्द्र को भी "चौधरी" इस मान्य पद से विभूषित किया, उस मान्यपद से अलंकृत हुए ये हैमचन्द्र बड़े अच्छे ढंग से सुशोभित हुए और ज्ञातीय बन्धुओं ने इनका बहुत सत्कार किया ॥६४॥

सौ पुरुषोऽप्ये हैमचन्द्रने पशु 'चौधरी' अे माननीय पदथी शोभित कथी. अे माननीय पदथी शोभित थयेला अे हैमचन्द्र सारी रीते शोभा पाभ्या. अने ज्ञाति समूहे तेभने धये। अ सत्कार कथी. ॥६४॥

तौ दम्पतीत्यं सुतजन्महर्षौ सुचेतसौ वंशविवृद्धिहेतुम् ।

सुदुर्लभं रत्नमिवार्भकं तं दिनानि शान्त्या विनिन्यतुः स्म ॥६५॥

अर्थ-इस प्रकार सुत के जन्म से जिन्हें हर्ष है और इसी कारण जो अच्छे चित्त वाले हैं-अशान्ति से रहित जिनका चित्त है ऐसे वे दोनों स्त्री पुरुष-हैमचन्द्र और गंगा-रत्न के जैसे दुर्लभ पुत्रको कि जो वंश की वृद्धि का हेतु था प्राप्त करके शान्ति पूर्वक दिनों को निकालने लगे. ॥६५॥

आ प्रभाषे पुत्रना जन्मथी जेने हर्ष थयेल छे, अने जेज कारणथी जेजो प्रसन्न चित्तवाणो छे. अशांति विनाना जेना चित्त छे जेवा जे पन्ने स्त्रीपुत्रप-हैमचन्द्रशेठ अने गंगादेवी रत्न जेवा दुर्लभ पुत्रने के जे वंश वृद्धिना कारणुत्प हतो तेने प्राप्त करीने शांतिपूर्वक पोताना द्विसो पीताववा लाग्या. ॥६५॥

धर्मो मुक्ति सुखाकरो भवभृतां सर्वेन्द्रियार्थप्रदः,

लक्ष्मीलाभनिमित्तमिन्द्रपदवी सदायकं तं भजे ।

धर्मणैव महोन्नति भवति वै जीवस्य तस्मै नमः,

धर्मान्नास्त्यपरः सुमार्ग इतिवा तस्मिन् दधेऽहं मनः ॥६६॥

अर्थ-धर्म मुक्ति सुख-अव्याचाय सुख की खानि है, वही जीवों को समस्त इन्द्रियों के विषयों को देनेवाला है. वही लक्ष्मी की प्राप्ति में निमित्तभूत है. वही इन्द्र पदवी का प्रदाता है. अतः ऐसे धर्म की मैं सेवा करता हूं। धर्म से ही जीव की उन्नति होती है. इसलिये मैं ऐसे धर्म को नमस्कार करता हूं. धर्म के अतिरिक्त और कोई निष्कण्टक मार्ग नहीं है. इसलिये मैं उसमें अपने मनको लगाता हूं ॥६६॥

धर्म, मुक्तिसुख-अव्याचाय सुखनी पाणु छे. जेज जेवने सधयी इन्द्रियेना विषयने आपवाणो छे. जेज लक्ष्मी प्राप्त थनामां निमित्तत्प छे. जेज इन्द्र पदवी आपवाणो छे. तेथी जेवा धर्माने दुं सेवा करं छुं. धर्मथी जे जेवनी उन्नति थय

छे. तेथी जेवा धर्मने हुं नमस्कार करं छुं. धर्म शिवाय पीजे डोछ सरण भार्ग नथी.
तेथी हुं तेभों के भाईं मन परावुं छुं. ॥६६॥

धर्मस्वरूपा ननु सन्तु मे ते श्रीघासिलाला मुनिराज सेव्याः ।

दयार्णवा दीनहितैषिणोऽस्या भुवश्च चूडामणयोऽर्थलब्धयै ॥६७॥

अर्थ-मुनिराज जिनकी सेवा में रत रहते हैं और जो साक्षात् धर्म-स्वरूप हैं दया के सागर हैं, दीनों के हितैषी हैं ऐसे वे श्री घासीलाल महाराज जो इस पृथ्वी के चूडामणि हैं मेरे प्रयोजन की प्राप्ति के हों ॥६७॥

मुनिराज जमनी सेवामां तत्पर रहे छे. अने जेजो साक्षात् धर्म स्वरूप छे. ध्याना समुद्र छे. दीनदुःखियाना हितकारक छे जेवा जे श्री घासीलाल महाराज के जेजो व्या पृथ्वीमां रूडा भक्षि जेवा छे. तेजो भाई छष्ट प्रयोजन प्राप्त करवामां उपकारक थाव. ॥६७॥

जैनाचार्य-जैनधर्मद्विवाकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते नवमः सर्गः समाप्तः ॥ ९ ॥



अथ दशमः सर्गः प्रारभ्यते-

अथ स्वपित्रोर्नयनाभिरामः, श्रिया समालिङ्गित सुन्दराङ्गः ।
वृद्धिं प्रपेदे स शशीव नित्यं शनैः शनैस्त्रयम्बकवत्स्वरूपः ॥१॥

अर्थ-अपने माता पिताकी आंखोंका सितारा ऐसा वह कुमार कि कामके समान स्वरूप वाला था धीरे २ प्रतिदिन चन्द्रमा की तरह वृद्धिगत होने लगा. ॥१॥

पिताना मातपितानी आंघोना सितारा ज्यो ओ कुमार कामदेव ज्यो स्वस्वपान
होतो. ते धीरे धीरे दररोज वधवा लाग्यो. ॥१॥

बभौ निशान्ते रमयन् जनानां मनांसि चक्षुषि कुमार एषः ।
बभूव स क्रीडनकं च तेषां मनो विनोदे शिशुरस्ति हेतुः ॥२॥

अर्थ-इस कुमारने घर पर मनुष्यों के चित्त को और नेत्रों को सुख पहुंचाया. अतः वह उनके लिए सुहावना लगा और वह उनका एक खिलौना बन गया. ठीक बात है. मनके बहलाने में शिशु प्रयत्न निमित्त होता है ॥२॥

आ कुमारे धेर मनुष्येना चित्त अने नेत्रने आनंद आये तो ते तेजोने सोढमण्यो
लाग्यो, अने ते तेजोतुं एक रमकडुं पनी गयो डिठ ज छे डे मतने पहोकावनामां
भाणक एक पणवत्तर निमित्तत्प होय छे. ॥२॥

दिनानुसारेण शनैः स वृद्धिं प्रपेदे खलु लात्यमानः ।
अङ्कान्तरं रागवशेन वृद्धैरङ्गात्समा कृष्य च नीयमानः ॥३॥

अर्थ-जैसे २ दिन व्यतीत होते गये वैसे २ लाड प्यार से पालित हुआ
वह कुमार बढने लगा और वृद्धजन उसे प्रेम के वशवर्ती होकर एक गोदी
से दूसरी गोदी में खींच २ कर लेने लगे. ॥३॥

जेम जेम दिवसेो पीतवा लाग्या तेमतेम लाडडाडथी उछरतो ओ भाणक प्रतिदिवस
वधवा लाग्यो. अने वृद्धजनो प्रेमने वश थरुं ने तेने एक भोणामांथी पीज्ज भोणामां
भेथी भेथीने लक्ष जवा लाग्या. ॥३॥

यदा यदोत्तानशयोऽथ वृद्धा जनैश्च दोलाधिगतो विशिष्टः ।
गीतैरामन्दोलित एष बालः, जोषं समास्थाय च तच्छृणोति ॥४॥

अर्थ-जब जब वह बालक झूला पर ऊपर मुंह करके चिस्त होकर सोता-तब २ वृद्धाजन गीतों के साथ २ इसे झुलाती और यह बालक चुपचाप होकर उन गीतों को सुनता ॥४॥

ज्यारे ज्यारे ते पाणक पाण्णामां उच्युं भुण्ण करीने यत्तु सुतुं होय त्यारे त्यारे वद्धाञ्जीये जूयण्ण गाता गाता तेने सुवावती अने अ पाणक यूपयाप रही अ गीताने सांखणी रहेतुं. ॥४॥

शुद्धोऽसि तात ! त्वमसि प्रबुद्धो निमकुलो राग विविक्तचित्तः ।

निरंजनो निस्पृह संगवृत्ति स्तथापि कर्मग्रह बद्धचित्तः । ५॥

अर्थ-झूला झुलाते समय वे वृद्धा माताएं कहतीं-हे पुत्र ! तुम बिलकुल शुद्ध हो. बुद्ध हो, निराकुल हो, रागरहित चित्त हो, निरंजन हो, एवं परिग्रह से सर्वथा रहित हो. परन्तु फिर भी तुम कर्मरूपी ग्रह से जकड़े हुए हो. ॥५॥

पाण्णुं सुवावती वण्णते वृद्ध माताअये उहेती उ-हे पुत्र तुं अेकदम शुद्ध थे. पुद्ध थे. निराकुण्ण थे. रागरहित चित्तवाणे थे. निरंजन थे. अने परिग्रहथी सर्वथा रहित थे, तो पाण्ण तुं कर्मरूपी अरुथी उकडायेव थे. ॥५॥

अनादितः कर्मपरंपराभिविस्मृत्य रूपं खल्वेष जीवः ।

कृतः स्वतन्त्रो विविधा समुह्यं कष्टं निकृष्टं सहतेऽनभिज्ञः ॥६॥

अर्थ-अनादिकाल से यह कर्मपरम्परा इस जीव के पीछे पडी हुई है. सो इस कारण जीवने अपने निज स्वरूप को भुला दिया है. उस कर्म परंपरा ने अपने स्वरूप को भूले हुए इसे अपने वश में करके अनेक विध योनियों में कष्टों को दिया है. और यह जीव अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हुआ उन निकृष्ट कष्टों को सहन कर रहा है. ॥६॥

अनादिकाण्णथी आ कर्म परंपरा आ ज्वनी पाण्ण पडेयी थे. ते अण्णुथी ज्वे पोताना नीज स्वरूपने भूलावी दीयेव थे, अे कर्मपरंपराअे पोताना स्वरूपने भूलेला-अाने पोताना वशवर्ति अनवीने अनेक प्रकारनी योनियोमां अनेक कष्टे आया थे. अने आ ज्व पोताना स्वरूपने न आण्णुवाथी अे दुःअेने सहन करी रहेव थे. ॥६॥

इत्थं सुगीतैः खलु ते तदीये वपन्ति बीजं हृदये वृषस्य ।

यतो हि सत्यं नवनिर्मितेऽथ पात्रे गतः स्थान्न कदापि मिथ्या ॥७॥

अर्थ-इस प्रकार के सुगीतो द्वारा वे वृद्धा माताएं उसके हृदय में धर्म का बीज बोती रहतीं. सच बात है. नवनिर्मित पात्र में लगा हुआ यत्न-संस्कार कदापि मिथ्या नहीं होता है. ॥७॥

आधा प्रकारना सारा गीतो द्वारा ये वृद्ध माताओं ते भाणकना हृदयमां धर्मना थी वावती रहेती. साथी व बात छे डे-नवा पात्रमां करेव यत्न-संस्कार क्यारेय पणु मिथ्या वतो नथी. ॥७॥

शशी सदोषो ननु कृष्णवर्त्मा विभावसुः स कामस्वरूपः ।

अग्निः समुक्तश्च विमुक्त एषः तथा न केनाप्युपमीयते न ॥८॥

अर्थ-बाल्यावस्था में वर्तमान यह कुमार चन्द्रमा के समान नहीं है क्योंकि वह सदोष-दोषा-रात्रि से युक्त है और यह दोषो से रहित है. अग्नि कृष्णवर्त्मा है. क्योंकि यह जहां जलतो है वह स्थान काला हो जाता है. यह कुमार "कृष्णवर्त्म यस्य सः" काले रास्ते पर चलनेवाला नहीं है. यह उसके भविष्य काल की अपेक्षा विशेषण है. अतः यह अग्नि के जैसा भी नहीं है. कामदेव के समान यह इसलिये नहीं है कि वे सदा से उग्र-क्रोधयुक्त स्वभाववाले हैं. पर यह ऐसा नहीं है अग्नि के समान यह इसलिये नहीं है कि वह मुक्ताओं से युक्त है. और यह मुक्ताओं से रहित है. अतः इसे हम किमी के भी साथ उपमित नहीं कर सकते हैं ॥८॥

आख्यव्यवस्थामां रहेव ये कुमार चंद्रमा अशेषर नथी. डेभडे-ते सदोष-दोषा रात्रीथी युक्त छे. अने आ कुमार दोषो वितानो छे. अग्नि कृष्णवर्त्मा छे-डेभडे, ते ज्यां भणे छे. ते स्थान काणुं थध अय छे. आ कुमार 'कृष्णं वर्त्म यस्यः सः' काणा रस्ता पर याव या-वाणो नथी. आ तेना आविकाणने लधने कहेव छे. तेथी ते अग्नि जेवो पणु नथी. कामदेव सरणोये ये कारणुथी नथी डे ते सदा डोधी स्वभाववाणो छे. आ कुमार जेवो नथी. समुद्र अशेषर ये कारणुथी ये नथी डे ते चोतियोथी युक्त छे. अने आ मे तियो वितानो छे. आ कारणुथी तेने डोधनी अशेषर अमे कही शकता नथी. ॥८॥

दामोदरः "कृष्ण" इति प्रसिद्धः प्रजापतिः सोऽथ चतुर्मुखश्च ।

प्रद्युम्न पुत्रोऽपि च मन्मथोऽस्ति नायं तथा ह्यस्युपमान बाह्यः ॥९॥

अर्थ-दामोदर "कृष्ण" इस नाम से प्रसिद्ध हैं-प्रजापति चार मुखवाले हैं और प्रद्युम्नबेटा-कृष्णजी का सुपुत्र प्रद्युम्न मनको मथन करनेवाला है पर यह कुमार ऐसा नहीं है. इसलिये हम यह नहीं कह सकते हैं कि यह किसके समान हैं ॥९॥

दाभोदरे 'कृष्ण' आ नामथी प्रसिद्ध छे, प्रजपति यार मुष्पाणा छे. अने प्रद्युम्न-
कृष्णनो पुत्र प्रद्युम्न अर्थात् मननुं मंथन करवावाणो छे. परंतु आ कुमार अयो नथी.
तेथी अमे अे कड़ी शकता नथी डे आ डोनी सरणो छे ॥८॥

मित्रेऽपि शत्रावपि तुल्यवृत्तिश्चकास सोऽयं विधुवत्प्रशान्तः ।

बाल्येऽपि तस्मिन् खलु वर्तमाने समो न तस्याथ बभूव कश्चित् ॥१०॥

अर्थ-इस कुमार की वृत्ति शत्रु और मित्र में समान थी. अतः यह
प्रशान्त बालक चन्द्रमा के जैसा चमकता. बाल्य अवस्था में भी इसके वर्तमान
रहने पर इसके जैसा और कोई दूसरा बालक नहीं था ॥१०॥

आ कुमारनी वृत्ति शत्रु अने मित्रमां सरणी डती. तेथी आ प्रशान्त पाणक चन्द्रमा
अयो अभकतो तेनी आस्थ्यअवस्थाभां तेना अयो अीअे डोअ पाणक न डतो.

निरामयं श्रीसूदनं तदीयं वपुर्विलोकयाथ दिगंगतास्ताः ।

स्वाङ्गे समुत्थापयितुं चक्राङ्क्षुर्मूर्त्तरभावान्न तथा विचक्रुः ॥११॥

अर्थ-रोग रहित-स्वस्थ एवं लक्ष्मी या शोभा का भवन उसके शरीर
को देखकर दिशास्वामी अङ्गनाओंने उस कुमार को अच्छी तरह से उठा-
कर अपनी गोदी में बिठाना चाहा. पर शरीर के अभाव में वे वैसा नहीं
कर सकीं. ॥११॥

निरोगी अर्थात् स्वस्थ तथा लक्ष्मी अटले डे शोभाता स्थानरूप तेना शरीरने अेधने
दिशास्वामी अीअीअे ते कुमारने सारी रीते उठावीने पोताना अेणाभां अेसाडवा विचार्युं,
परंतु शरीरना अभावथी तेअे तेम डरी शक्री नहीं. ॥११॥

यथा यथाऽवर्धतलोचनश्रीस्तथातथा ह्यस्य गतं शिशुत्वम् ।

बभूव चापीकर चारुमूर्तिः, राजीवरम्यः प्रभयान्वितोऽभूत् ॥१२॥

अर्थ-आंखों का प्यारा यह कुमार जैसा जैसा बढा वैसा वैसा इसका
शिशुत्व भी घट और सुवर्ण के जैसी इसकी मूर्ति हो गई. यह कमल के
हमान सुहावना लगने लगा तथा प्रभा से युक्त भी हो गया. ॥१२॥

आंखोने प्यारे आ कुमार अेम अेम वधतो अयो तेम तेम तेनुं पाणकपण्युं धटीने
अेवणुं सरणी तेनी मूर्ति अनि गठि ने कमण अेयो सोलामण्ये लागवा मंडयो, तथा
अीअीथी विकसित पण्यु थरि अयो. ॥१२॥

प्रमोद बाष्पाम्बुकराम्बतोऽसौ हैमः प्रपश्यन्नपि दारकं तम् ।
तृप्तिं न लेभेऽथ तदा मनं सः, मुहुर्मुहुरागवशाञ्चुचुम्ब ॥१३॥

अर्थ-हर्षाश्रुओं से व्याप्त हैमचन्द्र उस पुत्रको देखते २ भी तृप्त नहीं होते और बार २ राग के बशावर्ती होकर उसके मुखको चूमते ॥१३॥

हर्षाश्रुओंकी व्याप्त हैमचन्द्रशेठ तो पुत्रने वारंवार लेभने पशु तृप्त यथा न होता।
अने वारंवार रागने वश यर्षने तेना मुम्बतुं युम्बन करता होता। ॥१३॥

आदायतत्पाणिपुटाग्रमग्रेसरः स तत्कौतुकहृष्टचित्तः ।
करेण संस्थाप्य सुखेऽनुरागाञ्चुचुम्ब लेभे न तथापि तृप्तिम् ॥१४॥

अर्थ-हैमचन्द्र जब उसके कौतुक से प्रसन्न चित्त होते तो वे उसके हाथ की अपने हाथ से पकड़कर अपने मुख पर रख लेते और उसे बड़े अनुराग से चूमते, फिर भी उन्हें तृप्ति नहीं मिलती ॥१४॥

हैमचन्द्र अगरे तेना कौतुकी प्रसन्न मनवाणा यथा त्तारे तेज्यो तेना हाथने पोताना
हाथकी पकड़ने पोताना मुम्ब पर राभी लेता अने तेने धरु अ स्नेहकी युम्बन करता।
छतां पशु तेज्यो तृप्त यथा न होता। ॥१४॥

कपोलपालीं स्फटिकाश्मकान्तिं गुणैर्गर्षिष्ठैश्च गरीयसोऽस्य ।
सौभाग्यलब्ध्या च समुद्रवस्य चुचुम्ब हैमो न जगाम तृप्तिम् ॥१५॥

अर्थ-श्रेष्ठ गुणों से युक्त कुमार के जो कि सौभाग्य की प्राप्ति से उत्पन्न हुआ है, स्फटिक की जैसी कान्तिवाले गालों को वे हैमचन्द्र बार २ चूमते, परन्तु फिर भी उन्हें तृप्ति प्राप्त नहीं होती ॥१५॥

पोताना सौभाग्यकी उत्पन्न थयेला अने श्रेष्ठ गुणवाणा अ कुमारकी स्फटिक जैसी
कान्तिवाणा गावोने अ हैमचन्द्र वारंवार चूमता तो पशु तेज्यो तृप्त यथा न होता। ॥१५॥

स्वाङ्गे समारोप्य यदैव हैमः स्वाङ्गेन सार्धं च तदीयमंगम् ।
संयोजयत् भाति विलोचने द्वेध्यानस्थयोगीव निमीलयन् सः ॥१६॥

अर्थ-जिस समय वे हैमचन्द्र अपनी गोदी में बैठाकर अपने शरीर के साथ उस बालक के शरीर को चिपकाते तो उनके दोनों नेत्र मिंच जाते, उस समय वे ऐसे मालूम होते कि मानों यह कोई ध्यानस्थ योगी ही है ॥१६॥

जो वपते जे हेमचंद्रशेठ जे पाणकने पोताना भोणाभां भेसारीने पोताना शरीरनी साथे जे पाणकना शरीरने लगाडता त्यारे तेमना अन्ने नेत्रो भीयाध जतां ते वपते तेज्जो जेना जशाता डे जशु ते डोई ध्यानभां लीन योगी ज छे. ॥१६॥

सुताङ्गसंस्पर्शसमुत्थमोदः प्रमाणतः स्यादधुना कियान् सः ।

मयीति संमीलितनेत्रयुग्मः करोति मन्ये प्रमितिं स तस्य ॥१७॥

अर्थ-हैमचन्द्र को सुत के अङ्ग के स्पर्श से जो आनन्द उत्पन्न होता उससे उनकेदोनों नेत्र बन्द हो जाते-इस पर यह कल्पना है कि हैमचन्द्र "वह आनन्द प्रमाण में मुझ में इस समय कितना है" इस बात की वे बड़े ध्यान से ही मानों प्रमिति करते हों ऐसा मैं मानता हूँ ॥१७॥

हेमचंद्रने पुत्रना अंगना स्पर्शथी जे आनंद प्राप्त थतो तेनाथी तेमना जेठ नेत्रो अंध थध जता. तेथी जेवी कल्पना थाय छे डे-हेमचंद्र 'ते आनंदतु' प्रमाशु माशभां आ समये डेटेलुं छे? जे वातनी धशा ज ध्यानपूर्वक पात्री करता न होय? तेम हुं मानुं छुं. ॥१७॥

आनन्दकन्दं निजनन्दनं सः विलोक्य मोदान्वितचित्तयुक्तः ।

तृणाय मत्त्वा स्पृहयां बभूव धर्माय तस्मै च सुताय सर्वम् ॥१८॥

अर्थ-आनन्द के कारण ऐसे अपने नन्दन को देखकर हर्षित चित्त हुए हैमचन्द्र ने सब को तृण के जैसा माना और धर्म एवं सुत की ही उन्होंने चाहना रखी ॥१८॥

आ नंदना करण जेवा पोताना नंदनने जेठने उर्षित चित्तवाणा हेमचंद्रे अधाने तृण सरणा मान्या. अने धर्म अने पुत्रनी ज तेमणे चाहना करी. ॥१८॥

एहे सुबालोचित लीलाऽसौ प्रसन्नमुद्रां जनतां प्रकुर्वम् ।

आनन्दबार्धेः परिवर्धकत्वान्नवोदितश्चन्द्र इवावभाषे ॥१९॥

यह कुमार अपने घर पर अपनी सुबालोचित लीला से जनता को प्रसन्न मुद्रावाली करता और उसके आनन्द रूपी समुद्र को खूब बढ़ाता इसलिये वह नवोदित चन्द्र के समान प्रतीत होता. ॥१९॥

आ कुमार पोताना धेर पोतानी पाणोचित्त लीलाथी जनताने प्रसन्न करतो. अने तेना आनंदसागरने भूष ज वधारतो तेथी ते नवा उगेवा अंद्र सरणो लागतो. ॥१९॥

पुत्रेण जुष्टां प्रविलोक्य गंगां संध्यां नवार्केण युतामिव च्याम् ।

तद्वंशजा मोदभरेण नम्रा वाचामगम्यं ननु लेभिरे शम् ॥२०॥

अर्थ-जिस प्रकार प्रातः कालीन संध्या के समय नवोदित सूर्य से युक्त आकाश को देखकर लोग सुख पाते हैं, उसी प्रकार हैमचन्द्र के आनंद से विभोर हुए वंशज भी पुत्रवती गंगा को देखकर सुखी हुए ॥२०॥

जन्म प्रसात कालीनी संध्या समये नया उदय थयेला सूर्याथी युक्त आकाशने ज्येने बोडो सुभ पाये छे. ज्ये प्रसाथे हेमचंद्रना आनंदथी विभोर थयेला वंशजे पुत्रवती गंगादेवीने ज्येने सुभी थया. ॥२०॥

संबन्धिभिः प्रीतिविशेष योगा तस्मै कुमाराय शुभे मुहूर्त्ते ।

सौवर्णिकाभूषणमंगुलीय मनर्ध्यवस्त्रादिकवस्तुदत्तम् ॥२१॥

अर्थ-अच्छे मुहूर्त्त में सम्बन्धी जनों ने कुमार के लिये प्रीति विशेष को लेकर सुवर्ण के आभूषण एवं अंगूठी तथा वेश कीमती वस्त्रादिक वस्तुएँ प्रदान कीं. ॥२१॥

सारा मुहूर्त्तमां संबन्धीजनोंजे कुमार प्रत्येनी विशेष प्रीतिने लधने सोनाना आभूषणो ज्येने वींठी तथा भूष्यवान् वस्त्रादि वस्तुज्यो अर्पणु करी. ॥२१॥

अङ्गायायावद्भ्रमसौ कुमारः शुभोदयान्मंडनमण्डिताङ्गः ।

सम्बन्धिभिन्नोऽपि हिमान्वयस्य रागस्तदेकायतनं बभूव ॥२२॥

अर्थ-कुमार का पुण्योदय बलिष्ठ था. इसलिये वह प्रतिदिन आभूषणों से अलंकृत रहता और एक गोद से दूसरी गोद में बैठता, हैमचन्द्र के खान दान का स्नेह यद्यपि सम्बन्धियों में विभक्त हो गया था. परन्तु फिर भी सब का वह स्नेह उस कुमार में ही आकर इकट्ठा हो गया. ॥२२॥

कुमारनेो पुण्योदय अणवान हतो तेथी ते हररोज आभूषणोथी शणुगारेक रहेतो. तथा ज्ये ज्येथी भीज ज्येणामां ज्येसतो. हेमचंद्रना कुटुंबनेो स्नेह ज्येके संबन्धियोंमां वडे आर्गियेस हतो. छतां पखुं अथानो ज्ये स्नेह ज्ये कुमारमां आवीने ज्येकोडे थय गयो. ॥२२॥

यथायथाऽवर्धत बाल एषः कला अवर्धन्त तथातथाऽस्मिन् ।

अतो जनैश्चन्द्रमसा तदानीमसावुपासीयत हैमपुत्रः ॥२३॥

अर्थ-जैसा जैसा यह कुमार बड़ा हुआ वैसे वैसे अनेक कलाएँ भी उसमें बढ़ीं. इस कारण उस समय लोगों ने इस हैमचन्द्र के पुत्र को चन्द्रमा से उपमित किया. ॥२३॥

ब्रह्म ब्रह्म आ कुमार भेटा थतो गयो तेम तेम तेनामां अनेक कणाओ पणु वधी,
तेथी ते सभये दोडिओ आ हेमयंद्रना पुत्रने यंद्रमानी हपमा आपी. ॥२३॥

लोकानसौहार्दयतीति कृत्वा पित्रा कृतारव्याऽस्य च लोकचन्द्रः ।

आहूत एषोऽत्र तयैवलोके जनैरभूच्चन्द्रगुणानुरूपः ॥२४॥

अर्थ-लोगों को यह आनन्दित करता है ऐसा मानकर पिता हेमचन्द्र ने
इसका नाम लोकचंद्र रखा, अतः लोग भी इसे इसी नाम से बुलाने
लगे अन्त में यह दुनियां में चन्द्रमा के गुणों के अनुरूप ही हुए ॥२४॥

दोडिने आ पाणक आनंद करावे छे. तेम मानीने पिता हेमयंद्रे तेतुं नाम लोकयंद्र
सभ्युं. तेथी दोडा पणु तेने अ नामथी अणुवा लाग्या, छेवटे ते दुनियांमां यंद्रमानी
गुणो ब्रह्मो गुणान् थयो. ॥२४॥

पुत्रो भवेत्सार्थकनामधेयः निमित्तविज्ञैरुदितं तदेतत् ।

निशम्य तुष्टः खलु हैमचन्द्रः क्षणे द्वितीये च विचिन्तितोऽभूत् ॥२५॥

अर्थ-आपका यह बेटा अपने नामको सार्थक करने वाला होगा. ऐसी
ज्योतिषियों द्वारा कही गई बात को सुनकर संतुष्ट हुए वे हैमचन्द्र
द्वितीय क्षण में विशेष चिन्ताग्रस्त हो गये. ॥२५॥

तमारो आ पाणक पोताना नामने सार्थक करवाना थसे तेम ज्योतिषियोअे कहेल
वात सांबणीने संतोष पाबेल ते. हेमयंद्र पीछक्षणे विशेष चिंतायुक्त अन्या. ॥२५॥

अयं मुनिस्ते भविता कुमारो नियोगतः पश्य निवेदयन्ति ।

ग्रहाणि पश्यं महनीयमेतत्स्वजन्मनाऽग्नेन पवित्रितं यत् ॥२६॥

अर्थ-चिन्तित होने का कारण यह था कि-उन्होंने कहा-यह तुम्हारा
कुमार नियम से मुनि होगा. देखो ये ग्रह इसी बात को सूचित कर
रहे हैं. यही एक बहुत बड़ी बात हुई जो इसने अपने जन्म से तुम्हारे
घर को पावन कर दिया. ॥२६॥

चित्तित थवानुं कारणु अे हतुं हे-तेओअे कखुं के आ तमारो पाणक ब्रह्म मुनि
थसे. ओओ आ अह ओअ वात सापित करे छे. ओअ ओक भोटि वात थई के आणे
पोताना जन्मथी तमारो धरने पावन करी दीधुं. ॥२६॥

यथा कथंचिद्विनिवृत्त्य चिन्तां तस्थैव संवर्धनतत्परोऽभूत् ।

हैमः स तत्पुण्यवशाद्बभूव जनाग्रणी मान्य जनेषु मान्यः ॥२७॥

अर्थ-वे हेमचन्द्र जैसे तैसे चिन्ता को दूर करके कुमार के ही संवर्धन करने में दत्तचित्त हो गये उस बालक के पुण्य के वश से वे जननेता और माननीय जनों में भी मान्य माने जाने लगे. ॥२७॥

ये हेमचन्द्रशेठे जेभ तेभ करीने चिन्ता छोडीने कुमारना ज संवर्धनभां चित्त परोव्युं. अने ते पाण्डकना पुण्य प्रतापे ते माननीयजनोभां मान्य थया लाग्ये. ॥२७॥

बभार दृग्दोषनिषेधयित्री रेखां ललाटे सुकुमारकान्तः ।

स षट्पदाभस्य च कज्जलस्य मात्रा कृता चन्द्र वदावदातः ॥२८॥

अर्थ-उस सुकुमार सुन्दर बालक ने कि चन्द्र के समान जिसकी निर्मल कान्ति है अपने ललाट पर दृष्टि दोष को दूर करने के लिये माता के द्वारा की गई भ्रमर के समान अत्यन्त काले कज्जल की रेखा को धारण किया. ॥२८॥

ये सुकुमार सुंदर पाण्डके जेनी निर्मलकान्ति चंद्रमाना जेवी छे, पोताना बाब पर दृष्टिदोष दूर करवा माटे माताजे करेख भ्रमराना जेवी अत्यंत काला कज्जलनी रेखा धारण करी. ॥२८॥

प्रातः समुत्थाय स प्रातुरङ्गात् भून्यस्तपादः पितृपादमूलम् ।

गत्वा स्ववाण्यास्फुटवर्णयायत् किञ्चित् प्रवक्तुं खलु चेष्टते स्म ॥२९॥

अर्थ-जब प्रातः काल हो जाता तब वह बालक की गोद से उठकर कुरडता हुआ पिता के पास पहुंच जाता और अपनी अस्फुट वर्णवाली वाणी से जो मनमें आता उसे कहने के लिये चेष्टा करता ॥२९॥

ज्यारे प्रभातकाल थतो त्यारे आ पाण्डे माताना भोग्यासांथी छडीने पितानी पासे पहोंथी जतो अने पोतानी अस्फुट वाणीथी जेभ मनभां आवे तेभ कडेतानी चेष्टा करतो. ॥२९॥

पदैः स्वलद्भिर्गृहभूमिभागे गच्छन् पतन् स्वंच दिदृक्षयाऽन्यात् ।

उपस्थितान् हास्ययुतान् प्रकुर्वन् सक्रीडति स्माथ हसन्नमातैः ॥३०॥

अर्थ-लड खडाते हुए पैरों से जब यह बालक अपने मकान के भूमि-भाग पर चलता तो गिर पडता इस बात को लेकर उसे देखने की इच्छा से अन्य बालक वहां उपस्थित हो जाते और इस तरह वे इसे देख कर हंसने लगते उनके साथ २ यह भी हंसने लगता और पीछे उन्हीं के साथ खेल ने लगता. ॥३०॥

द्वैतदाता पगथी न्यारे आ आणक पोताना मकानमां यावतो त्यारे ते पडि जतो ते जेवा भाटे अन्य आणको त्यां आवी बडता. अने आ रीते तेने जेथ जेथने इसवा लागता, तेमनी साथे जे पशु इसवा लागतो अने पछी तेज्यानी ज साथे रमवा लागतो હતો. ॥३०॥

यदाऽऽपणं गच्छति हैमचन्द्रस्तदा तदग्रेसस्तामुपेत्य ।

द्वारे समागत्य च तिष्ठति स्म, प्रतीक्षमाणो गमनं स तस्य ॥३१॥

अर्थ-जब हैमचन्द्र अपनी दुकान पर जाने लगते तो बालक लोक-चन्द्र पहिले से ही दरवाजे पर उनके निर्गमन की प्रतीक्षा करता हुआ बैठ जाता. ॥३१॥

न्यारे हैमचंद्र पोतानी दुकाने जाता त्यारे आणक लोकचंद्र पडेलेथी ज दरवाजा पर आवीने तेमना जवानी राह जेथने येसी जतो. ॥३१॥

सुतं यियासुं प्रसमीक्ष्य हैमः संबोधयिस्तं मधुरैर्वचोभिः ।

ब्रूतेस्म ते पुत्र ! न तत्र गन्तुं योग्यास्त्ववस्था त्वमिहैव तिष्ठ ॥३२॥

अर्थ-वे हैमचन्द्र जब लोकचन्द्र को अपने साथ जानेकी अभिलाषा वाला देखते-तब उसे मीठे २ बचनों से वे समझाते और कहते हे पुत्र ! अभी वहां जाने के योग्य तेरी अवस्था नहीं है-अतः तुम घर पर ही रहो ॥३२॥

जे हैमचंद्र न्यारे लोकचंद्रने पोतानी साथे जवानी धरखावणो जेता त्यारे तेने भीडा भीडा वचनेथी समभवता अने कहेता हे पुत्र ! इस त्यां जवाने योग्य तारी उंभर नथी तेथी इसणुा तुं घर ज रहे. ॥३२॥

निवृत्य नेष्यामि फलान्यहं त्वाम् दास्यामि मिष्टान्नमहं च तुभ्यम् ।

अत्रैव शान्त्या जननी सकाशे त्वं क्रीडने क्रीडनकं नयामि ॥३३॥

अर्थ-मैं जब लौटकर आऊंगा तब तुम्हें फल लाऊंगा, मिठाई लाऊंगा यहीं तुम अपनी मां के पास शांति से खेलो, मैं तुम्हें खिलौना लाकर दूंगा ॥३३॥

हूं न्यारे पाछो आवीश त्यारे तारे भाटे क्षणो अने भीडाछ लावीश जेथी आडीं ज तुं तारी आ पासे रम हुं तमने रमकडा लावी आवीश. ॥३३॥

त एव योग्याश्चतुरास्त एव मत्पुत्र ! पुत्रा कुशलास्त एव ।

त एव गण्या पितृमातृभक्ताः ये सेवया ताननु रंजयन्ति ॥३४॥

अर्थ-हे मेरे बेटे ! जो सेवा द्वारा माता पिता को अपने ऊपर अनुरक्त कर लेते हैं वे ही पुत्र योग्य, चतुर, कुशल, गणनीय एवं माता पिता के भक्त माने जाते हैं ॥३४॥

हे माता क्षाल ! जे सेवा द्वारा मातापिताने पोतानाभां अनुरक्त करी वे तेज पुत्र योग्य, चतुर, कुशल, गणनीय मातपितानो भक्त माननाभां आवे छे. ॥३४॥

त्वं श्रेष्ठपुत्रोऽसि मयैकपुत्र ! वृथाऽऽग्रहं वा कुरु तत्र गन्तुम् ।
यथेच्छमत्रैव ममस्व मातुः पार्श्वेऽथ मे दुर्ललितात्मजत्वम् ॥३५॥

अर्थ-हे अद्वितीय पुत्र ! तुम मेरे श्रेष्ठ पुत्र हो. तुम दुकान पर चलने का आग्रह मत करो और यहीं पर इच्छानुसार हे मेरे दुर्ललितात्मज ! तुम अपनी माँके पास खेलो, ॥३५॥

हे अद्वितीय पुत्र ! तुं माते उत्तम पुत्र छे. तुं दुकान वपर आवनाते आग्रह न कर अने अहीं ज तारी छच्छ प्रभाषे तारी मा पासे ज रम्या कर. ॥३५॥

इत्थं गदित्वा विरते च तस्मिन् स शान्तिमाश्रित्य ततोऽथ मातुः ।
पार्श्वे समागान् निजनन्दनं सा स्वाङ्के निधायैव चुचुम्ब गण्डे ॥३६॥

अर्थ-इस प्रकार कहकर जब हैमचन्द्र चुप हो गये. तब कुमार लोकचन्द्र शान्ति भाव से वहाँ से माँ के पास आगये। माताने अपने पुत्रको (उठाकर) गोद में रख लिया और रखने के साथ ही उसने उसके गाल को चूम लिया. ॥३६॥

आ प्रभाषे क्लीने ज्यारे हेमचन्द्र अथ यथा त्यारे ते लोकचन्द्र शांत रीते त्यांथी पोतानी माता पासे आवी गयो. माताजे पोताना पुत्रने उपाडीने पोणाभां भेसाडयो, अने ते पछी तेणीजे तेना गाल पर चुंभन कर्युं. ॥३६॥

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

सत्योक्तिरेषाऽत्रगता प्रत्यक्षं श्रीलोकचन्द्रे समभावयुक्तः ॥३७॥

अर्थ-“ विकार के कारणों के उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार भाव नहीं आता है वे ही धीर हैं ” ऐसी जो यह उक्ति वह बिलकुल सत्य है यह बात प्रत्यक्ष से लोकचन्द्र में जो कि समान भाववाले बने रहे देखने में आई ॥३७॥

विकारना कारणो यथा छांतां पशु जेना मनमां विकारभाव आवतो नथी तेज धीर छे, जेवुं जे कथन छे ते जेकदम सायुं ज छे, जे वात प्रत्यक्ष रीते लोक्यंद्रमां जे जे समान भावनाणा अन्या छता तेमनामां जेवाभां आवी. ॥३७॥

बाल्यं व्यतिक्रम्य स लोकचन्द्रः समुन्नतिं देहगतां बभार ।

पुपोष लक्ष्मीं नयनाभिरामः कलाभृतश्चन्द्रमसस्तदानीम् ॥३८॥

अर्थ—बाल्यावस्था को पारकर लोकचन्द्रने अपनी शारीरिक उन्नति की देखने में वे नेत्रों को सुहावने लगने लगे और उनके शरीर में चन्द्रमा की कान्ति जैसी कान्ति झलकने लगी ॥३८॥

आख्यकाण वीतावीने लोक्यंद्रे पोतानी शारीरिक प्रगति करी, जेवाभां ते नेत्रोने सोहमणो लागवा भंडयो, अने तेना शरीरमां चंद्रमां जेवी कंती जगकवा लागी, ॥३८॥

बाल्यव्यपायेन किमप्यपूर्वं नैसर्गिकं तस्य महो बभूव ।

गुरुन् गुरुन् सम्यगुपास्य तेभ्यो विद्यामधीत्याशु बहुश्रुतोऽभूत् ॥३९॥

अर्थ—बाल्यअवस्था के निकल जाने से उनका स्वाभाविक कोई अपूर्व प्रभाव जगा, उन्होंने श्रेष्ठ गुरुओं की उपासना-सेवा आदि करके उनसे विद्या पढ़ी और थोड़े ही समय में ये बहुश्रुत-विद्वान् बन गये ॥३९॥

आख्यकाण वीति जवाथी तेना डोठ स्वभाविक अपूर्व प्रभाव जगृत थयो, तेणे श्रेष्ठ गुरुज्यानी सेवा विगेरे करीने तेमनी पासेथी विद्याभ्यास कर्यो, अने थोडा ज समयमां ते विद्वान् अनी गयो. ॥३९॥

लक्ष्मीं न तस्याद्भ्रियुगं विहातुं बभूव शक्ता सुकृतोदयस्य ।

चक्राब्जशंखादि सुचिह्नितस्य सौभाग्यमुद्रा हि शुभप्रदेव ॥४०॥

अर्थ—पुण्यशाली लोकचन्द्रके कि जो चक्र, कजल एवं शंख आदि के चिह्नों को धारण किये हुए थे, चरणयुग को छोड़ने के लिये लक्ष्मी समर्थ नहीं हो सकी. सच बात है जिसके पास सौभाग्य की मुद्रा है वह उसे शुभ फल को ही देनेवाली होती है. ॥४०॥

अक, कमण, अने शंख विगेरे उत्तम चिह्नोने जेणे धारणु कर्यो छे जेवा अने पुण्यशाली जेवा लोक्यंद्रना पाह्युगने छेडता लक्ष्मी समर्थन थयां, सायनी ज वात छे जे-जेनी पासे सौभाग्यनी मुद्रा छे, ते जेने शुभ दण ज हेनारी अने छे. ॥४०॥

दयावतोऽन्तःस्करणेऽजनिष्ट विशालता सद्गुणसंभृतस्य ।

लक्ष्मीपतेः स्यात्कथपन्यथाऽत्र तयो निर्वासो ह्यविरोधभावात् ॥४१॥

अर्थ—दयालु लोकचन्द्र के हृदय में विशालताने जन्म लिया था. यह बात इसलिये सिद्ध होती है कि ये सद्गुणों से भरे हुए थे और लक्ष्मी के पति थे अर्थात् सरस्वती और लक्ष्मी दोनोंने इन्हें अपना समान अधिकारी बना लिया था यदि ऐसी बात न होनी—अर्थात् इनके हृदय में विशालता न होनी तो ये दोनों बिना किसी विरोध भावके लोकचन्द्र के पास कैसे रहतीं ॥४१॥

दयालु अथवा लोकचन्द्रना हृदयमां विशालताये जन्म धारणु कथो उतो अे वात अे भाटे सिद्ध थाय छे उे—ते सद्गुणोथी भरपुर उता. अने लक्ष्मीना पति उता. अर्थात् सरस्वती अने लक्ष्मी अे अनेअे तेने पोताने समान अधिकारी अनावी दीधे उतो अे अेभ न होत अेटये उे तेना हृदयमां विशालपणुं न होत तो अे अने उेअे अतना विशेष वगर लोकचन्द्रनी पासे उेवी रीते रहेत ? ॥४१॥

शशाङ्कवद्रकललाटपट्टः स मांसलस्कन्धयुगो विशाल-

वक्षःस्थलो भङ्गुरकेशकान्तमूर्धा युवाऽभून्मृगलाच्छनास्यः ॥४२॥

अर्थ—युवा लोकचन्द्र का ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के जैसा था. दोनों स्कन्ध पुष्ट थे. वक्षःस्थल विशाल था मस्तक घुंघराले बालों से शोभित था और मुख चन्द्रमा के समान था. ॥४२॥

युवान अथवा लोकचन्द्रतुं ललाट आठमना चंद्रमा अेअुं उतु. अने असा पुष्ट उता, छाती विशाल उती. भरतक वांकडियात्राणोथी सुशोभित उतुं. अने भुण चंद्रमा सरभुं उतुं. ॥४२॥

स पुष्टगात्रो व्यवहारविज्ञः कृतोऽथ तातेन बभूव दक्षः ।

जनेषु विश्वस्तवचा अभूत्स निमित्त नैमित्तिककर्मनिष्टः ॥४३॥

अर्थ—लोकचन्द्र का युवावस्था में शरीर पुष्ट हो गया पिता हेमचन्द्रने इन्हें व्यावहारिक कार्यों का जानकार बना लिया. इसलिये उन कार्यों में ये दक्ष हो गये. मनुष्यों में इनकी धाक जम गई और निमित्त नैमित्तिक कार्यों के संपादन में ये विशेष निपुण माने जाने लगे. ॥४३॥

युवावस्थां लोकचन्द्रतुं शरीर पुष्ट अन्थुं. पिता हेमचंद्रे तेने व्यावहारिक कामेने अणुकार करी दीधे. तेथी ते कामेमां अे अतुर अनी गथे. भाणुसेमां तेनी धाक अेसी अर्थ अने नितयना अने नैमित्तिक कामे करवाभ ते विशेष प्रवीण अनावा लाग्ये. ॥४३॥

विलोक्य तं यौवनशालिनं सद्वृत्त्याभिरामं नयशीलवन्तम् ।

भूयादयं धर्मविशेषविज्ञः पवित्रसंस्कारयुतश्च मादृक् ॥४४॥

अर्थ-यौवन से सुशोभित, सदाचार से सुन्दर ऐसे लोक चन्द्रको नीति और शीलशाली देखकर “ यह मेरा जैसा धर्मका ” विशेषज्ञाता और पवित्र संस्कारवाला बने ” ॥४४॥

यौवनशी सुशोभित, सदाचारशी सुंदर जेवा लोकचंद्रने नीति अने शीलसंपन्न जेधने आ भास जेवो धर्मने विशेष अणुकार अने पवित्र संस्कारवाणो अने. ॥४४॥

इत्थं स्व सद्भावनायाऽनया सौ प्रत्येककार्ये सह तं व्यनैषीत् ।

स्याल्लौकिकं वाथ च धार्मिकं तत्सर्वत्र पितृवैव महास्य यानम् ॥४५॥

अर्थ-इस प्रकार की इस अपनी सद्भावना से वे हेमचन्द्र प्रत्येक कार्य में उन्हें अपने साथ ले जाते थे. लोकचन्द्र भी चाहे वह लौकिक कार्य हो चाहे धार्मिक कार्य हो सर्वत्र पिता ही के साथ रहते. ॥४५॥

आवा प्रकारनी जे पोतानी सद्भावनाथी ते हेमचंद्र दरेक कार्येभां तेने पोतानी साथे राखता. लोकचंद्र पणु आडे ते लौकिक काम होय डे धार्मिक काम होय अथे जे पितानी साथे रहेतो. ॥४५॥

व्यापारकार्ये परिपूर्णरीत्या विशेषविज्ञः कुशलश्च जातः ।

एवं विनिश्चित्य च तातपादैःस्वकार्यभारो निहितो अमुस्मिन् ॥४६॥

अर्थ-यह लोकचन्द्र अब व्यापार कार्य में परिपूर्ण रीति से विशेषविज्ञ और कुशल हो गया है ऐसा जब हेमचन्द्र को अच्छी तरह निश्चय हो गया तब उन्होंने अपने ऊपर का समस्त कार्यभार उस पर रख दिया ॥४६॥

आ लोकचंद्र जेवे व्यापारना कार्येभां संपूर्ण रीते विशेष अणुकार अने कुशल अनी गयो छे, तेम ज्यारे हेमचंद्रने सारी रीते निश्चय थयो त्यारे तेमजे पोताना उपरने सधणो बार तेना पर भूडी दीयो. ॥४६॥

यथारलिन्दस्य समीरणेन प्रसार्यते गन्धगुणो हरित्सु

तथैव पुंसोऽपि गुणाः सुवृत्त्या नास्त्यत्र केषामपि संविवादः ॥४७॥

अर्थ-जिस प्रकार कमल के गन्ध गुण को हवा चारों दिशाओं में फैला देती है उसी प्रकार पुरुष के भी गुणोंको सदाचार सर्वत्र फैला देता है इस कथन में किसी की भी दो रायें नहीं हैं ॥४७॥

जन्म कर्मगता गंधगुणने उवा यारे आबु देखावे छे. जेज प्रभाषे पुश्पना गुणने पणु सदाचार यारे आबु देखावे छे आ कथनमां डोर्छने पणु जे मत नथी. ॥४७॥

श्रीलोकचन्द्रो स्वविशिष्टकृत्या बभूव सद्वृत्तपवित्रचित्तः ।

प्रामाणिकत्वेन जनेषु मान्यः स्वयत्तश्च साऽभूच्च जनप्रियोऽथ । ४८॥

अर्थ-श्री लोकचन्द्र अपनी विशिष्टवृत्ति के द्वारा सदाचार से पवित्र कार्य करनेवाले बनें और प्रामाणिक पुरुष रूप से वे जनता में मानें जाने लगे और इसी रूप से उनकी प्रसिद्धि हुई. इस तरह वे जन प्रिय बन गये. ॥४८॥

श्रीलोकचन्द्र पोतानी विशेष वृत्तिथी सदाचारथी पवित्र कार्य करवा लाग्या. अने प्रामाणिक पुश्पयणुथी तेज्या जनतामां मनावा लाग्या. अने जेज रीते तेमनी प्रसिद्धि भय जे रीते तेज्या लोकप्रिय भनी गया. ॥४८॥

तं लोकाशाहेति जनप्रियत्वात् नाम्ना जनो बन्धुजनो जुहाव ।

कालक्रमेणाभवदेष लोकाशाहाभिधानेन पुनश्च वाच्यः ॥४९॥

अर्थ-जनता को प्रिय हो जाने के कारण स्वजन और परजन इन्हें "लोकाशाह" इस नाम से कहने लगे. पुनः जैसा जैसा समय निकलता गया लोग इन्हें लोकाशाह ऐसा कहने लग गये ॥४९॥

लोकप्रिय भनवाथी स्वजनो अने अन्यजनो तेमने 'लोकाशाह' जे नामथी अणुवा लाग्या, अने जेज जेज समय बीततो गयो तेम तेम तेने सौ 'लोकाशाह' जे रीते कहेवा लाग्या. ॥४९॥

हितं मितं चित्तहरं च सत्यं वचो ब्रुवन्नैष पवित्रचित्तः ।

विश्वासभूरापणिकेषु जातः कार्येषु तेषां क्रयविक्रयादौ ॥५०॥

अर्थ-माया चार से विहीन होने के कारण पवित्र चित्तवाले ये लोकाशाह हितकारी परिमित एवं मनोहर सत्य वचन बोलते. इसलिये दुकान दारों के साथ लेन देन के व्यवहार में इनकी शाखा जन्म गई. ॥५०॥

मायाचार रहित होवाथी पवित्र चित्तवाला आ लोकाशाह हितकारी, परिमित, अने मनोहर सत्य वचन बोधता तेथी व्यापारिथीमां खेवडहेनडना वेपारमां तेमनी शाखा अर्थात् गई. ॥५०॥

शनैः शनैः स्तनपरीक्षकोऽसौ बभूव तत्संगवशादपीच्यः ।

तत्तज्ज्ञपुंसां ननु संगतिं हि करोति तत्तज्जनरं न चित्रम् ॥५१॥

अर्थ—बहुत सुन्दर शरीर वाले ये लोकाशाह धीरे २ जौहरियों की संगति से रत्न परीक्षक भी बन गये. ठीक बात है जो जिस २ विषय का ज्ञाता होता है उस उस की संगति से मनुष्य उस २ विषय का ज्ञाता बन जाता है. इसमें कोई अचरज की बात नहीं है ॥५१॥

अत्यंत रमणीय शरीरधारी आ लोकाशाह धीरे धीरे अवेरीयोना समागमथी रत्न-परीक्षक पणु अपनी गया. सायुं न छे डे—न कोरुं न न विषयना आणुकार होय छे, ते तेना समागमथी भाणुस ते ते विषयना आणुकार अपनी अय छे, तेमां डंरुं न आश्चर्यनी बात नथी. ॥५१॥

निमित्तमासाद्यहि कर्मठो ना स्वकार्यसिद्धौ न च माद्यतीह ।

निमित्तमित्रं महदस्ति पुंसां स्वार्थप्रसिद्धौ प्रथमं निदानम् ॥५२॥

अर्थ—जो मनुष्य कर्मठ होता है वह निमित्त की सहायता से अपने काम को बना लेता है. उसमें वह प्रमाद पतित नहीं होता है. निमित्त अपने अभिलषित कार्य की सिद्धि में पुरुषों का एक बहुत बड़ा मित्र और सब से पहिला कारण है. ॥५२॥

न भाणुस कर्म होय छे, ते निमित्तनी सहायताथी पोतानुं काम अनावी ले छे. तेमां ते प्रमादी थतो नथी. निमित्त अ पोताना छच्छित कार्यनी सिद्धि आटे पुरोधेना अक धणु भेटे मित्र छे. अने सौथी पडेयुं कारण छे. ॥५२॥

ये सन्ति लोके प्रतिभा धनाढ्याः प्राह्वाः स्वभावात्सरलार्द्रचित्ताः ।

दयासनाथाः सविधे च तेषां लक्ष्मीः स्वयं याति निवासमाप्तुम् ॥५३॥

अर्थ—इस संसार में जो प्रतिभा रूपी धन से युक्त हैं, विनम्र हैं स्वभावसे सरल और आर्द्र चित्त वाले हैं, एवं दया से युक्त हैं ऐसे मनुष्यों के पास लक्ष्मी स्वयं रहने के लिये जाती है, ॥५३॥

आ नगत्मां नये प्रतिभाथी धनवाणा छे, विनम्र छे, स्वभावथी सरण अने आर्द्र चित्तवाणा छे. अने दयापरायणु छे अना भाणुसे पासे लक्ष्मी रहेवा आवे छे. ॥५३॥

तमेव लक्ष्मीरमृतं ह्यमेयं प्रपाययित्वा सुखिनं करोति ।

तां प्राप्य यो नैव च निजितः स्यान्मदेन पंचेन्द्रियतस्करेण ॥५४॥

अर्थ—उसी पुरुष को लक्ष्मी नियम से अमित अमृत पिलाकर सुखी करती है कि जो उसे पाकर मद और पंच इन्द्रिय रूप चोरों से निजित नहीं होता है. ॥५४॥

अञ्ज पुष्पने लक्ष्मी अवश्य अमृत पीवशावीने सुभी करे छे, के न तेने पापीने मह अने ईन्द्रियोद्गीपी योरोथी छतातो नथी. ॥५४॥

यः संपदामायतनं च भूत्वा मदेन बन्धुश्च तिरस्करोति ।

त एव लब्ध्वावसरास्तमेनं निपातयन्तीह गदाश्च रूग्णम् ॥५५॥

अर्थ- जो संपत्ति शाली होकर अहंकार वश अपने बन्धुजनों का तिरस्कार करता है. वे ही बन्धु समय पाकर रोग जिस प्रकार रोगी को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार उसे नष्ट कर देते हैं ॥५५॥

अञ्जो संपत्तिवाणा थधने अहंकारने वश थधने पोताना पंधु वर्गिना तिरस्कार करे छे, अञ्ज पन्धु समय आवेथी रोग अम रोगीना नाश करे छे, अञ्ज रीते अनेना नाश करे छे. ॥५५॥

गुणाधिकानां धुरि वर्तमानः स लोकाशाहः खलु मत्सरेण ।

दोषैः कृतज्ञो न च पस्पृशेऽथ गुणैश्चतैस्तै विनिवार्यमाणैः ॥५६॥

अर्थ-गुणशाली मनुष्यों के अग्रभाग में वर्तमान वे. लोकाशाह जो दुर्गुणों से स्पृष्ट नहीं हुए उसका कारण यह था कि गुणों ने उन दोषों को भगा दिया था. इसलिये वे उनसे इर्ष्या करने लगे थे ॥५६॥

गुणवानोभां अग्रसर अत्रा अ लोकाशाह दुर्गुणोने वश न थयां तेनुं कारणु अ उतुं के-गुणोअ अ दोषोने लगाडी भूक्या उता. तेथी ते अना प्रत्ये धर्षा करता उता. ॥५६॥

लक्ष्मीपति नैव वमार गर्व स्वप्नेऽपि सद्भावभरावनम्रः ।

सत्यं धरायां धरणीध्वजा ये विजश्वराया न मदं भजन्ते ॥५७॥

अर्थ-लक्ष्मीपति लोकाशाह ने जो स्वप्न में भी अभिमान धारण नहीं किया उस का एक मात्र कारण यही था कि वे सद्भावों के भार से झुके हुए थे. सच बात है जो जन पृथ्वी पर पृथ्वी की ध्वजा रूप होते हैं वे क्षणविनश्वर लक्ष्मी का मद नहीं किया करते हैं ॥५७॥

लक्ष्मीवानु लोकाशाह स्वप्नभां पणु अभिमान कथुं न उतुं तेनुं अक मात्र कारणु अञ्ज उतुं के तेअो सद्भावोना भारथी नभेदा उता. सायुं न छे के अ-मनुष्यो पृथ्वी पर तेनी ध्वज रूप होय छे, तेअो क्षणमात्रभां नष्ट थरावाणी लक्ष्मीना मह करता नथी. ॥५७॥

कर्तव्यकर्मण्यथ लब्धकीर्तिः पितुर्निदेशाद् गतवान् सिरोहीम् ।

व्यापारपण्यानयनाय लोकः स्वस्मात्पुरात् तद्वणिजामभीष्टः ॥५८॥

अर्थ-अपने करने योग्य कार्य में-व्यापार में जिसने कीर्ति संपादित करली है ऐसे वे लोकाशाह पिता की आज्ञा प्राप्तकर दुकानदारी के माल को लेनेके लिये अपने ग्राम से सिरौही शहर गये. ॥५८॥

पोताना करता थायक कर्षोभां जमणे कीर्ति भेणवी दीधी छे, जेवा जे लोकाशाह पितानी आज्ञा भेणवीने दुकानदारीने सामान देवा भाटे पोताना गाभेथी शिरौही शहरभां गया. ॥५८॥

युग्मम्—

अथैकदा रत्नपरीक्षकस्य हट्टास्थिते रत्नपरीक्षमाणम् ।

तमापणे व्रीक्ष्य वणिक् प्रधानस्तत्रत्यवासी श्री ओधवाख्यः ॥५९॥

श्रेष्ठी स्वचित्ते व्यमृशत्तदानीं गुणश्रयेणाथ न केवलं स्व- ।

पक्षो भृशं हर्षित एव किन्तु चित्तं नितान्तं च ममाप्यनेन ॥६०॥

अर्थ-एक दिन की बात है कि जब वे बाजार में स्थित किसी जौहरी की दुकान में रत्न की परीक्षा कर रहे थे तो उन्हें इस स्थिति में वहीं के एक श्रीमान् श्रेष्ठ ओधवजीने देखा और देखकर उन्होंने अपने चित्त में विचार किया कि यह कुमार तो बड़ा गुणशाली है. यह केवल अपने पक्षको ही आनन्दित नहीं करता है किन्तु मेरे चित्त को भी यह आनन्दित कर रहा है. ॥५९-६०॥

जेक दिवसे ज्यारे तेजे पजारभां डोछ अवेरीनी दुकानभां रत्ननी परीक्षा करता छता, त्यारे तेभने जे स्थितिभां त्यांना ज जेक श्रीमान् श्रेष्ठ ओधवज्ये जेया ज्यने जेठने तेजे पोताना मनभां विचार कर्यो डे ज्य कुमार धर्यो गुणवान् छे, जे डेवण पोताना पक्ष-वाणने ज ज्य आनन्दित करे छे तेम नथी पणु भाश चित्तने पणु ज्य आनन्दित करे छे. ॥५९-६०॥

द्विषन्नपि स्याद् यदि नूनमस्य विलोक्य रूपं सफले स्वनेत्रे ।

मन्येत, मन्येऽस्मिन् नन्दने मे मनो न तृप्तिं समुपेत्यतृप्तम् ॥६१॥

अर्थ-यदि कोई इसका शत्रु भी होगा तो वह भी इसके रूप को देखकर अपने नेत्रों को सफल मानेगा. ऐसा मैं मानता हूं. न जाने इस नन्दन में-कुमार में अतृप्त हुआ मेरा मन तृप्तिको क्यों नहीं प्राप्त कर रहा है. ॥६१॥

कदाच डोछ ज्यानो शत्रु पणु छे तो ते पणु ज्याना स्वर्पने जेठने पोताना नेत्रने सक्षण माने तेम हुं मानुं छुं. समज नथी पडती डे कुमारभां अतृप्त रहेव भाइं मन वृप्त डेम थतुं नथी ? ॥६१॥

प्रपश्यतो मे भवति प्रभोदो महानियान्पस्य महात्मनोऽयम् ।

गृहं कुलं वाङ्मलं करोति पुण्यात्मनस्तस्य कियान् भवेत्सः ॥६२॥

अर्थ-जब इसे देखकर मुझे इतना महान् हर्ष हो रहा है तब जिस भाग्यशाली के घर को, या कुल को अथवा उसकी गोदीको इसने अलङ्कृत किया है उस पुण्यशाली को कितना आनन्द नहीं होता होगा-अर्थात् उसके आनन्द का तो कहना ही क्या है. ॥६२॥

अधारे आने जेधने भने आटवो पधे उर्ष थर्ष रखी छे, त्यारे के भाग्यशालीना धरने, अगरे दुणने के तेना भोगाने आण्णे शोभाव्या छे अ पुण्यवानने इटवो पधे आनन्द थतो उशे? अर्थात् तेना आनन्दनी तो बात न शी करवी. ॥६२॥

स एव धन्यः सफलं च जन्म तस्यैव यस्यास्ति कुमार एषः ।

महानुभावो धुरि वर्तमानः सुदारकाणां बहु रोचते मे ॥६३॥

अर्थ-यह कुमार कि जो महा प्रभावशाली है और अच्छे पुत्रों के बीच में भी जो श्रेष्ठ है जिसका है वही धन्य है और उसीका जन्म सफल है. यह मुझे बहुत सुहावना लग रहा है. ॥६३॥

आ कुमार के के महाप्रभाववाणो छे, अने सुपुत्रोभां पणु के उत्तम छे, ते जेना पुत्र होय तेने धन्य छे, अने तेना न नन्म सक्षण छे, आ भने धणो न सोढाभणो लागे छे. ॥६३॥

सुदर्शना मे तनुजाऽधुना सा जाता वयस्का च विवाहयोग्या ।

अयं कुमारोऽपि तथाऽनयोः स्यादुद्वाहबंधश्च गृहे कृतार्थे । ६४॥

अर्थ-मेरी पुत्री कि जिसका नाम सुदर्शना है अब वयस्क हो चुकी है और विवाह योग्य हो गई है. यह कुमार भी ऐसा ही है अतः इन दोनों का विवाह सम्बन्ध हों जाय तो दोनों घरों की शोभा है ॥६४॥

भारी पुत्री के जेतुं नाम सुदर्शना छे, ते अत्यारे उमरसायक थर्ष छे, अने लक्ष योग्य छे, आ कुमार पणु सायक न छे तेथी आ अन्नेना विवाह संबन्ध थाय ते अन्ने धरनी शोभाइय छे. ॥६४॥

रात्रिर्यथा चन्द्रमसाच चन्द्रस्तयार्ज्यमा स्वप्रभयाऽमुनाऽसौ ।

विसजते राजतु योग एषोऽनयोर्मिथः काञ्चनवज्रयोर्वा ॥६५॥

अर्थ-चन्द्रमा से रात्रि और रात्रि से चन्द्रमा अपनी प्रभा से सूर्य और सूर्य से प्रभा जिस प्रकार शोभित होते हैं उसी प्रकार काञ्चन और हीरे की तरह इन दोनोंका विवाह बन्धन भी सुशोभित होगा ॥६५॥

चंद्रमार्थी रात्री अने रात्रीथी चंद्रमा, पोतानी प्रभाथी सूर्य अने सूर्यथी प्रभा जेभ परस्परने शोभावे छे, जेज प्रभाषे सोनु अने छीरांनी भाइक आ अन्नेना विवाह संबंध पखु शोभास्पद थशे ॥६५॥

सुदर्शना सार्थकनामधेया भवेदनेनैव समं विवाहात् ।

यतो हि शस्तं खलु वस्तु शस्ते तद्योग्यपात्रे क्षिप्तं विराजते ॥६६॥

अर्थ-सुदर्शना सार्थक नामवाली तभी हो सकती है कि जब उसका वैवाहिक सम्बन्ध इस कुमार के साथ हो जाय, क्योंकि अच्छी वस्तु तभी अच्छी लगती है कि जब वह अपने योग्य पात्र में धरी जाती है ॥६६॥

सुदर्शना जे सार्थक नामवाणी त्यारे ज कही शक्य के- ज्यारे तेनो विवाह संबंध आ कुमार साथे थछ जय डेभके सारी वस्तु त्यारे ज सारी लागे के ज्यारे ते पोताने योग्य पात्र मां रहेल छेय ॥६६॥

सौभाग्यमेतन्मम दारिकाया संप्रार्थितो मंगलरूप एषः ।

वरो मयाप्तः फलितोक्तिरेषा गन्तव्यदेवो गृह मागतोऽथ ॥६७॥

अर्थ-यह मेरी पुत्री का ही सौभाग्य है जो मन चाहा मंगल रूप यह वर मैंने प्राप्त कर लिया है, यह बात तो ऐसी हुई कि जिस देव के घर जाना चाहिये था वह देव घर पर आज ही आ गया है ॥६७॥

आ सारी पुत्रीनुं ज लाग्य छे के ज मनगभतो मंगलरूप आ वर में भेगवी लीधो छे, आ बात तो जेवी अनी के ज देवने धेर जपुं जेई जे देव ज भारे धेर आवी गयेल छे ॥६७॥

इत्थं सुनिश्चित्य शुभे मुहूर्ते बन्धून् समादाय महोत्सवेन ।

गतोऽथ हैमस्य सुवस्त्रवेषो गृहं शुभायां च तिथौ सयानः ॥६८॥

अर्थ-इस प्रकार निश्चय करके ओधवजी अपने बन्धुओं को साथ लेकर बड़े उत्सव के साथ वेशभूषा से सुसज्जित होकर और सवारी में बैठ कर हैमचन्द्रजी के घर पहुंचे ॥६८॥

आ प्रभाषे विचार करीने आधिवल पोताना अन्धुवर्गने साथे लधने धया ज उत्सवपूर्वक वेषभूषाथी सुसज्जित थधने अने वाहनमां भेरीने हेमचंद्रने धेर गया ॥६८॥

समागतांस्तानथ वीक्ष्य हैमो मोदप्रकर्षाञ्चितगात्रयष्टिः ।

सर्वा व्यवस्थामुचितां विधाय प्रपच्छ तेषां कुशलं सुवृत्तम् ॥६९॥

अर्थ-महिमानो को आया हुआ देखकर हैमचन्द्र का शरीर हर्ष के मारे फूल गया. उसी समय उन्होंने ने उनकी पूरी र उचित व्यवस्था करदी. बाद में फिर उन्होंने ने उनकी कुशलता के समाचार पूछे. ॥६९॥

महेमानोने आवेक्षा ओझने हेमचंद्र उर्षावेशथी कृती गया. अने ओज सभये तेभणे तेज्या माटे सुंदर व्यवस्था करी अने पछी तेमना कुशल समाचार पूछया. ॥६९॥

पश्चाच्च संफुल्लमुखारविन्दः प्रोवाच युष्माभिरयं सनाथः ।

कृतः, कृतं मे सदनं पवित्रं भस्त्रपसादं प्रतिनन्द्य नौमि ॥७०॥

अर्थ-इसके बाद प्रफुल्लित मुख कमल वाले हैमचन्द्र ने उनसे कहां-कि आपने मुझे सनाथ किया है और मेरे घर को पवित्र किया है. अतः मैं आपके अनुग्रह का अभिनन्दन करता हूं और उसे नमस्कार करता हूं ॥७०॥

ते पछी प्रसन्न मुखवाणा हेमचंद्रे तेज्याने कछुं डे आजे आपे अने सनाथ अनाथ्ये छे, अने मारा धरने पावन करेस छे. तेथी तमारी आ कृपाने हुं अभिनंदुछुं अने आपने नमस्कार करूं छुं. ॥७०॥

पुण्येन लब्धोऽथ मयैष योगो युष्माकमेतद् यद् दर्शनं मे ।

जातं कियद्वच्चि कृपामिमां वः आज्ञां प्रदायैव च मां गृहाण ॥७१॥

अर्थ-यह अवसर मुझे बडे पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है जो आप सबके मुझे दर्शन हुए हैं. आप को उस कृपा के लिये जितना कहा जाय वह सब थोडा है. अतः आज्ञा प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत कीजिये. ॥७१॥

आ व्यवसर अने धरुा न पुण्योदयथी प्राप्त थयेस छे. डे जेथी आप सौना अने दर्शन थया छे. आपनी आ कृपा निमित्ते के कंठ कहेवाभां आवे अे तमाम थोडुं न छे. तेथी के कंठ उचित करसु होय ते कही अने अनुग्रहीत करे. ॥७१॥

युष्माकमेतत्खलु दर्शनं मे पुण्योदय वक्ति यतोऽल्पपुण्यैः ।

न लभ्यते भाग्यवतां जनानां जनैः कृपादृष्टिरयत्नसाध्या ॥७२॥

अर्थ-आपका यह दर्शन निश्चय से मेरे पुण्य के उदय को कह रहा है क्योंकि अल्प पुण्य वालों के भाग्यशाली मनुष्यों की अद्यत्न साध्य कृपादृष्टि प्राप्त नहीं होती है. ॥७२॥

आपनुं आ दर्शन निश्चय पूर्वक मारा पुण्यना उदयने न कही रहेस छे. उमके ओछा पुण्यवाणाने भाग्यशाली मालुसोनी प्रयत्न विना न कृपादृष्टि प्राप्त थती थथी. ॥७२॥

त्वदाज्ञयाऽऽमानमहं कृतार्थं कर्तुं समिच्छामि कथय किमस्ति ।

कृत्यं निश्चयेति स ओधव स्वं मनोगत वृत्तमुवाच चेत्यम् ॥७३॥

अर्थ—मैं आपकी आज्ञा से अपने आपको कृतार्थ करना चाहता हूँ—अतः कहिये मेरे योग्य क्या कार्य है. इस प्रकार हैमचन्द्र की बात सुनकर ओधव जी ने अपने मनोगत भाव को इस प्रकार प्रकट किया. ॥७३॥

हुं तमारी व्याजार्थी मने पोताने कृतार्थं करवा छिच्छुं छुं. तेथी मारा सरपुं शुं काम छे? ते कडो, आ रीते हेमचंद्रना कथनने सांबणीने ओधवछे पोताना मनमां रहेल भावो आ प्रमाणे निवेदितं कर्था. ॥७३॥

नामानुरूपा नवयौवनादया चैत्राश्रिता चन्द्रकलेव दृष्टुः ।

मोदं वितन्वन्ति सुदर्शनाख्या कन्याऽस्ति भद्राकृति भव्यरूपा ॥७४॥

अर्थ—चैत्रमास की चन्द्र कला के समान दृष्टाजन को आनन्द प्रदान करने वाली सुदर्शना नाम की मेरी एक कन्या है. वह यथा नाम तथा-गुण-वाली है. वह जवान हो चुकी है. उसकी आकृति भद्र है और रूप भी उसका भव्य है ॥७४॥

चैत्र मासनी चंद्रकला समान दर्शकजनोने आनंद आपनानाणी सुदर्शना नामनी मारी अेक कन्या छे, ते नाम प्रमाणेना गुणवाणी छे. ते उमरवायक थई छे, तेनो आकार कस्याणुकारी छे. अने ते सुरपा छे. ॥७४॥

गार्हस्थ्यकार्ये चतुराऽथ पट्वी सामायिकादौ मुनिदानकृत्ये ।

निरालसा सा सहधर्मिणीस्यात् सुतस्य तेऽयं च मनोरथो मे ॥७५॥

अर्थ—मेरी ऐसी आवना है कि गृहस्थ के कार्य में चतुर सामायिक आदि सत्कृत्य में पटु एवं मुनिदान में आलस्य विहीन वह कन्या आप के पुत्र की सहधर्मिणी हो ॥७५॥

मारी अेथी आवना छे छे—गृहस्थना कार्यमां चतुर सामायिक विगेरे सत्कृत्योमां प्रवीणु अने मुनि दानमां उद्यमशील आ कन्या आपना पुत्रनी सह धर्मिणी थान. ॥७५॥

धन्योऽस्म्यहं जीवितमद्यजातं श्लथ्यं च यत्स्नेहमसालसेन ।

त्वया सुदृष्ट्या ननु वीक्षितोऽहं धन्या त्वदीया च विनम्रतैषा ॥७६॥

अर्थ—मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ एवं अपने जीवन को प्रशंसनीय मानता हूँ जो आपने मुझे बडे ही स्नेह पूर्वक अच्छी दृष्टि से देखा है. आप की यह विनम्रता धन्य है. ॥७६॥

छुं भने पीताने धन्य भानुं छुं. अने मारा जवनने सक्षण भानुं छुं के आपे भने धरा ७ स्नेहपूर्वक सारी दृष्टिथी ज्येस छे. तमारा आ विनयभावने धन्य छे. ॥७६॥

भवद्विधाः सत्पुरुषा न लभ्या भवन्ति सर्वत्र तदर्थिनां वै ।

वने वने चन्दनपादपा नो गजे गजे नैव च प्रौक्तिकश्रीः । ७७॥

अर्थ-जो सत्पुरुषों को प्राप्त करने के अभिलाषी जन हैं उन्हें आप जैसे सत्पुरुष सर्वत्र प्राप्त नहीं होते हैं. क्यों कि नतो प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष होते हैं और न प्रत्येक हाथों में मुक्ता श्री होती है. ॥७७॥

ज्ये सत्पुरुषेने प्राप्त करवानी छव्छवाणा छे, तेभने तमारा जेवा सत्पुरुष पथे भणता नथी. केभके दरेक वनमां चन्दनवृक्षो होता नथी. तेभज दरेक हाथीमां सुंदर मोती होता नथी. ॥७७॥

अतो भवान् प्रस्यतु प्रशस्तं मनोरथं मे सविधे स्थितस्य ।

कन्यां कुमासय विधाय वश्यां याञ्चाममोघां दयया करोतु ॥७८॥

अर्थ-अतः आपके निकट स्थित मेरे प्रशस्त मनोरथ की आप पूर्ति करें और कुमार के लिये कन्या को रोक कर मेरी याचना को कृपा कर सफल करें ॥७८॥

अथी आपने निवेदन करेस मारा उत्तम जेवा मनोरथनी आप पूर्ति करेस अने कुमार भाटे कन्याने स्वीकार करीने मारी याचनानो आप स्वीकार करीने तेने सक्षण भनावो. ॥७८॥

प्रसीद मे त्वं ह्युसीकुरुष्व स्पष्टाक्षरैः प्रार्थनयाऽनयोक्तम् ।

सद्भावनामेष भवेत् कुमारः कन्यापतिः सत्पतिलक्षणादयः । ७९॥

अर्थ-आप मुझ पर प्रसन्न हों और स्पष्ट अक्षरों द्वारा इस प्रार्थना के रूप में अभिव्यक्त हुई मेरी सद्भावना को आप स्वीकार करें. बश कहने का तात्पर्य यही है कि आप का यह कुमार जो सत्पति के लक्षणों से भर पूर है मेरी कन्या का पति बने. ॥७९॥

आप मारा पर प्रसन्न बित्तवाणा थर्थने स्पष्ट कथन द्वारा आ प्रार्थनाइपे प्रदर्शित करेस मारी सद्भावनानो आप स्वीकार करेस. मारा कहेवानो भाव ज्ये छे के-आपने आ कुमार के जे सन्मतिना लक्षणेथी सम्पन्न छे, ते मारी कन्याने स्वामी बने. ॥७९॥

इत्थं गदित्वा विरते च तस्मिन् हैमोज्ज्वलत्तत्र विमुच्यते भोः ।

श्रेष्ठिस्त्वदीया विभुता क्व मेऽल्पा श्रीः स्यात् कथं नौ व्यवहार एषः ॥८०॥

अर्थ-इस प्रकार कह कर और बाद में चुप हो जाने पर हैमचन्द्रने ओध-वजी से कहा हे श्रेष्ठिन्! कहां आपकी प्रभुता और कहां मेरी छोटीसी श्री. हम दोनों का यह विवाह सम्बन्धरूप व्यवहार कैसे हो सकता है? ॥८०॥

आ प्रभाशु कहीने मौन रहेला आधिवृत्ते हेमचंद्रे कथुं-के शेडिया ! क्या आपनी मोटाई अने क्या भारी आ नानी जेवीश्री आपाशा जेडने आ वैवाहिक संबंध डेवी रीते थई शडे ? ॥८०॥

क्व राजमान्यो बहुशक्तिशाली पुराधिवासी द्रविणाधिपस्त्वम् ।

क्व ग्रामवासी सहजाल्पशक्ति र्वणिग्नजनोंऽयं कथमावयोः सः ॥८१॥

अर्थ-राज्यमान बहु शक्तिशाली नगर निवासी और धनपति आप कहां और ग्रामवासी स्वाभाविक अल्पशक्तियुक्त साधारण यह वणिक जन कहां हमारा और आपका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ॥८१॥

राजमान्य अधिक शक्तिसंपन्न नगरनिवासी अने धनवान् जेवा आप क्या अने साधारण गामभां रहेनार अल्पशक्तिवाणा साधारण असे क्या तेथी आपने अने अभासे संबंध डेवी रीते संभवी शडे ? ॥८१॥

समानपक्षे खलु जायमानः संबंधबंधो दृढतामुपैति ।

न कापि शङ्कोद्भवति प्रसङ्गान्न रङ्गभंगोऽपि न रागभङ्गः ॥८२॥

अर्थ-समान पक्षमें जो सम्बन्धरूप बंध होता है वह दृढ-स्थिर होता है उसमें किसी प्रसङ्ग वश किसी को भी किसी प्रकार की शङ्का नहीं होती है । यहां न रङ्ग में भङ्ग होता है और न राग में भंग होता है. ॥८२॥

समान पक्षवाणामां जे संबंध जेडाय छे ते मज्जुत अने स्थायि निवडे छे. तेमां डोई प्रसंगोपात डोडने डोई पक्ष प्रकारनी शंका रहेती नथी. त्यां रंगभांभंग थतो नथी डे रागमां विरागपक्षुं आवतुं नथी. ॥८२॥

समानपक्षे व्यवहार एष संशोभते नीतिविदामभीष्टः ।

तद्विपक्षे विषमस्थितिः स्यात् सम्बन्धिनः शोक विरोधहेतुः ॥८३॥

अर्थ-जहां दोनों पक्ष-कन्या पक्ष और वरपक्ष-बराबर के होते हैं वहां किया गया व्यवहार-विवाहरूप सम्बन्ध शोभित होता है. यही बात नीतिज्ञों को अभीष्ट है. इससे भिन्न पक्ष में-कन्यापक्ष अथवा वर पक्ष में असमानता में सम्बन्धी की-कन्या अथवा वरपक्षवाले की विषम स्थिति हो जाती है और वह उसके शोक या विरोध की कारण बन जाती है. ॥८३॥

જ્યાં કન્યાપક્ષ અને વરપક્ષ સમાન હોય ત્યાં કરવામાં આવેલ વ્યવહાર શોભાસ્પદ અને છે. એજ વાત નીતિને અણુનારાઓ ઇષ્ટ માને છે. આનાથી ભિન્ન અસમાનતાવાળાઓમાં સંબંધ કરનારાઓની સ્થિતિ વિષમ બની જાય છે, અને તેથી તેમને શોક કે વિરોધના કારણરૂપ બની જાય છે. ॥૮૩॥

દુग्ધં મનો મૌક્તિકમક્ષતં સત્ મનોરથં સાધયતિ પ્રસિદ્ધમ્ ।

નિમિત્તમાસાથ ચ વિકૃત્તે ચેન્ન પૂર્વવદ્રાગ વિવર્ધકં સ્યાત્ ॥૮૪॥

અર્થ-દૂધ, મન ઓર મોતી યે જબતક અક્ષત રહતે હૈં. દૂધ જબતક ફટતા નહીં હૈ, મન આપસ મેં વિગડતા નહીં હૈ ઓર મોતી મેં કિસી બી પ્રકાર કા વિકાર આતા નહીં હૈ તથતક યે મનુષ્ય કે મનોરથ કો સિદ્ધ કરતે હૈં-દુગ્ધ પીનેવાલે કે શરીર કા પોષણ કરતા હૈ. આપસ મેં વિશ્વસ્ત હુઆ મન એક દૂસરે કે કાર્ય સાધન મેં સહાયક હોતા હૈ, મોતી જોહરી કી અપની પૂરી કીમત દ્વારા ધારણા આદિ કો પુષ્ટ કરતા હૈ. ઇસ તરહ યે સબ અપની ૨ અવિકૃત અવસ્થા-સ્વાભાવિક સ્થિતિ મેં પ્રાણી કે મનોરથ કો સાધતે હૈં યહ વાત પ્રસિદ્ધ હૈ, પરન્તુ જબ યે કિસી નિમિત્ત કો લેકર વિકૃત હો જાતે હૈં.-દૂધ ફટ જાતા હૈ, મન અવિશ્વસ્ત હો જાતા હૈ, મોતી વિકાર યુક્ત હો જાતા હૈ તો યે હી પૂર્વકી તરહ-અક્ષત અવસ્થા કી તરહ મનુષ્યો મેં અપને પ્રતિ રાગવર્ધક-નહીં હોતે હૈ. ॥૮૪॥

દૂધ, મન અને મોતી એ જ્યાં સુધી અવિકૃત રહે છે, એટલે કે દૂધ ડાટી ન જાય, મન પરસ્પર અવિશ્વસ્ત ન બને મોતીમાં જ્યાં સુધી ડોઘ જાતનો વિકાર ન આવે ત્યાં સુધી તે માણસના મનોરથો સિદ્ધ કરે છે. દૂધ પીનારને પોષણ આપે છે. પરસ્પર વિશ્વાસુ મન એકબીજાના કાર્ય સાધનમાં સહાયક થાય છે. મોતી ઝવેરીને પોતાની પૂરી કીમત દ્વારા ધારણા વિગેરેને પુષ્ટ બનાવે છે. આ રીતે બધા પોતપોતાની વિકાર વિનાની અવસ્થામાં પ્રાણીના મનોરથો સફળ બનાવે છે. તે વાત પ્રસિદ્ધ છે. પણ જ્યારે તે ડોઢ કારણસર વિકૃત બની જાય અર્થાત્ દૂધ ડાટી જાય, મન અવિશ્વાસુ બની જાય, મોતી વિકારવાળું થઈ જાય ત્યારે તે પહેલાની જેમ મનુષ્યોમાં પોતાના પ્રતિ રાગને વધારનાર થતા નથી. એટલે કે શંકાશીલ બનાવી દે છે. ॥૮૪॥

કિમત્ર તાવત્મવનોદિતેઽસ્મિન્ બ્રૂવે-ભવાનેવ મમ પ્રમાણમ્ ।

સત્યં મહાન્તો હ્યપરં મહાન્તં જાનન્તિ તેષાં પ્રકૃતિઃ સમૈવ ॥૮૫॥

અર્થ-હૈમચન્દ્રને ઓઘવજી સેઠ સે કહા-આપને જો મેરે સમક્ષ પ્રસ્તાવ પ્રસ્તુત કિયા હૈ ઉસ સમ્બન્ધ મેં મૈં આપ સે કયા કહૂં, મૈં તો આપકો હી

इस विषय में प्रमाणभूत मानता हूँ. यह बात सच है कि जो महान् होते हैं वे दूसरों को भी महान् ही माना करते हैं. क्योंकि उनकी प्रकृति में विषमता—छोटे बड़े का भाव ही नहीं होता है. वह तो सबके प्रति समरूप ही रहती है ॥८५॥

हेभयद्रे व्योधवण्ण शेठने क्खुं—आपे ज भारी सामे ठराव रज्जु कर्यो छे, जे आपतमां हूँ आपने शुं क्खुं ? हूँ तो आ विषयमां आपने ज प्रमाणिके क्खुं छुं जे वात साय्थी ज छे के—जेआ महान् होय छे, तेआ अन्धने पणु महान् ज मानता होय छे, केभइ तेभना स्वभावमां विषमपणुं अर्थात् नाना—भेदापणुनेा भाव ज होतो नथी. ते तो सौने समानरूपे ज नुवे छे. ॥८५॥

अहो ! जनानां महतां विशिष्टा रीति नयते स्वमुखेन किञ्चित् ।
सत्त्वेऽपि सर्वाभ्युदये वदन्ति स्वगौरव्यापकशब्दमात्रम् ॥८६॥

अर्थ—महान् पुरुषों की यही एक विशिष्ट रीति होती है कि वे अपने मुख से सच प्रकार का अभ्युदय होने पर भी अपने गौरव को प्रकट करनेवाले किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं. ॥८६॥

महान् पुरुषोनी जेज्जे क्क विशेष रीत होय छे, के तेआ पे ताना मुग्धेथी दरेक प्रका-
रनेा अभ्युदय होना छतां पणु पोताना गौरवने देणाउतार केअ पणु शब्दनेा प्रयोग
करता नथी. ॥८६॥

परं च तेषां भवति प्रवृत्ति र्यदीदृशी ज्ञायत एव लोके ।

अवाग् विसर्गच तयैव सम्यक् महत्त्वमेषां सुजनैश्च सर्वैः ॥८७॥

अर्थ—परन्तु—उनकी प्रवृत्ति ऐसी होती है कि जिससे विना कहे ही लोक में अच्छी तरह अच्छे मनुष्यों द्वारा उनका महत्त्व जान लिया जाता है. ॥८७॥

परंतु तेभनी प्रवृत्ति जेनी होय छे के—जेथी क्खुं विना ज लोकमां सारी रीते
संज्ञनेा द्वारा तेभनुं भेट पणुं जण्णी देवाय छे. ॥८७॥

अहो ! कियानस्ति महान् जनोऽयं ऐश्वर्यवर्योऽपि निरस्तगर्वः ।

गृहस्थमार्गे निरतोऽपि भाति विरक्तवत्तत्र वसन्नसौ मे ॥८८॥

अर्थ—ओह ! यह कितना महान् जन है. जो ऐश्वर्य से संपन्न होते हुए भी अहंकार से रहित है. यद्यपि यह गृहस्थ मार्ग में निरत हैं फिर

भी मुझे तो ऐसा लगता है कि यह वहां विरक्त की तरह ही रहता है. ॥८८॥

अरे! आ डेटले मळान् पुरुष छे के न् औक्षर्य युक्त होवा छतां पशु अहंकार विनानो छे. ओके आ गृहस्थभार्गमां रत रबो छे. तो पशु मने तो अेषुं क्षागे छे के-ते त्यां विरक्तनी न्म न् रहे छे. ॥८८॥

युगम्--

सौहार्दसंभूति वाग्विलासौ तौ तत्र पुर्याच विशिष्ट शोभौ ।

स्वबन्धुवृन्दैस्त्रि देववृन्दैर्वृतौ किमेतौ हस्वाहनौ द्वौ ॥८९॥

अत्रत्यलक्ष्मीवलोकितुं स्वस्वर्गात्समुत्तीर्य समागतौ वै ।

निरीक्ष्य तद् भाषणसक्तचित्तो लोकस्तदित्थं व्यमृशत्तदानीम् ॥९०॥

अर्थ-लोकचन्द्र ने जब इन दोनों को बड़े प्यार से परस्पर में बात-चीत करते हुए देखा-तो उन्होंने ने उस समय इस प्रकार विचार किया विशिष्ट शोभाशाली क्या ये दोनों यहां की श्री देखने के लिये स्वर्ग से उतर कर आये हुए दो इन्द्र हैं जो देवों के जैसे अपने २ बन्धुवृन्द से घिरे हुए हैं ॥८९-९०॥

लोकचन्द्रे आ अन्नेने धणुः स्नेहथी परस्पर वार्ताक्षाप करता जेया त्त्यारे तेषु अे समये अेम विचार्युं के-विशेष शोभा-संपन्न आ अन्ने अहीनी शोभा निरूपवा माटे स्वर्गथी उतरीने आवेल अे इन्द्रो छे? जेयो देवोनी न्म पोतपोताना अन्धुवर्गथी धेरायेल छे. ॥८९-९०॥

प्रस्तावितां तां च तयो विचारधारां निशम्य व्यमृशत्तदानीम् ।

स लोकशाहो मम बन्धनाय विवाह दंभाद्रचयंति जालम् ॥९१॥

अर्थ-प्रस्तावित उन दोनों की विचार धारा को सुनकर लोकाशाह ने उस समय विचार किया कि ये सब मुझे बन्धन में डालने के लिये विवाह के बहाने से जाल की रचना कर रहे हैं. ॥९१॥

उपरोक्त अे अन्नेनी विचारसरणीने सांलणीने लोकाशाहे विचार्युं के-आ अधुं मने अधनमां नापवा माटे भारा विवाहना अहानाथी अणनी रचना कराई रही छे. ॥९१॥

वैवाहिकं जीवनमत्र केषां ब्रन्देन हीनं ह्यभवज्जनानाम् ।

तथापि मूढा विषयाभिलाषा स्तत्रैव धावन्ति न तृप्तिमाजः ॥९२॥

अर्थ-किन प्राणियों का वैवाहिक जीवन यहां कलह शोक आदि से रहित हुआ है अर्थात् किसी का नहीं. तथापि विषयाभिलाषा वाले सूखे प्राणी उसी ओर दौड़ते हैं और तृप्ति को प्राप्त नहीं करते हैं ॥९२॥

क्या प्राणियों में वैवाहिक जीवन अच्छी कसल शोक विगरेथी रहित थियेले छे ? अर्थात् श्रेष्ठतुं न नदी. तो पशु विषयाभिलाषावाला भूष प्राणी जेन तरफ़ डोडे छे, परंतु तेभने तृप्ति भगती नथी. ॥९२॥

युग्मम्—

पिपासया व्याकुलितो यथैणः मरीचिकां धावति नीखुद्धया ।

तथापि नाप्नोति जलं स तत्र भ्रमन्भ्रमन्मृत्युमुपैति तदत्र ॥९३॥

जीवोऽप्ययं सौख्यसमाप्तुकामः पंचेन्द्रियार्थेषु निमग्नबुद्धिः ।

सुखेच्छया तानथ सेवते नो प्राप्नोति तद्दुःखमुपैति नूनम् ॥९४॥

अर्थ-जिस प्रकार प्यास आकुलित हुआ मृग जल की बुद्धि से मरीचिका की तरफ़ दौड़ता है पर वह वहां जल नहीं पाता है. केवल इधर उधर चकराकर २ कर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी सुख प्राप्त करने का अभिलाषी होकर पांचों इन्द्रियों के विषयों में अपने ज्ञान को निमग्न कर देता है-अर्थात् इन विषयों के सेवन से मुझे सुख प्राप्त होगा इस आशा से उनका सेवन करता है. परन्तु इसे वहां सुख नहीं मिलता है केवल दुःख ही मिलता है. ॥९३-९४॥

जेम तरसथी पीडायेस भृग जस समञ्जने तडका तरफ़ डोडे छे, पशु त्यां तेने नण भ्रमन् नथी केवण आभतेम आंटादेश मारीने भरणने शरण थय छे. जेन प्रभाषे आ छे पशु सुख भेगववाने मञ्छीने पांचे इन्द्रियोना विषयोमां पोताना ज्ञानने दुयाडी हे छे. अर्थात् आ विषयोना सेवनथी भने सुख भणे छे जेवी आशाथी तेनु सेवन करे छे, परंतु त्यां सुख भणतुं नथी केवण दुःख न भणे छे. ॥९३-९४॥

शनैः शनैस्तद्विषयैर्वराकः प्रवंचितोऽसौ च गतस्थितिः स्यात् ।

श्वमादि भूमौ च निपत्य भुङ्क्ते शीतोष्णजन्यां बहुवेदनां हा ! ॥९५॥

अर्थ-उन पंचेन्द्रियों के विषयों से ठगे गये इस जीव की जब भुज्यमान प्राण धीरे २ समाप्त हो जाती है तो यह नरकादि गतियों में उत्पन्न हो कर वहां शीत और उष्ण जन्य वेदना को भोगता है. ॥९५॥

એ પાંચે ઇન્દ્રિયોના વિષયોથી ઇચ્છાએ આ જીવની જ્યારે જુન્યમાન આવરણ ધીરે ધીરે પૂર્ણ થાય છે, ત્યારે તે નરક વિગેરે ગતિઓમાં ઉત્પન્ન થઈને ત્યાં શીતોણુ જન્ય વેદનાઓને ભોગવે છે. ॥૮૫॥

यस्यां गतौ जन्म धृतं ह्यनेन तत्रैव भोगस्य कथानुभूता ।

श्रुताऽत्मनो नैव ततश्च तत्संस्कारहेतोर्विषयानुरागी ॥९६॥

અર્થ—જિસ ગતિ મેં ઇસ જીવ ને જન્મ ધારણ ક્રિયા ઉસ ગતિ મેં ઉસને ભોગ કી કથા સુની, ઓર વહી અપને અનુભવ મેં લાઈ, આત્મા કી કથા ઇસને નહીં સુની ઓર ન વહ અનુભવ મેં લાઈ. ઇસીલિયે ઉસી સંસ્કાર કે કારણ યહ વિષયોં કા અનુરાગી બના હુઆ હૈ. ॥૯૬॥

એ ગતિમાં આ જીવે જન્મ ધારણ કર્યો એ ગતિમાં તેણે ભોગની જ વાત સાંભળી, અને એજ તેણે અનુભવી આત્માની વાત સાંભળી જ નહીં તેમ તેને અનુભવમાં પણ ન લાવી. તેથી જ એજ સંસ્કારવશાત્ આ જીવ વિષયોનો અનુરાગી બનેલ છે. ॥૯૬॥

भोगानुरागात्કરिમીનમृદ્ગપતંગसारंगकुला विनष्टाः ।

तन्मूलसंहारकनृत्वलब्धौ कृतं न तच्चेत् किमनोऽस्ति कष्टम् ॥९७॥

અર્થ—લોકાશાહ ને વિચાર ક્રિયા—ભોગોં મેં પંચેન્દ્રિયોં કે એક ૨ વિષય મેં—અનુરાગ, સે હાથી, મીન, મૌરા, પતંગ ઓર સારંગ નષ્ટ હુવ હૈં. ઇન ભોગોં મેં અનુરાગ કા મૂલકારણ મોહ હૈ. ઉસે નષ્ટ કરને વાલા યહ માનવ ભવ હૈ. યહ મુક્ષે પ્રાપ્ત હુઆ હૈ. તો એસી સ્થિતિ મેં ઉસ ભોગાસક્તિ કે મૂલ કારણ મોહ હૈ. ઉસે નષ્ટ કરનેવાલા યહ માનવ ભવ હૈ. યહ મુક્ષે પ્રાપ્ત હુઆ હૈ. તો એસી સ્થિતિ મેં ઉસ ભોગાસક્તિ કે મૂલ કારણ મોહ કા યદિ સંહાર નહીં ક્રિયા તો ઇસસે ઓર વ્યા કષ્ટ હૈ. અર્થાત્ યહી એક વડા મારી કષ્ટ હૈ જો મોહ કા મેં સંહાર નહીં કર પાયા. ॥૯૭॥

લોકાશાહે વિચાર કર્યો કે—ભોગોમાં પંચેન્દ્રિયોના એક એક વિષયમાં અનુરાગથી હાથી, માછલી, ભમરો અને હરણનો નાશ થયેલ છે. આ ભોગોમાં અનુરાગનું મૂળ કારણ મોહ છે. તેનો નાશ કરવાનાનો આ અનુભવભવ છે. તે મને પ્રાપ્ત થયેલ છે. તો આ પરિસ્થિતિમાં એ ભોગાસક્તિના મૂળ કારણરૂપ મોહનો એ નાશ ન કર્યો તો તેથી વિશેષ દુઃખકારક બીજું શું છે? અર્થાત્ આજ એક મહાન દુઃખ છે કે મોહનો હું સંહાર કરી ન શક્યો. ॥૯૭॥

इत्थं स्वचित्ते परिधान्य सोऽयं सम्बन्धकार्ये शिथिलादरोऽभूत् ।

तथापि पित्रोः परिलक्ष्य मोहं माध्यस्थ्यभावं ह्यवलम्ब्य तस्थौ ॥९८॥

अर्थ—इस प्रकार अपने मन में सोचकर लोकाशाह सम्बन्ध कार्य के प्रति अपने विवाह होने के प्रति-शिथिल भाववाले बन गये, परन्तु फिर भी माता पिता का मोह देखकर उन्होंने उसके प्रति माध्यस्थ्य भाव का ही अवलम्बन किया. ॥९८॥

आ प्रभाषे पीताना मनमां विचारिणे लोकाशाह अ संबंधना कार्यं प्रत्ये शिथिल-भाववाणा अनी गया. छातां पशु मात-पिताने मोह अर्धने तेभ्ये अ कार्यं प्रत्ये माध्य-स्थ्यभावने न धारणु कर्यो. ॥९८॥

आलोचितं तेन षडेकपुत्रः स तातपादश्च षडेकजीवः ।

मे संस्थितिर्षस्य च संस्थितिर्मे संभोद एवास्ति यदीयमोदः ॥९९॥

वार्द्धक्य यष्टिर्ननु यस्य बाहं यस्याक्षियुग्मं ह्यहमेव तस्मात् ।

कथं भवेयं प्रतिकूलवर्ती कृतघ्नतादौषकलङ्घितः स्याम् ॥१००॥

अर्थ—उस समय उसने विचार किया—मेरे पिताजी सुझ पुत्र से ही पुत्रवान् हैं, अर्थात् उनका मैं ही एक पुत्र हूँ इसलिये मेरी अच्छी स्थिति ही उनकी अपनी अच्छी स्थिति है, मैं ही उनका एक जीवन हूँ, मेरा आनन्द ही उनका अपना आनन्द है, मैं ही उनकी वृद्धावस्था का एक यष्टिरूप सहारा हूँ और मैं ही उनकी आंखों के जैसा हूँ अतः मैं उनसे प्रतिकूल कैसे हो सकता हूँ यदि होता हूँ तो मैं कृतघ्न-तादोष से कलंकित होता हूँ. ॥९९-१००॥

ते समये तेभ्ये विचार कर्यो दे-भारा पिता पुत्र अवा भारथी न पुत्रवान् छे. अर्थात् तेमनो हूँ अक न पुत्र छुं. तेथी भारी सारी स्थिति अक अमनी सारी स्थिति छे. हूँ न तेमनो अक अनाधार छुं. भारी आनंद अक अमने पीतानो आनंद छे. हूँ न तेमनी वृद्धावस्थानी अक लाकडीरूप सहायक छुं, अने हूँ न तेमना नेनो समान छुं. तेथी हूँ तेमनाथी निरुद्ध केम वर्ती शकुं? अे निरुद्ध थाउ तो हूँ कृतघ्न गण्ठाई कलंकित गण्ठाई छुं. ॥९९-१००॥

इत्थं पिनुर्मोहमयं ममत्वं विचार्य निश्चित्य च तन्निदेशं ।

प्रणालयिष्यामि पुनर्यथा स्यात्तथा यथा कालमहं करिष्ये ॥१०१॥

अर्थ-इस प्रकार पिता के मोहमय ममत्व का विचार करके उसने ऐसा निश्चय किया कि पिता जी जो आदेश देंगे उसे मैं पालन करूँगा फिर बादमें जैसा होगा वैसा मैं यथा समय कर लूँगा. ॥१०१॥

आ रीते पिताना मोहयुक्ता भक्तनेो विचार करीने तेषु अयो निश्चय कयो उ-पिताञ्च न आशा करशे तेतुं हूँ पालन करीश. ते पञ्ची योग्य समये न करवा योग्य हशे ते हुं करीश. ॥१०१॥

स्वान्धवैः सार्धमसौच सम्यग् निश्चित्य वाग्दानविधेश्च वेलाम् ।
तस्यां चकाराथ सुनिश्चितं तं सुतस्य गोदानमहतोत्सवेन ॥१०२॥

अर्थ-हैमचन्द्र ने अपने बन्धुओं के साथ अच्छी तरह से वाग्दान विधि के सगाई के समय निश्चित किया और निश्चय करके ठीक उसी समय में पुत्र लोकाशाह की वाग्दान विधि उत्सव पूर्वक बड़े हर्ष के साथ निश्चित करली-स्वीकृत करली. ॥१०२॥

हेमचन्द्रे पिताना बन्धु वर्गानी साथे अकत्र थरुने सारी रीते वाग्दानविधि-सगाई भाटे समय नकी कयो. अने निश्चित करेला समये पुत्र लोकाशाहनी वाग्दानविधि धरुा न हर्षपूर्वक करी दीधी. ॥१०२॥

तत्कालमोदोद्भव गोधघोषै र्योषिज्जनानां ललितैः सुगीतैः ।
वाद्यारवैः संकुलितान्तरङ्ग जातं च तत्कान्तनिशान्तमस्य ॥१०३॥

अर्थ-उस समय के हर्ष के वेग से उत्पन्न हुए मनुष्यों के घोषोंसे महिला जनों के ललित गीतों से एवं बाजों की ध्वनियों से हैमचन्द्र का सुन्दर भवन जिसका भीतरी भाग व्याप्त हो रहा है ऐसा हो गया था. ॥१०३॥

ते समये हर्षना आवेशथी उत्पन्न थयेला मनुष्योना अवाजेथी, स्त्रीजनोना रमणीय गीतेथी अने वाज्जोनी ध्वनीथी हेमचन्द्रतुं सवन वायावित अनी गयुं. ॥१०३॥

तत्रागतानां फलपुष्पनारिकेलादिभिस्तत्समयानुरूपम् ।

यथोचितं स्वागतमाननन्द विधाय हैमो हिमचन्द्रतुल्यः ॥१०४॥

अर्थ-वाग्दान विधि में आये हुए मनुष्यों का उस समय के अनुरूप स्वागत सत्कार यथा योग्य रीति से करके तुषार एवं चन्द्रमा के जैसा शीतल एवं प्रिय हैमचन्द्र बहुत अधिक प्रसन्न हुए. ॥१०४॥

वाग्दानविधिमां आवेक्षा मनुष्योनुं स्वागतं अने सत्कारं ये समयने अनुसरिने योग्य रीते करिने छिभकषु अने चंद्रमा न्ना शीतल अने प्रिय हेमचंद्र वक्षु न विशेष रीते प्रसन्न थया. ॥१०४॥

पीतानि पुष्पाणि समागतैस्तैः सर्वैर्मित्वाच्च शुभाशिषाऽस्मा ।

लोकोत्तमाङ्गो मुदितान्तरङ्गैर्निक्षिप्य जग्मुर्भवनं स्वकीयम् ॥१०५॥

अर्थ—वाग्दान विधि में संमिलित हुए समस्त जनों ने मिलकर बड़े ही हर्ष से अपने २ शुभाशीर्वादों के साथ लोकचन्द्र के मस्तक पर पीले पुष्प प्रक्षिप्त किये और अपने २ घर चले गये. ॥१०५॥

वाग्दान विधिमां आवेक्षा सधणा ननसभूडे मणीने वक्षु न हर्षपूर्वक अने शुभाशीर्वाद साथे लोकचंद्रना मस्तक पर पीला पुष्पो वेर्या अने पोतपोताने घेर गया. ॥१०५॥

सौभाग्यालभ्यते लक्ष्मीः सौभाग्याच्चगुणावली ।

सौभाग्यालभ्यते रामा वामा सारङ्गलोचना ॥१०६॥

अर्थ—सौभाग्य से ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, सौभाग्य से ही अच्छे गुणों का लाभ होता है. और सौभाग्य से ही मृग के जैसी लोचन वाली सुन्दर स्त्री का लाभ होता है ॥१०६॥

सौभाग्यथी न लक्ष्मीनी प्राप्ति थाय छे, सौभाग्यथी न सारा गुणोनो लाभ थाय छे, सौभाग्यथी न मृगनयना स्त्रीनो लाभ थाय छे. ॥१०६॥

एकस्तावदयं मदीयनिलयस्याधारभूतः सुतः ,

मेऽयं सुन्दरमालयं ह्युपवनं विश्रान्तिभूश्चेतसः ।

क्रोडश्रीरुसश्च शीतलमही निर्वाण भूर्नेत्रयोः ,

जीयात्सद्गुरुभक्तिः प्रतिदिनं भूयाच्च धर्मोत्सवः ॥१०७॥

अर्थ—एक यही सुत मेरे भवन का आधार भूत-शिला है. यही मेरा सुन्दर आलय-घर है., यही मेरा उपवन है, यही चित्त के विश्राम की भूमि है, यही मेरी गोदी की शोभा है, यही मेरी छाती को ठंडी करने वाली शीतल मही है, यही नेत्रों की निर्वाणभूमि हैं—नयनों को सर्वथा शान्ति देने वाली जगह है. अतः यह सद्गुरु की भक्ति से जयवन्त रहे और प्रतिदिन धर्म का है उत्सव जिसे ऐसा यह होवे. ॥१०७॥

એક આજ પુત્ર મારા ભવનના આધારશિલારૂપ છે. આજ મારું સુંદર આલય-ઘર છે. આજ મારું ઉપવન છે. આજ ચિત્તાના નિશ્રામની ભૂમિ છે. આજ મારા ખેાળાની શોભા છે. આજ મારી છાતીને ઠંડી કરનારી ભૂમિ છે, અને આજ નેત્રોને એકદમ શાંતિ આપનારી જળ્યા છે. તેથી સદ્ગુરૂની ભક્તિથી આ જયવન્ત રહે અને દરરોજ ધર્મનો જ જને ઉત્સવ છે તેવો આ બને. ॥૧૦૭॥

इत्थं ममत्वभावेन पित्रा दत्तशुभाशिषा ।

विसर्जितोऽभिनन्द्यासौ सवित्र्याः सविधे गतः ॥१०८॥

અર્થ-હસ પ્રકાર મમતાભાવ વાલે પિતા ને અપને શુભ આશીર્વાદ સે હસે અભિનન્દિત કર વિસર્જિત કર દિયા. પશ્ચાત્ યહ અપની માતા કે પાસ ગયા. ॥૧૦૮॥

આ પ્રમાણે મમતા ભાવવાળા પિતાએ પોતાના શુભ આશીર્વાદથી તેને અભિનન્દિત કરીને વિદાય કર્યા તે પછી તે પોતાની માતાની પાસે ગયા. ॥૧૦૮॥

तत्यादयो र्नामासौ विनयश्री विराजितः ।

चिरं जीव चिरं नन्द मा भूर्नन्दन ! दुःखमाक् ! ॥१०९॥

અર્થ-વહાં જાકર ઉસને માતા કે દોનોં ચરણોં કોં વહી વિનય કે સાથ નમસ્કાર ક્રિયા ! માતા ને હે મેરે નન્દન ! તુમ ચિરંજીવ રહો, સદા સુખી રહો” - એસા ઉસે આશીર્વાદ દિયા. ઓર—॥૧૦૯॥

ત્યાં જામને તેમણે માતાના બન્ને ચરણોમાં ધણા જ વિનયપૂર્વક નમસ્કાર કર્યા. તે પછી માતાએ હે મારા કુશલીપક ! તું દીર્ઘાયુ થા. અને સદાકાળ સુખી રહે અને આનન્દિત રહે આ પ્રમાણે તેને આશીર્વાદ આપ્યા. ॥૧૦૯॥

त्वरपादौ परिचुम्ब्य नाकसदृशं जातं मदीयं गृहं,

त्वत्सद्दर्शनतश्च शान्तिरधिका हृદालये संस्थिता ।

सम्बन्धिष्वपि त्वद्वિનम्रवचनैर्નોद्रेगवेगोऽजनि,

सौभाग्येन युतोऽर्भक ! त्वमिति भो ! भूयाज्जनन्याशिषा ॥११०॥

અર્થ-હે પુત્ર ! તેરે ચરણોં કો ચૂમકર મેરા યહ ભવન સ્વર્ગ કે જેસા-હુઆ હૈ, તેરે સદ્વચનહાર સે મેરે હૃદયરૂપી આલય-ઘર મેં શાંતિ અધિક આગાઈ હૈ એવં સમ્બન્ધી જનોં મેં મી તેરે વિનમ્રવચનોં સે કમી ઉદ્રેગ કા વેગ નહીં આયા । અતઃ હે મેરે બેટે ! સૌભાગ્યસે યુક્ત રહો યહી તુમ્હારી માં કા તુમ્હેં શુભાશીર્વાદ હૈ ॥૧૧૦॥

हे पुत्र ! तारा यशोने स्पशीने भास्व आ लवन स्वर्गना जेवुं थयुं छे. तारा सुन्यवहारथी भारा हृदयर्पी आलय-धरमां भूषण शांति प्रसरी छे, अने संबंधी वर्गमां पणु तारा विनयवाणा वयनोथी क्यारेय उद्वेग प्रवेशी शकिल नथी. तेथी हे पुत्र ! तुं सदा भाष्योदयवाणो अनतो रहे जेअ आ तारी मातानो तने आशीर्वाद छे. ॥११०॥

भोः ! भोः ! मुनीन्द्र ! विबुधेन्द्र ! पदारविन्दं,
संपूजयन्ति गुणरागहतान्तरङ्गाः ।

भव्या भवान्धितरणे तरणीयमानं,

पारं व्रजन्ति भवतो भवतोऽथ नूनम् ॥१११॥

अर्थ-हे मुनीन्द्र ! हे विद्वन्मूर्धन्य ! गुणों के अनुराग से जिनका अन्तरङ्ग आकर्षित हो गया है ऐसे भव्य जीव संसार रूपी समुद्र को पार करने में नौका के समान आपके चरणों रूपी कमलों की सेवा करते हैं वे संसार से नियमतः पार हो जाते हैं. ॥१११॥

हे मुनीन्द्र ! हे विद्वन्भार्तुड ! शुषोना अनुरागथी जेतुं अंतःतकरणु आकर्षित भनी गयेक छे, जेवा लव्य लव संसारर्पी समुद्रने पार करवामां नौका जेवा आपना यशोर्पी कभयोनी सेवा करे छे, तेजो संसारमांथी अवरथ पार थछ अथ छे. ॥१११॥

पान्तु वो गुखो नित्यं जीवानामभयप्रदाः ।

जिनेन्द्रमार्गमारूढा घासिलालाभिधा बुधाः ॥११२॥

अर्थ-जीवों को अभय देनेवाले ऐसे गुरु घासिलाल महाराज जो कि जिनेन्द्र के मार्ग पर आरूढ हैं सदा आपकी रक्षा करें । ॥११२॥

जोवोने अलय आपवावाणा जेवा शुश्वर्य धासीलास महाराज डे जेजो जनेन्द्र भगवन्ते निर्दिष्ट करेक मार्ग पर आरूढ छे तेजो सदा तमाश् रक्षणु करे. ॥११२॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिव्यकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते दशमः सर्गः समाप्तः ॥ ९ ॥



अथ एकादशः सर्गः प्रारभ्यते-

सोऽर्हन् जयेत् सर्वपदार्थवेत्ता लोकत्रयी नो धुतकर्मबन्धः ।

निर्वाणमार्गप्रतिपादको यस्त्रियोगशुद्ध्या तमहं प्रणौमि ॥१॥

अर्थ-जिसने मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन किया ऐसा वह सर्वपदार्थों का ज्ञाता तीनों लोकों का नाथ और कर्मबन्ध का विनाशक अर्हत देव प्रभु सदा जयवन्त रहें । मैं उन्हें मन वचन और काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथे भोक्षमार्गतुं प्रतिपादन कर्तुं छे अथे अने सर्व पदार्थोना ज्ञाता, त्रैलोक्यना नाथ तथा कर्मबन्धनो नाश करनार अर्हतदेव सदा जयवन्त रहे। हुं तेभने मन, वचन अने कायानी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करं छुं ॥१॥

गुरुं सदा मंगलकस्वरूप धर्मोपदेशे प्रवणं प्रवीणम् ।

स्वोत्थानमार्गे भवभीतिभाजां रक्षाकरं तं ह्यनिशं नमामि ॥२॥

अर्थ-जिनका स्वरूप मंगलरूप है. धर्मोपदेश करने में जो चतुर हैं, और आत्म कल्याण के मार्ग में सांसारिक विभीषिकाओं से डरने वाले प्राणियों की जो रक्षा करनेवाले हैं ऐसे गुरु को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ॥२॥

अनुं स्वर्ष मंगलमथ छे, धर्मोपदेश करनामां के चतुर छे. अने आत्मकल्याणना मार्गमां सांसारिक कथोथी उरनावाण प्राणियोनी के रक्षा करनारा छे अथे गुरुने हुं सर्वदा नमस्कार करं छुं ॥२॥

अथौधवः श्रीपतिमान्यवृत्तः विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ।

समेत बन्धु दुहितुः शुभायां तिथौ च पक्षे धवलैऽथ माघे ॥३॥

अर्थ-श्री संपन्न व्यक्तियों में जो अपने सदाचार से मान्य हैं ऐसे ओधवजी सेठने अपने बन्धुओं को एकत्रित करके अपनी पुत्री सुदर्शना के विवाह का कार्य माघ महिना के शुक्ल पक्ष में शुभतिथि में-वसंतपंचमी के दिन ठान दिया. ॥३॥

श्रीथीयुक्त व्यक्तिओमां के पोताना सहायारथी मान्य छे, अथे ओधवजशेठे पोताना अन्धुसभूडने अकठा करीने पोतानी पुत्र सुदर्शनानो विवाह माघमासना शुक्ल पक्षनी शुभ तिथि पांचम-वसंत पंचमीना दिवसे निश्चित कथो. ॥३॥

वैवाहिकेस्तत्कृत संविधानैस्तत्रत्य लोका मुदितान्तरङ्गाः ।

तस्यानुसगाच्च पुरन्ध्रवर्गा गृहे गृहे व्यग्रतरा बभूवुः ॥४॥

अर्थ-औधवजी सेठ का सब के प्रति स्नेह था इसलिये उसके द्वारा की गई विवाह की तैयारी से वहां के लोग घर २ में प्रसन्नचित्त हुए तथा स्त्रियां भी प्रत्येक घर में धूमधाम मचानें लगीं ॥४॥

औधवजीशेठने सौ प्रत्ये स्नेहभाव उठो. तेथी तेमण्णे करेव विवाहनी तैयारीथी त्यांना दोडा घेर घेर प्रसन्न मनवाणा थया, तथा स्त्रियो पणु दरेक घरेमां धूमधाम करवा लागी. ॥४॥

चीनांशुककलत्तलघुध्वजाभिः श्रेण्याः च वद्धाभिरनेकवात्यैः ।

तत्कृत्रिमैर्द्वारचयैः सुरम्यै विभूषितो राजपथो बभासे ॥५॥

अर्थ-कतारों में टंगी हुई छोटी २ झंडियों से, अनेक पुष्प मालाओं से और बनाये गये प्रवेश द्वारों से विभूषित नगर का राजपथ बड़ा सुहावना लगने लगा. ॥५॥

साधनसर खटकावनामां आवेव नानी नानी धनज्योथी, अनेक पुष्पमाणाज्योथी अने पनावनामां आवेव सुंदर प्रवेशद्वारेथी शोभायमान नगरने राजमार्ग धणु व सुंदर लागतो उठो. ॥५॥

पदे पदे कोष्णजलप्रपाभि र्युतं बभूवादभुतमेघरूपम् ।

आसन्नपाणिग्रहणोत्सवेऽस्मिन् पुरं तदेतत् खलु प्रानवेभ्यः ॥६॥

अर्थ-सुदर्शना के विवाह का समय बिलकुल समीप आ चुका था. इसलिये औधवजी शेठने पहिले से ही स्थान २ पर कुछ कुछ गरम जलवाली प्याऊओं की व्यवस्था कर दी. अतः वह नगर मनुष्यों के लिये अदभुत मेघरूप ही प्रतीत होने लगा. ॥६॥

सुदर्शनाना विवाहने समय धणु व नणुकमां आवी जवाथी औधवज्येठे पडेवेथी व स्थणे स्थणे कंठक कंठक गरम पाणीवाणी परयोनी व्यवस्था करी दीथी तेथी जे नगर मनुष्येने मेघसमान व जणुवा लाग्यु ॥६॥

धूल्यादिसंमार्जनतः कृतोऽत्र महापथः सर्वजनाभिगम्यः ।

सर्वगवत्सर्वमनोभिरामः सर्व सहः सर्वजनाभिरामः ॥७॥

अर्थ-जिस तरह स्वर्ग अधिक सुन्दर-मनोभिराम, सर्वसह और सर्वजनों के लिये सुन्दर होता है. इसी तरह यहां का विशाल पथ-धूली आदि की सफाई करा देने के कारण सर्वजन सुख से जिस पर जा सकें ऐसा साफ सुथरा

करा दिया था और इसी कारण वह सर्वजन के मन को हरण करनेवाला बन गया था, तथा कितना ही अधिक भार क्यों न हो उसके ऊपर से आनन्द के साथ आ जा सकता था इसलिये वह सर्व सह था और कहीं उस महापथ में खड़े न हों जावें इस कारण उन्हें भर देने के लिये आसपास में घन रखे गये थे; इसलिये वह सर्वजनाभिराम था. ॥७॥

जन्म स्वर्ग वधारे सुंदर-मनने आनंद आपनार सर्वसह अने सर्वजनोने भाटे सुंदर लागे छे, अज प्रमाणे त्याने प्रियाण भार्ग धूण विगेरेने साध करवावथी सर्वजनो सुखपूर्वक जघ शके अवेो साध अने सुरभ्य अनावी दीधो छतो अने अथी ज अे सर्वजनोना मनने छरणु करवाणो अनी गयो छतो. तथा गमे तेठवो अधिक बार डेम न होय छतां तेना उपरथी आनंदपूर्वक अवरज्वर करी शकतो छतो तेथी ते सर्वसह छतो. अने अे भार्गभां कयांय आडा न पडी अय ते कारणे तेने पूरी देवा भाटे आसपास धणु राखवाभां आवेव छता. तेथी ते सर्वजनाभिराम छतो. ॥७॥

वैवाहिकान्निश्चितकार्यकाल क्रमानुसारत् करणीयमस्य ।

कार्यं च संपादयतोऽथ सर्वं दिनानि सर्वाणि गतानि मद्भक्षु ॥८॥

अर्थ-विवाह के सम्बन्ध में निश्चित किये गये कार्य क्रम के समयानुसार करने योग्य कार्य को करते २ ओषधजी सेठ के सब दिन बहुत ही शीघ्र समाप्त हो गये ॥८॥

विवाह संबंधी निश्चित करवाभां आवेव कार्यक्रमना समय प्रमाणे करवा योग्य कार्यने करतां करतां ओषधवणुशेठना सधणा दिवसेो अेकदम समाप्त थया. ॥८॥

शुभे मुहूर्त्तेऽथ शुभग्रहस्थे चन्द्रे शुभायां च तिथौ च संत्याम् ।

सुदर्शनाङ्गे प्रतिकर्मचक्रुः सम्बन्धिनार्यः पतिपुत्रवत्यः ॥९॥

अर्थ-शुभ मुहूर्त्त में शुभतिथि में जब कि चंद्रमा शुभग्रहों के साथ युक्त था संबंधी जनों की पतिपुत्र वाली सुहागिन स्त्रियों ने सुदर्शना के शरार को शृंगारित करना प्रारंभ कर दिया. ॥९॥

शुभ मुहूर्त्तभां शुभ तिथिभां डे अथारे चंद्रभां शुभ ग्रहोनी साथे युक्त छतो त्यारे संबंधिजनोनी सपुत्रा सौभाग्यवती स्त्रीओअे सुदर्शनाना शरीरने शणुगारवानो आरंभ कर्यो. ॥९॥

तदुत्तमाङ्गे खलु मंगलार्थं ताश्चिक्षिपुः सर्षपवीनराजीः ।

पश्चात्तदभ्यङ्गमिमाविधाय तस्याश्च नेपथ्यविधिं च चक्रुः ॥१०॥

अर्थ-उन स्त्रियों ने मंगल के निमित्त उसके मस्तक पर पीले सरसों को प्रक्षिप्त किया. बाद में उसके शरीर का उचटन किया-तेल चढाया और फिर उसे श्रृंगारित किया. ॥१०॥

ये स्त्रियाँ मंगलकामनाधी तेना मस्तक उपर पीला सरसव छांटया. ते पत्नी तेना शरीरने तेल लगावी भावीस कर्युं अने ते पत्नी तेने शशुगार सन्नय्या. ॥१०॥

तस्या ललाटेऽरुणवर्णविन्दू नक्षत्रोश्च ता अञ्जनकं च चक्रुः ।

आजानु कौशेय मुपात्तवर्ण सुदर्शनां तां परिधापयित्वा ॥११॥

अर्थ-जिसमें कुंकुम के छोटे जगह २ दिये गये हैं ऐसी कुंकुम की साडी उसने जो कि घुटनों तक लटक रही थी पहरी थी. स्त्रियों ने उसके ललाट पर कुंकुम की विन्दुएं की थी और दोनों नेत्र में उसे अञ्जन भी लगाया था ॥११॥

जेभां कुंकुना छांटया छटकारवासां आया छे येवी कुंकुम रंगनी साडी के जे तेना गेठण पशुं त वटकती हती ते तेणीये पड़ेरी. स्त्रियाँये तेना साड प्रदेश पर कुंकुना बिंदु पनाय्या हता. अने तेना अने नेत्रांमां आंजणु लगायुं हतुं. ॥११॥

धत्तं दुकूलं च तयाऽथ तन्व्याऽधोवस्त्रयुक्तं च सकंचुकं च ।

ताराञ्चितं तेन राज चन्द्रप्रभेव सा मण्डलतारकाङ्का ॥१२॥

अर्थ-उस तन्वी सुदर्शना ने अधोवस्त्र-पेटिकोट-पहिरा. चोलीपहिरी और रेशमी साडी पहिरी. साडी छोटी २ बुंदकियों से युक्त थी. अतः-जिस प्रकार चन्द्रप्रभा परिवेष और ताराओं से युक्त सुहावनी लगती है उसी प्रकार यह भी सुहावनी लगने लगी. ॥१२॥

तन्वांगी ये सुदर्शनाये अधोवस्त्र-पेटिकोट अने चोली पड़ेयां. तेमज रेशमी साडी पड़ेरी. ते साडी नानी नानी धीरीयेथी युक्त हती. तेथी चन्द्रप्रभा जेम परिवेष अने तारायेथी युक्त होय त्यारे सोडामणु लागे छे, जेज प्रभाणु आ सुदर्शना कन्या पणु सोडामणु लागवा मंडी. ॥१२॥

क्याचिदस्याः कटिसूत्रमष्टापदस्य सख्याऽथ कटिप्रदेशे ।

वप्रायितं कामनिधेः सुरक्षाकृतेऽर्पितं गूढतया धृतस्य ॥१३॥

अर्थ-गुप्तरूप से धरी हुई काम की निधि की रक्षा के लिये कोट के तुल्य प्रतीत होने वाला सुवर्ण का कटिसूत्र किसी स्त्री ने इसके कटि प्रदेश में पहिराया. ॥१३॥

शुभ्रूपे धारणु करेव कामना भजनातुं रक्षणु करवा डोटना समान ज्ञातुं सोनानुं
कटिसूत्र-कं दोरो डोर्ध्वे तेना कटिप्रदेशमां पडेरान्यो. ॥१३॥

सज्जीकृतं बाहुयुगे कयाचित्सौवर्णिकाभूषणमेव रम्यम् ।

वातायनीभूतमनङ्गपत्र सुप्तं तदर्थं मरुदागमाय ॥१४॥

अर्थ-यहां काम देव सोया हुआ है अतः उसे खिडकियों द्वारा हवा मिलति रहनी चाहिये ताकि वह बीच में जग न सके. सोता रहे-इसी ख्याल से किसी सखी ने उसके बाहुओं में सुवर्ण के बने हुए सुन्दर आभूषणों को जो कि गवाक्ष के जैसे प्रतीत हो रहे थे पहिराया. ॥१४॥

अर्ध-कामदेव सूतेव छे. तेथी तेने आरिनाटे उवा मगती रहेवी ओधये डे ज्यथी ये वयमां जगी न जय. सूतो ज रहे ये लावनाथी डोर्ध्वे सप्पीये तेना आहुओमां सोनाना भनावेव सुं दर आभूषणो डे जे आरी जेवा लागता उता ते पडेरान्यो. ॥१४॥

शिरोधरायां च कयापि सख्या हारोर्ज्वितो नेत्रमनोभिरामः ।

पाशाय मानोर्ज्वित दृष्टिनागं बद्धं च वक्षोजकलाधि युग्मम् ॥१५॥

अर्थ-जन की दृष्टिरूपी नाग को पीडित करने वाले वक्षरूपी मयूर को बांधने के लिये जाल के जैसा प्रतीत होने वाला हार जो कि नेत्र और मन को सुहावना लगता था किसी सखीने उसके गले में पहिराया. ॥१५॥

मनुष्यानी दृष्टिर्षी नागने पीडनावाणा वक्षजर्षी भोरने आंधना माटे जगना जेवो ज्ञातो हार डे जे आंभो अने मनने सोडामणो लागतो उता ते डोर्ध्वे सप्पीये तेना गणामां पडेरान्यो. ॥१५॥

तदंघ्रियुग्मेऽपस्या कयाचिद्दत्तान्यनर्घ्याणि न नूपुराणि ।

जितानि पद्मानि स्तच्छलेन ब्रुवन्ति तत्पादगतप्रभावम् ॥१६॥

अर्थ-किसी एक दूसरी सखी ने कीमती नूपुर उसके दोनों पैरों में पहिराये. "इन पैरों ने कमलों को जीत लिया है" इस प्रकार से उसके चरणों के प्रभाव को अपने रुणञ्जुन शब्दों के छल से प्रकट कर रहे थे-कह रहे थे ॥१६॥

डोर्ध्वे एक पीछे सप्पीये अहुभूद्य नूपुर (आंजरे) तेना अन्ने पगोमां पडेरान्यो. 'आ पगोये कमणोने छती लीथा छे.' जेवा प्रकारना तेना यरणेना प्रभावने पोताना इमयुम इमयुम शब्दोना अडानाथी प्रगट करता उता. अर्थात् कहेता उता. ॥१६॥

ताटङ्गयुग्मं श्रवणद्वयेऽस्याः कया च सख्या नयनाभिरामम् ।

विदग्धनाडिन्धमयुग्मकारार्पितं च सज्जीकृतमाशु मोदात् ॥१७॥

अर्थ-किसी सखी ने बड़े हर्ष के साथ चतुर दो सुवर्णकारों द्वारा बनाये गये दो नयनाभिराम कर्णाभरण इसके दोनों कानों में पहिराये ॥१७॥

डाई सभीसे उर्ध्वपूर्वक चतुर अथा ये सोनीआये अनावेला नेत्रने आनंद आपनार ये जानना आभूषण तेना अन्ने कानोमां पहेशाया ॥१७॥

सञ्चिक्काः केशचयाश्च तस्या धूपोष्मणा त्यक्तसमार्द्रभावाः ।

कयाऽपि संस्कृत्य सुकंकतेन प्रसाधिता वेणितया निवद्धाः ॥१८॥

अर्थ-धूप की उष्मा से जिन का गीलापन सुखाया गया है ऐसे उसके चिकने केश किसी सखी ने सुन्दर कंची से ऊँछ कर संभाले और फिर उन्हें जूड़े के रूप में बांधा ॥१८॥

तडकानी गरभीथी जेतुं सीनापणुं सुकात्री नाभ्युं छे, अथा तेना चिकण्णा डेशे डोड सभीसे कंसकीथी आणीने अथोडाइये आंध्या ॥१८॥

इत्थं तदीयं प्रति कर्मकृत्वा ता मंगलस्नानविशुद्धगात्राम् ।

तस्मात्प्रदेशात्परिगृह्य निन्युस्तां मंडपाभ्यन्तरवेदिकान्ते ॥१९॥

अर्थ-इसी प्रकार से उस सुदर्शना को शृंगारित करके वे मंगल स्नान से पवित्र शरीर वाली उसे उस स्थान से उठाकर विवाह मंडप के भीतर वेदी के पास ले गई ॥१९॥

आ प्रभाषे अ सुदर्शनाने शशुगारीने तथा मंगल स्नानथी पवित्र शरीरवाणी तेने अ स्थानेथी विवाह मंडपनी वेदीनी पास ले गया ॥१९॥

तममैश्चतुर्भी रवितं तमेतं वितानवन्तं प्रसमीक्ष्य लक्ष्मीः ।

अम्भोजवासं परिहाय मन्ये विवाह पर्यन्तमुत्सास तत्र ॥२०॥

अर्थ-मंडप चार स्तंभो से बनाया गया था उसके ऊपर एक चन्दोवा भी ताना गया था. इसे ज्यों ही लक्ष्मी ने देखा तो मैं ऐसा मानना हूँ कि उन्होंने ने विवाह पर्यन्त यहीं पर रहना पसन्द किया है-इसी कारण इस मंडप की शोभा अनुपम थी ॥२०॥

अ मंडप चार थांभलाओथी अनावेक हतो. तेना उपर अक चंदरो पणु आंधवामां आये हतो. तेने ज्यां लक्ष्मीअ जेयो तेथी हूं अम मानुं छुं डे तेणे विवाह पर्यन्त अही रहेना निश्चय कर्यो, तेथी अ आ मंडपनी शोभा अनुपम हती ॥२०॥

विद्युत्प्रदीपावलितोऽधिक श्री प्रदीपपंक्या परितः परीते ।

वैवाहिकेऽस्मिन् खलु मंडपेऽस्थात् दीपावलीपर्व दिदक्षयेव. ॥२१॥

अर्थ-विजली के दीपकों से भी जिनकी रोशनी अधिक है ऐसे प्रदीपों की पंक्ति से सब तरफ से जगमगाते हुए इस विवाह के मंडप में मानों विवाह की शोभा देखने की इच्छा से स्वयं दीपावली पर्व ही बैठा हुआ था. ॥२१॥

विजलीना दिवाओथी पणु जनी रोशनी विशेष छे, जेना दीवाओनी पंक्तिथी आरे तरफ जगमगता आ निराहना मंडपमां जेथे विवाहनी शोभा निरभवानी छेओथी स्वयं दीपावली पर्वज ओठेक हुतुं. ॥२१॥

उद्वाहयोग्यं वसनं वसाना विन्यस्तपीठासनमाससाद ।

निषेदुषी तत्र बभौ मनोज्ञा तूर्य ध्वनि स्तावति चोज्जहार ॥२२॥

अर्थ-विवाह के योग्य वस्त्रों को पहिरी हुई वह सुदर्शना पहिले से वहां रखे गये पीठासन के पास पहुंची और उस पर बैठ गई. उस पर बैठी हुई वह सब के मन को बहुत अच्छी लगी. इतने में ही बाजों की आवाज आने लगी. ॥२२॥

विवाह योग्य वस्त्रो धारणु करैक ते सुदर्शना पडेवेथी त्यां राभवामां आवेल पीठासननी पासे जेध तेना पर जेसी गध तेना पर ओठेक ते सौना मनने धणु ज सुंदर लागी जेटक्षामां त्यां वाजओना अवाज थवा लाग्या. ॥२२॥

वरस्य यात्राऽत्र समागतेति बभूव घोषो जनचित्तहारी ।

कुतूहलात्पौरजनैः सुदृष्टाऽऽगता पुग्द्वारमुपान्तभागे ॥२३॥

अर्थ-“बरात यहां आ गई” इस प्रकार का जनचित्त हारी घोष हुआ. पुरवासियों ने बड़े कौतूहल से उस बरात को देखा. तब तक वह नगर के द्वार के बिलकुल नजदीक आ चुकी थी. ॥२३॥

'जन अही आनी गर्भ' आ प्रकारने गनुधेना मनने उरणु करनार नाठ थये. नगरवासीओजे धणु ज कुतूहलपूर्वक जे जन जेध. जेटक्षामां जे नगरना दरवाजनी बिल्कुल नजदीक आवी गर्भ हती. ॥२३॥

कोलाहलोद्भूतजनप्रघोषं श्रुत्वा त्रियः स्वस्य गृहान्निरीयुः ।

त्यक्तत्रपा वेगयुता मुखावगुंठेन हीना स्फुरिताधमास्याः ॥२४॥

अर्थ-जब नगरी की नारियों ने कोलाहल की आवाज सुनी तो वे बिना किसी संकोच के घूंघट को छोड़कर परस्पर में बतलाती हुई जल्दी २ अपने २ घर से बाहर निकल पड़ी ॥२४॥

न्यारे नगरनी स्त्रीञ्चोत्थे द्रोवाहलने अवाञ् सांभज्यो त्यारे तेञ्चो द्रो प्रकरना संडोय वगर धूमटाने छोडीने परस्पर अथडाती नदिदथी पोतपोताना धरनी बडार नीकणी पडी. ॥२४॥

मध्ये स्वकार्यं परिवर्ज्य काश्चित्त्रागता विस्मृतभीरुरूपाः ।

वरं विलोक्यैव सुदर्शनायाः पुण्यं वेण्यं सुभगाः शशंसुः ॥२५॥

अर्थ-बीच में ही अपना कार्य छोडकर कितनीक सौभाग्यवती स्त्रियां भय-शील अपने स्वभाव को छोडकर-भूलकर जहां पर बरात थी वहां पर आगई और सुन्दर श्रेष्ठ वर को देखकर सुदर्शना के पुण्य की प्रशंसा करने लगी ॥२५॥

वयमां न पोताना कामकाजने छोडीने डेटकीक सौभाग्यवती स्त्रीयो लयपशुना पोताना स्वभावने छोडीने-भूखीने न्यां अन डती. त्यां आवी गर्भ अने सुंदर जेवा वरने जेधने सुदर्शाना पुण्यने वप्याशुवा क्षाणी. ॥२५॥

काश्चित्तरुण्यस्तरुणं वरं तं निरीक्ष्य वध्वाः पितुस्स्यत्रापि ।

प्रकीर्तयन्ति स्म धियं कृतोऽयं वयोनुरूपो ह्यनयो विवाहः ॥२६॥

अर्थ-कितनीक तरुण महिलाओंने उस तरुण वर को देखकर वधू सुदर्शना के और वर के पिता की बुद्धि की प्रशंसा की, क्यों कि यह उनकी ही सूझ का फल है जो इन दोनों का वय के अनुरूप ही यह विवाह हुआ है. ॥२६॥

डेटकीक युवतीञ्चोत्थे जे युवान वरने जेधने 'वधू' सुदर्शाना अने वरना पितानी बुद्धिना वप्याशु कर्या. डेभडे जे तेमनी न सूळतुं परिश्राम छे. डेकथी आ अनेनी वयने अनुत्प न आ विवाह संबंध थयेल छे. ॥२६॥

तप्तं तपोऽनेन तथा च पूर्वं जातोऽनयोर्योग इतो भवेऽस्मिन् ।

इत्थं च कामिर्महिलाभिरुक्तं पुण्येन नूनं भवतीष्टसिद्धिः ॥२७॥

अर्थ-इससे पहिले इस वर ने और कन्या ने तप तपा है. इसीलिये इस भवमें इन दोनों का यह संबंध हुआ है. सब है-पुण्य के द्वारा ही जीव को इष्ट की प्राप्ति होती है. ॥२७॥

सौथी पडेलां आ वरे अने आ कन्याञ्च तप तप्युं छे. तेथी न आ लवमां आ अनेनो आ संबंध जेडायेल छे. सायुं न छे डे-पुण्य भारद्दत न जवने छथनी सिद्धि थाय छे. ॥२७॥

कासां च कालेऽस्मिन् सुन्दरीणां सुसंभ्रणाहतमानसानाम् ।

यथा बभूवुश्च विचेष्टितानि वदाम्यहं तानि तथा च तासाम् ॥२८॥

अर्थ-उतावली से जिनका मन आहत हो रहा है ऐसी कितनीक सुन्दरियों की इस समय जो चेष्टाएं हुईं, अब हम उनकी उन चेष्टाओं को उसी प्रकार से कहते हैं. ॥२८॥

उतावगने लई जेनुं मन आधात पाभ्युं छे, जेवी डेटकीक श्रियोनी जे समथे जे चेष्टाजो थई ते हवे जेने तेजोनी जे चेष्टाजोनेजेर रीते जेषुनी जे छीजे. ॥२८॥

काचिच्च वामा नयनाभिरामा श्यामाऽऽगता संश्लिथकेशबन्धा ।

एकेन बालं च परेण बालं करेण धृता ह्यवलोकितुं द्राक् ॥२९॥

अर्थ-नेत्रों को सुहावनी लगनेवाली ऐसी कोई एक जवानवामा कि जिसका केशबन्धन शिथिल था एक हाथ से अपने बालक को और दूसरे हाथ से केशों को पकड़े हुए ही वहां देखने के लिये चली आई. ॥२९॥

नेत्रोने सोहाभणी बागनारी जेवी डोई जेक युवती के जेना वाणोतुं अंधन दीधुं हतुं, तेणीजे जेक हाथे पोताना पागडने जेने भीज हाथथी वाणोने पकडीने ज त्यां जन जेवा मटे आनी पडोथी. ॥२९॥

नेत्राञ्जनं यावमिति प्रबुध्य काचिच्च मुग्धा स्वपदे नियुज्य ।

उत्सृष्टलीला गतिराजगाम सत्यं विमुग्धा ह्युचितानभिज्ञा ॥३०॥

अर्थ-किसी विमुग्धावामा ने नेत्र के अंजन को यह महावर है ऐसा समझकर अपने पैरों में लगा लिया और जल्द से वह बरात देखने को चली आई. ॥३०॥

डोई मुग्धा स्त्रीजे आंभना आंजणुने महावर धारीने पोताना पगोभां लगावी दीधुं, जेने जदिद जदिद ते जनने जेवा त्यां आवी पडोथी. ॥३०॥

काचिच्च नारी स्वशिशुं विहाय स्वाङ्गे समारोप्यपरस्य बालम् ।

तत्कौतुकं द्रष्टुमगान्न कांचिक्रियां विदध्यात् सहसा विपश्चित् ॥३१॥

अर्थ-कोई एक स्त्री उतावली के कारण अपने बच्चे को छोड़कर दूसरे के बच्चे को अपनी गोदी में उठाकर बरात के कौतुक को देखने के लिये चली आई. कवि कहता है कि बिना विचारे समझदार प्राणी को कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये ॥३१॥

डोअ ओक स्त्री उतावणने लीधे पोताना पाणकने भूडीने अन्यना पाणकने पोतानी गोहमां लधने अनने जेवा भाटे आवी पहेंची. कवी कहे छे डे-समजदारे वगर वियार्ये डोअ काम करवुं न जेअजे. ॥३१॥

मनस्विनी काचिदुवाच नारी परां सुभद्रे ! त्वं याहि दृग्म ।

अलंकुरुष्वथ सुदर्शनेन नो चेदजीर्णं तव तच्च भूयात् ॥३२॥

अर्थ-किसी एक मनस्विनी महिला ने दूसरी महिला से कहा हे सुभद्रे ! अब तूने बहुत देख लिया-बशकर दूर हो जा नहीं तो यह दर्शन तेरे लिये अजीर्ण हो जायगा. पचेगा नहीं. ॥३२॥

डोअ ओक मनस्विनी स्त्रीजे अन्य स्त्रीने कछुं डे-डे सुभद्रा ! हवे तें धछुं जेअ लीधुं. हवे असकर अने हवे दूर था नडीं तो आ दर्शन तारा भाटे अछुअरुप थध जशे. अर्थात् पयशे नडीं. ॥३२॥

उवाच काचित्प्रमितः प्रयाहि तवाक्षियुग्मं न वरावलोके ।

सक्तं, परं तस्य च रूपपाने लीनं विरूपोऽथ भवेद्दरोऽस्मात् ॥३३॥

अर्थ-कोई एक महिला दूसरी महिला से इस प्रकार कहने लगी तुम यहां से चली जाओ. तुम्हारे लोचन वर के विलोकन करने में थोड़े ही लगे हैं- वे तो उस के रूप पान करने में लीन हो रहे हैं. अतः ऐसा करने से तो यह वर विरूप हो जायगा. ॥३३॥

डोअ ओक स्त्री अली स्त्रीने कहेवा लागी डे-तुं अडींथी याडीअ तारा नेत्रो वरने जेवामां न थोडा लाग्या छे? जे तो जेना रूपतुं पान करवामां न लीन छे. तेथी तेभ करवाथी तो आ वर कुरप अनी जशे. ॥३३॥

एकाऽपरा काचिदुवाच कान्तां मा वावदूके ! परिहासमत्र !

कुरुष्व, शान्ता भव पश्य शान्त्या नोचेद्गृहं गच्छ मदोद्धतास्याः ॥३४॥

अर्थ-किसी एक स्त्रीने किसी एक सुन्दर महिला से कहा हे वावदूके ! यहां हंसी मजाक मत कर चुप रह और शान्ति से देख नहीं तो घर चली जा और वहीं पर इतरा ॥३४॥

डोअ स्त्रीजे डोअ ओक सुरपा स्त्रीने कछुं-हे वातोडियणु ! अडीं ठहाभशकरी न करै थूप रहेअ अने शांतीथी जुवो नडीं तो धेर याडीअ अने त्यां भोदया कर. ॥३४॥

पसंच काचित् कलहायमानां ब्रूते स्म संवीक्ष्य च गाय गीतम् ।

पिकस्वरादप्यधिकस्वरात्ते विनिः सृतं गानमिदं न भाति ॥३५॥

अर्थ-किसी एक दूसरी महीळाने लडती झगडती हुई कीसी महीला को देखकर उससे कहा-तेरा स्वर तो कोयल के स्वर से भी अधिक अच्छी है. अतः ऐसे अच्छे स्वर से निकला हुआ यह कलहरूप गाना अच्छा नहीं जचता है. दूसरा सुहावना गीत गा. ॥३५॥

डोई ओके पीळ श्रीओ अगडो करती ओवी डोई श्रीने ओईने तोणीओ इत्यु-तारे. अवाळ तो डायलना अवाळथी पणु वधारे सारे छे, तेथी ओवा साता स्वरथी नीकणेश आ इलडके कासरीपी गायन सारं बागतुं नथी तो पीळु सुंदर गीत गा. ॥३५॥

काचित्स्वधिष्यस्य गवाक्षजालैर्विलोक्यन्त्योऽथवरं वरेण्यम् ।

चक्रुः स्वनेत्राणि फलान्वितानि यतो हि लोकोऽभिनवप्रियोऽयम् ॥३६॥

अर्थ-कितनीक महीलाओं ने अपने २ मकान की खिडकियों से ही उस श्रेष्ठ वरराज को देखा और अपनी आंखों को सफल माना ठीक है—इस लोक को नवीन वस्तु प्यारी ही लगती है. ॥३६॥

डेवलीक श्रीओओ पोतपोताना धरैनी पारीथोथी न ओ उत्तम वरने नीरुप्ये अने पोतानी आंभोने सक्ष्य मानी. ठीक न छे. आ लोकमां सौने नवीं वस्तु न प्यारी लागे छे. ॥३६॥

सुदर्शना रूपवती यथाऽस्ति वशोऽप्ययं रूपनिधानमेनम् ।

त्यक्त्वा क्व गच्छेन्ननु सत्यमेतत्तरङ्गिणी तोयनिधिं प्रयाति ॥३७॥

अर्थ-जैसी सुदर्शना रूपवती है वैसा ही यह वर भी रूपका खजाना है. अतः इसे छोड़कर वह कहां जाती-सत्य है नदी समुद्रकी ओर ही तो जाती है. ॥३७॥

नवी सुदर्शना रूपाणी छे, ओयो न आ वर पणु रूपनो अजनेतो छे. तेथी आने छोडीने ते क्यां अय ? सायुं न छे डे नदी समुद्र तरङ्ग न अय छे. ॥३७॥

न चेदिदं द्वन्द्वमभन्त्स्यदत्र विवाहबन्धेन विशिष्टपुण्यम् ।

अस्मिन् द्वये रूपनिधानयत्नस्तस्या भविष्यद्विक्रलोऽथनूनम् ॥३८॥

अर्थ-इनका विशिष्ट पुण्य यदि इन दोनोंको विवाह बन्धन से नहीं बांधता तो इन दोनों में जो उसने रूप के निर्माण करने का प्रयत्न किया है वह उसका नियम से विफल हो जाता. ॥३८॥

आमिनु विशेष प्रकारतुं पुण्य जे आ जेठने विवाहना अंधनथी न आंधि तो जे अन्नेमां जे तेषु इपनी रयनातो यत्न कर्यो छे, ते तेनो प्रयत्न निश्चय रीते निष्फल भवति ॥३८॥

यावद्राजतिशासनं जिनपतेर्यावच्च गंगाजलम्,
यावच्चंद्रदिवाकरौ वितनुतः स्त्रीयां गतिं चाम्बरे ।
तावद्राजतु भूतले वसवधू इदं किलेदं गुणैः,
स्वीयैर्देवमनोहरं च भवताज्जन्मेतयो मानवम् ॥३९॥

अर्थ-जबतक जिनेन्द्र का शासन इस संसार में चमकता रहता है, गंगा का जल बहता रहता है और जबतक चंद्र और सूर्य आकाश में अपनी गति करते रहते हैं तबतक यह बधुवर की जोड़ी इस संसार में चमकती रहे तथा अपने गुणों द्वारा इन दोनों का यह मनुष्य जीवन देवों के भी मन को आनन्द देने वाला बना रहे ॥३९॥

ज्यां सुधी जनेन्द्रदेवतुं शासन आ संसारमां यमकतुं रहेशे, गंगानुं पाणी बहेशे, अने ज्यां सुधी अंद्र अने सूर्य आकाशमां पोतानी गति करता रहे त्यां सुधी आ वसवधुनी जेठ आ संसारमां यमकती रहे तथा पोताना गुणेशी आ अन्नेतुं आ मनुष्य जवन देवाना मनने पणु आनंद आपतावाणुं जनी रहे। ॥३९॥

अनेन सम्बन्धमुपेत्य सोऽयं श्री ओधवः श्रेष्ठितमोऽयजातः ।

पुण्येन पुण्यात्मजनस्य योगः प्रलभ्यते रत्न निधानवत्सः ॥४०॥

अर्थ-इस के साथ सम्बन्ध करके श्री ओधवजी आज श्रेष्ठियों में विशिष्ट श्रेष्ठी बन गये हैं क्यों कि रत्न के निधान की तरह पुण्यात्मा का संयोग पुण्य से प्राप्त होता है ॥४०॥

आनी साथे संबन्ध आंधीने श्री ओधवज्ज आजे श्रेष्ठियाओमां अत्रेसर श्रेष्ठ जनी गया छे, उभेउ रत्नानी आणुनी जेम पुण्यात्माओनो संबन्ध पुण्यथी जे साथ छे, ॥४०॥

शनैः शनैस्त्रिभुवसौ प्रयान्ती मृदङ्गनादैः परिपूरिताशा ।

प्रत्युद्गताऽस्थाञ्च जनाधिवासे सर्वव्ययस्थाङ्कितमध्यभागे ॥४१॥

अर्थ-धीरे २ चलती हुई वह बरात मृदङ्ग के शब्दों से विशाभरी को व्यास करती हुई कन्या पक्षवालों के द्वारा अगवांनी से युक्त होकर जिसमें सर्वप्रकार की व्यवस्था की गई है ऐसे जनवासे आकर ठहर गई ॥४१॥

धीमे धीमे यासती अे अन मृदंगना शम्भोथी दिशाअेने व्याप्त करीने कन्यापक्ष-
वाणाअेनी आगेवानीवाणा यधने क्कभां दरेक प्रकारनी व्यवस्था करवाभां आवी छे. अेवा
अनीवासे आवीने २७। ॥४१॥

युग्मम्—

पश्चाच्च सज्जीकृतवाजिराजमारुह्य तस्माच्च जनाधिवासात् ।

विनिर्गतः सर्वजनैः परीतः वरश्रियाऽलंकृत चारुदेहः ॥४२॥

श्री लोकचन्द्रोऽथ ततः प्रतस्थे प्रस्थानवेदी च बभूव तूर्य ।

ध्वनिर्निशम्यैव ततश्च कन्यागृहेऽपि वादित्रया बभूवुः ॥४३॥

अर्थ—इसके बाद श्रीलोकचन्द्र वरराज जो कि वरश्री से अलङ्कृत थे
वरातियों से परिवृत होकर जनवास से बाहर आये और एक सुसज्जित घोड़े
पर बैठ कर वहाँ से चले उस समय वर के प्रस्थान का सूचक बाजा बजा इस
की ध्वनि सुनकर कन्या के घर पर भी बाजे बजने लगे. ॥४२-४३॥

ते पछी श्रीलोकचन्द्र वरराज के ने वरनी शोभाथी शोभायमान उता. तेअे अनैया-
अथी वीटणाईने अनीवासथी अहार आव्या. अने अेक शणुगारेला घोडा पर अेसीने
त्याथी यास्या. ते सभये वरना प्रयाणु ने सूचित करता वाअ वगाडवाभां आव्या. तेने
अवाअ सांभणीने कन्याना धेर पणु वाअ वागवा लाग्या. ॥४२-४३॥

कन्यागृहद्वारमुपागतस्य बभूव काप्यद्भुतसक्रियाऽस्य ।

सौवर्णिकाभूषणदानमानैर्नवस्त्वगम्यं कृतिनोऽस्ति किञ्चित् ॥४४॥

अर्थ—जब ये वरराज कन्या के द्वार पर पहुँचे तब वहाँ इनका सुवर्ण के
आभूषणादिकों को देने द्वारा अद्भुत-अद्भुतपूर्व-सत्कार किया गया. सच है-
सौभाग्य शाली के लिये कोई भी वस्तु अगम्य नहीं होती है. ॥४४॥

अ्यारे ते वर-कन्याना अंडपना द्वारे पडोअेथे त्यारे त्यां तेनुं सोनाना अलंकारे
विगेरे आवीने तेने अद्भुतपूर्व सत्कार करवाभां आव्ये. सायुं अ छे के-आग्यशाणीथीने
डोअ वस्तु अप्राप्य होती नथी. ॥४४॥

तत्रत्यलोकैरपि शक्ति भक्ति द्रव्यानुरूपं च वराय वस्तु ।

दत्तं यथायोग्यमसौ प्रलभ्य बभूव संतुष्टमना गुणाढयः ॥४५॥

अर्थ—वहाँ के लोगों ने भी अपनी शक्ति, भक्ति एवं विभवके अनुरूप
वरराज को वस्तुएं प्रदान की. यथायोग्य वस्तु प्राप्तकर यह गुणाढय संतुष्ट
चित्त हुआ. ॥४५॥

त्यांना लेखिअये पणु पोतानी शक्ति, लक्ति अने वैभव प्रमाणे वरराजने वस्तुओ आपी. योग्य वस्तुओ प्राप्त करीने आ गुणुआडक संतुष्ट यित्त अन्या. ॥४५॥

महाजनानामिदमेव तावन्महत्त्वमल्पेऽपि यथा प्रभूते ।

लाभेऽथ जाते भवति प्रमोदस्तथैव तेषां स सदैकरूपात् ॥४६॥

अर्थ—महान् पुरुषों की यही एक विशेषा है कि जिस प्रकार उन्हें बहुत लाभ होने पर हर्ष होता है उसी प्रकार उन्हें अल्पलाभ होने पर भी हर्ष होता है. क्यों कि वे सदा एकरूप ही बने रहते हैं ॥४६॥

महान् पुरुषोनी अज अक निशेषता छे डे-जम तेमने अधिक लाभ थाय त्यारे हर्ष थाय छे, अज प्रमाणे तेमने थोडा लाभ थाय त्यारे पणु हर्ष थाय छे, तेओ सदा अक रूप अ अनेसा रहे छे. ॥४६॥

वैवाहिकेऽस्मिन् खलु मंडपेऽथुः वरस्य संबन्धिजनाः परत्र ।

पुत्र्याश्च पक्षीयजनास्तदाऽत्र, एकत्र भागे च दिदृक्षवोऽन्ये ॥४७॥

अर्थ—इस समय विवाह मंडप में वर के संबंधी जन एक ओर बैठे और कन्या पक्ष के जन तथा अन्य दर्शक गण दूसरी ओर बैठे ॥४७॥

आ समये विवाह मंडपमां वरना संबन्धीओ अक तरफ़ थेडा अने कन्या पक्षना संबन्धीओ अने भीज जेनार वर्ग भीज तरफ़ थेडा. ॥४७॥

वरश्रिया शोभितचारुदेहं कुमारमेनं च वधू समीपम् ।

कश्चित्तदीयाप्तजनो निनाय वेदान्तरा ह्यब्धिमिवेन्दुपादः ॥४८॥

अर्थ—वर की विभूषा से शोभित सुन्दर शरीर वाले इस कुमार वधू सुदर्शना के पास वर का ही कोई एक आस जन उसे इस प्रकार से लेगया कि जिस प्रकार से चन्द्र किरणें समुद्र को तट-वेला के पास ले जाती है ॥४८॥

वरना वेपथी शोभायमान् सुंदर शरीरवाणा आ कुमारने वधू सुदर्शनानी पासे वरने अ डोई संबन्धीजन तेने जेवी रीते लक्ष गया डे-जम चंद्रना किरणो समुद्रने किनारा पासे लक्ष अथ छे. ॥४८॥

निरीक्ष्य तामद्भुतशोभयाऽसौ विशोभितमिन्दुमुखीं कुमारः ।

जहर्ष केकीव पयोधरालीं विलोक्य कान्तां विरहीव शान्ताम् ॥४९॥

अर्थ—अनोखी शोभा से सुशोभित उस इन्दुमुखी सुदर्शना को देखकर जैसे घनावली को देखकर मयूर हर्षित होता है और वियुक्त अपनी शान्त रही कान्ता को देखकर हर्षित होता है वैसे ही वह कुमार हर्षित हुआ, ॥४९॥

अनेरी शोभाथी शोभायमान आ यंद्रमुखी सुदर्शनाने अनेने जे म भेध पंक्तिने अनेने मेरु ७५ पाये छे, अने विष्णुटी पडेव पोतानी शांत अनी अने अनेने ७५ पाये छे, अने प्रभाषे अ कुमार ७५ पाये. ॥४९॥

परस्परं नेत्रयुगं तयोश्च ततान वार्तामथ मूकयैव ।

गिरा क्षणं हीवशातः परं तत् सुनर्नलेभेऽसंरं हिलोलम् ॥५०॥

अर्थ—उन दोनों के नेत्रों ने एक क्षण भर में ही अपनी मूक वाणी द्वारा परस्पर में बात करली. पश्चात् मिलने के चाव वाले वे लज्जा के वश फिर अवसर नहीं पा सके. ॥५०॥

अने अनेना नेत्रोअे अके क्षणमात्रमां ज पोतानी भौन वाणीथी अकेपीअे वात करी लीथी. ते पञ्ची मगना आहना वाणा तेअे अनेने अनेने इरी अवसर न पाये. ॥५०॥

स ओधवः प्राह हिमं तदैव श्रीमन् ! कुमाराय संमपर्यामि ।

कन्यामिमामद्यग्रहाण हैमोऽदन्व गृह्णामि यथा निदेशम् ॥५१॥

अर्थ—उन ओधवजी ने हैमचन्द्र जी से कहा—श्रीमान् ! मैं अपनी इस कन्या को कुमार के लिये प्रदान करता हूँ आप इसे स्वीकार कीजिये. तब “स्वीकार करता हूँ” ॥५१॥

अ ओधवअे हेमयंद्रने कथ्युं—श्रीमान् हूं भारी आ कन्याने कुमारेने अर्पणु करूं. आप तेना स्वीकार करे तयारे ‘स्वीकार करूं छु’ तमारा कथाथी तेम कथ्युं. ॥५१॥

ताम्राङ्गुलिस्तेन समर्पितोऽस्या वरस्य हस्ते स्वकरेण हस्तः ।

रत्नाङ्गुलीयप्रभयाऽञ्चिते तौ सूर्येन्दुकान्तीव तदा स्म भातः ॥५२॥

अर्थ—लाल है अंगुलियां जिस की ऐसा सुदर्शना का हाथ ओधवजी ने अपने हाथ से रत्न की अंगूठियों की कान्ति से युक्त वर के हाथ में, उस समय वे दोनों हाथ सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति की तरह शोभित हुए. ॥५२॥

लाल छे आंगणीयो जनी अयो सुदर्शनानो हाथ ओधवअे पोताना हाथथी रत्ननी वीटियोनी कान्तिथी युक्त वरना हाथमां अर्पणु कर्यो. अे समये अे अनेने हाथो सूर्य अने यंद्रमानी, अंतीनी भात शोभा पाये. ॥५२॥

वधूकरस्पर्श भवास्यतस्य तत्पाणिसंस्पर्शवशाच्च तस्याः ।

रोमोद्गमः प्रादुरभून्ममत्वभावोऽपि सार्धं प्रविवेश तत्र ॥५३॥

अर्थ-वधू के हाथ का स्पर्श पाकर और वर के हाथ का स्पर्श पाकर वरवधू के शरीर में रोमांच हो आया और उसी समय दोनों में-वर वधू में-एक ही साथ ममत्व भाव ने प्रवेश कर दिया. ॥५३॥

वधूना हाथेनो स्पर्शं पाभिनो वरना अने वरना हाथेनो हस्पर्शं पाभिनो वधूना शरीरमां शोमांच थयो. अने अये सभये अन्नेमां अेकसाथे अ ममत्वभावे प्रवेश क्यो. ॥५३॥

धर्मोक्तरीत्या च तयोर्वधूवुः परस्परं सप्तपदानि तत्र ।

पश्चाच्च पाणिग्रहणस्य जातः पूर्णस्तयोरेषविधिः प्रयुक्तः ॥५४॥

अर्थ-धर्मोक्त विधि के अनुसार वर वधू की उस मंडप में आपस में सप्तपदी हुई. इस के बाद उन दोनों की पाणिग्रहण की प्रारंभ की गई विधि समाप्त हो गई ॥५४॥

धर्मोक्त विधि प्रमाणे अ मंडपमां वर वधूनी सप्तपदी विधि थय. ते पछी अ अन्नेनी पाणिग्रहणनी विधि समाप्त थय. ॥५४॥

स्थापितायाः खलु वेदिकायाः प्रदक्षिणाप्रक्रमणाच्चकासे ।

मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानं शचीन्द्रयुग्मं मिथुनं तदेतत् ॥५५॥

अर्थ-पहिले से स्थापित वेदी की प्रदक्षिणा करते समय सुदर्शना और लोकचन्द्र इस प्रकार से शोभित हुए कि जिस प्रकार सुमेरु की प्रदक्षिणा करते समय शची और इन्द्र शोभित होते हैं ॥५५॥

पहेवेथी अनावेक्षी वेदीनी प्रदक्षिणा करवाना सभये सुदर्शना अने लोकचंद्र अेवी रीते शोभित थया अे-अम सुमेरुनी प्रदक्षिणा करती वपते अन्द्र अने अन्द्राणी शोभित थया अता. ॥५५॥

अखंडितं प्रेम लभस्व भर्तुं वर्धस्व पौत्रैश्च सुतादिभिश्च ।

मास्म प्रतीपं च गमः कदापि तस्य त्वमाराधय नित्यप्राज्ञाम् ॥५६॥

गुरुन् प्रसन्नान् कुरु सेवयैवं भवन्ति नार्यः कुलदीपिकास्ताः ।

विलोक्य तत्रैव च तत्प्रभावं सुरा रमन्तेऽत्र रमाऽवलापि ॥५७॥

अर्थ-तुम अपने पति का अखंडित प्यार प्राप्त करो. पौत्र और पुत्रादि को से तुम खूब फलों फूलों, कभी भी पति के प्रतिकूल न बनो, उनकी आज्ञा का नित्य आदर करो, अपनी सेवा से अपने सास श्वशुर को प्रसन्न करती रहो. इस तरह की प्रवृत्ति से नारी कुलदीपिका-कुल को सुशोभित करने वाली होती हैं. उनके प्रभाव को देखकर वहां देवता क्रीडा किया करते हैं और स्वभावतः चंचल लक्ष्मी वहां अचल हो जाती है. ॥५६-५७॥

तुं तारा पतिने अप्णं ड स्नेह प्राप्त कर, पुत्र पौत्रादिथी भूय इणो अने इलो, इयारेथ पतिने प्रतिकूल न बनवुं. तेमनी आज्ञानो हरहमेशां आदर करवो. पोतानी सेनाथी पोताना सासुससराने प्रसन्न करती रहे. आ रीतनी प्रवृत्तिथी नारी कुलदीपिका-कुलने शोभावनारी अने छे. तेना प्रभावने जेधने त्यां देवो क्रीडा कर्या करे छे. अने स्वभावथी अ खंचल अेवी लक्ष्मी त्यां स्थिर अनी अथ छे. ॥५६-५७॥

अनेन भर्त्रा सह धर्मचर्या त्वयाऽथ कार्या ह्यविरोधभावात् ।

धर्मस्य संसेवनयैव शान्तिर्जीवेन लभ्या भवतीति ॥५८॥

अर्थ-तुम अपने पति के साथ बिना किसी विरोध भाव के धार्मिक कार्य करो. क्योंकि जीव को धर्म के सेवन से ही शान्ति मिलती है. ॥५८॥

तुं पोताना पतिनी साथे डोछ प्रकारना विरोध विना अ धार्मिक कार्य करती रहे. डेभडे-अने धर्माना सेवनथी अ शांती भणे छे. ॥५८॥

पुण्यं प्रसुप्तं फलितं त्वदीयं यतोऽनुकूलोवर एष आप्तः ।

पुत्रि ! त्वयाऽतो ह्यशुभं विहाय कृत्यं शुभं सेव्यमितीह शिक्षा ॥५९॥

अर्थ-हे पुत्रि ! तेरा सोया हुआ पुण्य ही यह फला है जो तूने अनुकूल स्वामी-पति-पाया है, इसलिये पाप को छोड़कर पुण्य का सेवक करना. यही तेरे लिये मेरी सीख है. ॥५९॥

हे पुत्रि ! तार् सूर्ध गयेस पुण्य अ आने आ रीते इण्युं छे, डे अथी तने अनुकूल पति भणेस छे. तेथी पापने छोडीने पुण्यनुं सेवन करवुं अेअ तने भारी शिष्याभणु छे. ॥५९॥

धर्मार्थकामैस्त्वमिमां मदीयां सुतां च संपालयतेऽर्पितेयम् ।

अस्यास्त्वमेवासि पतिश्च भर्तास्वामी प्रभुर्वा त्वदधीनवृत्ते ॥६०॥

अर्थ-आप इस मेरी पुत्री का धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों द्वारा अच्छी तरह पालन करना. इसीलिये आपको यह प्रदान की है. आज से आप

ही इसके पति हैं, भर्ता हैं, स्वामी हैं और प्रभु हैं. क्यों कि इसका जीवन आपके ही हाथ में है. ॥६०॥

आप आ भारी पुत्रीनुं धर्म, अर्थ काम आ त्रये पुत्रार्थोथी सारी रीने पालन करणे. ते माटे आपने आ भारी पुत्री अर्थात् करी छे. आनर्थी आप न आना पति, भर्ता अने स्वामी छे. अने प्रभु छे. उभके आनुं एवन आपना हाथमां छे. ॥६०॥

दत्ता सुकन्या खलु येन यस्मै तस्मै प्रदत्तो नियमेन तेन ।

त्रिवर्गयुक्तश्च गृहाश्रमोऽसौ प्रोचुश्च विज्ञा गृहिणीं गृहं हि ॥६१॥

अर्थ-जिसने जिसके लिये अच्छी कन्या दी है उसने उसके लिये नियम से त्रिवर्गयुक्त गृहाश्रम ही दिया है. क्यों कि विज्ञानों ने गृहिणी को ही घर कहा है. ॥६१॥

कण्ठे जना माटे सुकन्या प्रदान करी छे, तेषु तेना माटे त्रयवर्गवाणो गृहस्थाश्रम न आपेक्ष छे. उभके-अणुकारोअ गृहिणीने न धर कहेल छे. ॥६१॥

सांसारिकं कृत्यमनित्यमन्यत् सद्धर्मकृत्यं ध्रुमिष्यवेत्य ।

प्रधानभावेन तदेव नित्यं संसेवनीयं व्यवहार कृत्ये ॥६२॥

अर्थ-संसार के जितने भी कार्य हैं वे सब अनित्य हैं-स्थायी नहीं है. स्थायी तो एक धर्म कार्य ही है. ऐसा समझकर प्रधान रूप से उस धर्म कार्य का ही सांसारिक कार्य करते समय भी खयाल रखना. ॥६२॥

संसारना न कंठ करी छे, ते पथा न अनित्य छे, स्थायि नथी. स्थायी तो अके धर्मकार्य न छे. तेम समञ्जने मुष्यतया सांसारिक कार्य करती वपते पणु अ धर्म-कार्यना न प्याल राणने लेमअ. ॥६२॥

गृहस्थकार्येऽपि दया न हेया सा यत्न साध्या भवतीति पुत्र ! ।

दया स्वरूपो ह्ययमस्ति धर्मोऽधर्मस्तु सा यत्र न संस्थिताऽस्ति ॥६३॥

अर्थ-गार्हस्थ्यक कार्य करते समय में भी दया को नहीं छोडना. वह दया है पुत्र ! यत्न-यतना-साध्य होती है. जहां दया है वहीं धर्म है और जहां यह नहीं है वही अधर्म है ॥६३॥

गृहस्थना कार्य करती वपते पणु दयाने छोडनी नहीं. ते दया है पुत्र ! यतना साध्य होय छे. ज्यां दया छे, त्यां न धर्म छे, अने ज्यां अ नथी. त्यां न अधर्म छे. ॥६३॥

जामातरं चाप्यनुशास्य सोऽयं श्रीओधवो हैममुवाच साधो ! ।

सेवा यथार्था न मयाऽभवत्ते क्षम्यो जनोऽयं भवताऽनभिज्ञः ॥६४॥

अर्थ-पूर्वोक्तरूप से अपने जमाता श्रीलोकचन्द्र को समझाकर फिर श्री ओधवजी ने अपने समधी श्री हैमचन्द्र जी से निवेदन किया-हे साधो ! हम सेवाकार्य से अनभिज्ञ हैं. अतः आपकी जैसी सेवा होनी चाहिये-वैसी सेवा मुझ से आपकी नहीं हो पाई है. इसके लिये हम आप से क्षमा मांगते हैं ॥६४॥

पूर्वोक्त रीते पोताना जमाई लोक्यंद्रने समजवीने ते पछी श्री ओधवञ्ज्ये पोताना वेवाई श्रीहैमचन्द्रने निवेदन क्युं हे-हे सज्जन ! हूं सेवा कार्यथी अजणु छुं. तेथी आपनी जवी सेवा थवी जेई ज्ये तेवी सेवा मारथी थध शकी नथी. ते माटे हूं आपनी क्षमा माहुं छुं. ॥६४॥

पश्चाच्च सर्वान् विभवानुरूपं सत्कृत्य सोऽयं विससर्ज नम्रः ।

सर्वेऽपि संतोषमवाप्य तुष्टाः प्रसन्नमुद्रा अभवन् गताश्च ॥६५॥

अर्थ-इसके बाद ओधवजी ने अपने विभव के अनुसार बरातियों की सत्कार कर विदाकी. वे सब संतुष्ट होकर प्रसन्नता के साथ वहां से रवाना हो गये. ॥६५॥

ते पछी ओधवञ्ज्ये पोताना वैभव प्रमाणे जनैयाज्योने सत्कार क्यों अने तेज्या सौ प्रसन्न थधने संतोषपूर्वक त्यांथी रवाना थई गया. ॥६५॥

प्रयाणकाले गलदश्रुनेत्रां शोकाकुलां वीक्ष्य सुदर्शनां स्वाम् ।

पुत्रीं समाश्लिष्य समद्गदाम्बा प्रोवाच बाले च पतिप्रियास्याः ॥६६॥

अर्थ-प्रयाण के समय जिसकी आंखों से अश्रुगिर रहे हैं और जो शोक से व्याकुल हो रही है ऐसी अपनी पुत्री सुदर्शना को देखकर और उसे कंठ से लगाकर गद्गदकंठ हुई माता ने हे "बाले तुम अपने पति को प्यारी बनो" ऐसा शुभाशीर्वाद दिया. ॥६६॥

निहायना समये जमनी आंभोभांथी आंसुज्यो वर्षिं रखा छे, अने ज शोकाथी आकुण्व्याकुण थध रही छे, जेवी पोतानी पुत्री सुदर्शनाने जेईने अने तेने कडे क्षमावीने गद्गदित कंठवाणी तेनी माताज्ये 'हे बाणा ! तारा पतिने प्यारी बनजे' जे रीते शुभाशीर्वाद आप्या. ॥६६॥

यतोऽस्ति कन्या परकीयवित्तं संरक्ष्यते न्यासवदेव पित्रा ।

प्राप्ते तु काले च वराय तस्मै योग्याय देया भवतीति रीतिः ॥६७॥

अर्थ-कन्या दूसरे का द्रव्य है इसलिये धरोहर के समान मातापिता उसकी रक्षा करते हैं. जब समय आ जाता है तो वे उसे ऐसे बर के लिये देते हैं जो योग्य होना है. यही संसार की रीति है. ॥६७॥

कन्या એ પારકું ધન છે. તેથી અનામતની જમ માથાપ તેનું રક્ષણ કરે છે. બ્યારે સમય આવે ત્યારે તેઓ તેને એવા યોગ્ય વરને આપે છે. એજ યોગ્ય છે અને સંસારની પણ એજ રીત છે. ॥૬૭॥

प्रथामिमां पुत्र्यनुसृत्य दत्ताञ्च याहि धिष्ण्यं वस तत्र भर्त्रा ।

मत्रा शुभं ते भवताञ्च भूयाः सर्वप्रिया पूर्णमनोरथा त्वम् ॥६८॥

अर्थ-हे पुत्रि ! इसी प्रथा का अनुसरण करके तुम्हारा विवाह किया गया है. अब तुम अपने पति के साथ अपने घर जाओ और वहां रहो तेरा कल्याण हो तुम वहां सब को प्यारी बनो और तेरी सब कामनाएं सफल हों ॥६८॥

હે પુત્રિ ! એજ પ્રથાને અનુસરીને તારો વિવાહ કરવામાં આવેલ છે. હવે તું તારા પતિની સાથે પોતાના ઘર જા. અને ત્યાં જ રહે. તારૂં કલ્યાણ થાય. તું ત્યાં સૌને વહાલી બનજે. અને તારી સઘળી કામનાઓ સફળ થાવ. ॥૬૮॥

भर्तुः सुखं तेऽस्ति सुखं च दुःखं तद्दुःखमेवास्ति तदीयमोदः ।

तव प्रमोदः प्रविचिन्त्य मैवं कदाचि तस्य प्रतिपन्थिनी स्याः ॥६७॥

अर्थ-पति का सुख तेरा सुख है, पतिका दुःख तेरा दुःख है और पतिका आनन्द ही तेरा आनन्द है ऐसा विचार कर तुम कभी भी उनके प्रति-कूल मत होना. ॥६९॥

પતિનું સુખ એજ તારું સુખ છે. અને પતિનું દુઃખ એજ તારું દુઃખ છે. તથા પતિનો આનંદ એજ તારો આનંદ છે. તેમ સમજી વિચારીને તું ક્યારેય તેનાથી પ્રતિકૂળ ચર્ચશ નહીં. ॥૬૯॥

भर्तुः सवित्री जननी त्वदीया पिता च ते तज्जनकश्च बाले ! ।

स्वसा च ते तद्भगिनी तदीयो भ्राताऽस्ति ते पुत्रि ! सहोदरश्च ॥७०॥

अर्थ-हे बेटा ! पति की माता तेरी माता है, पति के पिता तेरे पिता हैं पति की बहिन तेरी बहिन है और पति का भाई तेरा सहोदर-भाई है ॥७०॥

હે દિકરી પતિની માતા એજ તારી માતા છે. પતિના પિતા એ તારા પિતા છે. પતિની બહેન તારી બહેન છે. અને પતિનો ભાઈ એજ તારો ભાઈ છે. ॥૭૦॥

आज्ञा न भर्तृश्च विलोपनीयाऽऽध्या सदा सा सुखवृद्धि हेतुः ।

सौभाग्यगर्वो न कदापि कार्यः विनम्रता शीलवृषश्च सेव्यः ॥७१॥

अर्थ—हे पुत्रि ! पति की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना, यदि सुख शांति की वृद्धि चाहती हो तो जो कुछ वे कहें उसे मानना. तथा अपने सौभाग्य पर अहंकार नहीं करना. ॥७१॥

हे पुत्री ! पतिनी आज्ञानुं उल्लंघन न करवुं. जे सुख शांतीनी वृद्धि पच्छती हो तो जे कछ तेजो कहे ते मानवुं. तथा पोताना भाग्य पर अहंकार करवो नही. ॥७१॥

दास्यादि वर्गोऽथ च बोधनीयः सुस्नेहदृष्ट्या न च ताडनीयः

चर्चाऽधिका वा बहुशः प्रलापा न तेन सार्धं खलु साधनीयः ॥७२॥

अर्थ—घर पर जो नौकर चाकर हों उन्हें बड़े अच्छे स्नेह के साथ सम्मानना उन्हें ताडना नहीं करना और न उनके साथ अधिक चर्चा या व्यर्थ का बकवाद ही करना. ॥७२॥

धेर जे नोकर याकरे होय तेमने धरुा जे स्नेहपूर्वक सम्भवनना. तेमने मारना नही. तेमज तेजोनी साथे वधारे पडती वातयित हे नकाभो अंकाद करवो नही. ॥७२॥

कुलकम्—

प्रकाशनीया न च गुप्तवार्ता गृहादिकार्ये यतना विधेया ।

न सेवकेभ्यो ह्यशनप्रदाने प्रमादभावोऽपि कदापि सेव्यः ॥७३॥

कार्यं यथाकाल मनेकमेकं त्वया विधेयं, वचनं च मिष्टम् ।

भिक्षार्थिने द्वारि समागताय वक्तव्यमेवं गृहगोमिनी सा ॥७४॥

नारी स्वधर्मोद्यभिवर्धनीयः दानेऽथ भावः खलु रक्षणीयः ।

ईर्षालुवृत्तिः पस्विर्जनीया व्ययो यथायं च समीक्ष्य कार्यः ॥७५॥

अर्थ—अपनी गुप्तवात बाहर प्रकट नहीं करना, घर के कामकाज में साधनी रचना, सेवकों को भोजन देने में प्रमाद कभी नहीं करना, समय के अनुसार ही सब काम करना और द्वार पर आये हुए भिक्षुकों से मीठे वचन बोलना. इस तरह नारी घर की लक्ष्मी बन जाती है. अपने धर्म की प्रभवना बढाना, दान देने में भाव रखना. किसी के साथ ईर्षा नहीं रखना और जैसी आय हो उसी के अनुसार देख भालकर खर्च करना ॥७३-७४-७५॥

पोतानी शुभ-आनगी वात अहार पाडवी नही, धरना कामकाजमां सावध रहेवुं. सेवकवर्गने जमाडवाभां क्यारेय पणु उपेक्षा करवी नही. समय प्रमाणे ज अथा कामे करवा अने आरणे आवेला बिक्षार्थिअो साथे भीडाशथी भोसवुं. आ रीते वर्तवाथी नारी धरनी लक्ष्मी अनी अय छे. पोताना धर्मनुं महात्म्य वधारवुं. दान आपवा सदाकाण लाव राखवो, डाडनी साथे धर्माभाव राखवो नही अने जेवी आमदानी होय ते अनुसार संलाणीने अर्थ करवुं. ॥७३-७४-७५॥

वचः प्रवृत्तिः कुशला विधेया यतोऽनया कोऽपि भवेन्न शत्रुः ।

मिष्टं वचः प्राणिवशक्रियायां प्रधानमंत्रः पर मंत्रः परमंत्र छेदी ॥७६॥

अर्थ-वचन की प्रवृत्ति कुशल रखना, क्योंकि इससे कोई भी अपना शत्रु नहीं बन पाता है. प्राणियों को वश करने की क्रिया में मिष्ट वचन प्रधान मंत्र है. यह शत्रु की अनिष्ट विचार धारा को भी नष्ट कर देता है. ॥७६॥

वाणीनी प्रवृत्ति कुशलापूर्वक करवी, केमके तेम करवाथी कोठ पणु आपणो शत्रु अनतो नथी. प्राणियोने वश करवानी क्रियामां भीडा वचन ज भुष्य होय छे. ते शत्रुनी अशान्ति विचारधारानो पणु नाश करी दे छे. ॥७६॥

प्राघूर्णिकैर्वा प्रतिवेशिभिश्च सार्धं "ममैते" ममताप्रपूर्णा ।

सदा त्वया शांति सुखेच्छया वै बाले विधेया व्यवहारशुद्धिः ॥७७॥

अर्थ-हे बेटी ! महिमानोंके साथ तथा पड़ोसियों के साथ "ये मेरे हैं" ऐसी ममता से भरी हुई व्यवहार शुद्धि तुझे सर्वदा शान्ति और सुख की भावना से करते रहना चाहिये. ॥७७॥

हे छिकरी ! आपणा भडेमानोनी साथे तथा पाडोसियोनी साथे 'आ मारा छे' आवी ममताथी लरेल व्यवहार शुद्धि तारे सदाकाण शांति अने सुपनी लावनाथी करता रहेवुं ओछअे. ॥७७॥

द्वयोः प्रकर्षः कुलयो र्यथा स्वात्तथा त्वया तत्र च वर्तितव्यम् ।

त्रुटिर्न ते मे श्रवणेऽप्यथायात् शोकाकुला मा भव पुत्रि ! याहि ॥७८॥

अर्थ-तथा जिस प्रकार से दोनों कुलों की बड़ाई हो उस प्रकार से तुझे ससुराल में अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये तेरी किसी भी प्रकार की गलती मेरे सुनने में नहीं आनी चाहिये हे पुत्रि ! अब तू शोक से व्याकुल मत हो और जा ॥७८॥

न रीते अन्ने कुणोनी शोभा वधे ते रीते तारे ससराणमां पोतानी प्रवृत्ति राभवी
 जेधजे. तारी डोध पणु अतनी बूड भारा सांभणवामां आववी न जेधजे. हे दिकरी ।
 छवे तुं दुःणी न था अने तारे घेर न. ॥७८॥

आयुष्मतीस्या गुणशालिपुत्रं लभस्व सौभाग्यमखण्डितं स्यात् ।

मार्गाः शिवाः सन्तु च वान्तु वातास्तवानुकूलाः सुखदातरः स्यात् ॥७९॥

अर्थ-हे पुत्रि ! तुम चिरं जीव रहो. गुणशाली पुत्र को प्राप्त करो. तेरा
 सौभाग्य अखण्ड रहे तेरे रास्ते कल्याणकारी हों, वायु तुम्हारे अनुकूल बहे
 और आतप सुख दाता हों ॥७९॥

हे दिकरी तुं चिरं जीव रहे. गुणवान् पुत्र प्राप्त करजे. तारे सौभाग्य अखण्ड रहे.
 तारे मार्ग कल्याणकारी अने; वायु तमारी अनुकूल रहे. अने सूर्य प्रकाश
 सुखदायी हो. ॥७९॥

पतिप्रसूः पुत्र्यभिवंदनीया तदाशीषाऽऽत्मा परिपोषणीयः ।

संवाह्य पादौ पुनरात्माऽस्याः संतोषभावेन च तर्पणीयः ॥८०॥

अर्थ- हे बेटी ! अपनी सासुजी का अभिवादन करना और उनके आशी-
 र्वाद से अपना पोषण करना उनके दोनों पैर दाबना और उनकी आत्मा को
 संतोषभाव से भर देना-संतुष्ट कर देना. ॥८०॥

हे दिकरी ! पोतानी सासुने आभिवादन करवुं. अने तेमना आशीर्वादी पोताना
 आत्मानुं पोषणु करवुं. तेमना अन्ने पगे दयावना अने तेना आत्माभां संतोष भाव
 भरी देवो. अर्थात् तेमने संतोषी राभवा ॥८०॥

इत्याशिषा चामि सुशिक्षया तां माताऽभिनंद्याथ वरेण सार्धम् ।

विसर्जयामास वरोऽपि नत्वाश्वश्रूं प्रतस्थे स्वपुत्रीं प्रहर्षात् ॥८१॥

अर्थ-इस प्रकार के आशीर्वाद से और अच्छी सीख से सुदर्शना को
 अभिनंदित कर माता ने उसे वर के साथ भेज दिया, वर भी अपनी सासुजी
 के प्रणाम कर हर्ष के साथ वहां से अपनी नगरी की ओर चल दिया. ॥८१॥

आ प्रकाशना आशीर्वादी अने सारी शिषामणुथी सुदर्शनाने अभिनंदन आपीने
 माताजे तेने तेना पतिनी पासे भोडडी आपी. वरे पणु पोताना सासुने प्रणाम करी
 हर्षपूर्वक त्यांथी पोताना नगर तरई प्रयाणु कर्युं. ॥८१॥

बंधूपवेशे बहुशो बभूवुर्या लौकिकाचार विचारमालाः ।

हैमालये सोत्सवपूर्विकास्ताः सर्वा सुसंपन्नतया विरेजुः ॥८२॥

अर्थ-हेमचन्द्रजी के गृह में जब बंधू का प्रवेश हुआ तब लौकिक जितने भी आचार विचार उस समय होते थे-वे सब बड़े ही उत्सव के साथ अच्छी तरह संपन्न हुए ॥८२॥

हेमचंद्रने धेर व्यापारे कुलबधूने प्रवेश थयो ते समये लौकिक जे कंठि आचार विचार जे समये थता हता जे अथा धाशु जे उत्साहपूर्वक सारी रीते करवामां आण्यो. ॥८२॥

गंगा मनोमंदिरमिन्दिराया आगास्तुल्यं तु तदा बभूव ।

लब्धं यथेच्छं च वनीयकैस्तै स्तैरतो द्रव्यमनेकरूपम् ॥८३॥

अर्थ-बहू के आने पर तो गंगा का मन लक्ष्मी का भंडार जैसा हो गया था ! क्यों कि अनेक प्रकार के याचकों ने इन से अपनी इच्छा के अनुसार मुंहमांगा द्रव्य प्राप्त किया था. ॥८३॥

बहुना आववाथी भंगानुं मन लक्ष्मीना लंडार जेयुं अनी गयुं. डेमके त्यां अनेक प्रकारना याचकांजे तेमनी पासेथी पोतानी छच्छा प्रमाणे मोठे भाण्युं धन प्राप्त क्युं हुतुं. ॥८३॥

यथा यथाऽसौ स्वजन प्रकृत्या ज्ञात्री बभूवाय तथा तथा सा ।

तद्रूप नैत्र प्रकृति प्रवृत्त्या गृहेऽभवत्सर्वजनप्रिया सा ॥८४॥

अर्थ-जैसी जैसी यह अपने घर के मनुष्यों की प्रकृति से परिचित होती गई वैसी २ यह उनके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करती गई. इस कारण यह घर में सब को प्रिय हो गई. ॥८४॥

जेम जेम सुदर्शना पोताना धरना भाणुसेना स्वभावथी परिचित थती गछ तेम तेम तेमने अनुकूल पोतानी प्रवृत्ति करती तेथी ते धरमां सोने प्रिय अनी गछ. ॥८४॥

धन्या सा जननी पिताऽपि सुकृती गेहं च तत्पावनम्,

रम्या सा घटिकाऽपि सुन्दरतरस्तद्रासरो वाऽनया ।

स्वोत्पत्त्या समलंकृतः कुरुविधे ! पुत्रप्रियां प्रेयसीम्,

नित्यं मद्दृदयैकहारलतिकां सौख्यश्रिया शालिनीम् ॥८५॥

अर्थ-वह माता धन्य है. यह पिता भी पुण्यशाली है. घर वह पवित्र है. वह घड़ी भी बहुत सुन्दर है और दिवस भी अत्यन्त श्रेष्ठ है कि जिसे

इसने अपने जन्म से अलंकृत किया है। हे विधे ! तुम इस मेरी प्यारी पुत्र प्रिया को जो कि मुझे मेरे हृदय के हार की लड़ी के समान है सदा सौख्यश्री से सुशोभित रखना ॥८५॥

ये माताने धन्य छे, ये पिता पण पुण्यवान् छे, ये धर पत्रि छे, ये धडी पण धणी न सुंहर छे, अने द्विस पण धणे न उत्तम छे, डे नमने आणे पोताना नमथी शोभाण्या छे. हे विधाता ! तुं आ भारी पुत्री डे नमने भारा हृदयना डारनी लहेरनी भाङ्क छे तेने सदा सौख्यनी शोभाथी शोभित राखन्ने ॥८५॥

शिष्टा मिष्टवचाऽनुकृष्टहृदया हृष्टा च तुष्टा सदा,
कृत्याकृत्यविचारचारुचतुरा मत्संमुखे सस्मिता ।
स्वल्पेन व्ययतोऽप्यखिन्नमनसा गार्हस्थ्य सत्कृत्यकृत,
सौभाग्येन समन्विता भवतु मेऽखंडेन पुत्रप्रिया ॥८६॥

अर्थ—यह मेरे पुत्र की पत्नी बड़ी शिष्ट है. अपने मिष्ट वचनों से इसने मेरे हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है यह सदा खुश र रहती है. संतुष्ट रहती है कौन सा काम करने योग्य है कौन सा नहीं करने योग्य है इस प्रकार के विचार करने में यह बड़ी चतुर है मेरे समक्ष यह सदा मुस कयाती रहती है थोड़े से व्यय से भी बिना किसी प्रकार के खेद के अपने घर गृहस्थी के काम को करलेती है ऐसी यह मेरी बहू अखण्ड सौभाग्य से युक्त बनी रहे ॥८६॥

आ भारा पुत्रनी पत्नि धणी न शिष्ट छे, तेणे पोताना भीडा वयनेथी भारा हृदयने पोताना तरङ्क प्पेथी लीधेल छे. ते डभेशा पुशपुशाल रहे छे. संतोपी रहे छे. क्युं काम करवा लायक छे अने क्युं काम करवा लायक नथी. ते प्रकारने विचार करवाभां ते धणी अतुर छे. भारी सामे ते सदा मुस्कराती रहे छे. थोडा अर्थथी पण दाम अतना प्पेड विना पोताना धरतुं काम नखानी दे छे. अनी आ भारी बहू अखण्ड सौभाग्यशाक्षी अनी रहे. ॥८६॥

प्राणेश्योऽपि गरीयसी मम शुभैकाशंसिनी सद्गुणा,
मुग्धा शीलसमन्विता मम निदेशाशेष संवर्तिनी ।
हर्षाहर्षसमस्वभावसिका कृत्या प्रकृत्या स्थिरा,
सौभाग्येन समन्विता भवतु मेऽखंडेन पुत्रप्रिया ॥८७॥

अर्थ-यह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है. अच्छे २ गुणों वाली है भोरी है. शील से युक्त है. मेरी आज्ञा में पूर्ण रूप से तत्पर रहती है. सुख दुःख में समस्वभाव रखती है. जिस काम को यह करने का विचार कर लेती है उसे पूरा करके ही सांस लेती है. प्रकृति से भी यह स्थिर है. ऐसी यह मेरी पुत्रवधू अखंड सौभाग्य से सदा चमकती रहे। बड़े पुण्य से ही मुझे यह प्राप्त हुई है ॥८७॥

आमने पेताना प्राणेशी पशु प्यारी छे. सारा सारा गुणोवाणी छे, बोणी छे. शीलवती छे, मारा कदामां संपूर्णपणु तत्पर रहे छे. सुखदुःखमां सरणी रीते रहे छे. जे काम करवानो ते नियार करे छे, तेने पुर्न करीने जे धास ले छे. प्रकृतीथी पशु ते स्थिर छे. जेवी आ मारी पुत्रवधू अखंडसौभाग्यथी सदा चमकती रहे. ते धणु पुण्यो-
द्यथी जे मने प्राप्त थई छे. ॥८७॥

यत्पादौ परिचुम्ब्य नाकसदृशं जातं मदीयं गृहम्,

यत्सद्वर्त्तनतश्च शान्तिरधिका हृद्भवने संस्थिता ।

भृत्यादिष्वपि यद्विनम्रवचनै नोद्वेग वेगोऽजनि,

सौभाग्येन समन्विता भवतु मेऽखंडेन पुत्रप्रिया ॥८८॥

अर्थ-जिसके पैरों का चुम्बन करके यह मेरा घर स्वर्ग के जैसा हो गया है. जिसके सद्व्यवहार से हृदयों में शान्ति आ गई है. और जिसके विनीत बचनों से नौकर चाकर आदिकों में भी कभी उद्वेग का वेग परिलक्षित नहीं होता है, ऐसी वह मेरी पुत्रवधू अखंड सौभाग्य से सुशोभित बनी रहे. ॥८८॥

जेना पगनो स्पर्श करीने आ मारुं घर स्वर्ग जेवुं थई गयेस छे, जेना सद्व्यव-
हारथी हृदयोमां शांती व्यापी गई छे, अने जेना विनयवाणी वचनोथी नोकर आकर
विगेरेमां पशु क्यारेय उद्वेग छे अमंताप जणुयो नथी. जेवी आ मारी पुत्रवधू अखंड-
सौभाग्यवती अने. ॥८८॥

अस्तीयं मम पूर्वसंचितं शुभा-नां कर्मणां सत्फलं,

यद्बोदकं इयं विशिष्टतपसः सत्प्राभृतं वा विधेः ।

मर्यादाऽऽभिजनस्य वा समुदयो षट्भागधेयस्य वा,

मद्गृहस्य निधिः सदा विलसतान्प्रदुभवनाभ्यन्तरे ॥८९॥

अर्थ-पूर्व में संचित किये हुए मेरे शुभ कर्मों का यह एक सुन्दरफल है, अथवा-यह विशिष्ट तपस्या का परिणाम है, अथवा भाग्यको यह एक सुन्दर भेंट है अथवा-कुल की यह मर्यादा है ? अथवा मेरे भाग्य का यह समूह है.

अथवा-यह मेरे घर की निधि है. सो वह निधि मेरे भवन के भीतर सदा चमकती रहे ॥८९॥

पूर्वे संन्य करेदा भारा शुभ कर्मेतुं या अेक सुंदर द्वां छे. अथवा या विशेष प्रकारनी तपस्यातुं परिश्राम छे. अथवा आग्यनी या अेक सुंदर लेट छे. अगर या कुणनी मर्यादा छे? के भारा आग्यनी या समूह छे? अथवा या भारा धरनी पांडार छे, तो या निधि भारा भवनमां सदा चमकतो रहे. ॥८९॥

यदा गता सा मुनिवन्दनार्थं तदा गुरुस्तामनुशिक्षतेस्म ।

यतो हि संसारसमुद्रमग्नान् गुरुं विना तारयितुं क्षमः कः ॥९०॥

अर्थ-जब सुदर्शना मुनि महाराज का दर्शन करने के लिये गईं तब गुरुदेवने उसे समझाया-क्यों कि संसारसमुद्र में मग्न प्राणियों को पार लगाने के लिये गुरु के विना कौन समर्थ हो सकता है. ॥९०॥

अ्यारे सुदर्शना मुनिमहाराजना दर्शन करवा गइ त्यारे गुरुदेवे तेने समजव्युं. केमडे संसार सागरमां डूबेदा प्राणियोने पार उतारवा भाटे गुरु विना कोण शक्तिमान् थछ शके? ॥९०॥

पुण्येन लब्धं नर जन्म धन्ये ! भवेद् यथा तत्सफलं विधेयम् ।

पापानुबंधि प्रविहाय पुण्यं पुण्यप्रदं पुण्यमुपार्जय त्वम् ॥९१॥

अर्थ-हे भाग्ये ! यह नरजन्म पुण्य से प्राप्त हुआ है इसलिये जैसे भी बने इसे सफल बनाना चाहिये. अतः पापानुबंधि पुण्यको छोड़कर तुम पुण्यानुबंधि पुण्यका उपार्जन करो. ॥ ९१॥

हे आग्यवती ! या नरजन्म पुण्यकी प्राप्त थियेस छे. तेथी जन्म अने तेम आने सकण अनाववे अेई अे तेथी पापानुबंधी पुण्यने छोडीने तमे पुण्यानुबंधी पुण्यतुं उपार्जन करे. ॥९१॥

संसारभावा अशुभा अनित्या दुःखपदा नैव सुखप्रदास्ते ।

पापास्त्रवेकारणमित्यवेत्य विहाय पुण्यास्त्रव एव सेव्यः ॥९२॥

अर्थ-संसार संबंधी जितने भी जीव के भाव हैं वे सब अशुभ अनित्य और दुःख देने वाले हैं. सुख देने वाले नहीं हैं. क्यों कि वे पापास्त्रव के कारण हैं. ऐसा समझकर उन भावों को छोड़ना चाहिये और पुण्यास्त्रव के हेतुओं का सेवन करना चाहिये. ॥९२॥

संसार संबंधी जेटवा पणु जवना भावो छे ते सधगा अशुभ अनित्य अने दुःख देवावाणा छे, सुख आपवावाणा नथी, केमडे ते पापास्त्रवना कारणरूप छे. तेम समजवीने अे भावोने छोडवा जेअे. अने पुण्यास्त्रवना हेतुओतुं सेवन करवुं जेअे. ॥९२॥

धर्म्यक्रिया परा सेयं दानादि शुभकर्मणा ।

गार्हस्थ्यकक्रियां योग्यां निर्वहन्ती शुभां बभौ ॥९३॥

अर्थ-धार्मिक क्रियाओं के करने में तत्पर ऐसी यह सुदर्शना दानादिक शुभ कार्यों द्वारा योग्य शुभ गार्हस्थ्यक क्रियाओं का निर्वाह करती हुई सुशोभित हुई. ॥९३॥

धार्मिक क्रियाओं करवाना तत्पर ऐसी या सुदर्शना दानादि शुभकार्यों द्वारा योग्य शुभ गृहस्थ संबंधी क्रियाओं को निर्वाह करती शोभा पायी. ॥९३॥

लोकचंद्रोऽपि कार्याणि यथायोग्यं समुद्वहन् ।

सातावेदोदयाल्लभं लभमानो राज सः ॥९४॥

अर्थ-वे लोकचंद्र भी यथा योग्य कार्यों को करते एवं सातावेदनीय कर्म के उदय से उनसे लाभ लेते हुए सब को बड़े प्यारे लगते ॥९४॥

ये लोकचंद्र, पशु यथायोग्य कार्यों करता अने सातावेदनीय कर्मना उद्यथी तेनाथी लाभ देता सोने धन प्रेमास्पद लागता होता. ॥९४॥

पित्रामा लोक चंद्रोऽयं गंगया च बधूः समम् ।

स्व स्व कार्यस्य नेताऽभूत् नेत्रीयं स्वानुभावतः ॥९५॥

अर्थ-पिता के साथ लोकचंद्र और गंगा के साथ यह सुदर्शना बहू अपने अपने कार्य के अपने प्रभाव से नेता और नेत्री हुए ॥९५॥

पितानी साथे लोकचंद्र अने गंगादेवीनी साथे या सुदर्शना बहु पीतपीतानी कार्य कुशलतथी अने पीतपीताना प्रभावथी नेता अने नेत्री बन्या. ॥९५॥

मूलोत्तरान् गुण्यगुणानगण्यान् संधारयंस्तान् सततं सुमत्या ।

चंद्रांशुवन्निर्मलभावजुष्टः श्रीघासीलालोऽस्तु मुदे मुनीन्द्रः ॥९६॥

अर्थ-जो उपयोगपूर्वक निरन्तर मुनिमान्य उनर मूलगुणों को और उत्तर गुणों को धारण करते हुए चंद्रकी किरणों जैसे निर्मल आत्मपरिणामों से युक्त हैं ऐसे वे मुनीन्द्र घासीलाल जी महाराज मेरे लिये आनन्दके निमित्त हों ॥९६॥

ज्या उपयोगपूर्वक उद्देशां मुनि मान्य ते ते मूल गुणोने अने उत्तर गुणोने धारण करीने चंद्रना किरणो ज्या निर्माण आत्मपरिणामोथी युक्त छे, अथा ये मुनिन्द्र धासीलाल महाराज अने आनंद आपनारा थाव. ॥९६॥

अथ द्वादशः सर्गः प्रारभ्यते-

कल्पद्रुमाच्छेषतरोऽस्ति धर्मो, गतस्पृहाणामपि यद्ददाति ।

स्वर्गापवर्गौ ध्रुवमर्थिनोऽपि यतो न तौ दातुमसौ समर्थः ॥१॥

अर्थ-धर्म, कल्पवृक्ष-से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. क्योंकि कि यह बिना धर्मो ही अपने सेवकों को स्वर्ग और मोक्ष देता है. तब कि कल्पवृक्ष ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो मांगने पर भी इन्हें मोक्षसुख को देने में असमर्थ है ॥१॥

धर्म, कल्पवृक्ष करतां पशु वस्तुं न उत्तमं छे. केमडे ते भोगव्या विना न पीताना सेवकाने स्वर्गं अने मोक्षं आपे छे. अने कल्पवृक्ष अचुं होतुं नथी कारणे के कल्पवृक्ष तो भागवा छतां पशु मोक्षं सुखं आपना शक्तिमान् नथी. ॥१॥

संसारदुःखान्मृतिजन्मरूपाज्जीवान् बहिष्कृत्य च मुक्तिमार्गं ।

आनाय्य संस्थापयति ध्रुवं यः धर्मः स एवास्ति जिनप्रणीतः ॥२॥

अर्थ-धर्म वही है जो जन्म मरण रूप सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर जीवों को मोक्ष के मार्ग लगा देता है. और ऐसा वह धर्म जिनेन्द्र द्वारा ही कहा गया है ॥२॥

धर्मतो अेन छे के के जन्म मरणरूप सांसारिक दुःखोधी छोडावीने एवोने मोक्ष मार्गमां समावी दे छे. अने अेवो अे धर्म एवोनेन्द्रदेवे कहेस तेन छे. ॥२॥

धर्मस्य संसेवनतो जनानां नश्यन्ति दुःखानि ससुद्भवन्ति ।

आत्मोत्थितान्येव सुखानि तस्मात्सुखेषुभिर्नित्यप्रसौ सुसेव्यः ॥३॥

अर्थ-धर्म को जो अच्छी तरह सेवन करता है उसके दुःख नष्ट हो जाते हैं और आत्मोत्थ सुख उसे प्राप्त होते हैं. इसीलिये सच्चे सुख के अभिलाषियों का कर्तव्य है कि वे नित्य ही धर्म का सेवन करते रहें ॥३॥

धर्मनुं अेवो सारी रीते पावन करे छे. तेना दुःखो नाश पावे छे. अने आत्मोत्थित सुख तेने प्राप्त थाय छे. तेथी सान्या सुपना अभिक्षाषियोनुं कर्तव्य छे के-तेवो इ-हमेशां धर्मनुं पावन करता रहे. ॥३॥

धर्माभृता सेवनतो लभन्ते जना अनौपम्यमनङ्गपूतम् ।

अतीन्द्रियं श्रेष्ठमनाद्यनन्तं शैवं सुखं जन्मजरादि हीनम् ॥४॥

अर्थ-धर्म यह एक अमृत है. जो प्राणी इसीका सेवन करते हैं वे जन्म जरा और मरण की व्याधि से मुक्ति पा लेते हैं और मोक्ष के अघाबाध सुख

को प्राप्त कर लेते हैं यह मोक्षसुख अनुपम है इसकी न आदि है और न अन्त है. यह किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाना जाता है अनीन्द्रिय है केवल ज्ञान से जाना जाता है अतः यह अनङ्गूत है इसे प्राप्तकर जीव फिर जन्म जरा एवं मरण धर्मवाले शरीर से सदा के लिये रहित हो जाते हैं—अशरीरी हो जाते हैं अतः यह श्रेष्ठ है ॥४॥

धर्म अथैक प्रकारतुं अभूत छे. जे प्राणी तेषुं सेवन करे छे. ते जन्म, जरा अने मरणुनी पीडाथी मुक्त थई अथ छे. अने भोक्षणा अन्त्याथ सुप्पने प्राप्त करी ले छे. आ भोक्ष सुप्प अनुपम छे. तेनी आदि के अन्त नथी. जे काष्ठ पथु ईन्द्रिय द्वारा अणुी शक्तुं नथी. अर्थात् इन्द्रियज्ञानथी पर छे. तेकेपण ज्ञानथी ज अणुी शक्तय छे. ते आदि अन्त रडिन छे. तेने प्राप्त करीने छव ईथी जन्म, जरा के मरण धर्मवाणा शरीरी सदां माटे छुटि अथ छे. अर्थात् अशरीरी अनी अथ छे. तेथी ज अ श्रेष्ठ छे. ॥४॥

धर्मानुरागधर्मवपभावाज्जनः स्वकर्तव्यतः प्रकृत्या ।

भद्रोऽथ संतोषतः सुपात्रे दानादि सत्कृत्य पवित्र वित्तः ॥५॥

अर्थ—जो प्राणी धर्म में अनुरागवाला होता है वह अपने कर्तव्य के पालन में तत्पर रहता है. भद्रपरिणामी होता है—मंदकषायो होता है. संतोष से युक्त होता है और सत्पात्रदान आदि सत्कार्यों में अपने द्रव्यको खर्च करने वाला होता है ॥५॥

जे प्राणी धर्ममां प्रीतिवाणो होय छे, ते पोताना कर्तव्यना पाक्षनमां तत्पर रहे छे. भद्रपरिणामी होय छे. मंद कषायवाणा होय छे. अने सत्पात्रदान विगरे सत्कार्यमां पोताना धननो व्यय करवावाणा होय छे. ॥५॥

न्यायानुकूलचरणं च तत्र, तत्रास्ति सद्भावनाया पवित्रम् ।

चारित्र्यमन्तःकरणस्य शुद्धिः वचोऽनुसारी व्यवहारवृत्तिः ॥६॥

जीवानुकंपा महतां पुरस्ताद् विनम्रता सम्यग्दि नाभिमानम् ।

परत्रलोकेऽस्ति मतिर्विरक्तिः पंचेन्द्रियाणां विषयेऽत्यसमः ॥७॥

परस्य दुःखे सति सोऽस्ति दुःखी सुखे च स स्यात्सुखितो विवेकी ।

परिग्रहे नैव कदापि शुद्ध्या हीनो भवेद्वा यदि पितृभक्तः ॥८॥

अर्थ—धर्म से युक्त का न्यायनीति के अनुकूल आचरण होता है. सद्भावना से पवित्र आचार विचार होता है मानसिक स्थिति उसकी सुन्दर होती है.

कथन के अनुकूल उसकी व्यावहारिक प्रवृत्ति होती है. वह जीवों पर दयाभाव रखता है, महान् व्यक्तियों के प्रति वह सम्मान प्रदर्शित करता है. अपने अभ्युदय में उसके अहंकार का भाव नहीं होता है. परलोक है ऐसी उसकी मान्यता रहती है. पंचेन्द्रियों के विषयों में उसकी विरक्ति रहती है या स्वल्पराग होता है. दूसरे जीवों को दुःखित देखकर यह दुःखी होता है और सुखी देखकर सुखी रहता है परिग्रह में वह विवेकशाली होता है तथा आपत्ति काल में भी वह शुद्धि से रहित नहीं होता है और न माता पिता तथा गुरु की सेवा से विमुक्त रहता है ॥६-७-८॥

धर्मना आयरणुवाणी व्यक्तितुं आयरणु न्याय अने नीतिने अनुकूल आयरणु होय छे. सद्भावनाथी पत्रिच आयार त्रियार होय छे. तेनी मानसिक स्थिति सुंदर होय छे. ओलना प्रमाणेनी तेनी व्यावहारिक प्रवृत्ति होय छे. ते एवो पर दयाभाव राभे छे. महान् व्यक्तियो प्रत्ये ते सन्मनपूर्वक वर्ते छे. तेने पोतानी उन्नतिमां अहंकार भाव होतो नथी. परलोक छे ते प्रमाणे तेनी मान्यता होय छे. पंचेन्द्रियोना विषयोमां ते विरक्तभाव राभे छे. अथवा ओठो राग राभे छे. अन्य एवोने दुःखी ओछने ते दुःखी थर्य अय छे. अने सुखी ओछने सुखी अनी अय छे. परिग्रहमां विवेकी होय छे. तथा आपत्तिना समये पणु तेओ शुद्धि रहित होता नथी. तथा माता पिता अने गुरुनी सेवाथी ते त्रिमुक्त रहेता नथी. ॥६-७-८॥

व्यर्थप्रलापं न करोति भक्ष्याभक्ष्यस्य तत्रास्ति विशिष्टबोधः ।

गृहागतं शिष्टजनं निरीक्ष्य प्रहर्षचित्तः स करोति तस्य ॥१॥

सत्कारवृत्तिं न च रात्रि भुक्तिं कदापि निघ्याचरणं करोति ।

न गर्हितां वापि कथां शृणोति न वक्ति तां वाक्यमरुन्तुदं वा ॥१०॥

न भाषतेऽगालितमम्बरेण पिक्तययं वारि न हीनवृत्तिं ।

द्रव्यापि लोषाद्विद्वाति नैव न बन्धु वर्गैः कलहायतेऽसौ ॥११॥

अर्थ-वह वृथावकवाद नहीं करता, भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या है ऐसा विशिष्ट बोध उसे होता है. कोई भी शिष्टजन-साधर्मिकबन्धु-यदि घर पर आ जाता है तो उसे देखकर उसका चित्त पुलकित हो उठता है, उसका वह सत्कार करता है. रात्रि में वह कभी भोजन नहीं करता. निघ्न आचरण से वह दूर रहता है. गर्हित कथा को वह न सुनता है और न कहता ही है. तथा वह ऐसी वाणी भी नहीं बोलता जो दूसरों के मर्मस्थान

को भेदन करने वाली हो. अनछना पानी वह नहीं पिता द्रव्य प्राप्ति के लोभ से वह हीन आजीविका नहीं करता और न अपने बन्धुओं के साथ वह लडाई झगडा ही करता है ॥९-१०-११॥

तेजो विना कारण अकवाद करता नहीं. तेने भावा योग्य शुं छे? अने अप्पाध शुं छे? तेनो विशेष बोध तेजोने होय छे. डोछ पणु शिष्ट पुरुष-साधर्मिक अन्धु जे बेर आनी यडे तो तेने जेईने तेनुं चित्त आनंदित थई अय छे. तेनो ते सत्कार करे छे. ते डोछ पणु समये सन्ने लोअन करता नहीं. निंदनीय आचरणथी ते दूर रहे छे. निंद-कथाने ते सांखणतो डे कहेतो नहीं. तेजोनी वाणी भोसतो नहीं डे जे पीअना भर्भ स्थानने बेदनारी होय. विना गणेश पाणी ते पीतो नहीं. धन प्राप्तिना लोअथी ते निंदनीय रीते अप्पचिका करतो नहीं. तथा पोताना कुटुंबियो साथे ते लडाई अघडा करतो नहीं. ॥८-१०-११॥

परोन्नतिं वीक्ष्य न द्यूते सः न भाषते धर्मविरुद्धभाषाम् ।

मित्रेण सार्धं कपटं च न चासौ चरत्यनाचार विदूग्गः स्यात् ॥१२॥

अर्थ-दूसरे की उन्नति देखकर वह मन में कुडता नहीं है. धर्म विरुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करता, मित्र के साथ कपट नहीं करता और अनाचार से वह दूर रहता है ॥१२॥

पीअनी उन्नति जेईने ते मनभां अणोपो करतो नहीं, धर्म विरुद्धनी वाणीनो प्रयोग करतो नहीं. मित्रनी साथे ते कपटभाव राप्ता नहीं. तथा दुसआरथी ते दूर रहे छे. ॥१२॥

क्रोधादिभिर्नैव च दग्धचित्तो भवत्स तैर्नैव विलुप्तबोधः ।

तेष्वामतेषु प्रियवाक्यमेव वदत्ययं तांश्च रुणद्धि शक्त्या ॥१३॥

अर्थ-क्रोधादिक कषायों द्वारा यह दग्ध चित्त नहीं होता, यदि कषायें उद्भवित हो भी जावे तबभी उसका बोध लुप्त नहीं होता है. जहांतक बनता है वह प्रियवचन ही बोलता है. गाली आदि का प्रयोग नहीं करता. कषाय न जगे इस प्रकार का ही वह अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करता रहता है ॥१३॥

ते डोछादि कषायोथी दग्ध चित्तवाणो होतो नहीं. जे कषायोनो उद्भव थाय तो पणु तेनो बोध लुप्त थतो नहीं. अनता सुधी ते प्रिय वचन जे भोवे छे. गण विगेरे कुआणानो प्रयोग करतो नहीं. कषायभाव अथत न थाय ते प्रकारे जे ते पोतानी शक्ति प्रमाणे प्रयत्न करतो रहे छे. ॥१३॥

ઘૂતં સુગં માંસં પ્રમૌ ચ ચૌર્યં વેશ્યાં પરશ્ચીં ચ હિંસાં ।

જહાતિ નિંદાં ચ પરસ્ય, તૃષ્ણાં યથા કથન્નિચ તન્નુ કરોતિ ॥૧૪॥

અર્થ-યહ જુઆ લેલના મદિરાપાન કરના, માંસ લાના, ચોરી કરના, વેશ્યા સેવન કરના, પરશ્ચી સેવન કરના ઓર પંચેન્દ્રિય જીવોં કી હિંસા કરના, ઇન સબ વાતોં કો છોડ દેતા હૈ. ઓર જૈસે ખી હોતા હૈ યહ અપની તૃષ્ણા કો કમ કરતા હૈ ઓર દૂસરોં કી નિંદા કરના યહ ખી છોડ દેતા હૈ ॥૧૪॥

તે જુઆર ખેલનો કે મદિરાપાન કરવું, માંસ ખાવું, ચોરી કરવી, વેશ્યાસેવન કરવું, પરશ્ચી સેવન કરવું, અને પંચેન્દ્રિયની હિંસા કરવી. આ સધળી વાતોને છોડી દે છે. અને કમ અને નેમ પોતાની તૃષ્ણા ઝેાછી કરે છે. અને ખીજની નિંદા કરવાનું પણ છોડી દે છે. ॥૧૪॥

નીત્યાનુકૂલં સમુપાર્જ્યં દ્રવ્યં કરોતિ નિર્વાહમસૌ વિવેકી ।

ન ધૂમ્રપાનં વિદ્યાતિ નૈવ દુઃસંગતિં શ્રેષ્ઠજનૈઃ સહૈતિ ॥૧૫॥

અર્થ-જિનને દ્રવ્ય સે અપની આવશ્યકતા કી પૂર્તિ હોતી હૈ ઉતને હી દ્રવ્ય કો યહ નીતિ કે અનુસાર કમાતા હૈ ઉસી સે અપના નિર્વાહ કરતા હૈ ધૂમ્ર-પાન યહ નહીં કરતા. તથા જોડી સંગતિ સે યહ દૂર રહતા હૈ. કેવલ શ્રેષ્ઠ-ધાર્મિક વ્યક્તિયોં કો હી યહ સંગતિ કરતા હૈ ॥૧૫॥

જેટલા દ્રવ્યથી પોતાની આવશ્યકતાની પૂર્તિ થાય એટલા જ દ્રવ્યને તે નીતિ પ્રમાણે કમાય છે. અને તેનાથી જ પોતાનો નિર્વાહ ચલાવે છે. તે ધૂમ્રપાન કરતા નથી. તથા ખોટા સંગથી તે દૂર રહે છે. કેવળ ધાર્મિક વ્યક્તિઓની જ તે સંગતિ કરે છે. ॥૧૫॥

इत्येवमुक्तः खलु गेहिनोऽयं सन्नस्ति संक्षेपतयाऽथ धर्मः ।

सामान्यरूपेण विशेषतो वा ऽऽगमेषु बद्धस्तत एव बोध्यः ॥१६॥

અર્થ-હસ પ્રકાર સે જો યહ પૂર્વોક્ત રૂપ સે કહા ગયા હૈ વહ સામાન્યરૂપ સે ગૃહસ્થ કા ધર્મ-આચાર કહા હૈ-વિશેષરૂપ સે ઇસકા આચાર આગમ ગ્રન્થોં મેં કહા ગયા હૈ અતઃ વહાં સે હી યહ જ્ઞાન કર લેના ચાહિયે ॥૧૬॥

આ રીતે જ આ પૂર્વોક્ત રીતે કહ્યું છે, તે સામાન્ય રીતે ગૃહસ્થનો ધર્મ-આચાર કહ્યો છે. વિશેષ રીતે તેનો આચાર આગમ ગ્રન્થોમાં કહેલ છે, તેથી ત્યાંથી તે જાણી લેવો જોઈએ. ॥૧૬॥

हैमेन वा तत् प्रियया गृहस्थ धर्मस्य सामान्यतयोपदेशः ।

श्रुतश्च पश्चात् खलु आगमेषु तथैव ताभ्यां स च वाच्यतश्च ॥१७॥

अर्थ-हैमचन्द्र सेठ और उनकी धर्मपत्नी ने सामान्य रूप से गृहस्थ धर्म का यह उपदेश सुना और बाद में आगमों में ऐसा ही वांचा ॥१७॥

हेमचन्द्रसेठ अपने तेनी धर्मपत्नीके सामान्य रीते आ गृहस्थ धर्मनो उपदेश सांभल्यो अपने ते पछी आगमोभां ते प्रभाषे न व्यनवोक्तन क्युं. ॥१७॥

अथान्यदा तौ विजनं गृहीत्वा परस्परं चावदतां विमृश्य-

वधूसुतौ कार्यविधानदक्षौ जातावतो नोऽस्ति न कृत्यमत्र ॥१८॥

अर्थ-एक दिन की बात है कि हैमचन्द्र और गंगा देवी ने जब कि ये दोनों एकान्त में बैठे हुए थे परस्पर में विचार किया-पुत्र और वधू दोनों गार्हस्थ्यक कार्य करने में दक्ष हो चुके हैं अतः अब हम लोगों को कोई काम करने जैसा नहीं रहा है ॥१८॥

येक दिवसे हेमचंद्र अपने गंगादेवीके डे न्यारे तेओ अकेअन्तमां षेडा उता त्यारे परस्पर विचार क्यो डे-पुत्र अपने पुत्र वधू अपने गृहस्थार्थ संबन्धी व्यवहारिक कार्यमां यतुर थर्त गया छे. तेथी हवे आपणे कर्त पणु काम करना न्युं रहेल नथी. ॥१८॥

अतोऽहमिच्छामि पदे स्वकीये संस्थाप्य तं स्वात्महितं च कुर्याम् ।

कष्टेन लब्धं नरजन्म चेद्धा व्यर्थं गतं कष्टमतोऽधिकं किम् ॥१९॥

अर्थ-इसलिये मेरी भावना है कि मैं अपने पद पर उसे स्थापित कर अपनी आत्मा का हित करूं, क्योंकि कष्ट से प्राप्त हुआ मनुष्य भव यदि व्यर्थ ही चला गया तो इससे अधिक और क्या कष्ट हो सकता है ॥१९॥

तेथी मारी भावना छे डे-हुं मारा स्थान पर तेने स्थापित करीने मारा आत्मानुं हित साधुं. डेमडे-धणी न मुशेदीथी प्राप्त थयेल आ मनुष्यभव जे डेगट यादयो न्य तो तेनाथी न्यारे अन्य कष्टकारक शुं कहेवाय. ॥१९॥

संसारभोगा निखिलाश्च भोगास्तथापि तेभ्योऽस्य भवेन्न तृप्तिः ।

तरङ्गिणीभ्यो न कदापि दृष्टः संतोषपोषोऽथ सरस्वतीह ॥२०॥

अर्थ-मैंने संसार के सभी भोग भोग लिये हैं. फिर भी इस आत्मा को इनसे तृप्ति नहीं हो पाई है. सच है-नदियों से समुद्र को कभी तृप्ति नहीं होती ॥२०॥

भे संसारना सधणा भोगो भोगवी लीधा छे. तो पणु आ आत्माने तेनाथी तृप्ति भणी नथी सायुं न छे डे-नदीयेथी समुद्रने क्यारेय तृप्ति थती नथी. ॥२०॥

यथा न वह्ने भवतीन्धनानां प्रक्षेपतः शान्तिर्दत्त्रिरेवम् ।

न प्राणिना मिष्टपदार्थलाभात् प्रशाम्पति भोग्यपदार्थलिप्सा ॥२१॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि में ईंधन के डालने से वह शान्त नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है—उसी प्रकार प्राणियों के भोग्य पदार्थ लिप्सा इष्ट पदार्थों के लाभ से कभी शान्त नहीं होती है ॥२१॥

अभ्यग्निमां अग्नताषु नाभवाथी ते शांतं यतो नथी अदडे वधे छे. अन्न प्रमाषु प्राणिअने भोग्य पदार्थं भोगववानी छिअ अष्टपदार्थोनी प्राणितथी अयारे य शांतं यती नथी. ॥२१॥

लूता यथा निर्मितजालमाला मग्ना मती मृत्युमरक्षितैव ।

आप्नोति जीवोऽपि तथैव धिक् तं परिग्रहारंभविलीनचित्तम् ॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा बनाये जाल में फँसकर प्राणों गंवा देती है. उस समय उसकी कोई रक्षा करने वाला नहीं होता, उसी प्रकार यह जीव भी जो कि परिग्रह और आरंभ में फँसा हुआ है उसी में प्राण गंवा देता है—तो इसे धिक्कार है. ॥२२॥

अभ्य अशोणीयो पोते अनावेअ अणमां असाधने प्राणु. युभावी हे छे. ते वपते तेतुं रक्षणु करवावाणुं काठं हेतुं नथी. अन्न प्रमाषु अा अण पणु के अ परिग्रह अने आरं-अमां असायेअ छे. तेमां अ पोताना कीमती प्राणु युभावी हे छे, तेथी तेने धिक्कार छे. ॥२२॥

यावज्जग देहमिमं विवर्णं करोति नो जर्जरितं हितं स्मम् ।

जीवेन तावत्करणीयमेवं वदन्ति ते वीरजनाः शरण्याः ॥२३॥

अर्थ—भव्य जीवों को शरण देने वाले श्री वीर जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं कि जब तक बुढ़ापा इस देह को कान्ति हीन एवं जर्जरित नहीं कर पाता है तब तक जीव को अपना हित कर लेना चाहिये ॥२३॥

अण्य अणेने शरणुं आपवावाणा श्रीवीरअनेन्द्र अणुं अडे छे के-अयां सुधी वृद्ध-वस्था अा शरीरने कान्ति रहित अने शिथिल करी न हे त्यां सुधीमां अणे पोतानुं अित साधी लेवुं अेधअे. ॥२३॥

यावद्दृषीकेषु समस्ति शक्तिः स्वस्वार्थबोधकता विशिष्टा ।

जीवेन तावत्स्वहिते विधेयो यन्नो गृहीते च कालेन किं स्यात् ॥२४॥

अर्थ-जब तक इन्द्रियों में अपने २ विषय को ग्रहण करने की विशिष्ट शक्ति है तब तक जीव को अपने हित साधन में प्रयत्न कर लेना चाहिये. काल-(आयुष्य पूरा होने) पर फिर कुछ करते नहीं बनेगा ॥२४॥

आं सुधी ईन्द्रियोमां पोतपोताना विषयने अलक्षु कश्चानी विशेष प्रकारनी शक्ति रहे छे, त्यां सुधीमां अवेअे पोतानुं हित साधवानो प्रयत्न करी वेवो जेईअे. कवे (आयुष्य पूरं तथा पञ्जी) कंठ पणु करी शकसे नहीं. ॥२४॥

स्वकार्यं संवादनशक्तिमन्तौ कलेवरेऽस्मिन् खलु पाणिपादौ ।

यावच्च तावत्स्वहितं विधेयं दिशन्ति जीवाननिशं मुनीन्द्राः ॥२५॥

अर्थ-इस शरीर में वर्तमान हाथ पैर जबतक शिथिल नहीं होते हैं-वे शक्ति संपन्न बने हुए हैं-अर्थात् अपना २ कार्य करने में सक्षम हैं-तब तक जीव को अपना हित साध लेना चाहिये ऐसा मुनीन्द्र भव्य जीवों को निरन्तर समझाते रहते हैं ॥२५॥

आ शरीरमां रहेवा लक्षपण आं सुधी दीवा पडता नथी. ते शक्तिशाणी पनेवा रहे छे, अर्थात् पोतपोतानुं कार्य कश्चामां शक्तिशाणी होय त्यां सुधी अवेपोतानुं हित साधी वेवुं जेईअे. अे प्रमाणे मुनिन्द्र भव्य अवेने उभेशां समभवता रहे छे. ॥२५॥

भवोऽस्त्ययं तावदनित्य एव संयोगिनोऽप्यत्र न नित्यरूपाः ।

अस्यां स्थितौ ब्रूहि मया विधेयं किमत्र कान्ते ! समवर्तिताऽऽद्ये । २६॥

अर्थ-यह भव-पर्याय अनित्यही है तथा संयोगी जितने भी पदार्थ हैं वे भी सब नित्य नहीं हैं-अनित्यहैं-ऐसी हालत में हे प्रिये ! कहो-कालके आधीन बने हुए इस भव में मुझे क्या करना चाहिये ॥२६॥

आ भव-पर्याय अनित्य अ छे. तथा संयोगी जेटवा पदार्थी छे, ते पथा पणु नित्य नथी. अर्थात् अनित्य अ छे. हे प्रिये ! उहे अे स्थितिमां कागने वश थयेवा भारे आ भवमां शुं करवुं जेईअे. ॥२६॥

लक्ष्मी-सुता-पुत्र-कलत्र-भृत्याः सर्वेऽस्थिरा एषु त्रिमुग्धचित्ता

स्वसाहितं ह्याचरमाण एषः कथं सुखस्यं ननु मन्यते स्वम् ॥२७॥

अर्थ-लक्ष्मी (धन-संपत्ति) सुता, पुत्र, कलत्र और भृत्य ये सब अस्थिर हैं इन में मोहित हुआ यह जीव अपना स्वयं का अहित करता हुआ कैसे अपने को सुखी मान रहा है ॥२७॥

લક્ષ્મી (ધન-સંપત્તિ) સુતા, પુત્ર, સ્ત્રી અને સેવકવર્ગ આ બધા અસ્થિર છે. તેમાં મોઢ પામેલ આ જીવ પોતાનું જ કરીને પોતાને સુખી કેવી રીતે માનતો હશે ॥૨૭॥

રૂપં વિરૂપં જમ્સા વિધીયમનં સ્વદૃષ્ટ્યા પ્રવિલોકયતેઽત્ર ।

શ્રીર્વિદ્યુદામેવ ત્ર યૌવનં હા ! વનાપગામ્ભોનિભમસ્થિરં વત્ ॥૨૮॥

અર્થ-યહ જાંવ અપને શારીરિકરૂપ કો વુઢાપે સે વિરૂપ કિયો જા રહા લક્ષ્મી (ધન) કો વિજલી કી જૈસી ચન્નલ હોતી હુઈ ઓર યૌવન કો જંગલ કી નદી કે પાની કે જૈસા અસ્થિર હોતા હુઆ અપની આંખોં સે દેલ રહા હૈ ॥૨૮॥

આ જીવ પોતાના શરીરના રૂપને ગઢપણથી કદરૂપું બનાવતું, લક્ષ્મી (ધન)ને વિજળીના જેવી અચળ-અસ્થિર બનતી અને યૌવનને જંગલની નદીના પાણીની જેમ અસ્થિર બનતું પોતાની આંખોથી બેઠું રહ્યો છે. ॥૨૮॥

આયુર્ઘટીયંત્રગતામ્બુવદ્ધા પ્રતિક્ષણં નિર્ગલતિચ્છરીરમ્ ।

અત્યન્ત દુર્ગન્ધિ જુગુપ્સિતં ત્ર વિલોકયન્નેપ્ર કથં પ્રમત્તઃ ॥૨૯॥

અર્થ-ઓર દેલ રહા હૈ કિ આયુ ઘટીયંત્ર ગત જલ કી તરહ ક્ષણર મેં નિકલતી જા રહી ઇવં શરીર અત્યન્ત દુર્ગંધિત ઓર ધૃણાસ્પદ હૈ ફિર મી યહ અપને હિત કરને મેં પ્રમાદી કયોં હો રહા હૈ. ॥૨૯॥

તથા એ પણ બેઠું રહેલ છે કે-આયુષ્ય ધટિયંત્ર (રેંટ)માં રહેલ પાણીની માફક ક્ષણે ક્ષણે નીકળતું બધ છે. અને શરીર અત્યંત દુર્ગંધ યુક્ત તથા ધૃણાસ્પદ છે. તે પણ તે પોતાનું હિત કરવામાં પ્રમાદી કેમ બને છે ? ॥૨૯॥

જીવઃસ્વકલ્યાણકૃતૌ ભવેઽસ્મિન્ સુલ્લસ્ય લેશોઽપ્યતિ દુર્લભોઽસ્તિ ।

દુઃલ્લ મહત્તસ્પિન્ સૌલ્યકાંક્ષા તૈલાપ્તિવત્સૈકતતોઽથ તસ્ય ॥૩૦॥

અર્થ-શાયદ હસલિયે કિ હસે યહાં સુલ્લ પ્રાસ હોના હૈ સો-હસ સંસાર મેં સુલ્લ કા અંશ મી નહીં હૈ. યહાં તો કેવલ મહાન્ દુઃલ્લ હી હૈ. અતઃ યહાં સુલ્લ કી કામના જીવ કી ઇસી હૈ કિ જૈસી વાલુકા કે ઢેર સે તૈલ પ્રાસ કી કામના હોતી હૈ ॥૩૦॥

ધણું કરીને એટલા માટે કે તેને અહિં સુખ મળે છે. તે આ સંસારમાં અંશ માત્ર પણ સુખ નથી. અહિં તો કેવળ મહાન્ દુઃખ જ છે, તેથી અહિં જીવની સુખની કામના એવી છે કે-જેમ રેતીના ઢગલામાંથી તેલ મેળવવાની કામના કરાય છે. ॥૩૦॥

अनादितः संप्रमताऽमुनाऽत्र जीवेन लब्धं न गतौ च कस्याम् ।

निराकुलं तच्च सुखं यदाप्तं सर्वं सबाधं सपरं क्षणस्थम् ॥३१॥

अर्थ—अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीवने कीसी गति में निराकुल सुख प्राप्त नहीं किया है और जो सुख इसने प्राप्त किया है वह सब बाधासहित—दुःख सहित, एवं क्षणस्थायी ही प्राप्त किया है ॥३१॥

अनादिकाज्जन्ती आ संसारमां भ्रमणु क्कस्ता आ एवे डोठ पणु गतिमां अण्णयापाध सुअ भेणवेक्ष नथी. अने तेषु ळ सुअ भेणव्युं छे, ते सथणुं पाधासहित, दुःअसहित अने क्षणु स्थायि ळ भेणवेक्ष छे. ॥३१॥

दुर्ध्यान रौद्रार्त्तमुपागतस्य पंचेन्द्रियार्थेषु विमुग्धवृत्तेः ।

जीवस्य पातो नरकादियोनौ नूनं भवत्येव च दुर्विपाकात् ॥३२॥

अर्थ—जो जीव पांचों इन्द्रियों के विषयों में लबलीन रहता है वह आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान इन दो ध्यानों वाला होता है और ऐसे उस जीव का पतन नरकादि गतियों में नियम से होता है ॥३२॥

ळ एव पांचे ईन्द्रियोना विषयोमां अरडाईने रहे छे, ते आर्त्तध्यान अने रौद्रध्यान अे वे ध्यानाताणे डोअ छे. अने अेअ अे एवतुं पतन नियमथी नरकादि गतियोमां थाय छे. ॥३२॥

श्वभ्रेषु जीवेन महन्ति यानि

दुःखानि भुक्तानि यदीह तानि ।

स्मृतानि स्युस्तर्हि न कोऽपि जीवो

भोगान् विमोक्तुं किल सक्षमः स्यात् ॥३३॥

अर्थ—नरकों में जीवने जिन २ महान् दुःखों को भोगा है वे यदि इस पर्याय में स्मरण हो जावें तो कोई भी जीव भोगों को भोगने के लिये तैयार ही नहीं हो (अर्थात्—मृगापुत्र के जैसे) ! 'उत्तराध्ययनसूत्र, ॥३३॥

नरकोमां एवे ळ ळ महान् दुःअे भोगव्या छे, ते अे आ पर्यायमां याद आवी अय तो डोठ पणु एव भोगेने भोगवत्ता तैयार ळ न थाय (अर्थात् मृगापुत्रनी ळअ) उत्तराध्ययन सूत्र. ॥३३॥

दुर्ध्यानमाला सहितेन तेन सौख्येहया या भोगमाला ।

भुक्ता तथैवात्र विपच्यते हा ! दुःखैकरूपेण गतावमुष्याम् ॥३४॥

अर्थ-आर्त्तरौद्रध्यान सहित होकर सुख की वृद्धि से जीवने जिन भोगों को भोगा है-वेही भोग वहां नरक में दुःखरूप होकर उदयमें आते हैं ॥३४॥

आर्त्त अने रौद्रध्यानयुक्त थय्ये सुभना वधाराथी एवे न भोगो भोग्या छे, अण भोगो अही नरकमां दुःखश्च थरने उदयमां आवे छे. ॥३४॥

चतुर्गती जन्मजराश्रुतीनां कष्टानि लब्धानि तथापि नास्य ।

भोगस्पृहा शान्ति मिताऽबुधस्य धिगस्त्विमां तंच जनं ह्यतृप्तम् ॥३५॥

अर्थ-चारों गतियों में इस सूर्खजीव ने जन्म, जरा और मरण के कष्टों को प्राप्त किया है. फिर भी इसकी भोग स्पृहा शान्त नहीं हुई है अतः इस भोगस्पृहा को और इस अतृप्त हुए जन को धिक्कार है ॥३५॥

आरे गतियोमां आ भूर्ख एवे जन्म, जरा अने मरणना दुःखोने न भोग्या छे. छतां पणु तेनी भोगेच्छा शांत थयेव नथी. तेथी आ भोगेच्छाने अने आ अतृप्त रहेव एवने धिक्कार छे. ॥३५॥

नृ जन्म लब्धापि न तत्र लब्धा जीवेन शान्ति ह्यनिशं कषायैः ।

परिग्रहारंभ समार्जनैस्तैर्भोगोपभोगैश्च समाकुलेन ॥३६॥

अर्थ-मनुष्य जन्म पाकर भी इस जीवने वहां शान्ति प्राप्त नहीं की. क्यों कि यह निरन्तर कषाय, परिग्रह, आरंभ और भोगोपभोगों द्वारा आकुलित बना रहा ॥३६॥

मनुष्य जन्म पाभीने पणु आ एवे त्यां शांती भेणवी नही. कभडे आ उमेशां कषाय, परिग्रह आरंभ अने भोगोपभोगो द्वारा आकुण थर गयेव छे. ॥३६॥

मौक्षिकहेतावपि दुःखगति यमश्नुते कर्म च यैः प्रणुन्नः ।

अत्रापि जीवः स्वकृतैर्जघन्यै रुदीस्तिस्तावदयं जघन्यम् ॥३७॥

अर्थ-यह मनुष्य गति मुक्ति प्राप्त कराने में असाधारण कारण है. फिर भी इसमें वर्तमान यह जीव अपने द्वारा किये गये जघन्यकर्मों के द्वारा जब कि वे उदय में आते हैं प्रेरित हुआ निकृष्ट दुःखोंकी राशि को ही भोगता है ॥३७॥

आ मनुष्यगति मुक्ति प्राप्त करनामां असाधारण कारण छे. तो पणु आमां रहेव आ एव पोते करेव निन्दनीय कर्मो द्वारा डे अपारे ते उदयमां आवे छे. प्रेरित थयने उदकां उदका दुःख सभूरोने न भोगवे छे. ॥३७॥

अनिष्टयोगेष्टवियोगजन्यां दुःखैकरूपां महतीं प्रभुङ्के ।

अस्यां गतौ स्वस्य हितानभिज्ञः धर्मप्रसेवा विमुखो शान्तिम् ॥३८॥

अर्थ-वह जीव जो धर्म की मन, वचन और काय से सेवा करने से विमुख रहता है एवं अपना हित किस काम में है ऐसा जानता नहीं है इस मनुष्यगति में अनिष्ट के योग से और इष्ट के वियोग से उद्भूत हुई दुःख स्वरूप अशान्ति को भोगता रहता है ॥३८॥

ते श्रुते न मन, वचन अने कायाथी धर्मनी सेवा करवाथी विमुख रहे छे. अने पोतानुं हित क्या कामथी छे ते अज्ञतो नथी, ते आ मनुष्य गतिमां अनिष्टना योगथी अने इष्टना वियोगथी दुःखरूप अशान्तिने भोगवतो रहे छे. ॥३८॥

जरादितस्तावदयं यदा स्यात् भवेदनीशोर्ध्वं भूतानुरूपः ।

कथं भवेत्स्वस्य हिते प्रमत्तः गात्रेन्द्रियार्थेष्वसमर्थवृत्तिः ॥३९॥

अर्थ-जब यह वृद्धावस्था से पीडित हो जाता है तब शक्ति रहित हुआ यह आधे मरे हुए के जैसा बन जाता है. फिर यदि यह चाहे कि मैं इस अवस्था में अपने हित में लग जाऊं तो यह कैसे हो सकता है. क्यों कि उस स्थिति में यह अपने शरीर और इन्द्रियों के विषयों में असमर्थ वृत्तिवाला हो जाता है. ॥३९॥

ज्यारे ते गढपणुथी पीडाय छे, त्यारे शक्ति विनाने थधने अर्धा मरेखानी नम पनी नय छे. तेमां ने ये येम धरुं के दुं आ अवस्थामां मां हित साधनामां लागी अउ, तो ते केवी रीते पनी शके? केमके ये स्थितिमां ते पोताना शरीर अने इन्द्रियोना विषयोमां न अशक्त वृत्तिवाणो थई नय छे. ॥३९॥

रामा रमा-राधनसक्तचित्तः वृथैव संकल्पशतैरजसम् ।

नयत्ययं हा ! रमणीरमण्या सहैव तारुण्यमनङ्गकेल्या ॥४०॥

अर्थ-जवानी में यह स्त्री और लक्ष्मी की आराधना करने में चिपका रहता है. एवं वृथा ही सैकड़ों प्रकार के संकल्पों से तथा निरन्तर सुन्दर स्त्री के साथ अनङ्ग क्रीडा से-कामसेवन से. अपनी जवानी को निकाल देता है. व्यतीत कर देता है ॥४०॥

युवान अवस्थामां ते स्त्री अने लक्ष्मीनी आराधना करवामां चिपकी रहे छे. अने नकामो न सेकडे प्रकारना संकल्पोथी अने उभेशां सुंदर स्त्रियोनी साथे कामक्रीडां-कामसेवनमां पोतानी युवानी गुमावी दे छे. ॥४०॥

तदा च कान्ताचरणे प्रसक्तिर्भवेद्धि कान्ताचरणं च यूनः ।

वैराग्यरङ्गोऽपि यतोऽस्य चित्ते तरङ्गमालायत एव मासत् ॥४१॥

अर्थ—युवावस्था में कामदेव की कृपा से युवा कान्ता के चरणों में लवलीनता ही सुहावना आचारण बन जाता है और उस पर वैराग्य का रङ्ग तरङ्ग माला के जैसा स्थिर नहीं रहता है. ॥४१॥

युवावस्था में कामदेव की कृपा से युवा कान्ता के चरणों में लवलीनता ही सुहावना आचारण बन जाता है और उस पर वैराग्य का रङ्ग तरङ्ग माला के जैसा स्थिर नहीं रहता है. ॥४१॥

हा ! बाल्य कालोऽपि न चास्य योगक्षेमावहस्तावदिहास्ति यस्मात् ।

अज्ञानमोहावृत्तचेतसोऽस्ति कथं स्वकल्याणपथं स व्यायात् ॥४२॥

अर्थ—मनुष्य पर्याय में विराजमान इस जीव का बाल्य काल भी योग और क्षेम का कारक नहीं होता है. क्यों कि उस समय यह जीव अज्ञान और मोह से ढका हुआ चित्त वाला रहता है. अतः वह अपने कल्याण कारक पथ पर कैसे चल सकता है. ॥४२॥

मनुष्य पर्याय में विराजमान इस जीव का बाल्य काल भी योग और क्षेम का कारक नहीं होता है. क्यों कि उस समय यह जीव अज्ञान और मोह से ढका हुआ चित्त वाला रहता है. अतः वह अपने कल्याण कारक पथ पर कैसे चल सकता है. ॥४२॥

अस्यां दशायां वद साध्विभार्ये ! किमावयो रस्ति विमृश्य कृत्यम् ।

हिते प्रमादाचरणं न भाव्यं श्वः किं भवेत् कोऽपि न वेत्तु मीशः ॥४३॥

अर्थ—हे साध्विभार्ये ! सोच समझ कर कहो कि इस स्थिति में हम दोनोंको क्या करना चाहिये. हित में प्रमाद का सेवन करना यह अच्छा नहीं है. कल क्या होगा यह कौन कह सकता है. अर्थात् इस बात को ज्ञानी जानते हैं ॥४३॥

हे साध्विभार्ये ! सोच समझ कर कहो कि इस स्थिति में हम दोनोंको क्या करना चाहिये. हित में प्रमाद का सेवन करना यह अच्छा नहीं है. कल क्या होगा यह कौन कह सकता है. अर्थात् इस बात को ज्ञानी जानते हैं ॥४३॥

कृतान्तकान्ताहतवैरिवृन्दा कृतान्तकान्ता अपि ते समन्तः ।

भद्राश्च जाताश्च समन्तभद्रा न कोऽपि मह्यां यमराज राजः ॥४४॥

अर्थ-जिन्हों ने वैरियों के समूह को नष्ट कर दिया है एवं बारह अंग और १४ पूर्व के जो ज्ञाता हो गये हैं तथा सब ओर से जो कल्याणों के भोक्ता हुए हैं ऐसे भी नर पुद्गव कृतान्त-काल पूर्ण होने पर मोक्ष में तथा देवलोक में चले गये ॥४४॥

ज्योत्ये दुष्मनोना समूहोना नाश करेव छे, तथा पार अंग अने चौद पूर्वना ज्ञाता अनी गया छे. तथा अर्धी आबुधी ज्यो कल्याणोने भोगवनार अन्या छे, ज्येवा नर श्रेष्ठो पशु कृतान्त-काल पूर्ण थवाथी मोक्षमां तथा देवलोकमां आल्या गया. ॥४४॥

नाथोक्तमेतन्निखिलं निशम्य गंगाऽवदत्सत्यमिदं तथापि ।

प्रपाल्य शीलं व्रतमत्र सम्यग्गृहस्थधर्मः खलु सेवनीयः ॥४५॥

अर्थ-हे नाथ ! आप-जो कुछ कह रहे हैं वह बिलकुल सत्य है ऐसा हैमचन्द्र सेठ के कथन को सुनकर गंगा देवी ने कहा और कहा कि शील और व्रतों का-देशव्रतों का पालन करके यहीं घर में रहते हुए गृहस्थ धर्म का सेवन करना चाहिये ॥४५॥

पोताना स्वामी हेमचन्द्रशेठनुं पूर्वोक्त कथन सांभलीने गंगादेवीज्ये कथुं-हे नाथ ! आप जे कही रखा छे ते बिलकुल सत्य न छे. भाटे आपणे शील अने व्रतो-देशव्रतोनुं पालन करीने अर्धी धरमां रहीने न गृहस्थ धर्मनुं सेवन करवुं जेठज्ये. ॥४५॥

शक्याऽऽनुरूप्यं प्रतिपाल्य सम्यग्व्रतानि चान्यानि गृहस्थधर्मः ।

प्रभावनीया जिनदेव शिक्षा गृहे समास्थाय मतिर्मदीया ॥४६॥

अर्थ-तथ-गृहस्थ धर्म से सम्बन्ध रखने वाले और भी व्रतनियमदिकों को अपनी शक्ति के अनुसार अच्छी रीति से पालन करके गृहस्थ धर्म की प्रभावना-उद्योत-करना चाहिये. ऐसी प्रभु की शिक्षा है. अतः घर में ही रह कर गृहस्थ धर्म का हम पालन करें यही मेरी राय है ॥४६॥

तथा गृहस्थ धर्म साथे अंधमेसता भीन पशु व्रतो नियमे विगेरे पोतानी शक्ति प्रमाणे सारी रीते पालन करीने गृहस्थ धर्मने दीपावरो जेठ ज्ये अम प्रभुज्ये शिक्षा कही छे, तेथी धर पर न रहीने गृहस्थ धर्मनुं आपणे पालन करीज्ये जेन भारी सदाह छे. ॥४६॥

गृहे समास्थाय गता विमुक्तिं व्रतानि संसेव्य जना अनेके ।

भव्या यथाशक्ति मया त्वया च गृहस्थधर्मो गृह एव सेव्यः ॥४७॥

अर्थ-गंगा ने पुनः कहा-कि अनेक भव्यजीव घर पर रह कर ही व्रतों का सेवन करके इस संसार में पारंगत हो गये हैं. अतः तुमको और हम को घर पर रह कर ही गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिये. ॥४७॥

गंगादेवीके दूरीथी कछुं-डे अनेक लय्य लुने धेर रहीने न प्रतानुं पावन करीने आ संसारने पार करी गया छे. तेथी आपणु धेर रहीने न गृहस्थ धर्मनुं पावन करुं अने छे छे. ॥४७॥

श्रवोऽमृतस्यन्दिवचो निशम्य देव्याः स हैमो मनसि प्रतुष्टः ।

सुतं समाहूय तराज्वदत्तं चेत्यं शृणु त्वं यदहं ब्रवीमि ॥४८॥

अर्थ-कानों को सुख पहुंचाने वाली गंगा देवी की वाणी को सुनकर हे हैमचन्द्र मन में बड़े प्रसन्न हुए. उन्होंने ने उसी समय अपने पुत्र लोकचन्द्र को बुला कर उससे "मैं जो कहता हूं उसे तुम सुनो" ऐसा कहा ॥४८॥

कानेने आनंद आपनारी गंगादेवीनी वाणीने सांभलीने हेमचंद्र ल मनमां धणुं न छुं पाभ्या. तेमणु अने समये पोताना पुत्र लोकचंद्रने ओलावीने तेने हूं न कहुं छुं. ते तुं सांभल तेम कहुं. ॥४८॥

तात धियावद्गृहकार्यभारः सम्यक्तया सेविहिनो मयैषः ।

कार्यक्षमं त्वां प्रविलोक्य वाञ्छाम्यहं पदं नः सुत ! निर्वहस्वम् ॥४९॥

अर्थ-हे प्रिय पुत्र ! आजतक यह घर का कार्यभार मैंने बहुत ही अच्छी तरह से चलाया है. अब तुम्हें इस भार को संभालने में समर्थ देखकर मैं अपने इस उत्तरदायित्व पद को तुम्हें देने की इच्छा कर रहा हूं-सो तुम इसे संभालो. ॥४९॥

हे प्रिय पुत्र ! आन पर्यन्त आपणा धरना व्यवहार में योग्य रीते सांभालपूर्वक यथाव्यो छे. हवे तने आ भार सांभालनामां शक्तिशाली लणीने हुं माइं आ स्थान तने सांपवा छिछुं छुं, तो तुं अ सांभाली दे. ॥४९॥

आज्ञां त्वदीयामधिगम्य पुत्र ! वाञ्छाम्यहं स्वस्य हिताभिलाषी ।

गृहस्य कार्यादिनिवृत्ति मस्मात् प्रयच्छ तां मह्यमिदं स ऊचे ॥५०॥

अर्थ-हे पुत्र ! तुम्हारी आज्ञा प्राप्तकर अपने हित की अभिलाषा वाला मैं इस घर के कार्य से सर्वथा निवृत्ति चाहता हूं. इसलिये तुम मुझे आज्ञा दो. ॥५०॥

हे पुत्र ! तारी रज भेणवीने पोतानुं छित करवानी छिछुवायो हूं आ धरना कार्य-भारथी छिटकुल निवृत्त थवा छिछुं छुं तेथी तुं मने रज आपा ॥५०॥

यथाभिलाषं कुरु पूज्यपाद ! नाहं भवामि प्रतिकूलवर्ती ।

श्रुत्वेति पुत्रार्पितकार्यभारो गृहस्थधर्मे निरतोऽभवत्सः ॥५१॥

अर्थ—हे पूज्यपाद ! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा आप कीजिये. मैं आपके कार्य में रुकावट नहीं डालना चाहता हूँ । इस प्रकार का पुत्र का कथन सुनकर हैमचन्द्र ने सब अपना कार्यभार पुत्र के लिये अर्पित कर दिया. और स्वयं गृहस्थधर्म के सेवन करने में निरत हो गये ॥५१॥

हे पूज्य पिताश्री ! आपकी जैसी इच्छा होय मैं प्रमाणे आप करे, हूँ आपना कार्य मैं अडबड करवा दूँगा नहीं, मैं प्रमाणे पुत्र तुं वचन सांख्यीने हेमचंद्रे पोताने तमाम कारभार पुत्रने सौंपी दीया. मैंने पोते गृहस्थ धर्म तुं सेवन करवाना लागी गया. ॥५१॥

गंगाऽपि भर्त्रा सह धर्ममार्गे बभूव लीना गृहकार्यभारत ।

विरक्तचित्तेत्थमसौ स्वगेहे तयैव सार्धं वृषतत्परोऽभूत् ॥५२॥

अर्थ—गंगा देवी भी गृह के कार्यभार से विरक्त चित्त होकर अपने पति के साथ धर्ममार्ग में लवलीन हो गई. इस तरह हैमचन्द्र सेठ अपने ही घर में पत्नी के साथ धर्माराधन में दत्तचित्त हो गये ॥५२॥

गंगादेवी पणु गृहस्थना कार्यभारथी विरक्त चित्त मनीने पोताना पतिनी साथे धर्ममार्गमां जेडाछ गया. मैं रीते हेमचंद्रसेठ पोताना ज धर्ममां स्वपत्नीनी साथे धर्म-राधनमां जेडाछ गया. ॥५२॥

श्रीलोकचन्द्रोऽथ सुपुत्र एषः, स्वभार्यया मा पितृमातृ सेवा ।

कार्ये विलग्नः समभूत् स एव पुत्रः पुतस्त्राय इत्युदग्रः ॥५३॥

अर्थ—लोकचन्द्र अपनी पत्नी के साथ अपने माता पिता के सेवा कार्य में संलग्न हो गये. उत्तम पुत्र वही है जो (अपने जन्म दाता को) नरक में गिरने से बचाता है. तात्पर्य—इसका यही है कि जो पुत्र धर्माराधन में लगे हुए अपने माता पिता की सेवा करता है. उसकी सहायता से किया निश्चिन्तरूप से वह धर्माराधन उन्हें नरक तिर्यच के दुःख से छुड़ाकर मोक्ष-देवगति का देने वाला होता है. अतः ऐसा ही पुत्र सच्चा पुत्र है ॥५३॥

लोकचंद्र पोतानी धर्मपत्नीनी साथे पोताना मात-पितानी सेवामां लागी गया. उत्तम पुत्र ऐज छे के जे (पोताना जन्म दाताने) नरकगमनथी अथावे छे. मैं कथनने आव ऐ छे के—जे पुत्र धर्माराधनमां लागेला पोताना माता-पितानी सेवा करे छे, तेनी

सहायताथी करवाभां आवेक्ष अे धर्मारोधन निश्चितपशुाथी तेने नरक अने तिर्यंय गतिना दुःखोथी छोडावी भोक्ष-हेतुगतिना सुखो आपे छे. तेथी अेवो पुत्र न साथो पुत्र छे. ॥५३॥

स मातृ देवो जनकस्य भक्तः, तयोश्च सेवा निस्तो यदाऽऽसीत् ।

जातस्त्रयोर्विंशतिवर्षमात्रः, तदाऽस्य माता सुरसद्म याता ॥५४॥

अर्थ-अपने पिता के परम भक्त वे लोकचन्द्र जो अपनी माता को देव-स्वरूप मानते थे जब उन दोनों की सेवा में लवलीन थे. तब उनकी अवस्था केवल २३ तेवीस वर्ष की थी उस समय उनकी माता संलेखना-संधारा करके स्वर्ग-वासी हो गये ॥५४॥

पोताना पितानो परमभक्त अे लोकचंद्र डे न पोतानी माताने देव नवी मानतो હતો ते अ्यारे अे अन्नेनी सेवामां तत्पर હતો त्यारे तेनी उंभर डेवण २३ त्रेवीश वर्षनी હતી ते वખते तेमनी माता गंगादेवी संधारे करीने स्वर्गवासी थया. ॥५४॥

दिवंगतायां दिवमभ्युपेतस्तातोऽपि तस्यां च वियोगखिन्नः ।

जातश्चतुर्विंशति वर्षमात्रः श्रीलोकचन्द्रो विधिदुर्विपाकात् ॥५५॥

अर्थ-माता गंगा देवी के दिवंगत हो जाने पर एक वर्ष के बाद हैमचन्द्र सेठ भी इसी तरह संलेखना-संधारा करके स्वर्गवासी हो गये. उस समय श्री लोकचन्द्र २४ वर्ष के हो चुके थे. कर्म के दुर्विपाक से इन्हें माता पिता के वियोग से खिन्न होना पडा ॥५५॥

माता गंगादेवीना स्वर्गवास थया पछी अेक वर्ष आठ डेमचंद्रशेठ पशु आन रीते संधारे करीने स्वर्गस्थ थया. ते वખते लोकचंद्र २४ त्रेवीश वर्षना होता. कर्माना दुर्विपाकथी तेने मातपिताना वियोगथी भिन्न थयुं पडयुं. ॥५५॥

अष्टादशाब्दायुषि वर्तमानो यदाऽयमासीत् खलु लोकचन्द्रः ।

श्री पूर्णचन्द्रेण सुतेन गेहं स्वजन्मना द्योतितमस्य सम्यम् ॥५६॥

अर्थ-जब लोकचन्द्र १८ वर्ष के थे तब इनके सुरम्य गृह को श्रीपूर्णचन्द्र पुत्र ने अपने जन्म से प्रकाशित कर दिया था. ॥५६॥

अ्यारे लोकचंद्र १८ अटार वर्षना होता त्यारे तेना समर्णीय धरने श्रीपूर्णचंद्र नामना पुत्रे पोताना जन्मथी दीपाव्युं હતું. ॥५६॥

सिरोहि राज्ये खलु दुर्व्यवस्थायाः सत्वतः केचन मान्यगोधाः ।

भुक्त्वा च तत्रत्य निवासमन्यस्थलं समाजम्मुतः समृद्धाः ॥५७॥

अर्थ-सिरोही राज्य में व्यवस्था अच्छी नहीं थी. इसलिये कितनेक समृद्ध भाग्य जन वहाँ के निवास को छोड़कर दूसरी जगह बस गये थे ॥५७॥

सिरोही राज्यमें राज्यव्यवस्था सारी न होती. तेथी डेटेलाक समृद्ध भाननीय पुरषो त्यांना रहेहाणुने छोडीने अन्यत्र पोतानो वसनाट करता होता. ॥५७॥

श्री लोकचन्द्रोऽपि समाजगाम ततोऽप्रदावाद पुरं विशालम् ।

आसीत्तदा मंहमदोऽभिषिक्तो राज्ये महाराज पदेऽरहद्वात् ॥५८॥

अर्थ-श्री लोकचन्द्र भी अपने स्थान अरहद्वाडा से अहमदाबाद आकर बस गये. उस समय वहाँ राज्य पद पर महाराज-बादशाह-महंमदशाह अभिषिक्त हुए थे. ॥५८॥

श्रीलोकचंद्र पणु पोतानुं गाम अरहद्वाडाथी अभदावाद आवीने वस्था होता. ते वपते राज्यपद पर बादशाह महंमदशाह अभिषिक्त थया होता. ॥५८॥

आगत्य स्नादि परीक्षकोऽयं तत्रैव रत्नक्रयविक्रयादौ ।

कार्येऽथ लग्नोऽलभत प्रसिद्धिं भाग्येऽनुकूले सति सर्वसिद्धिः ॥५९॥

अर्थ-ये रत्नपरीक्षा में तो निपुण थे ही. वहाँ अहमदाबाद में आकर इन्होंने अपना जवाहरात का कार्य प्रारंभ किया. रत्न खरीदना और बेचना बस-इसीकाम में ये लग गये. इस कार्य से इनकी प्रसिद्धि भी हो गई. सच बात है. जब भाग्य अनुकूल होता है तो सब काम सिद्ध हो जाते हैं ॥५९॥

लोकचंद्र रत्नपरीक्षां तो कुशल होता न अड्डीं अभदावादमां आवीने तेषु पोताना जवेरातना कामकाजनी शर्यात करी. जवेरात परीक्षुं अने वेयपुं अज कामकाजमां तेज्या लागी गया. अज कामकाजथी तेनी प्रसिद्धि पणु थय गय. सायुं न छे डे-न्यारे भाग्य अनुकूल थाय छे, त्यारे सधुं काम सिद्ध थाय छे. ॥५९॥

तत्कालसिंहासनसंस्थितेन महम्मदाख्येन च तेन राज्ञा ।

आमंत्रिता रत्नपरीक्षकास्ते सर्वे यथाकालमुपस्थिताः स्युः ॥६०॥

अर्थ-उस समय राज्य सिंहासन पर आसीन हुए उन बादशाह मुहंमदशाह ने समस्त जोहरियों को आमंत्रित किया यथा समय वे सब वहाँ पर आकर उपस्थित हो गये ॥६०॥

अज वपते अभदावादना राज्यासन पर रहेला अज बादशाह महंमदशाह प्रसिद्ध सधुणा जवेरीथेने जोलाव्या अने निर्देशना समये तेज्या पधा त्यां आवीने होवर थया. ॥६०॥

निर्दोष रत्नानि च संचितानि पार्श्वे भवेयु र्मम चेदृशीहा ।

चेत्सन्ति तावद् भवतां समीपे प्रदर्शनीयानि च तानि सर्वैः ॥६१॥

अर्थ-बादशाह ने कहा-हमारी इच्छा निर्दोष रत्नों को संचित करने की है, यदि आप लोगों के पास रत्न हों तो आप सब उन्हें दिखावें ॥६१॥

आदशाहे कहुं-मारी छिच्छा निर्दोष रत्नोना संग्रह करवानी छे, जे तमारी पासो तेवा रत्नो होय तो ते तमो अमने अतायो, ॥६१॥

इत्थं तदीया मधिगम्य वाञ्छां ससर्वैश्च तैः रत्नपरीक्षकैस्तैः ।

स्व स्वानि रत्नानि नृपाय तस्मै प्रदर्शितानि प्रमुदन्तरङ्गः ॥६२॥

अर्थ-इस प्रकार से बादशाह की इच्छाको जानकर उन सब रत्न परीक्षकों ने हर्षित मन होकर अपने २ रत्न उस बादशाह को दिखलाये. ॥६२॥

आ प्रमाणे आदशाहनी छिच्छा आशीने ते सवगा रत्नपरीक्षकांजे प्रसन्न मनवाणा पनीने पोताना रत्नो जे आदशाहने अताया, ॥६२॥

आसीत्तदा सूरतपुर्निवासी तत्र स्थितः कश्चिद्रत्नविस्सः ।

प्रदर्शयामास नृपाय तस्मै स्वे मौक्तिके द्वे बहु मूल्यसाध्ये ॥६३॥

अर्थ-उस समय वहां सूरत शहर का रहने वाला एक जौहरी बैठा था, उसने अपने विशेष अधिक मूल्य वाले दो मोती उस बादशाह के लिये दिखलाये. ॥६३॥

ते वयते त्यां सूरतना रहेवावाणा जेक अवेरी जेका उता, तेखे पोताना अहु डीमती जे मोती आदशाहने अताया, ॥६३॥

लक्षं द्विसप्तत्यधिकं च मूल्यं नृपाल मौले ! ह्यनयोः समस्ति ।

पृष्टोऽथ सोऽवोचदिमां च वाचं श्रुत्वा नृपोऽसौ च परीक्षणार्थम् ॥६४॥

दत्त्वा च तेभ्यः खलु मौक्तिके ते आहस्म तान् ब्रूव किमस्ति सत्यम् ।

मूल्यं यदेतेन महोदयेन प्रोक्तं तदा ओमिति तैर्निरुक्तम् ॥६५॥

अर्थ-इन दोनों का मूल्य क्या है इस प्रकार से जब बादशाह ने उस जौहरी से पूछा तब उत्तर में उसने कहा-महाराज ! इनका मूल्य १ लाख ७२ हजार रुपया है, ऐसी उस की बात को सुनकर बादशाह ने उनकी परीक्षा के लिये उन दोनों मोतियों को जौहरीयों के लिये दिया और उनसे कहा-जो इस

महाशय ने इनका मूल्य कहा है वह क्या सत्य है ? तब सबने “हां यही है” ऐसा कहा. ॥६४-६५॥

आ अन्नेनी डीमत शुं छे ? अ प्रभाषु अपारे आदशाडे अ अवेरीने पूछयुं त्यारे उत्तरमां तेषु क्खुं-मडाराज ! आनी डीमत १ अके क्षाप ७२ ओतेर उतर ३पीया छे. तेनी अ वात सांभगीने आदशाडे तेनी परीक्षा करता अ अन्ने भोतीथे त्यां डार थयेका पीअ अवेरीथोने आया. अने तेअने क्खुं-आ मडाराये आनी अ डीमत कडी छे, ते शुं अरोपर छे ? त्यारे ते सौअ ‘डा ते अरोपर छे, तेम क्खुं.’ ॥६४-६५॥

परन्तु तत्रस्थित लोकचन्द्रं स्मेराननं वीक्ष्य नृपो बभूव ।
संदेहयुक्तो वदति स्म साधो ! किमस्ति ते हास्य निदानमत्र ॥६६॥

अर्थ-परन्तु वहां बैठे लोकचन्द्र को हास्ययुक्त मुखवाला देखकर बादशाह को संदेह हुआ-सो उसने लोकचन्द्र से पूछा, भद्र ! तुम्हारी हँसी का क्या कारण है ॥६६॥

परंतु त्यां अठेसा लोकचन्द्रने उसता अठेने आदशाडने शंका थय तेथी तेमषु लोकचन्द्रने पूछयुं के डे अद्रिक ! तमार उसवानुं शुं कारण छे ? ॥६६॥

उवाच राजन् ! शृणु कारणं यत् समस्ति हासस्य निवेदयामि ।
कार्यं न किञ्चित् खलु कारणेन विना भवज्जातु विलोक्यते यत् ॥६७॥

अर्थ-तब लोकचन्द्र ने कहा-बादशाह ! सुनिये-में अपनी हँसी का जो कारण है उसे कहता हूं. यह तो निश्चित है कि कोई भी कार्य विना कारण के होता हुआ प्रतीत नहीं होता ॥६७॥

आदशाडना पूछवाथी लोकचन्द्रे क्खुं-मार उसवानुं अ कारण छे ते सांभणो. अ ते नकी अ छे के-डार पणु काम कारण विना यतुं नथी. ॥६७॥

युगमम्—

सदोषवस्तुन्यपि यत् समस्तैर्निर्दोषताऽघोषि जनैरमीभिः ।
राजेन्द्र ! हास्यस्य तदेव जातं तावन्नदानं मम तेन चोक्तम् ॥६८॥
किं रत्नविज्ञोऽस्ति भवान् नरेन्द्र ! “अस्मीति” किञ्चिद्गदितं च तेन ।
ग्रहाण तर्हि त्वमिमे कुरुष्व परीक्षणं मौक्तिकयोस्वादीत् ॥६९॥

अर्थ-क्या आप रत्न की परीक्षा करना जानते हो ? हां, जहांपनाह कुछर जानता हूं तो लो इन दोनों की परीक्षा करें ऐसा बादशाहने लोकचन्द्र से कहा. ॥६८-६९॥

शुं तमे रत्नने पारम्भानुं अशु। छे ? हा जहांपनाह ! कंठक कंठक अशुं छुं. तो दो आ अन्नेनी परीक्षा करे. अंभ आदशाहे लोकचंद्रने कथुं. ॥६८-६९॥

आदाय ते सूक्ष्मदृशा निरीक्ष्य लोकेन्दुनोक्त च तदैव भूप ! ।

एकं च सम्यङ् बहुमूल्यसाध्यं परं सदोषं खलु मूल्यहीनम् ॥७०॥

अर्थ-दोनों मोतियों को लेकर लोकचन्द्र ने उन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखा और-देखकर उसी समय कहा-जहांपनाह ! इनमें एक निर्दोष है-अतः वह बहुमूल्य साध्य है और दूसरा सदोष है. इसलिये उसकी कोई कीमत नहीं है--वह व्यर्थ है ॥७०॥

येउ मोतीआ लईने लोकचंद्रे तेने सूक्ष्म नजरथी अथुं. अने अईने अंभ समये कथुं-जहांपनाह आआ अंक मोती निर्दोष छे, तेथी ते थलुं शीमती छे. अने भीजु आमी-वाशुं छे. तेथी तेनी कंठक शीमत्त नथी ते नकामुं छे. ॥७०॥

व्यर्थं कथं चेन्ननु दर्शयामीति पारदर्शाख्यं यंत्रमेकम् ।

नृपस्य नेत्रोपरि तस्य संस्थापयन्नुवाचात्र किमस्ति पश्य ॥७१॥

अर्थ-दूसरा मूल्यहीन व्यर्थ-कैसे है इस प्रकार से नृप के पूछने पर लोकचन्द्र ने कहा-मैं इसे आपके लिये प्रमाणित करके. बताता हूं ऐसा कहकर लोकचन्द्रने एक पारदर्शक यंत्र बादशाह की आंख पर लगाया और फिर कहा-देखो-इसके भीतर क्या है ? ॥७१॥

भीजुं शीमत्त वगरनुं नकामुं डेवी रीते छे ? आ प्रमाथे आदशाहना पूछनाथी लोकचंद्रे कथुं-छुं अने तमारी पासे आनी करववा अतावुं छुं. अंभ कहीने लोकचंद्रे अंक पारदर्शक यंत्र आदशाहनी आंभे लगाव्युं. अने ते पछी कथुं जुवो आनी अंभर शुं छे ? ॥७१॥

अभ्यन्तरेऽस्यास्ति शेषस्य चिह्नं नृपेण दृष्ट्वा कथितं तदैव ।

लोकेन्दुना प्रोक्तमतोऽभ्यधायि सदोषमेतच्च निरर्थकं च ॥७२॥

अर्थ-इसके भीतर बछली का चिह्न है ऐसा देखकर उसी समय बादशाह ने कहा-तब लोकचन्द्र ने कहा-कि इसीलिये मैंने कहा है कि वह मोती सदोष है और व्यर्थ है ॥७२॥

तेनी अंधर भाछलीने आकार ओधने तेज वपते आदशाहे ते प्रभाणे कहुं त्यारे
लोकाचंद्रे कहुं तेथी जे हुं कहुं छुं डे आ भोती होषवाणुं छे. तेथी ते नकासुं छे. ॥७२॥

वराटिकैकाऽपि न मूलमस्य किमत्र वाहं ह्यधिकं वदेयम् ।

शङ्काऽत्र चेच्चेतसि ते नृपेन्द्र ! प्रमाणतस्तां च निराकरोमि ॥७३॥

अर्थ-हे नृपेन्द्र ! और अधिक क्या कहूं-इसकी तो एक कौड़ीभी
किमत नहीं है. मेरे इस कहने में यदि आपको शंका हो तो मैं प्रमाण
पूर्वक उसका निराकरण कर सकता हूं ॥७३॥

हे आदशाह ! वधारे शुं कहुं ? आनी तो अेक कुटि अक्षम जेटकी पणु डीभत नथी.
भारा आ कथनभां ले आपने शंका होय तो हुं सप्रभाणु तेतुं निराकरणु करी
शकुं तेम छुं. ॥७३॥

अयोघने तेन निधाय पश्चात् कूटेन तस्मिन्नुपरि प्रदत्तः ।

आघात एकोऽथ विभग्नमेतन्निरीक्ष्य सर्वे चक्रिता बभूवुः ॥७४॥

अर्थ-लोकाशाहने अयोघन-एरण के ऊपर उसे रखकर उस पर हथौडा
की एक चौट मारी मारते ही वह फूट गया. इस बात को देखकर सब
के सब चकित हो गये. ॥७४॥

ते पछी लोकाशाहे अरणु उपर तेने रापीने तेने हथौडाथी अेक टकार मारी ते भास्तां
ज पूटि गयु. अे अेधने अथा जे आश्चर्यचकित थय गया. ॥७४॥

विसर्जितास्तेन समस्तस्मिन् विज्ञा जनाः स्वालयमागतास्ते ।

स्थितः स एको नृपदत्तहस्त संकेततस्तत्र विकल्पचितः ॥७५॥

अर्थ-बादशाह ने उन सब जौहरियों को विदाकर दिया. वे सब अपने र
घर पर आगये. सिर्फ बादशाह के द्वारा दिये गये हाथके संकेत से एक अकेले
लोकचन्द्र ही वहां रह गये ॥७५॥

ते पछी आदशाहे अे सधणा अेधरीयेने त्यांथी रज्ज आपी जेथी तेअे सौ पोतपोताने
धे गया. इक्त आदशाहे करेज हाथना संकेतने क्षीधे अेकक्षा लोकाचंद्र त्यां रखा. ॥७५॥

धन्योऽसि स्तनज्ञ ! विदां वरेण्य ! यथार्थतां ते प्रसमीक्ष्य चित्ते ।

हर्षप्रकर्षोऽजनि पृच्छति स्म तदीयवृत्तं गुणरागभृत्सः ॥७६॥

अर्थ—हे रत्नज्ञ ! विद्वद्वरेण्य ! तुम धन्य हो तुम्हारी यथार्थता को देखकर मुझे अपार हर्ष हुआ है. “ आप अपना परिचय दें ” गुणराग से भरे हुए बादशाह ने उनसे ऐसा कहा ॥७६॥

हे रत्न परीक्षकों ! विद्वद्वरेण्य ! तमो धन्य छो, तमारी यथार्थ परीक्षा ओझने मने धरुओ न आनंद थयो छे. ‘तमो तमारी आगआणु आपो’ गुणानुरागी आदशाहे तेमने आ प्रभाणु कछुं. ॥७६॥

लोकेन्दुना स्वीयसमस्तवृत्तं न्यवेदि राज्ञःपुरतो यथार्थम् ।

श्रुत्वा च तुष्टेन नृपेण तस्य सम्बन्धिनो योग्यपदे नियुक्ताः ॥७७॥

अर्थ—लोकचन्द्र ने अपना समस्त वृत्तान्त बादशाह के समक्ष यथार्थ स्पष्ट कह दिया सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने लोकचन्द्र के सम्बन्धियों को (राज्य में) योग्य पदों पर नियुक्त कर दिया ॥७७॥

लोकचंद्रे पोतानुं सधुं पृत्तान्त आदशाहने यथार्थ रीते कछुं. ते सांख्यीने आदशाह धरुओ न प्रसन्न थया अने तेणु लोकचंद्रना संबन्धियोने (राज्यमां) योग्य स्थानो पर निभळुको करी आपी. ॥७७॥

स लोकचन्द्रं विनियुज्य कोषाध्यक्षस्य सन्मान्यपदेऽथ भूपः ।

संप्रेषयामास पुरे वरेण्ये मनस्विनं पट्टणनामधेये ॥७८॥

अर्थ—मनस्वी लोकचन्द्रको कोषाध्यक्ष के सन्मान्य पद पर नियुक्त करके बादशाह ने उन्हें श्रेष्ठ पट्टण नामके नगर में भेज दिया ॥७८॥

मनस्वी अवा लोकचंद्रने कोषाध्यक्षना माननीय स्थान पर निभळुको करीने आदशाहे तेमने उत्तम अवा पाटणु शहरमां भेकडी आप्या. ॥७८॥

आसीच्च तत्रत्य समस्तकार्यं व्यवस्थया हीनमसौ चकार ।

व्यवस्थितं तत् प्रविलोक्य भूपः तत्कार्यकौशल्यवशात्प्रहृष्टः ॥७९॥

अर्थ—वहाँ का समस्त कार्य अव्यवस्थित था. अस्तव्यस्तथा—इन्होंने उसे सुव्यवस्थित किया. यह बात जानकर बादशाह उनकी कार्यकुशलता से बहुत प्रसन्न हुआ ॥७९॥

त्यांनुं सधुं कार्यं अव्यवस्थित अने अस्तव्यस्त छतुं. तेमणु आ अधुं व्यवस्थित करुं ते वात आणुने आदशाह तेमनी कार्यकुशलताथी धरुओ न मुशि थया. ॥७९॥

ततो नृपस्तं निकटस्थमेव चकांक्ष तस्मात्पुरतोऽमदावा -

दं पाटणा दानयति स्म तेन तत्रैव तस्मिन् स पदे नियुक्तः ॥८०॥

अर्थ-तब बादशाह ने चाहा कि लोकचन्द्र को हमारे पास ही रखना चाहिये. इसलिये उन्होंने ने उन्हें पाटण से अहमदाबाद बुलवा लिया और वहां पर उनकी नियुक्ति कोषाध्यक्षके पद कर दी. ॥८०॥

ते पछी आदशाडे विचार क्यो डे-बोकरुं दरे मारी पासे न राखवा जेधजे, तेथी तेमणे तेमने पाटणुथी अमदावाद पोसावी दीधा अने त्यां कोषाध्यक्ष-अजनची तरीडे तेमनी निमणुक करवायां आवी. ॥८०॥

स्वकार्यकौशल्यवशात्स्व सत्यनिष्ठा प्रभावादभवत् क्षितीश-

प्रियः स राज्ये प्रथितो बभूव राज्ञः करः सत्यतया प्रजासु ॥८१॥

अर्थ-अपने कार्य की कुशलता से एवं अपनी सत्यनिष्ठा से ये राजाके बहुत अधिक प्रिय बन गये. अतः राज्य में "ये राजा के दाहिने हाथहैं,, इस रूप में प्रजाजनों में ये प्रख्यात हो गये. ॥८१॥

पोतानी कार्यकुशलताथी अने पोतानी सत्य निष्ठाथी तेज्यो आदशाडना प्रीतिपात्र अनी गया. तेथी राज्यमां ज्या आदशाडने नमणो हाथ छे, जे रीते प्रअजनोमां प्रख्यात थया. ॥८१॥

प्रजाजनैः सार्धमसौ महःसु सभासु विद्वज्जनसंस्कृतासु ।

उपस्थितः सै विमलै गुणैर्निष्पक्षताख्यां समवायधीरः ॥८२॥

अर्थ-प्रजाजनों के साथ ये प्रत्येक उत्सवों में एवं विद्वानों द्वारा स्थापित सभाओं में उपस्थित रहते और अपने निर्मल गुणों द्वारा निष्पक्षता की छाप उन पर लगाते ॥८२॥

प्रअजनोनी साथे तेज्यो दरेक उत्सवोमां तथा विद्वानोनी सभाज्योमां हाजरी आपता अने पोताना निर्मल गुणो द्वारा निष्पक्षपातनी छाप तेज्योने लगावता. ॥८२॥

दयोर्जित्तोऽसौ कृतधर्मपोषः सौजन्यभूतः कलितोरुकीर्तिः ।

सुपात्रदत्तोऽज्ज्वलवित्तराशिः अनाथनाथोऽजनि मुक्तदोषः ॥८३॥

अर्थ-ये निरभिमानी थे, धर्मका पोषण करनेवाले थे स्वजन-परजन के हितकारी थे प्राप्तकीर्ति थे, न्यायोपात्त द्रव्य को सुपात्रदान में व्यय करते थे. दीन दुःस्त्रियोंके बन्धु थे और दोष रहित थे. ॥८३॥

तेज्यो निरभिमानी छता, धर्मतुं पोषणु करवावाणा छता, स्वजन अने परजनना हितसाधक छता. कीर्ति प्राप्त करेव छता, न्यायथी भेणवेला द्रव्यने सुपात्रने दान आप-वायां व्यय करता छता. दीन अने दुःशीयोना अंधु छता. तथा निर्दोष छता. ॥८३॥

दयास्वरूपं भवतीति कीदृग्जानात्वयं भावनयाऽनयाऽसौ ।

यदा कदाचित्पुस्तस्तदस्य न्यवेदयत्पुण्यशया दयालुः ॥८४॥

अर्थ—दया का स्वरूप कैसा होता है वह बात बादशाह को भी जाननी चाहिये. इसी भावना से उसका स्वरूप यदाकदा बादशाह के समक्ष निवेदित किया करते. ॥८४॥

दयानुं स्वल्पं कुर्वुं होय छे ? ये बात आदशाहो पणु अणुधी ओई ये ये भावनाथी तेओ दयानुं स्वल्पं वअत भगेथी डोछ डोछ समये आदशाहने निवेदन करता. ॥८४॥

दशाब्दपर्यन्तमसौ चकार तस्मिन् महीं शासति शासितारौ ।

राज्यस्य कार्यं विधिदुर्विपाकान्नुपः स पञ्चत्वमितश्च पश्चात् ॥८५॥

अर्थ—महम्मदशाह के शासन काल में इन्होंने १० वर्ष तक राज्यका कार्य किया, बाद में विधि की विडम्बना से बादशाह का देवलोक हो गया ॥८५॥

महम्मदशाहना शासनकागमां तेमण्णे १० दस वर्ष पर्यन्त राज्यनुं कार्यं कयुं ते पछी विधिनी विचित्रताथी आदशाह देवलोक पाभ्या. ॥८५॥

तदीयपुत्रः कुतुबामिधानो बभूव तद्राज्यपदेऽभिषिक्तः ।

प्रचण्डदोर्दण्डसुमण्डितेऽस्मिन् राज्ञि प्रजापुत्र इवानुस्का ॥८६॥

अर्थ—महम्मदशाह बादशाह का कुतुबशाह नाम का पुत्र उनकी गादी पर अभिषिक्त हुआ. यह बहुत शूरवीर था. पुत्र की तरह प्रजा इस राजा में विशेष प्रेम रखने लगी ॥८६॥

महम्मदशाह आदशाहनी पछी कुतुबशाह नामनो तेमनो पुत्र तेमनी गादि पर आण्यो. ते धण्णे न शूरवीर हतो. पुत्रनी माइक प्रअनुं पासन करवाथी प्रअ तेमना पर वधु प्रेमाण अनी. ॥८६॥

शनैः शनैश्चेतसि मृत्युराजाद्विभीषिका ममदशाहमृत्युम् ।

विलोक्य जाता विचचार सोऽयं न मृत्युकालो मम निश्चितोऽस्ति ॥८७॥

अर्थ—बादशाह महम्मदशाह की मृत्यु को देखकर धीरे २ इनके चित्त में मृत्युराज से विभीषिका हो गई—और इन्होंने विचार किया कि मेरा मृत्युकाल निश्चित नहीं है ॥८७॥

आदशाह महम्मदशाहनुं मृत्यु ओछने लोकचंद्रना मनमां धीरे धीरे यमराजना उर लागवा भंडयो अने तेमण्णे विचार्युं के—भासा मृत्युनो समय नकी नथी. ॥८७॥

सांसारिकं सर्वसुखं ममास्ति न कापि चिन्ताऽऽकुलितं मनोमे ।

जातं विलोक्यैव दशां नृपस्य विशिष्टं पुण्यस्य भवोऽयमीदृक् ॥८८॥

अर्थ—यद्यपि संसार के समस्त सुख मुझे प्राप्त हैं, किसी प्रकार की मुझे चिन्ता नहीं है, फिर भी विशिष्ट पुण्यशाली बादशाह की दशा को देखकर ही मेरा मन आकुलित हो गया है, क्यों कि यह संसार ही ऐसा है, ॥८८॥

बड़े संसारना सधणा सुभो मने प्राप्त थयेला छे, मने डोई प्रकरनी चिन्ता नथी, तो पशु विशेष पुण्यवान् आदशाहनी दशा जेईने न मारुं मन पीडा पामे छे, डेभके आ संसार न जेवा प्रकरने छे, ॥८८॥

न कोऽपि केनापि सहैति यातः न यास्यतीहैव समस्तयोगाः ।

प्रयाणकाले न परत्र यान्ति जीवेन सार्धं च विमोहिनं धिक् ॥८९॥

अर्थ—न कोई किसी के साथ गया है, न जाता है और न जावेगा, समस्त संबंध यहीं पर हैं, परलोक में प्रयाण काल में जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जाता है, इस विमोही जीव को धिक्कार है, तात्पर्य इसका यही है कि जितने भी सम्बन्ध हैं वे सब इस पर्याय के ही आश्रित हैं, पर्याय के छूटने पर कैसे ही नाते क्यों नहीं—वे कोई भी जीव के साथ नहीं जाते हैं। फिर भी यह जीव उनके प्रति मोहित रहता है—अतः ऐसे जीव को धिक्कार है, ॥८९॥

डोई डोईनी साथे गयुं नथी, जतुं नथी मने जशे पशु नही, सधणा संबंध अही न छे, परतोडना प्रयाण समये जवनी साथे डोई संबंध जतो नथी, आ मोहित जवने धिक्कार छे, डेहवानो आन आनो जे छे डे-जटला संबंध छे, ते पथा आ पर्यायना न आश्रित छे, पर्याय छुट्टी गया पछी गमे तेवा संबंध डेम नथी होतो पशु तेडोई जवनी साथे जता नथी, छतां पशु आ जव तेना प्रत्ये मोहित रहे छे, तेथी जेवा जे जवने धिक्कार छे, ॥८९॥

सर्वेऽपि संयोगिपदार्थसार्थाः, स्व स्वार्थलीना न च कोऽपि किञ्चित् ।

कालेन दष्टं कुशलीविधातुं विश्वत्रयेऽस्मिन्नजनिष्ट शक्रः ॥९०॥

अर्थ—सब संयोगी पदार्थ अपने २ स्वार्थ में लीन हैं कोई भी किसी भी प्राणी को जो कि काल से कवलित है कुशल युक्त करने के लिये इस विश्वत्रय में समर्थरूप से उत्पन्न नहीं हुआ है, ॥९०॥

संयोगी सधणा पदार्थी पोतपोताना स्वार्थिभां लीन छे, डोअ पणु व्यक्ति डोअ पणु प्राणीने के के डणनो डोणियो भनेस छे, तेने सकुशग पनावनामां आ तणु दोऊमां समर्थ थवाने उत्पन्न थयेस नथी. ॥६०॥

राज्यस्य सेवां परिहाय कार्या मया स्वसेवा, परलोकयात्रा ।

यतो भवेन्मे सकलेति कृत्वा तत्यागपत्रं स ददौ च राज्ञे ॥९१॥

अर्थ-अतः राज्य की सेवा छोडकर मुझे अब अपनी आत्मा की सेवा करनी चाहिये. क्यों कि इसी से मेरी परलोक-यात्रा सकल होगी. ऐसा विचार कर लोकचन्द्र ने अपना त्याग पत्र राजा के लिये दे दिया. ॥९१॥

तेथी छेवै भारे सन्धनी सेवा छोडीने भारा आत्मान्नी सेवा करवी जेअये. डेअके-तेथी न भारी परलोकनी यात्रा सकल थये. आम विचार करीने लोकचन्द्रे सन्धनां पोतानुं राजानां आपी दीधुं. ॥६१॥

जगज्जनस्तुत्ययशाः ! कृतज्ञ ! किमर्थमेवं क्रियते त्वयेदम् ।

वृत्तौ क्षतिश्चेदधिकं च कुर्याम् वासेऽथ यच्छामि महालयंते ॥९२॥

अर्थ-जिसका यश जगत के जनों द्वारा श्लाघनीय हो रहा है ऐसे हे कृतज्ञ ! लोकचन्द्र ! तुम यह क्या कर रहे हो. यदि वेतन में कमी होती मैं उसमें वृद्धि करदूँ और यदि आवास की कमी हो तो मैं एक बड़ा मकान तुम्हें दे दूँ ॥९२॥

जेतो यश जगज्जनोमां वभाणुवा लायक होय छे, जेना छे कृतज्ञ ! लोकचन्द्र ! तमे आ शुं करी रखा छे ? जे वेतनमां न्यूनता लागती होय तो हुं तेमां वधास करी आपुं. अने कदाय रहेछाणुमां कसर लागती होय तो जेक निशाण बनन तमने आपानी छुं. ॥६२॥

प्रभो ! त्वदीय प्रभुता प्रभावात्सर्वं सुखं नृत्यति मे पुरस्तात् ।

पुण्यात्मनाऽनुग्रहतो जगत्यां जनः को यो न भवेत्सुखस्थः ॥९३॥

भवद्दयापुण्यबलेन लब्धा मया प्रभो ! सा प्रसभं व्यनक्ति ।

एवं ह्युदकं मम मङ्गलाख्यं यतोऽल्पपुण्यैः खलु दुर्लभा सा ॥९४॥

अर्थ-हे प्रभो ! आपकी प्रभुता के प्रभाव से मुझे सब सुख प्राप्त हैं-ऐसा कौन मनुष्य है जो पुण्यात्मा के अनुग्रह से सुखी नहीं हो जाता हो. आपकी दया मैंने पुण्य के बल से ही प्राप्त की है. अतः वह मेरे भविष्य को मंगल पूर्ण प्रगट करती है. क्यों कि अल्पपुण्य वालों को वह आपकी दया दुर्लभ है. ॥९३-९४॥

हे प्रभु ! आपनी प्रभुताना प्रभावथी भने सधणुं सुभ प्राप्त थयेव छे, जेवो क्ये माणुस छे के जे पुण्यत्मानी कृपाथी सुभी न थाय ? आपनी दया भे पुण्यना जणथी ज भेगवेव छे. तेथी ते मारा लविण्यने भंगणभय अतावे छे. डेभडे-ज्याछा पुण्यवानोने ते आपनी दया दुर्लभ होय छे. ॥८३॥-८४॥

स्वयं सखा यस्य भवेद्विधाता किमस्ति सौभाग्यमतोऽधिकं मे ।

तथापि संवर्त्तिवशं गतं मां न कोऽपि संत्रातुमलं समस्ति ॥९५॥

अर्थ-जिसका सखा स्वयं शुभ पुण्य हो तो उससे अधिक मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है. फिर भी मैं काल के वश में हूँ. अतः मेरी रक्षा करने वाला यहां कोई नहीं है ॥९५॥

जेवो भित्र स्वयं शुभ पुण्य ज होय तो तेनाथी वधारे मार सौभाग्य थीबुं क्युं डेई शके ? तो पणुं दुं काणने वशवर्त्ति छुं, तेथी मार रक्षणुं करवानाछुं अछीं डेई नथी. ॥८५॥

अतोऽहमिच्छामि यथाकथं स्वं निराकुलीभूय हितान्वितं ते ।

प्राज्ये सुराज्ये भगवन्नुपित्वा कुर्यां कृतान्ताममनाच्च पूर्वम् ॥९६॥

अर्थ-इसलिये हे भगवन् ! मैं यह चाहता हूँ कि जैसे भी बने वैसे मैं आपके इस विशाल सुराज्य में रह कर काल-मृत्यु के आने के पहिले २ निराकुल होकर अपनी आत्मा का कल्याण करूँ ॥९६॥

तेथी हे भगवन् ! हूँ अ याहुं छुं डे-जम अने तेम दुं आपना विशाण सुराज्यमां रडीने काण-मृत्युना आवता पडेलां ज निराकुण अनीने मारा आत्मानुं कल्याणुं करे. ॥८६॥

इत्थं तदुक्तिं विनिशम्य भूपो नायं कथंचित्स्थितिमत्र कुर्यात् ।

अतो मयाऽस्मै नियमेन देया स्वाज्ञेति चित्तेऽथ स निश्चिकाय ॥९७॥

अर्थ-इस प्रकार लोकचन्द्र के कथन को सुनकर बादशाहने अपने मन में विचार किया कि यह किसी भी तरह यहां-काम पर-नहीं रहना चाहता है अतः मुझे इसे नियम से राज्यकार्य से मुक्त करने की अपनी आज्ञा दे देनी चाहिये. ॥९७॥

आ प्रमाणे लोकचन्द्रना कथनने सांभगीने बादशाहे पोताना मनमां वियाथुं डे-आ डेई पणुं रीते अछीं कार्य करवा छिछता नथी. तेथी मारे आमने राज्यकार्यथी छुटा करवा दुकभ आपवो जेई अ. ॥८७॥

विधाय सत्कारमसौ तदस्य मुक्तिं चकाराथ राज्यकार्यात् ।

आगत्य तस्मात् खलु पाटणेऽयं स्त्रीयांच तत्रैव चकार वस्ति ॥९८॥

अर्थ—बादशाह ने इनका खूब सत्कार किया. बाद में इन्हें राज्यकार्य से मुक्ति प्रदान कर दी. ये वहाँ से आकर पाटण में बस गये ॥९८॥

ते पछी आदशाहे तेभने धणो व आदर सत्कार क्यो. ते पछी राजकारिआरथी तेभने मुक्ति आपी तेओ त्यांथी पाटणु आनीने वस्या. ॥९८॥

अथैकदाऽसौ कुशलो विमृश्य स्वधर्मपत्न्या सह धर्म्यकृत्यम् ।

आज्ञां तदीयामधिगम्य पश्चाद्गतो यतेः श्रीसुमते' समीपम् ॥९९॥

अर्थ—एक दिन की बात है—इस कुशल व्यक्तिने अपनी धर्मपत्नी के साथ धार्मिक कार्य का विचार किया—और विचार कर उसकी आज्ञा लेकर ये यति श्री सुमति विजय के पास गये. ९९॥

डोई अेक दिवसे आ कुशल पुरुषे पोतानी धर्मपत्नीनी साथे धार्मिक कार्यने विचार क्यो. अने विचार क्यो पछी तेनी आज्ञा भेगनीने तेओ सुमतिविजय नामना यतिनी पासे गया. ॥९९॥

प्रणम्य तं नाथ ! जगाद् भीरुं भवादमुष्माद् भगवन् ! विधाय ।

दयाममुं ते चरणारविन्दे, उपस्थितं रक्ष शरण्यगण्य ! ॥१००॥

अर्थ—वहाँ जाकर इन्होंने उन्हें नमस्कार किया और नमस्कार कर कहा हे नाथ ! इस संसार से डरे हुए इस चरणारविन्दमें उपस्थित जन की दया करके रक्षा कीजिये ॥१००॥—

त्यां जेने तेभणु तेभने वंदना करी अने ते पछी कहुं के हे नाथ ! आ संसारथी डरेला अने आपना चरणारविंदना आश्रये आवेस आ मनुष्य पर दया करीने माई रक्षणु करे. ॥१००॥

सगद्गदां तस्य निशम्य वार्णीं निश्चित्य भव्योऽयमिति स्वचित्ते ।

संघटय संघं च तदीयबन्धून् भार्या समापृच्छय च तस्य दीक्षाम् ॥१०१॥

महोत्सवेनाथददौ च तस्मै पक्षे शुभे श्रावणमासि शुक्ले ।

नवाधिके सार्धशते च संवत्सरे च शुके दिवसे पवित्रे ॥१०२॥

अर्थ-लोकचन्द्र की गद्गद वाणी को सुनकर यति श्री सुमति विजयजीने "यह भव्य है" ऐसा अपने चित्त में विचार किया और विचार करके उन्होंने श्री संघ को एकत्रित किया. एकत्रित करके लोकचन्द्र के बन्धुजनों से और उनकी धर्मपत्नी से उन्हें यति दीक्षा देने की आज्ञा ली. बाद में उन्हें यति-दीक्षा उन्होंने ने प्रदान की. यह बात विक्रम संवत् १५०९ की है. श्रावण शुक्ला में शुक्रवार के दिन इनकी दीक्षा हुई ॥१०१-१०२॥

लोकचन्द्रनी गद्गदवदित्वाणी सांभगीने यतिश्रीसुमतिविजये 'आ लव्य छे' तेम पैताना भनभां विचार कर्यो, अने विचार करीने तेमणे श्रीसंधने अकठो कर्यो. अकठो करीने लोकचन्द्रना कुटुंबिये. अने तेना धर्मपत्नी पासेथी तेमने दीक्षा आपवानी आज्ञा दीधी अने ते पछी तेमने यति दीक्षा तेमणे आपी. आ रीते विक्रम संवत् १५०९ना श्रावण शुक्ल पक्षमां शुक्रवारे दीक्षा आपी. ॥१०१-१०२॥

एकादशी तदा साऽऽसीत्तिथी निष्क्रमणोत्सवे ।

वीर्योत्सासञ्च यस्यां सा जाता दीक्षास्य शान्तिदा ॥१०३॥

अर्थ-जब इन्होंने ने यति दीक्षा ली-तब एकादशी तीथि थी-उस तिथि में इनकी वीर्योत्सास होने से शान्ति प्रदान करने वाली दीक्षा संपन्न हुई थी. इस तरह विक्रम संवत्-१५०९ श्रावण शुक्ल एकादशी शुक्रवार के दिन ये यति की दीक्षा से दीक्षित हुए ॥१०३॥

अ्यारे तेमणे यति दीक्षा दीधी त्यारे अगीयारसनि तिथि उती. ते तिथिमां तेमने वीर्योत्सास थनाथी शान्ती आपनारी दीक्षासंपन्न थछ आ रीते विक्रम संवत् १५०९ना श्रावण शुक्ल अगीयारस अने शुक्रवारे तेआ यतिदीक्षाथी दीक्षित थया. ॥१०३॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर श्रीषासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाहचरिते द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥ १२ ॥



अथ त्रयोदशः सर्गः प्रारभ्यते-

जिनेन्द्रचन्द्रं प्रणिपत्य मूर्ध्ना धर्माचार्यश्च स्मरणं विधाय ।

प्रारभ्यते संप्रति सर्गहर्षः कान्तोज्ज्वलाभिश्च पदावलीभिः ॥१॥

अर्थ-मैं जिनेन्द्रचन्द्र को मस्तक झुका करके और धर्माचार्य का स्मरण करके अब यह '१३वां सर्ग कान्त एवं उज्ज्वलपदों द्वारा निर्मित करता हूँ ॥१॥

हुं जिनेन्द्रचन्द्रने मस्तक नभावीने तथा धर्माचार्यतुं स्मरणे करीने हवे आ १३ मा सर्गने कान्त अने उज्ज्वल पदा द्वारा निर्मित करूँ ॥१॥

तारुण्यलक्ष्याङ्कित चारुदेहः सुवर्णभासोज्ज्वलकान्तियुक्तः

श्रीलोकचन्द्रोऽजनि साधुबृन्दवृन्दारकः श्रीपतिपूज्यपादः ॥२॥

अर्थ-जिनका सुन्दर शरीर तरुणाई की शोभा से युक्त बना हुआ था और जो सुवर्ण की जैसी कमनीय कान्ति से शोभित हो रहे थे ऐसे वे लोकचन्द्र साधुओं के बीच में ऐसे सर्वोत्तम साधु बनें कि जिनके चरणों की पूजा अच्छे स्वभावशाली मनुष्योंने की. ॥२॥

जन्तुं कान्त शरीर तरुणाईनी शोभाथी सुशोभित अनेक छे, अने ज येनानी जेवी उज्ज्वल कान्तिथी शोभित थछ रखा हता अथ ये लोकचन्द्र साधुओंमां अथ उत्तम साधु अन्या के जेना चरणोंनी पूज सास सास वैभवशादीआये करी. ॥२॥

तामिन्दिरां मंदिरमध्यवासां पतिप्रियां तां ललनां विहाय ।

लोकेन्दुनाऽऽदापि यतेश्च दीक्षा बृहत्तरं कार्यमकार्यनेन ॥३॥

अर्थ-लोकचन्द्र ने घर में बसी हुई उस लक्ष्मी का और पति जिस को प्यारा है ऐसी उस पतिव्रता नारी का परित्याग करके जो यति दीक्षा धारण की है सो यह उन्होंने बहुत बड़ा कार्य किया है. ॥३॥

लोकचन्द्रे धरमां वसेदी अ लक्ष्मीने अने पति जेने प्यारा छे, जेवी अ पतिव्रता पत्नीने त्याग करीने अ यतिदीक्षा स्वीकारी ते तेमणु धरुं अ उत्तम काम करैव छे. ॥३॥

पुत्रं च मुक्त्वा परिहाय बन्धून् गृहं परित्यज्य विमुच्य संगम् ।

श्री लोकचन्द्रेण धृतं पवित्रं व्रतं यतेः कारणमन्तरेण ॥४॥

अर्थ-बिना किसी वैराग्य के कारण के पुत्र को छोड़कर बन्धुजनों से मुंह मोड़कर परिग्रह का परित्याग कर और घर से निःसंग होकर लोकचन्द्र ने यति के पवित्र व्रतों को अंगीकार किया है ॥४॥

वेश्यानां कर्तुं पशुं कारुण्यं विना पुत्रं तथा कुटुम्बं वर्गिणे छोडीने तथा परिग्रहणे त्याग करीने तथा धरुथी निःसंगं थर्धने लोक्यन्द्रे यतिना पवित्रं प्रतो स्वीकार्यां छे ॥४॥

चित्रं चरित्रं समभूतदस्य किमत्र चित्रं महतां चरित्रम् ।

विचित्रवृत्त्यान्वितमेव तावत् संजायतेऽयं न च लौकिकोना ॥५॥

अर्थ—सो यह बात इसकी सबको बडी अनौखी मालूम देती है (ऐसा कहने पर) किसीने कहा—इसमें कौनसी अनौखी बात है—क्यों कि जो महान् पुरुष हुआ करते हैं उनका चरित्र विचित्रवृत्ति से युक्त होता है यह भी तो कोई साधारण व्यक्ति नहीं है ॥५॥

ये बात तेमनी सौने धरुथी न आश्चर्याकारक नशाप छे. (तेम कडेवाथी) डोम्ये कर्धु—आमां कर्धु आश्चर्याकारक बात छे, डेभके—न्येओ महान् पुरुषे थाप छे, तेमनुं चरित्र विचित्र वृत्तिवाणुं डोप छे, आ पशु डोम साधारण्य व्यक्ति तो नथी न. ॥५॥

शुभोदयेनैव पवित्रसाधोर्गचारवित्तः खलु लभ्यतेऽत्र ।

देवाश्च देवत्वदशाविशिष्टा विशिष्यमेतत्परिकाङ्क्षयन्ति ॥६॥

अर्थ—शुभ के उदय से ही यह पवित्र साधु का आचार यहां प्राप्त होता है देव भी जब वे देवत्व पर्याय विशिष्ट होते हैं—तब वे इस असाधारण चारित्र की चाहना करते हैं ॥६॥

पुरुषना उदयथी न आ पवित्र साधुने आचार अर्द्धीं प्राप्त थाप छे, देव पशु न्यारे तेओ देवत्व पर्यायथी युक्त डोप त्यारे तेओ आ असाधारण्य चारित्रनी आहना करे छे. ॥६॥

एतस्य लाभोऽन्यगतौ न तावद्भवेच्च जीवस्य गतावमुष्याम् ।

एवास्ति तस्मादयमस्ति धन्यः संप्राप्य भव्योत्तमजीव एतत् ॥७॥

अर्थ—इस सकल चारित्र का लाभ जीव को अन्यगति में नहीं होता है. केवल इसी मनुष्यगति में ही होता है. इसलिये इस चारित्र को प्राप्त कर भव्यों में यह उत्तम जीव धन्य है ॥७॥

आ सकल चारित्रने लाल छवने अन्य गतिमां थतो नथी. डेवण आ मनुष्यगतिमां न थाप छे. तेथी आ चारित्रने प्राप्त करीने लव्येओमां ये उत्तम छवने धन्य छे. ॥७॥

इदं क्व तारुण्यभियं मुनीनां वृत्तिः क्व पंचेन्द्रियनिग्रहः क्व
स्वतन्त्रवृत्तेर्यथं क्वचैतत्सर्वं पवित्राचरणं क्व तेषाम् ॥८॥

अर्थ-कहां तो यह जवानो और कहां यह मुनिजनों की वृत्ति कहां यह पंचेन्द्रियों का निग्रह. कहां स्वच्छन्द वृत्ति का संयमन और कहां मुनियों का यह सब पवित्र आचरण ॥८॥

क्या आ युवावस्था अने क्या आ मुनिजनोंकी वृत्ति, क्या आ पंचेन्द्रियोने निग्रह, क्या स्वच्छन्दवृत्तितुं संयमन अने क्या मुनियोतुं आ पवित्र आचरण. ॥८॥

लक्ष्मीपतिभ्यो ललनापतिभ्यो बभूव तद्विस्मयकारकं यत् ।

व्रतं गृहीतं सुखसाधनेऽपि अनेन धर्मैकधिया विशुद्धया ॥९॥

अर्थ-सर्व प्रकार के सुख साधनों के होने पर भी केवल विशुद्धधर्म की आराधना की भावना से जो चारित्र्य इस लोकचन्द्र ने अंगीकार किया है वह लक्ष्मीपति और ललनापतियों के लिये आश्चर्य कारक हुआ ॥९॥

द्वेक प्रकारना सुखसाधनेो होवा छतां पशु केवण विशुद्ध धर्मनी आराधनानी भावनाथी अ चारित्र आ लोक्यद्रे स्वीकार्युं ते लक्ष्मीपति अने ललनापतियोने आश्चर्यजनक अन्युं. ॥९॥

सन्त्यत्र ये केऽपि च पुद्गलायां संसेवनातो मुदितान्तरङ्गाः ।

तेभ्यश्च बहिरात्मजनेभ्य एतच्चारित्रमाश्चर्यकरं पवित्रम् ॥१०॥

अर्थ-जो यहां पुद्गलों की सेवा करने से हर्षित चित्त होते हैं उन बहिरात्मा जीवों को यह पवित्र चारित्र्य आश्चर्यकारक ही होता है ॥१०॥

अयो अहीं पुद्गलोनी सेना करवाथी हर्षित मनवाणा थय छे. अे पहिरात्मा जियोने आ पवित्र चरित्र आश्चर्यजनक होय छे. ॥१०॥

सांसारिकं सर्वसुखं विहाय जिनेन्द्रमार्गं प्रतिपद्य ये, ते ।

भुवं स्वकीयं सफलं विधातुं दीक्षां समादाय चरन्ति केऽपि ॥११॥

अर्थ-वे ऐसे तो कोई ही भाई के लाल होते हैं जो सर्व प्रकार के सांसारिक सुखों को छोड़कर जिनेन्द्र के मार्ग को अंगीकार करके अपने भवको सुधारने के लिये दीक्षा धारण करते हैं ॥११॥

अेवा तो कोछक अ माधनाशाल होय छे के अयो अथा अ प्रकारना सांसारिक सुखोने छोडीने जनेन्द्रना मार्गना स्वीकार करीने पोताना अनमने सुधारवा भाटे दीक्षा धारणु करे छे. ॥११॥

सातोदयात्सर्वसुखं च लब्ध्वा धन्यास्त एवात्र विहाय तत्सत् ।

स्वात्मोपलब्धौ प्रयतन्ति तेषामाशाऽस्ति दासी च लोकदासाः ॥१२॥

अर्थ-जो सातावेदनीय कर्मके उदय से प्राप्त मूर्खसुखों को छोड़कर अपनी आत्मा की उपलब्धि में अपने आपको शुद्ध करने में प्रयत्न करते हैं वे ही इस संसार में धन्य हैं, क्यों कि ऐसे मानवों की आशा दासी बन जाती है और समस्तलोग उनका दास बन जाता है ॥१२॥

जैसे सातावेदनीय कर्मना उदयधी प्राप्त थियेस सर्व सुप्पेने छोडीने पोताना आत्मानि उपलब्धिमां अर्थात् पोने पोताने अ शुद्ध करवा माटे प्रयत्न करे छे, तेज्जेअ आ संसारमां धन्यवाद्दने पात्र छे, केमके जेना मनुष्योनी आशा दासी भनी अय छे, अने सधणा बोझा तेमना दास भनी अय छे, ॥१२॥

धन्या जनास्ते विविधैस्तपोभिर्मलीमसं स्रं परिशोधयन्ति ।

आदर्शरूपा जगतीह भूत्वा निर्विघ्न मायान्ति विमुक्तिसौधे ॥१३॥

अर्थ-वे मनुष्य धन्य हैं जो अनेक विध तपस्याओं द्वारा अपनी आत्माका संशोधन करते हैं और इस संसार में आदर्शरूप होकर मुक्ति के महल में पहुँच जाते हैं ॥१३॥

ते मनुष्यो धन्यवाद्दने पात्र छे के जेज्जे अनेक प्रकारनी तपस्याज्जे द्वारा पोताना आत्मानुं संशोधन करे छे, अने आ संसारमां आदर्शरूप भनीने मुक्तिना महेशमां पहुँची अय छे, ॥१३॥

कायेऽपि यस्यां न विमोहवृत्तिः संजायते साधुजनस्य तस्याम् ।

विवर्तमानस्य च तस्य वृत्तिः कथं न सा पूज्यतराऽभरैः स्यात् ॥१४॥

अर्थ-जिस जैनेन्द्री दीक्षा में वर्तमान साधु को अपने शरीर पर भी मोह वृत्ति नहीं होती है-तो उस दीक्षा में रहे हुए साधु को वह वृत्ति देवताओं द्वारा पूज्यतर क्यों नहीं होगी, अवश्य २ होगी, ॥१४॥

अ जैनेन्द्रनी दीक्षामां रहेल साधुने पोताना शरीर पर पणु मोहवृत्ति होती नथी, तो जे दीक्षामां रहेला साधुनी ते वृत्ति देवताज्जे द्वारा पूज्यतर केम न थाय ? अर्थात् अ३२ अ३२ थसे, ॥१४॥

उपद्रवावाथ परीषहा वा यत्र क्वचित्संचस्तोऽथ साधोः ।

पार्श्वे समायान्ति विभेति नायमालम्ब्य साम्यं सहते विधिज्ञः ॥१५॥

अर्थ-चाहे जहां विहार करने वाले साधु के ऊपर उपद्रव और परीषह आते हैं पर वह उनसे डरता नहीं है उल्टा समता भाव धारण कर "मेरे कर्मों का ही यह उदय है" ऐसा समझ करके उन्हें सहन करता है ॥१५॥

चाहे त्यां विदार करना। अधुओ उपर उपद्रव अने परीषद आवे ७ छे, परंतु तेओ तेनाथी डस्ता नथी। उदटा अज्ञानात्त धारणु डरीने 'भारा कर्मोना ७ आ उदय छे' तेम समञ्जने तेने सडन करे छे. ॥१५॥

हितावहा सैव भवेत्तपस्या कषायवृत्तिश्च ययाऽथ तन्वी ।

निरन्तरं स्याद्विपरीतवृत्तौ व्यर्थैव सा कायविकार हेतुः ॥१६॥

अर्थ-तपस्या वही हितकारक होती है कि जिससे कषाय की वृत्ति निरंतर मन्द होती जाती है। यदि वह मंद नहीं होती है तो वह तपस्या केवल शरीर में विकार की हेतुभूत होने से व्यर्थ ही है ॥१६॥

तपस्या अथ हितकारक होय छे, डे जेनाथी कषायनी वृत्ति उभेशां मंद थती अथ छे। जे ते मंद न थाय तो ते तपस्या डेवण शरीरमां विकारना कारणुश्च होवाथी व्यर्थ ७ छे. ॥१६॥

नमोऽस्तु तस्मै गुस्वे गुरुणां जगज्जनानां च हितंकराय ।

संसारसंवर्धककारणानां विच्छेदिने स्वात्महिते स्ताय ॥१७॥

अर्थ-जगत् के सजस्त जीवों के हितविधायक, संसार बढाने वाले कारणों के विनाशक और अपनी आत्मा के कल्याण में लवलीन ऐसे गुरुओं के भी गुरु देव को हमारा नमस्कार हो. ॥१७॥

जगत्ना संवर्धना लोभेना हितकारक, संसारने वधरनारा कारणुना विनाशक अने पोताना आत्माना उदयाणुमां लागेला अथ गुरुओना पणु गुरुदेवने अमारा नमस्कार हो. ॥१७॥

दुःखेसुखे वैरिणि बन्धुवृन्दे योगे वियोगे भवने वने वा ।

समैव येषां सततं प्रवृत्तिः नमोऽस्तु तेभ्यो मुनिनायकेभ्यः ॥१८॥

अर्थ-दुःख में, सुख में, वैरी में, बन्धुओं में, योग में, वियोग में, भवन में एवं वन में जिनकी प्रवृत्ति एकसी रहती है ऐसे उन मुनिरूप नेताओं के लिये हमारा नमस्कार हो. ॥१८॥

दुःखमां, सुखमां, वैरीमां, बन्धुओमां, योगमां, वियोगमां लवनमां अने वनमां जेनी प्रवृत्ति ओकसरणी रहे छे, अथ अ मुनिरूप नेताओने अमारा नमस्कार हो. ॥१८॥

वसन्तु ते मे हृदये मुनिन्द्रा भवोदधेः संतरणे प्रसक्ताः ।

यत्सेवयाऽन्येऽपि जनाश्च भक्ताः स्वं तास्यन्त्याशु भवादमुष्मात् ॥१९॥

अर्थ-वे मुनिन्द्र जो कि संसार रूपी समुद्र से पार होने में लगे हुए हैं मेरे हृदय में वसें. जिनकी सेवा से अन्य संसारी भक्त जन भी इस संसार से बहुत ही शीघ्र अपना उद्धार कर लेते हैं ॥१९॥

ये मुनिन्द्र के ज्यो संसाररूपी समुद्रनी पार थवामां लागेवा छे, तेज्यो मारा हृदयमां वसे। जेमनी सेनाथी अन्य संसारी भक्तो पशु ज्या संसारथी धर्या न नदिदथी पोताने। उद्धार करी ले छे. ॥१९॥

मोहाख्यशत्रुं च विजित्य भुक्त्वा गृहं च संगं परिवर्ज्य दीक्षा ।

दध्रे शरीरं खलु रोगसद्म मत्वाऽथ भोगानुरगेन्द्र तुल्यान् ॥२०॥

अर्थ-मोहरूपी शत्रु को परास्त करके जिन्होंने घर और परिग्रह का परित्याग कर दिया और यह समझ कर कि यह शरीर रोगों का घर है और भोग शेष नाग के समान हैं दीक्षा धारण करली. ॥२०॥

मोहरूपी शत्रुनो पराजय करीने जेभणु धर अने परिवर्जनो त्याग कर्यो छे, तथा भोगो शेषनागनी समान छे, तथा ज्या शरीर रोगानुं धर छे तेम समजने दीक्षा धारण करी. ॥२०॥

स्वभा समानोऽस्ति भवो ह्यसारः कामः प्रतापी परितापहेतुः ।

विचिन्त्य चित्ते निखिलं विहाय धन्याः स्वसेवा निरता भवन्ति ॥२१॥

अर्थ-यह संसार केले के वृक्ष के समान असार है, और प्रतापशाली कामदेव परिताप का कारण है ऐसा विचार कर जिन्होंने सांसारिक समस्त वस्तुओं का परित्याग कर अपनी आत्मा की ही सेवा में तल्लीनता धारण करली है-वे धन्य हैं ॥२१॥

ज्या संसार केणना जाडनी जेम असार छे, अने प्रतापशील कामदेव संतापना कारणरूप छे, तेम विचार करीने जेज्यो सांसारिक सधणी वस्तुज्योना त्याग करीने पोताना आत्मानो न सेना करवामां तल्लीन अनी गया छे. तेमने धन्य छे. ॥२१॥

रत्नत्रयं पंच महाव्रतानि गुप्तित्रयं वा समितीस्त्रिकालम् ।

ये पालयन्त्यादस्तौ मुनीस्तानाश्रित्य भव्या भवपारगास्ते ॥२२॥

अर्थ-जो रत्नत्रय को, पांच महाव्रतों को, तीन गुप्तियों को और पांच समितियों को त्रिकाल-सदा-आदरपूर्वक धारण करते हैं ऐसे मुनिजनों का आश्रय पाकर वे भव्यजन भव से पार हो जाते हैं ॥२२॥

ज्यो रत्नवयने, पांय महाप्रतोने, त्रशु शुभियेने अने पांय समितियेने सदाकाण
आदरपूर्वक धारणु करे छे, जेवा मुनिजनेना आश्रय पाभीने अयजनेो अवधी पार
उतरे छे. ॥२२॥

रात्रौ यथाऽऽलोक सहायतातों घटादिवस्तून्यवलयन्ति ।

तथैव जीवादि पदार्थसार्थ स्वरूपमप्यत्र गुरुपदेशात् ॥२३॥

अर्थ-रात्रि में जिस प्रकार प्रकाश की सहायता से जीव घटादिक वस्तुओं
को जान लेते हैं उसी प्रकार वे गुरुजनों के उपदेश से जीवादि पदार्थों के स्वरूप
को भी जान लेते हैं ॥२३॥

रात्रे जेम प्रकाशनी सहायथी एव घटादि वस्तुजने अणी ले छे, जेन प्रभाषे ते
गुरुजनेना उपदेशथी एवादि पदार्थेना स्वरूपने पणु अणी ले छे. ॥२३॥

अत्यन्तमुष्णा प्रवहन्ति वाताः सूर्याशवो यत्र तपन्ति देहम् ।

क्षितिश्च धूम ध्वजवद्भगम्या तथापि ते पाद विहारिणोऽपि ॥२४॥

अर्थ-जब अत्यन्त गरम र लू चलती है, सूर्य की किरणें देह को तपा देती
हैं और पृथिवी अग्नि जैसी अगम्य बन जाती है, तब भी ये साधुजन नंगे पैर
ही विहार किया करते हैं ॥२४॥

ज्यारे अत्यन्त गरम गरम लू आवे छे, सूर्यना किरणो देहने तपावी दे छे, अने
जमीन अग्निना जेवी अगम्य बनी अय छे, त्यारे पणु आ साधुजने उधाडा पणे न
विहार करता रहे छे. ॥२४॥

उपानहं नैव न चातपत्रं न मस्तकत्राणमपी न चान्यत् ।

वाञ्छन्ति, वाञ्छन्ति परं स्वशुद्धिं तदन्तरा नैव मुनित्वसिद्धिः ॥२५॥

अर्थ-ये मुनिजन न जूतों की चाहना करते हैं न छसे की इच्छा करते हैं
और न पगडी आदि की कामना करते हैं केवल आत्मा की शुद्धि की ही चाहना
करते हैं क्यों कि आत्मशुद्धि के विना कभी भी मुनित्व की सिद्धि
नहीं होती है ॥२५॥

आ मुनिजनेो पणुपणने छिछता नथी, तेम छत्रीनी पणु छर्यछा सपता नथी तथा
पाधडी विजरेने पणु छर्यछता नथी केवण आत्मानी शुद्धिनी न आहना सभे छे. डेभडे
आत्मशुद्धि विना डेछ काणे मुनित्वनी सिद्धि थती नथी. ॥२५॥

भोगान्न-भुक्तान् परिचिन्तयन्ति वाञ्छन्ति नैवाथ च भाविनस्तान् ।
चतुर्गतिभ्यः सततं विभीता मुक्त्यर्थमेते पुरुषार्थं वित्ताः ॥२६॥

अर्थ-ये मुनि जन भोगे गये भोगों का चिन्तवन नहीं करते हैं और न आगामी भोगों की वाञ्छा करते हैं ये तो निरन्तर चतुर्गतिरूप संसार से भयभीत होकर मुक्ति प्राप्ति के लिये ही पुरुषार्थ करने में पटु होते हैं ॥२६॥

आ मुनिजनो भोगवेला भोगोतु' चिन्तवन करता नथी. तथा लविष्यमां आवनाश भोगोने पशु धृच्छता नथी. तेआ तो निरन्तर आर गतिवाणा संसारथी लयलीत थईने मुक्तिने प्राप्ति करता न पुरुषार्थं करवामां तत्पर होय छे. ॥२६॥

पुष्पावलीभी रचितासु सुप्तं विलासधिष्ण्ये रजनीषु पूर्वम् ।

शय्यासु तस्यामधुना त एव स्वपन्ति भूमौ मुनिवृत्ति रेषा ॥२७॥

अर्थ-जो पहिले विलास भवन में रात्रि के समय फूलों की रची-गई शय्या पर-कोमल सेज पर-सोते थे वे ही रात्रि में जमीन पर सोते हैं यही मुनि वृत्ति है. ॥२७॥

अआ पडेलां विलासभवनमां रात्रिना सभये कूलोनी रयेली शय्या पर-कोमल शय्या पर सुता उता तेआ न रात्रे जमीन पर सूवे छे. अज मुनिवृत्ति छे. ॥२७॥

गजेन्द्रमारुह्यपुराञ्चलन् ये अखर्वगर्वादधुना त एव ।

संवीक्ष्य संवीक्ष्य महीं, चलन्ति जीवानुकंपाशयतो मुनिवृत्ते ॥२८॥

अर्थ-जो पहिले गजराज पर सवार होकर बहुत गर्व के साथ चलते थे वे ही अब इस मुनि अवस्था में जीवों की दया के अभिप्राय से पृथ्वी को देख र कर चलते हैं ॥२८॥

अआ पडेलां हाथी पर सवार थईने धणा न गर्वपूर्वक आसता उता तेआ न उवे आ मुनि अवस्थामां छये पर दयाभाव रापीने जमीनने जेतां जेतां यावे छे. ॥२८॥

न क्षौर कर्माणि जलाभिषेकं नाभ्यङ्गपङ्कस्य च संस्कारम् ।

न दन्त काष्ठादिभिराचरन्ति शुद्धिं रदानां च कदापि चैते ॥२९॥

अर्थ-ये मुनिजन न उस्तरे से अपने बाल बनवाते है, न जल से स्नान करते हैं, न शरीर पर तैल की मालिश करते हैं, और न दातुन आदि से ये कभी भी दांतों की सफाई करते हैं ॥२९॥

आ मुनिजनो अस्तराथी पोतानी उजमन करावता नथी. जणगी रतान करता नथी, शरीर पर तेलनी मादीश करावता नथी. तथा हातणु विगेरेशी तेआ क्यारेय दांतो सध करता नथी. ॥२८॥

कचांस्तृणानीव करेण तावदुत्पाटयन्तीह सहर्षमेते ।

जीर्णानि वस्त्राणि यथागमोक्तान्येवाल्पमूल्यानि वहन्ति तानि ॥३०॥

अर्थ-ये मुनिजन घास फूस की तरह अपने बालों को बड़े हर्ष के साथ उपाड़ते हैं और आगम में जितने वस्त्रों को रखने का विधान है उतने ही जीर्ण एवं अल्प मूल्यवाले वस्त्रों को रखते हैं ॥३०॥

आ मुनियो घास के डूलनी जम पोताना वाणोने उर्षपूर्वक उपाडे छे. तथा आगमभां जटला वस्त्रो राभवानुं विधान कहेल छे. अटला ज लुणुं अने अल्प मूल्यवाणा वस्त्रो तेआ राभे छे. ॥३०॥

निर्दोषमाहारमिमे च धर्मध्यानस्य सिद्धयर्थप्रदन्त्यवृष्यम् ।

मूलोत्तरेषु श्रियमादधानं गुणेष्वलौल्यान्नवकोटिशुद्धम् ॥३१॥

अर्थ-ये मुनिजन ऐसा ही आहार ग्रहण करते हैं जो निर्दोष होता है. कामोत्तेजक नहीं होता है, मूलगुण और उत्तरगुणों के पालने में बाधाकारी नहीं होता है एवं नौ कोटि से शुद्ध होता है. ऐसे आहार से ही धर्मध्यान की सिद्धि होती है. उसी निमित्त लोलुपता रहित होकर मुनि जन ऐसे ही आहार को ग्रहण करते हैं ॥३१॥

आ मुनिजनो अयो आहार गृहणु करे छे के निर्दोष होय छे. कामोदीपक न होय, भूण गुणु अने उत्तर गुणोने पाणवामां आधा करनार न होय तथा नव कोटिश्री शुद्ध होय छे. अयो आहारथी ज धर्मध्याननी सिद्धि थाय छे. अ निमित्ते लोलुपता रहित थयने मुनिजनो अयो प्रकारना आहारने ज गृहणु करे छे. ॥३१॥

तपांस्यनेकानि तपन्ति यावज्जीवं जिनेन्द्राध्वनि वर्तमानाः ।

जितेन्द्रियास्ते यमिनोऽग्निमित्रे समाश्च शास्त्राध्ययनादिकृत्याः ॥३२॥

अर्थ-जिनेन्द्र के मार्ग में वर्तमान ये जितेन्द्रिय मुनिजन जीवन भरतक अनेक प्रकार के तपोंको तपते हैं और शास्त्रों के अध्ययनादि कार्यों में लवलीन रहते हैं ॥३२॥

जिनेन्द्रना मार्गमां वर्तमान आ जितेन्द्रिय मुनिजनो जवन पर्यंत अनेक प्रकारना तपो तपो छे. अने शास्त्रोना अध्ययन विगेरे कार्योंमां लागेला रहे छे. ॥३२॥

देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः भक्तस्य चैते न कदापि कुत्र ।

कथां प्रकुर्वन्ति यतो हि शास्त्रे एताः कथाः सूरिभिस्त्र नोक्ताः ॥३३॥

अर्थ—ये मुनिजन देश की, राष्ट्र की, पुर की राजा की और भोजन की कथाकभी भी कहीं पर नहीं करते. क्योंकि शास्त्र में भगवान् ने ऐसी कथाओं के करने का इस अवस्था में निषेध किया है ॥३३॥

आ मुनिजनो देशनी, राष्ट्रनी, पुरनी, राजनी अने भोजननी वार्ता क्यारेय कथांय पणु करता नथी. उभेडे शास्त्रमां भगवाने अनी वार्ताओ करवानी आ अवरथांमां निषेध करेस छे. ॥३३॥

सदा च सर्वत्र समस्त सत्त्वे ष्वेते च सन्त्येव समत्त्वभावैः ।

शिष्या विशिष्या जगतीहृदयेषां शेषाः समक्षेऽग्रसग न केऽपि ॥३४॥

अर्थ—ये मुनिजन सदा सब जगह समस्त जीवों पर समताभाव रखते हैं जगत में इनके सिवाय और भी जितने प्राणी हैं वे कोई भी ऐसे नहीं हैं जो इनके समक्ष उत्तम माने जा सके ॥३४॥

आ मुनिजनो सदाकाण अधिस्थणे सधगा एवो पर समानभाव राभे छे. जगतयां तेना शिवाय भीअ नटला प्राणियो छे, ते पैद्री ड्राड पणु अेवा नथी डे तेमनी सामे उत्तम मानवांमां आवे. ॥३४॥

कथं च जीवस्य हितं भवेत्ते दिवानिशं भावनयाऽनयाऽनयाऽऽब्ध्याः ।

भवन्त्यतो धर्ममहोपदेशे तदेव तेषां पुस्तो वदन्ति ॥३५॥

अर्थ—इन मुनिजनों की यही भावना रहती है कि जीवों का हित कैसे होवे. इसी से जब ये धर्म का उपदेश देते हैं तब उसमें उनके समक्ष उसी का कथन करते हैं. ॥३५॥

आ मुनिजनोनी अेज भावना रहे छे डे—एवोतुं हित डेवी रीते थाय ? तेथी तेओ आरे धर्मनि उपदेश आवे छे. त्यारे तेमां जनतानी सामे तेतुं अ कथन करे छे. ॥३५॥

यतो निरारंभ परिग्रहस्य चिंता न चित्तं व्यथितुं ह्यलं स्यात् ।

साधोरतः सा हृदयारविन्दे वस्तुं क्षमानास्य भवेदशक्ता ॥३६॥

अर्थ—आरंभ और परिग्रह से रहित प्राणी के चित्त को चिंता व्यथित नहीं कर सकती है इसीलिये उस निरारंभ परिग्रही साधु के हृदय कमल में

असमर्थ बनी हुई उस चिंता को निवास करने के लिये स्थान नहीं मिलता है ॥३६॥

आरंभ अने परिश्रमशी रूढित प्राणीना चित्तने चिंता पीडा करती नहीं, अ आरंभ वगरना परिश्रमवाणा साधुना हृद्यकर्मणमां असमर्थ अनेकी अ चिंताने वास करवा भटे स्थान भणतुं नहीं. ॥३६॥

ध्यानेन तावत्तपसा श्रुतेन दुर्भाववृत्तिं ह्यशुभोपयोगम् ।

शुभोपयोगेन सदा रुग्णद्धि दुष्कर्मणाभ्याममनं च साधुः ॥३७॥

अर्थ-धर्मध्यान से, तपस्या से और शास्त्र से-शास्त्रों के पठन पाठन से अशुभ भावों की वृत्ति को और शुभ उपयोग से दुष्कर्मों के आगमन को साधु सदा रोकता रहता है, तात्पर्य इसका ऐसा है कि साधुजन ध्यान के बल से अपने भीतर आने वाले दुष्ट परिणामों का अकुशल भावों का, तपस्या एवं शास्त्र के बल से अशुभ उपयोग का तथा शुभोपयोग के बल से दुष्कर्मों के आश्रव का निरोध करते रहते हैं ॥३७॥

धर्मध्यानशी, तपस्याशी, अने शास्त्रशी-शास्त्रोना, पठन पाठनशी अशुभ भावोनी वृत्तिने अने शुभ उपयोगशी दुष्कर्मोना आगमनने साधु सदा रोकता रहे छे. तात्पर्य आ कथनतुं अेवुं छे छे-साधुजन ध्यानना अणशी पोतानी अंदर आवनारा दुष्ट परिणामोने अकुशलभावोने, तपस्या अने शास्त्रना अणशी अशुभ उपयोगने तथा शुभ उपयोगना अणशी दुष्कर्मोना आश्रवने रोकता रहे छे. ॥३७॥

अलौकिकी वृत्तिरतो ह्यमीषां वाचं यमानां भवतीति शास्त्रे ।

प्रोक्तं मुनीनामभिवंद्यपादमवद्य भेदंकुस्तेऽथ भक्तः ॥३८॥

अर्थ-वचनों की प्रवृत्ति पर अकुशल रखने वाले इन मुनिजनों की वृत्ति अलौकिक होती है ऐसा शास्त्रों में कहा है. इसीलिये इनके भक्त इनके चरणों को नमस्कार करके अपने पापों का विनाश कर लेते हैं ॥३८॥

वचनोनी प्रवृत्ति पर अंकुश राखनावाणा आ मुनिजनोंनी वृत्ति अलौकिक होय छे. अेवुं शास्त्रोभां कथुं छे तेथी तेमना अक्तो तेमना अरथोभां नमस्कार करीने पोताना पापोना नाश करे छे. ॥३८॥

तदेव तीर्थं निपतन्ति यत्र तेषां गुरुणां गुस्वोऽंघ्रयस्ते ।

त्रैलोक्यवंध्या रजसां जनानां संहारका सर्वहितंकरणाम् ॥३९॥

अर्थ—जहाँ पर समस्त जीवों के हितकारक उन गुरुदेवों के त्रैलोक्यबंध एवं प्राणियों के पापों के संहारक वाणी का उपदेश होता है वहीं चतुर्विध संघ मोक्षमार्ग की आराधना कर सकते हैं ॥३९॥

ज्यां सधणा एवोना हितकरनारा अे गुरुदेवोनी त्रैलु लोकभां वंदनीय अने प्राणियोना पापोनी संहारक वाणीना उपदेश थाय छे. अेव चतुर्विध संघ मोक्ष मार्गनी आराधना करी शके छे. ॥३९॥

इत्थं जनानां सद्भावनाभिः पुरस्कृतः सोऽथ नवीन साधुः ।

वभारलक्ष्मी विजयाभिधानमासीच्च यो लोकविधुश्च पूर्वम् ॥४०॥

अर्थ—इस प्रकार मनुष्यों की सद्भावनाओं से पुरस्कृत हुए उन नवीन साधु ने जो कि कुछ क्षण पहिले लोकचन्द्र थे लोकाशाह इस नाम से प्रसिद्ध हुए ॥४०॥

आ प्रकारनी मनुष्योनी सद्भावनाओथी पुरस्कृत थयेला अे नवीन साधुअे के के कर्तिक क्षण पहिला लोकचंद्र उता. तेओ लोकाशाह अे नामथी प्रसिद्ध थया. ॥४०॥

यथा मुनीनां गर्दिता प्रवृत्तिः सामान्य संक्षेपतया मया सा ।

वृत्तिर्बभूवास्य यतेर्यतः सा गुणोद्भवेन्नैव हितंकरा स्यात् ॥४१॥

अर्थ—जैसी मुनिजनों की प्रवृत्ति संक्षेप रूप से मैंने यहां कही है वैसी वृत्ति इस लोकाशाह मुनि की हुई. क्यों कि प्रवृत्ति गुणों की प्रसूति से ही हितकारक होती है ॥४१॥

अनी मुनिजोनी प्रवृत्ति संक्षेपथी में अही कही छे, अनी वृत्ति आ लोकाशाह मुनिनी छती. केके-प्रवृत्ति गुणोनी प्रसूतिथी अे हितकारक थाय छे. ॥४१॥

कदाचिदेतेऽनशनं कदाचिद् ऊनोदंवाथ तपो ह्यनेकम् ।

कुर्वन्त्यतः सन्ति तपोधनादद्या धनेन हीना अपि लोकपूज्याः ॥४२॥

अर्थ—ये मुनिजन कभी अनशनरूप तपस्या करते हैं कभी ऊनोदर रूप तपस्या करते हैं—इस तरह अनेक प्रकार की तपस्या करने के कारण तपोधन कहे जाते हैं—अतः ये धन से हीन होने पर लोकपूज्य हो जाते हैं ॥४२॥

आ मुनियो क्यारेक अनशनरूपे तपस्या करे छे. क्यारेक उनोदररूपे तपस्या करे छे. आ रीते अनेक प्रकारनी तपस्या करवाथी तेओ तपोधन कहेताय छे. तेथी अे धनथी रहित अे होवाथी लोकपूज्य अनी अय छे. ॥४२॥

गुरुन् गुरुन् सम्यगुपास्य तेभ्यो विद्योपविद्याः सकला अधीत्य ।

जातोऽथ विद्वान् गणितैरहोभिः प्रतिष्ठितोऽभूद्विदुषां सपङ्क्तो ॥४३॥

अर्थ-विशिष्ट गुरुजनों की उपासना करके इन लोकाशाह महाराज ने उनसे समस्त विद्याएं एवं उपविद्याएं प्राप्त करली और कुछ ही दिनों में ये विद्वान् बन गये एवं विद्वानों की श्रेणी में इनकी प्रतिष्ठा होने लगी ॥४३॥

विशेष प्रकाशना शुश्रूणोनी उपासना करीने आ लोकाशाह महाराज तेमनी पासैथी सधणी विद्यायां अने उपविद्यायां भेणनी लीधी. अने थोडा न द्विसोभां तेया विद्वान् अनी गया अने विद्वानोनी पंक्तिमां तेमतुं सन्मान थया लाय्युं. ॥४३॥

सिद्धान्तशास्त्राण्यवगाह्य सोऽयं विशेषजिज्ञासुरथो बभूव ।

ज्ञानावृतेर्जात विशिष्ट योग्यात् क्षायोपशम्याद् भवत्तदस्य ॥४४॥

ज्ञाने च वैशिष्ट्यमतः स्मृतेश्च विकासभावोऽजनि तत्प्रभावात् ।

पूर्वापरस्थस्य समस्तवेद्यस्य विस्मृतिर्नाधिगतस्य जाता ॥४५॥

अर्थ-आचारांग आदि बत्तीस सूत्रों का अध्ययन करने से इनकी जिज्ञासा तत्त्वोंकी ओर बढ़ी ज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट योग्य क्षयोपशम होने के कारण इनके ज्ञान में वैशिष्ट्य आ गया और इससे स्मरणशक्ति इनकी विकसित हो गई. अतः जो कुछ भी विषय ये पढ़ते वह पूर्वापर रूप से इन के ज्ञान में जमा रहता. वह विस्मृत नहीं होता ॥४४-४५॥

आचारांग विगेरे अतीस सूत्रोतुं अध्ययन करवाथी तेमनी उज्ञासा तत्त्वो अशुचानी तरुं आगण वधी, ज्ञानावरणीय कर्मो विशेष प्रकाशथी योग्य रीते क्षय थवाना करणु तेमना ज्ञानमां विशेषता आवी गर्ध अने तेमांथी तेमनी स्मरण शक्तिनो विकास थयो तेथी न कोठ विषय तेया वांयता ते पूर्वापरपणुपी तेमना ज्ञानमां स्थिर थतुं. ते भूक्षतुं नहीं, ॥४४-४५॥

सिद्धान्तशास्त्राध्ययनेन सोऽयं यतिक्रियां वीक्ष्य च वर्तमाने ।

पूर्वे च तैस्तेर्यतिभिः कृतां तामाराध्यमाणामतुदत्स्वचित्ते ॥४६॥

अर्थ-सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन से यति क्रियाओं के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर और पूर्व में यतिजनों ने इनका पालन किस तरह से किया है और अब वर्तमान में ये यतिजन किस तरह से (स्वच्छंदवृत्ति से) इनका पालन कर रहे हैं यह देख करके ये अपने मन में भीतर ही भीतर बड़े दुःखित रहने लगे. ॥४६॥

सिद्धांत शास्त्रोना अध्ययनयी यतिक्रियाओना संबन्धमां विशेष ज्ञान भेणवीने अने पूर्वे यतिजनोअे तेनुं पालन डेवी रीते क्युं छे, अने हालमां आ यतिजनो डेवी रीते (स्वच्छंद वृत्तिथी) तेनुं पालन करता रहे छे, ते जेधने तेओ पोताना मनमां अंदरने अंदर न धर्या दुःखी रहेवा लाग्या ॥४६॥

उन्मार्गगास्ते यतयस्तदाऽऽसन् स्वेच्छानुरूपां प्रतिपालवन्तः ।

यतेः क्रियां हार्दिकभावशून्या आडम्बरैस्तैर्वहुभिः सनाथाम् ॥४७॥

अर्थ—लोकाशाह मुनि के समय में यतिजन अपनी मनमानी करते थे अपनी इच्छा के अनुसार वे यति क्रियाओं को पालते थे. शास्त्रों में जैसी प्रवृत्ति यति जनों को करने योग्य कही गई है उसकी ओर उनका ध्यान नहीं था अतः वे हार्दिक भावना से शून्य होकर केवल बाह्य आडंबरों से परिपूर्ण बनाकर यतिक्रियों को पालते. इसलिये वे उन्मार्ग-गामी थे ॥४७॥

लोकाशाह मुनिना समयमां यतिजनो पोताना मनधार्युं वर्तन करता हता. पोतानी इच्छा प्रमाणे तेओ यति क्रियाओनुं पालन करता हता शास्त्रोमां यतिजनोने करना योग्य जेवी प्रवृत्ति कही छे, ते तरङ्ग तेओ ध्यान आपता न हता. तेथी तेओ हार्दिक भावना-ओथी शून्य थधने डेवण अहारना आडंबरोथी परिपूर्ण बनावीने यतिक्रियाओनुं पालन करता हता. तेथी तेओ उन्मार्गगामी हता. ॥४७॥

सिद्धान्त सिद्धामवमत्थ मान्यामाज्ञां स्वरुयैव परं भजन्तः ।

जिनेन्द्रमार्गावहिरेव जाता एतेच तन्मार्गकलङ्करूपाः ॥४८॥

अर्थ—सिद्धान्त मान्य आज्ञाकी अवहेलना करके केवल अपनी रुचि के अनुसार उन क्रियाओं को पालने वाले वे यतिजन जिनेन्द्र के मार्ग से बाहर थे और जिनेन्द्र मार्ग के कलङ्करूप थे ॥४८॥

सिद्धांतथी मान्य थयेस आज्ञानी अवहेलना करीने डेवण पोतानी इच्छी प्रमाणे अे क्रियाओने पालनारा अे यतिजनो जेनेन्द्रना मार्गथी अहार हता. अने जेनेन्द्रना मार्गना कलङ्करूप हता. ॥४८॥

यानं समारुह्य चतुर्भिरुह्यं नरैस्तदा तेह्यशनंच भोक्तुम् ।

श्राद्धस्य यान्ति स्म पृहं च तस्मादादाय रायं च महोत्सवेन ॥४९॥

अर्थ—ये जब श्रावक के यहां आहार लेने जाते-तो बड़े उत्सवके साथ जाते पालखी में बैठ कर जाते. उसे चार आदमी उठाते, जिसके यहाँ इनका आहार होना उससे ये रूपया आदिद्रव्य लिया करते. ॥४९॥

तेजो ज्यारे श्रावकने घेर आहार लेना जाता तो धाया न उत्सवपूर्वक जाता, पावणीमां भेसीने जाता, तेने यार पुरषे उडावता बने त्यां तेजोना आहार थतो तेनी पासैथी तेजो द्रव्य लेता. ॥४८॥

युग्मम्—

मैत्रादि भैषज्य विशेषयोगैः प्रलोभ्य भूपान् स्वशान् विधाय ।

स्वमान्यता ख्यापकप्रातपत्रादिकं तदा तैः परिदीयमानम् ॥५०॥

संगृह्यते सा जनता विमुग्धा दृष्ट्वा प्रभावं च यतिब्रुवाणाम् ।

एषां न किञ्चिद्ब्रदतिस्मतेऽपि मदेन मत्ताश्च निर्गलाः स्युः ॥५१॥

अर्थ-मंत्रादिकों द्वारा तथा भैषज्य आदिकों के विशेषयोगों द्वारा ये उस समय राजाओं को लुभाकर अपने प्रभाव में ले लेते और उनसे अपनी मान्यता बढ़ाने के निमित्त छत्र-चामर-छड़ी आदि प्राप्त करते. जनता भोली थी वह इन यतिवेषधारियों के प्रभाव को देखकर इनसे कुछ नहीं कहती. अतः ये मदोन्मत्त होकर निर्गल बने गये थे ॥५०-५१॥

मंत्र प्रयोगथी के औषधादिना विशेष योगेथी तेजो ज्येसभये राजदिकाने लोक उपजवी. पोताना वर्धस्वमां दध लेता. अने तेमनी पासे पोतानी मान्यता वधारवा माटे छत्रचामर-छड़ी विगेरे लेता. जनता तो भोणी छती. ते ज्ये यतिवेषधारीथोना प्रभावने-आडंभरने जेधने तेमने दध कर्ध कहेतुं नहीं तेथी तेजो महोन्मत्त थधने निर्गल बनी गया छता. ॥५०-५१॥

ते निर्भयीभूय गजेन्द्रतुल्या इच्छानुकूलामविशिष्ट भक्ताः ।

वायु प्रकोपेन च पुष्ट देहा इतस्ततोवा विचरन्त्यविज्ञाः ॥५४॥

अर्थ-ये अनात्मज्ञ यतिजन कि जिन्हें अपनी इच्छाके अनुकूल विशिष्ट आहार प्राप्त हो जाता था और बात के प्रकोप से जिनका शरीर स्थूल रहा करता था निर्भय होकर गजराज की तरह इधर उधर विहार करते रहते ॥५२॥

ज्ये आत्माने न ज्येणभनार यतिजनके बने पोतानी छिछा प्रभाषे विशेष आहार भणी जतो अने वाना दोपथी जेतुं शरीर स्थूल रहेतुं तेजो निर्भय थधने छथीनी माधक आभतेम विहार करता रहेता. ॥५२॥

स्वनामधेयेन च कारयित्वा उपाश्रयं तत्र विमुग्धवृथा ।

निवासमास्थाय नवांगपूजां स्वीयामिमे हा किल कारयन्ति ॥५३॥

अर्थ-ये यतिजन अपने नामका उपाश्रय बनवाते और उसे अपना मानकर उसी में रहते एवं अपनी नवांगी पूजा कराते ॥५३॥

ये यतिजनों पोताना नामथी उपाश्रये बनावता अने तेने पोतानो भानीने तेभां ७ रहेता अने पोतानी नवांगी पूजा करावता. ॥५३॥

इत्थं च तेषां दयनीयवृत्तिं निरीक्ष्य तेषां हितकाम्ययाऽसौ ।

धृतं पदं तं प्रविहाय साधो दीक्षां समादाय मुनिर्वभूव ॥५४॥

अर्थ-इस प्रकार उन यतिजनों की दयनीय दशा को देखकर इन लोकाशाह मुनि ने उनके हितक्री कामना से अपना गृहीत यति पद छोड़दिया और मुनि दीक्षा धारण करली ॥५४॥

ये रीते ये यतिजनोंनी दयनीय दशाने जेईने आ लोकाशाह मुनिअये तेभना हितनी ७अथी पोते स्वीकारेख यतिपद छोडी दीधुं अने मुनिदीक्षा धारणु करी. ॥५४॥

सिद्धान्तशास्त्राब्धि विलोडनेन सरस्वती रत्नमवापि तेन ।

तस्यानुभावात्तदन्तरात्मा यथार्थबोधेन सुवासितोऽभूत् ॥५५॥

अर्थ-मुनि अवस्था में वर्तमान लोकाशाह मुनि ने सिद्धान्त शास्त्रों का खूब गहरा अध्ययन किया अतः इससे सरस्वती रत्न इन हैं प्राप्त हो गया; अतः अन्तरात्मा बने हुए इन्हें यथार्थ बोधने सुवासित कर दिया. ॥५५॥

मुनि अवस्थाभां रहेला लोकाशाह मुनिअये सिद्धांत शास्त्रोंना धणो उंडो अभ्यास ७थी, तेथी सरस्वतीरत्न तेअये अनी गया. तेथी सरस्वतीनी कृपाथी तेभने अंतरात्मा यथार्थ बोधथी सुवासित अनी गयो. ॥५५॥

तान् बोधयामास विशुद्ध बोधिः स जैनमार्गप्रतिपन्थिभूतान् ।

उत्सूत्रभाषांश्च परिग्रहादौ प्रसक्तचित्तान् विपरीतबुद्धीन् ॥५६॥

अर्थ-अब विशुद्ध बोध वाले श्रीलोकाशाह मुनि ने उन जैनमार्ग से बिलकुल विपरीत बुद्धिवाले, उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाले एवं परिग्रह आदि में लवलीन चित्तवाले उन यतियों को समझाना शुरू किया ॥५६॥

विशुद्ध बोधवाणा लोकाशाह मुनिअये जैनमार्गथी बिल्कुल उद्वेष्टी बुद्धिवाणा, उत्सूत्र प्ररूपणा करनारा, अने परिग्रह विगेरेभां रअ्यापरअ्या रहेवानी वृत्तिवाणा ये यतियेने समझववानी शरुआत करी. ॥५६॥

१ कितनेक लोक लोकाशाहने दीक्षा नही ली ऐसा मानते हैं, किंतु सांप्रदायिक बहुसंख्यक विद्वद्बुद्ध लोकाशाह दीक्षित हुवे हैं ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हैं ।

उक्तंच तेनाथ भुजौ प्रसार्य ब्रवीमि सुस्पष्टमिदं वचोऽहम् ।

नैतच्चरित्रं यतये हिताय यत्पाल्यते तज्जिनमार्गवाह्यम् ॥५७॥

अर्थ-उन्होंने ने कहा-मैं हाथ पसार कर यह स्पष्ट रूप से घोषणा करता हूँ कि जो आप लोग कर रहे हैं-वह यतियों के लिये हितावह नहीं है क्योंकि यह सब जैनमार्ग से बिलकुल बाह्य है ॥५७॥

तेमणे क्हुं-हुं हाथ फैलावीने स्पष्ट रीते आ घोषणा करी छुं-आप लोका के करी खा छे ते यतियो भाटे हितकारक नथी. तेमके-आ यधुं जैनमार्गथी पिल्कुल बाह्य छे. ॥५७॥

सुस्पष्टशब्दैर्जनता समक्ष मुद्धोषयाम्यत्र सुमंगलाय ।

दृग्बोधशुद्धं चरणं पवित्रं तदेव संसारहरं हिताय ॥५८॥

अर्थ-उन्होंने ने जनता के समक्ष स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि सम्यक् चारित्र्य वही है जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता है. ऐसा चारित्र्य ही संसार का विनाशक होता है और वही हितकारक होता है ॥५८॥

तेआअे जनतानी सामे स्पष्ट शब्दोभां अेवी घोषणा करीडे-सम्यक्चारित्र्य अेअे छे, डे अे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनथी विशुद्ध होय, अेधुं चारित्र्य अे संसारनुं विनाशक होय छे. अने अेअे हितकारक होय छे. ॥५८॥

शल्यत्रयेणैव विहीनवृत्तं स्वाराधकस्याथ फलप्रदायि ।

स्वकल्पनाकल्पितमेतदेव मनो विकल्पादि वदस्वपार्थम् ॥५९॥

अर्थ-माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित व्रत ही अपने आराधक साधक को फल देने वाला होता है. अपनी इच्छा से कल्पित आचार नहीं. वह तो मनोराज्यादि विकल्पों की तरह निष्फल ही होता है ॥५९॥

माया मिथ्या अने निदान अे त्रय शल्योथी रहित व्रत अे पोताना आराधक साधकने सक्षण थाय छे. पोतानी इच्छा प्रमाणे कल्पित आचार सक्षण थतो नथी. अे तो मनो-राज्यादिनी भाइके निष्फल अे थाय छे. ॥५९॥

इत्थं तदीयं प्रबलप्रमाणान्वितं ध्वनिं ते नित्यं निषीय ।

विमुच्य सूत्राच्च विरुद्धवृत्तिं तदिष्टवृत्तिं विदधुः प्रबुद्धाः ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार से अकाट्य प्रमाणों वाली उसकी देशना को अच्छी तरह सुनकरके उन लोगों ने सूत्र से विरुद्ध अपनी प्रवृत्ति को छोड़ दिया और सूत्र से समर्थित वृत्ति को धारण कर लिया. ॥६०॥

आ रीते षण्णवान प्रमाणेवाणी तेमनी देशनाने सारी रीते सांख्यीने अे लोकांअे सूत्रथी विपरीत पोतानी प्रवृत्तिने छोडी दीधी, अने सूत्रमां कहेल वृत्तिने धारणु करी. ॥६०॥

बभूव साधोः खलु देशनायाः ख्याति विशिष्टा विदुषः पुरेऽस्मिन् ।

जाता जनास्तां च विचारकस्य श्रोतुं सभायामभवत्समेताः ॥६१॥

अर्थ—विचारक इन विद्वान् साधु महाराज के प्रवचन की ख्याति इस पाटण शहर में विशिष्टरूप से हो गई, अतः मनुष्य उसे सुनने के लिये सभा में एकत्रित होने लगे. ॥६१॥

विचारक अेवा आं विद्वान् साधुमहाराजना प्रवचननी ष्याति ते पाटणु शडेरमां विशेष रीते थरु. तेथी अनेक मनुष्ये तेने सांख्यवा सभामां अेकठा थया लाग्या. ॥६१॥

स्वतन्त्ररूपेण विचारकोऽयं तस्यां सभायां स्वविचारधाराम् ।

स श्रावयामास च निर्भयः सन् सिद्धान्तवार्ता समुपस्थितांस्तान् ॥६२॥

अर्थ—स्वतन्त्र विचारक इन्होंने उस सभा में निर्भय होकर सिद्धान्तचर्चा-वाली अपनी विचारधारा उपस्थित मनुष्यों को सुनाई ॥६२॥

स्वतंत्र विचारक अेवा तेमणु अे सभामां निर्भयपणु सिद्धांतनी चर्चावाणी पोतानी विचारधारा त्यां उपस्थित थयेवा मनुष्येने कही संखणावी. ॥६२॥

सिद्धान्तशास्त्रैः परिपुष्टदेहं तस्योपदेशं परिणीय जीवाः ।

प्रभाविनः क्षान्ति समन्वितस्य तं श्रद्धया स्वस्य दधुश्च चित्ते ॥६३॥

अर्थ—सिद्धान्त शास्त्रों के अनुकूल उन प्रभाव शाली एवं क्षमाशील लोका-शाह मुनि की देशना को सुनकर जीवों ने उसे श्रद्धापूर्वक अपने चित्त में धारण कर लिया ॥६३॥

सिद्धांत शास्त्रोमां कथा प्रमाणेनी अे प्रभावशाणी अने क्षमाां लोकाशाह मुनिनी देशनाने सांख्यीने त्यां उपस्थित अेवा अे श्रद्धापूर्वक तेने पोताना दृश्यमां धारणु करी दीधी. ॥६३॥

धर्मप्रभावादिहकश्चिदात्मा मनुष्यपर्यायमुपागतोऽयम् ।

धर्मप्रचाराय विनाशनाय पापाङ्कुरस्याथ विशिष्टशक्तिः ॥६४॥

अर्थ-धर्म के प्रभाव से ही कोई विशिष्ट शक्ति शाली जीव धर्म के लिये और पाप के अंकुर को विनाश करने के लिये इस मनुष्य पर्याय में आया है. ॥६४॥

धर्मना प्रभावथी न केरु विशेष शक्तिशाली एव धर्मना प्रचार भाटे अने पापना अंकुरना विनाश भाटे आ मनुष्य पर्यायभां आवेसु छे. ॥६४॥

जगत् पवित्रं कर्तुं किमेषोद्भूता विभूतिर्महतो हि पुण्यात् ।

जगज्जनानां न महाजनस्य समुद्रवः कारणमन्नरेण ॥६५॥

अर्थ-क्या यह लोकविजय रूपी विभूति जगत् के जीवों के महान् पुण्य के उदय से प्रकट हुई है. क्यों कि कारण के बिना विशिष्ट महान्-व्यक्ति का जन्म नहीं होता है. ॥६५॥

हुं आ लोकविजयथी विभूति जगत्ना एवोना महान् पुण्यना उदयथी प्रकट थयेसु छे. केभडे-कारण बिना विशेष अथी महान् व्यक्तितो जन्म थतो नथी. ॥६५॥

जगज्जनानां खलु पुण्ययोगाद्विभूतिरेषा जनुषा पवित्रा ।

इदं जगत्त्रातुमथापथात्स्यात् क्षमा सतो जन्म परोदयाय ॥६६॥

अर्थ-सांसारिक जीवों के पुण्य के योग से यह पवित्र विभूति अपने जन्म से इस संसार को कुमार्ग से रक्षा करने के लिये समर्थ है. क्यों कि दूसरों का अभ्युदय हो इसीलिये सत्पुरुष का जन्म होता है. ॥६६॥

सांसारिक एवोना पुण्य योगथी आ पवित्र विभूति पोताना जन्मथी आ संसारने कुमार्गथी पथावना भाटे समर्थ छे. केभडे-थीजनी उन्नति थाय ते भाटे न सत्पुरुषो जन्म धारणु करे छे. ॥ ६६॥

आविर्भवन्ती भवभूतिरेषा नूनं कुमार्गस्थजनं सुमार्गम् ।

बोधप्रदैः स्वीयवचोभि रानेष्यतीति मत्वाथ तमर्चयन्ति ॥६७॥

अर्थ-प्रकट हुई यह भवभूति-जगत् की उत्तम विभूति-नियम से अपने बोधप्रद वचनों द्वारा-उपदेशों द्वारा कुमार्गस्थ मनुष्य को अच्छे मार्ग में ले आवेगी. ऐसा मानकर उसकी वाणी सुनने लगे ॥६७॥

प्रकट थयेसु आ भवभूति-जगत्नी उत्तम विभूति निश्चयपूर्वक पोताना बोधप्रद वचनो-उपदेशोथी कुमार्गभां रडेला मनुष्यने सारा मार्गभां लावरी. तेम मानीने तेओनी वाणी सांभणवा लाग्या. ॥६७॥

सांसारिकं सर्वसुखं विहाय मनस्विना येन जिनेन्द्र दीक्षा ।

धृता च मोहं परिवर्ज्य नूनं वैराग्यमेवास्त्यभयं हि सत्यम् ॥६८॥

अर्थ-संसार के सर्व सुखों को छोड़कर एवं मोह को परास्तकर जिस मनस्वी व्यक्ति ने जिनेन्द्र दीक्षा धारण की है उससे यही निश्चय होता है कि वैराग्य ही एक निर्भय स्थान है ॥६८॥

संसारना सधना सुप्तेने छोडीने अने मोहने त्याग करीने क मनस्वी व्यक्तिअने जिनेन्द्रदीक्षा धारण करी छे, तेनाथी अने निश्चय थाय छे के-वैराग्य क अके निर्भय स्थान छे. ॥६८॥

मोहारिणा खंडितमानश्रृंगो वयं क्व चायं दलितारिमोहः ।

क्व स्वात्कथं पूजकपूज्यभावा भावः कथं स्याच्च समानता वा ॥६९॥

अर्थ-जिनका मोहरूपी शत्रु मानरूपी श्रृंग को खंडित करना रहता है ऐसे हम लोग तो कहां, और यह लोकाशाह मुनि कहां कि जिसने मोहरूपी शत्रु को ही परास्त कर दिया है. हम में और इसमें समानता कैसे हो सकती है. ॥६९॥

अमने मोहरी शत्रु मानरी सींगने खंडित करे छे, अने आपणु कयां? अने आ लोकाशाह मुनि कयां? के अने मोहरी शत्रुने क पराजय करी छे. आपणुमां अने तेमनामां सरभाषणुं डेवी रीते थध शके? अने डेवी रीते पूज्यपूजक भावने अभाव थध शके? ॥६९॥

साध्नोति कार्यं परकीयमेवं स्वीयं च यः साधुस्सौ निरुक्त्या ।

समन्वितोऽयं तदभिख्ययाऽनो यथार्थरूपेण समस्ति साधुः ॥७०॥

अर्थ-जो अपना और पर का भला करता है वही साधु है ऐसी साधु शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह यथार्थ रूप में साधु है केवल नाम का साधु नहीं है ॥७०॥

अ आपणुं अने अनयनुं लक्षुं करे छे, अने साधु छे. अने साधु शब्दनी व्युत्पत्ति प्रमाणु आ यथार्थ रीते साधु छे. डेवण नामना साधु नथी. ॥७०॥

न निन्दया यो भवति स्म दुःखी स्तुत्या न स्याद् यः सुखिः स साधुः ।

एवंविधा वृत्तिरिहास्त्यतोऽयं पूज्यः पवित्रः परिसेवनीयः ॥७१॥

अर्थ-जिसे अपनी निंदा से दुःख नहीं होता और प्रशंसा से प्रसन्नता नहीं होती वही साधु है. इसी प्रकार की वृत्ति इस लोकाशाह मुनि में है अतः ये पूज्य हैं, पवित्र हैं और आराधनीय हैं. ॥७१॥

जने पोतानी निंदाथी दुःख थतुं नथी, अने वपाणुथी प्रसन्नता थति नथी अने साधु छे. अने शीतनी वृत्ति आ लोकाशाह मुनिमां छे. तेथी तेज्या पूज्य छे. अने आराधनीय छे. ॥७१॥

हिता पिता यस्य भवेच्च भाषा दिवंगताशाऽस्तमता च भूषा ।

प्रियस्तपस्वी स्वपगनुकंपायुतो मुनिःस्याच्च तथैव चायम् ॥७२॥

अर्थ-जिसकी भाषा हितकारक और परिमित होती है-आशा जिसकी दिवंगत होती है. वेव भूषा की ओर जिसका थोडा सा भी लक्ष्य नहीं होता है सब का जो प्यारा होता है विविध प्रकार के जो तप करता है जिसके हृदय में स्वकीय और परकीय दया होती है वही मुनि होता है वैसा ही यह मुनि है ॥७२॥

जमनी भाषा हितकरनारी अने परिमित होय छे, जनी आशा दिवंगत होय छे. पहेरवेश तरुं जनुं जरापाणु लक्ष्य होतुं नथी. ज सौना प्रीतिपात्र होय छे, ज अनेक प्रकारना तप तपे छे. जना हृदयमां स्वसंभंधी अने परसंभंधी दयाभाव होय छे अने मुनि कहेवाय छे. अना ज आ मुनि छे. ॥७२॥

अतो महीयान् महतां समर्थः वाच्यमानां गुणगजिरम्यः ।

कारुण्यरत्नाकर एष पुण्यात् दृशोश्च मार्गं ह्यवतात्सुलब्धः ॥७३॥

अर्थ-अतः वे महान् हैं और महान् पुरुषों द्वारा पूजने योग्य हैं मुनियों के जितने भी गुण हैं उनसे ये भर पूर हैं ये दया के सागर हैं बड़े पुण्य से ये हम लोगों को प्राप्त हुए हैं अतः ये हम लोगों की दृष्टि के मार्ग की रक्षा करते रहें-अर्थात् हम लोगों की आंखों से ओझल न हो ॥७३॥

तेथी आ महान् छे. अने महान् पुरुषो द्वारा पूजवावायक छे. मुनियोना ज गुणो होवा ओछे ते सधमा आमनामां छे. आ दयाना सागर छे, दया पुण्योदयथी आपणुने प्राप्त थयेव छे, जथी तेज्या आपणुी दृष्टि मार्गनी रक्षा करता रहे छे. अर्थात् आपणुी आंभोथी तेज्या दूर न थाय. ॥७३॥

इत्थं मुनीनां गुणवर्णनाभिरलं कृतः ख्यातदिगन्तकीर्तिः ।

लोकैषणाहीनमुचितवृत्तिः सर्वत्र विश्वम्भवत्ता बभूव ॥७४॥

अर्थ-इस प्रकार मुनिजनों के गुणों के वर्णन से अलंकृत हुए वे लोकाशाह मुनि कि जिन की कीर्ति दूर दूर तक फैल चुकी है लोकैषणा से रहित चित्त-वृत्ति वाले होकर सर्वत्र विश्वास करने योग्य वचन वाले बन गये ॥७४॥

आ प्रभाषे मुनिजनानां शृणुनां वर्णनं श्री शोभायमान् ये लोकाशाह मुनि उ ज्ञमनी कीर्तिं दूर दूर फैलाई गइ छे. लोकैषणायी रहित चित्तवृत्तिवाणा थरिने अथे न विश्वासपात्र वचनवाणा भनी गया. ॥७४॥

जनेषु संमान्यवचा अथायं जगाम शिष्यैर्यतिभिः कदाचित् ।

युतोऽमदावाद पुरं विशालं महोत्सवेनाथ विवेश तत्र ॥७५॥

अर्थ-मनुष्यों में जिनके वचन मान्य हो चुके हैं ऐसा ये लोकाशाह मुनि-राज किसी एक समय अपने शिष्य यतियों से युक्त हुए विशाल शहर अहमदाबाद पधारें वहां बड़े उत्सव के साथ इनका प्रवेश हुआ. ॥७५॥

मनुष्योभां ज्ञमना वचनो मान्य थयेला छे, जेवा जे लोकाशाह मुनिराज डोछ सभये पोताना शिष्य यतियोनी साथे आ विशाल अमदाबाद शहरमां पधायी. त्यां वषुां न उत्सवपूर्वक तेमनो प्रवेश थयो. ॥७५॥

झवेरि वाडस्थितमुन्यगारे स तस्थिवान् प्रावृषिकाल अत्र ।

वस्तुस्वरूपप्रतिपादिका गीः श्रुत्वाऽनुयायी समभूज्जनौ यः ॥७६॥

अर्थ-अहमदाबाद में इन्होंने झवेरी वाडा के उपाश्रय में वर्षायोग वीर संवत् २०००, विक्रम सं. १५३१ में चातुर्मास रहे, इनकी वस्तु स्वरूप प्रतिपादक वाणी को सुनकर वहां का समस्त जनसमूह इनका अनुयायी हो गया ॥७६॥

अमदाबादमां तेमणे जेवेरीवाडना उपाश्रयमां वर्षायोग वीर संवत् २०००, विक्रम संवत् १५३१ मां चातुर्मास कर्यो, तेमनी वस्तुस्वरूप प्रतिपादक वाणीने सांभलीने त्यानो सधणो जनसमूह तेमनो अनुयायी भनी गया. ॥७६॥

आसंश्च ये केऽपि यतिप्रियावा जनाश्च वा ये यतयोऽत्र सर्वे ।

ते संप्रबुद्धा मुनिदीक्षयाऽथ सुसंस्कृताचारयुता अभूवन् ॥७७॥

अर्थ-यहां पर जो भी कोई यति प्रिय जन थे वे तथा जो भी यतिजन थे वे सब इनके उपदेशों द्वारा संप्रबुद्ध होकर मुनिदीक्षा से सुसंस्कृत आचार वाले बन गये. ॥७७॥

अहीं के डोछ यतिप्रियजनो उता तेओ तया के यतिजनो उता ते अथा तेमना
उपदेशो धारा अयत यर्धने मुनिदीक्षाथी सुसंस्कृत आचारवाणा अनी गया. ॥७७॥

श्री वीतरोगोक्त वृषोपदेशान् श्रुत्वा यथार्थान् मुनिपस्य तस्य ।

मुखारविन्देन विनिर्गतां स्तान् जना प्रसेदुश्च विचारदक्षाः ॥७८॥

अर्थ-श्री वीतराग जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित धर्म के उस मुनिराज के
मुखारविन्द से निर्गत उन २ यथार्थ उपदेशों को सुनकर विचार चतुर मनुष्य
बड़े प्रसन्न होते ॥७८॥

श्री वीतराग जनेन्द्रदेवे कहेस धर्मने अ मुनिराजना मुपेथी नीकणेस। ते ते यथार्थ
उपदेशोने सांलणीने विचारवान् अतुर मनुष्यो धणा अ प्रसन्न थता. ॥७८॥

परस्परं चोचु र्होययावत् न बोधिता ईदृश देशनातः ।

पुरा वयं साधुजनेन सम्यक् सुस्वादु रसरक्तधिया भियावा ॥७९॥

अर्थ-और आपस में इस प्रकार से कहने लग जाते कि आजतक हमे
किसी भी साधु महाराज ने पहिले इस प्रकार की देशना से प्रबोधित नहीं
किया है ॥७९॥

अने परस्पर अम कहेना लागता के आज सुधी अमने डोछ पण साधुमहाराज आ
प्रभाषेनी देशनाथी प्रबोधित करेस नथी. ॥७९॥

वस्तुस्वरूपं गुरुणा ह्यनेन निरूप्यते नैव निरूप्यमाणम् ।

श्रुत च तद्धन्त ! मुनीन्दुनाऽपि धन्या इमे सद्गुरवो विशेषात् ॥८०॥

अर्थ-वस्तु का जैसा स्वरूप इन गुरु देव के द्वारा निरूपित किया जाता है
वैसा वस्तु का स्वरूप अन्य श्रेष्ठ मुनि महाराज के द्वारा निरूपित होता हुआ
हमने नहीं सुना हैं. अतः ये सद्गुरु विशेषरूप से धन्यवाद के पात्र हैं ॥८०॥

वस्तुतुं अपुं स्वरूप आ गुरुदेव द्वारा निरूपित करवाभां आवे छे, अ रीते वस्तुतुं
स्वरूप अन्य उत्तम मुनिमहाराज द्वारा निरूपित थतुं अमे सांलणेस नथी. तेथी आ
सद्गुरु विशेष रीते धन्यवादने पात्र छे. ॥८०॥

इत्थं जनानां मनसि प्रभूतस्तस्य प्रभावोऽज्जनि सोऽपि सर्वान् ।

संबोध्य तावद्धव्यदच्च भव्याः ! स्यात्संशयो मत्कथने निर्वायः ॥८१॥

अर्थ-इस प्रकार मनुष्यों के अन्तःकारण में उनका विशेष प्रभावं जमगया.
वे सब सभ्यों को संबोधित कर उनसे कहते कि यदि मेरे कहने में आप लोगों
को संशय हो तो आप उसका निवारण कर सकते हैं ॥८१॥

आ रीते अनुष्येना अतःकरणुमां तेभनो विशेष प्रभाव पडयो. तेअतमाम सव्येने संभोधित करीने तेअने कडे छे क-जे मारा कडेवामां तमेने शंका होय तो तमे तेनुं निवारणु करी शंका छे. ॥८१॥

अस्मिंश्चकाले “अणहिल्ल पट्टण” वाच्यथाऽऽयाद्धनिकोऽत्रकश्चित् ।

यः सूत्रसिद्धान्तविशेषविज्ञो नामास्य चासील्लक्षमशी भाई ॥८२॥

अर्थ-इसी समय अणहिल्ल (पुर) पट्टण का रहने वाला एक कोई धनिक थावक जो कि सूत्र सिद्धान्त का ज्ञाता था यहां अहमदाबाद आया. इसका नाम लक्षमशीभाई था ॥८२॥

अने वपते अणुडिल्लपुर पाठणुना निवासी अके धनिक थावक के अ सूत्रसिद्धांतने अणुनारा होता. अने अभदाबाद आवेल होता तेमनुं नाम लक्षमशीभाई हुतुं. ॥८२॥

श्रुत्वोपदेशं मुमुदे स पश्चात्-एकान्तमास्थाय चकार चर्चाम् ।

तेनाथ सार्धं हृदि संनिधाय जहर्ष विज्ञाय यतो महात्मा ॥८३॥

अर्थ-लक्षमशीभाई ने लोकाशाह महाराज का धर्मोपदेश सुना. सुनकर वे अपने आप में बहुत संतुष्ट हुए पश्चात् एकान्त में बैठकर उसने उनके साथ चर्चाकी उसे हृदय में धारणकर और यह जानकर कि यह कोई महान् आत्मा है उसे बड़ा हर्ष हुआ. ॥८३॥

तेमणु लोकाशाह महाराजने धर्मोपदेश सांभलीने पोते धणु अ प्रसन्न थया. तेथी तेअ अेकान्तमां येसीने तेमणु तेअनी साथे यर्था विचारणु करी. तेने हृदयमां धारणु करीने तथा तेअो अेम समन्यथा के आ डोअ महान् आत्मा छे, तेमने आ तमाम आअत अणुने धणुा हर्ष थयो. ॥८३॥

वीरोक्तवाण्या गुणिना रहस्यं प्रहात्मनाऽनेन महोदयेन ।

ज्ञातं समीचीनतया ह्यतोऽस्य भवेत्प्रचारः खलु देशनायाः ॥८४॥

अज्ञानसंच्छिन्नमनांसि तस्माज् ज्ञानप्रकाशेन विकासवन्ति ।

भवेयु रेषाऽस्ति मदीयकाम्या वीरोक्तवाण्यैव हितं जनानाम् ॥८५॥

अर्थ-वीर प्रभु के द्वारा कही गई वाणी का रहस्य इस महात्माने कि जिस महान् उदय होने वाला है अच्छी तरह से जान लिया है अतः इसकी प्रचार होना चाहिये. जिस से मनुष्यों के अज्ञान मन ज्ञान के

प्रकाश से विकसित हो जावें वही मेरी कावना है. क्यों कि मनुष्यों का हित वीर प्रभु की वाणी से ही हो सकता है. ॥८४ ८५॥

वीर प्रभुએ કહેલ વાણીનું સહસ્ય આ મહાત્માએ કે જેનો મહાન્ ઉદય થવાનો છે. તેમણે સારી રીતે બાણ્યું છે. તેથી આમની દેશનાનો પ્રચાર થવો જોઈએ જેથી મનુષ્યોના અજ્ઞાનથી છુપાયેલ મન જ્ઞાનના પ્રકાશથી પ્રકાશિત થઈ બન્યા. એજ સારી ઈચ્છા છે. કેમકે-મનુષ્યોનું હિત વીર પ્રભુની વાણીથી જ થઈ શકે છે. ॥૮૪-૮૫॥

रागादि दोषैर्मलिनात्मजीवैर्धर्मप्रचारो भवितुं ह्यशक्यः ।

यतो न तेषां वचसि प्रमाणत्वप्रस्य मानात्खलु मानताऽत्र ॥८६॥

अर्थ-रागादि दोषों से दूषित जीवों के द्वारा धर्म का प्रचार होना अशक्य है. क्यों कि उनके वचनों में प्रमाणता नहीं आती है । “वक्तुः प्रामाण्याद्वचसि प्रामाण्यम्” इस कथन के अनुसार वक्ता की प्रमाणता से ही उसके कथन में प्रमाणता आती है ॥८६॥

રાગાદિ દોષોથી દૂષિત જીવો દ્વારા ધર્મનો પ્રચાર થવો અશક્ય છે. કેમકે તેમના વચનો પ્રમાણભૂત થઈ શકતા નથી ‘વક્તુઃપ્રામાણ્યાદ્વચસિ પ્રામાણ્યમ્’ આ કથન પ્રમાણે વક્તાના પ્રમાણપણાથી જ તેના કથનમાં પ્રમાણતા આવે છે. ॥૮૬॥

श्री वीतरागाध्वनि संस्थितस्य सहस्रवर्षद्वयसंभृतं यत् ।

तमः प्रयत्नाच्च महोदयस्य महात्मनो नाशमवाप्स्यतीति ॥८७॥

अर्थ-श्री वीतराग के मार्ग में वर्तमान इस महोदय शाली महात्मा के प्रयत्न से दो हजार वर्ष से भरा हुआ अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट हो जावेगा. ॥८७॥

શ્રીવીતરાગના માર્ગમાં વર્તમાન આ મહોદયશાલી મહાત્માના પ્રયત્નથી બેહજાર વર્ષથી ભરાયેલ અજ્ઞાનરૂપી અંધકાર નાશ પામશે. ॥૮૭॥

एवं स्वकीयां सद्भावनां सः तस्मै निवेद्याथ चकार पाणी ।

निबद्धय भक्त्यानत पूर्वकायः निवेदनं साग्रहमेवमेव ॥८८॥

अर्थ-इस प्रकार की अपनी भावना को लोकाशाह मुनि के समक्ष प्रकट करके बाद में ही मनुष्य दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें नमस्कार किया और ऐसा ही आग्रह भरा निवेदन किया. ॥८८॥

आ प्रभाषेनी पोतानी लावना बोकाशाह मुनि सभीपे जणावीने ते पछी तेभण्णे पन्ने हाथ जेडी तेभने नभस्कार कर्या. अने अणुं जे आग्रहपूर्क निवेदन कथुं. ॥८८॥

शुद्धस्य मार्गस्य जिनोदितस्य त्वयैकपाधो ! प्रतिपाद्यतत्वम् !

प्ररूपणीयं जनतासमक्षं यतश्च तद्बोधयसा भवेत्सा ॥८९॥

अर्थ—हे अनौखे गुरुदेव ! जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये शुद्धमार्ग कारहस्य जो कि समझाने के योग्य है आप जनता के समक्ष कहिये. इससे वह इसे जानने के लिये तत्पर हो जावेगी. ॥८९॥

हे गुरुदेव ! जेनेन्द्रदेवे कहेल शुद्ध मार्गतुं रहस्य के जे समझाववा लायक छे, ते आप जनताने समझवो जशी तेओ अे आणुवा तैयार थछ जशे. ॥८९॥

एवं कटीबद्धपरोऽभविष्यत् प्राप्स्यद्भवानत्र विशेषलाभम् ।

इत्थं निवेद्यैव गते च तस्मिन् जातं च वृत्तं विनिवेदयामि ॥९०॥

अर्थ—इसलिये आप यदि इस प्रकार के कार्य करने में तत्पर हो जाते हैं तो अवश्य ही आप विशेष लाभ को—सफलता को—प्राप्त कर सकते हैं. इस प्रकार गुरु देव से निवेदन करके वह चला गया. अब उस समय जो हाल हुआ उसे मैं कहता हूं ॥९०॥

तेशी आप जे आ रीतनुं कार्य करवा भट्टे तत्पर थाव तो जर आप विशेष लाभ—सङ्गता प्राप्त करी शकशे. आ प्रभाषे गुरुदेवने निवेदन करीने तेओ धेर गया. हवे अे समये जे हासत हती ते हुं तभने कहुं छुं. ॥९०॥

तस्मिन्नवसरे तत्र जैनसंधाधिपा मताः ।

आगताः पुरुषा विज्ञाश्चत्वारस्तेऽथ संख्यया ॥९१॥

अर्थ—उसी अवसर पर वहां जैन संघ के मुखिया आये वे समाजमान्य व्यक्ति थे. और विद्वान् थे. इनकी संख्या ४ थी. ॥९१॥

अे समय त्यां जैन संधना अग्रेसरे आवेल हता. तेओ समाजमां माननीय हता. अने विद्वान् हता, तेओ चार जणा हता. ॥९१॥

स्वकुलं भूषयामास विमलैः शीतलैः पुणै ।

तेष्वासीन्नागजीभाई त्याख्यो या विश्रुतो धनी ॥९२॥

अर्थ—जिसने अपने विमल शीतल गुणों से कुल को विभूषित किया है
ऐसा उनमें “नागजीभाई” इस नामका एक धनी पुरुष था ॥९२॥

ब्रह्मणे पोताना निर्माण शीतल गुणोऽथी कुणने शोभावेत् छ. अं तेमनामां 'नागञ्जसाध'
नामना अेक धनवान् पुरुष उता. ॥९२॥

अतिदानप्रदाने च व्यसनी कृती पुण्यवान् ।

दुलीचन्द्रोऽथ तेष्व्वासीद्द्वितीयो द्वितीयेन्दुवत् ॥९३॥

अर्थ—दूसरा उनमें दलीचन्द्र भाई था. जो दान देने में विशेष अनुरागी था,
पुण्यशाली था, और द्वितीया के चन्द्रमा जैसा (दर्शनीय) था ॥९३॥

तेमनामां थीञ्ज 'दलीचन्द्रसाध' उता. ब्रह्मणे दान आपवामां विशेष अनुरागनाणा
उता. अने थीञ्जना चन्द्रमानी ब्रह्म दर्शनीय उता. ॥९३॥

सर्वश्री साधको वाग्शी ज्ञानी ध्यानी परार्थकृत् ।

स्वकार्यकुशलस्तेषु मोतीचन्द्र स्तृतीयकः ॥९४॥

अर्थ—समस्त जीवों को श्री का साधक विद्वान्, ज्ञानी, ध्यानी, परोपकार
परायण और अपने कार्य में कुशल तीसरा मोतीचन्द्र था ॥९४॥

सधणा छवोनी श्रीना साधक विद्वान् ज्ञानी, ध्यानी, परोपकार परायण अने पोताना
कार्यमां कुशल तीञ्ज 'मोतीचन्द्र' उता. ॥९४॥

नीतिमार्गस्य नेता यः भेत्ताऽकुशलकर्मणः ।

चतुर्थो रामजीभाई त्याख्य आसीत्प्रभावकः ॥९५॥

अर्थ—जो नीतिमार्ग का नेता था और अकुशल कार्य का नाशक था ऐसा
चौथा रामजी भाई था. यह प्रभावशाली था. ॥९५॥

ब्रह्म नीतिमार्गना नेता उता, अने अकुशल कार्यना नाशकरनाश उता, अंम चौथा
'रामञ्जसाध' उता. तेऽप्ये प्रभावशाली उता. ॥९५॥

एतैश्च सार्धं ह्यनुयायिनोऽन्ये धर्मस्य वार्तामधिगन्तुं कामाः ।

जना समाजश्चुरभाणि तेन धर्मोपदेशोनयमङ्गयुक्त्या ॥९६॥

अर्थ—इन व्यक्तियों के साथ और भी अनेक इनके अनुयायी व्यक्ति धर्मो-
पदेश सुनने की इच्छा वाले वहाँ आये थे, लोकाशाह मुनि ने इस समय जो
धर्मोपदेश दिया—बह नर्यों की विवक्षा से. युक्त था. ॥९६॥

आ व्यक्तिथेनी सात्रे श्रीज पशु अनेक तेभना अनुयायिथे धर्मापदेश सांख्यवानी
ईच्छाथी त्यां आया उता ते समथे लोकाशाडे न धर्मापदेश आथे ते नथेनी विवक्षाथी
युक्त उते। ॥ ॥६६॥

निर्व्याजपीयूषमहोदरः स यथार्थतत्त्वस्थितिर्वेदकश्च ।

कर्णैरनेकैः परिणीयमानो न तृप्तयेऽभूत्सलु मानवीनाम् ॥१७॥

अर्थ—वास्तविक अमृत के जैसा और जिस पदार्थ की जैसी स्थिति है—स्व
रूपादिक हैं उसी प्रकार से उसका वेदक ऐसा वह उपदेश अनेक कानों द्वारा
सुना जाकर उस उपस्थित जनसमूह की तृप्ति का कारण नहीं हुआ। अर्थात्
उपस्थित जन समूह की यही लालसा थी कि और अधिक अभी
कहा जावे ॥१७॥

वास्तविक अमृतना नुं अने न पदार्थनी नवी स्थिति—स्वरूपादि होय अने
प्रकारथी तेना वेदक अथे अे उपदेश अनेक कानोथी सांख्यो। अने ते सांख्यीने पशु
त्यां उपस्थित जनसमूहने तृप्ति थय नही, अर्थात् उपस्थित जनसमूहनी अने ईच्छा
हती के उल्लंघन विशेष कहेवाभां आवे। ॥६७॥

तस्मिन् गुणादये हृदयावतीर्णे महोपदेशे जनता बभूध ।

सुग्धा सुमन्त्रे च ऋगीव साधोर्मनोज्ञ मूर्तेर्गुणरागिचित्ता ॥१८॥

अर्थ— श्री लोकशाह मुनि महाराज के उपदेश के जो कि सम्यग्ज्ञान,
सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों से भरपूर था हृदय में उतर जाने पर गुणीजनों
पर अनुराग चित्तवाली जनता सुमन्त्र में ऋगी की तरह बहुत सुग्ध हो
गई। ॥१८॥

लोकाशाह मुनिमहाराजने उपदेश के न सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन विगेरे सद्गुणोथी
भरपूर हते। अने हृदयभां उतरवाथी गुणीजनो पर अनुराग चित्तवाणी जनता सुमन्त्रभां
क्षुणीनी (सर्प) भाइक धणी न सुग्ध थय। ॥६८॥

बृहस्पति र्वा क्रियसौ प्रबुद्धो वाग्मी महात्माऽन्यभवात्सबोधः ।

पीयूषधाराभिरिवोपदेशै र्यः सिञ्चतीह स्थितमर्षचित्तम् ॥१९॥

अर्थ—यह बृहस्पति है अथवा पूर्वभव में जिसे बोध प्राप्त हुआ है ऐसा वह
कोई विशिष्ट प्रबुद्ध—सुलज्जा हुआ—आत्मा है जो वहाँ स्थित मनुष्यों के चित्त
को अमृत की धारा जैसे उपदेश से सिञ्चित कर रहा है ॥१९॥

आ षुद्धरूपति छे. डे पूर्वखवभां जेने ओध प्राप्त थयेख छे, जेवे आ डोई विशेष प्रयुद्ध-अथत आत्मा छे, जेओ अहीं उपरिथत मनुष्येना यिचने अभृतनी धारानी जेभ उपदेशोथी सिंचित करी रहेख छे. ॥६८॥

इत्थं स्वचित्ते परिभाव्य सर्वैस्तदैव तैर्ज्ञातमयं तपस्वी।

अजेयशक्तिं जिनमार्गगामी न चान्यथा वाद्यथ धर्मवेदी ॥१००॥

अर्थ-इस प्रकार अपने चित्त में विचार करके उन सबने यह जान लिया कि यह तपस्वी अजेयशक्तिवाला है. जिनमार्गगामी है. जिनसूत्र के विपरीत प्ररूपणा नहीं करने वाले हैं और धर्मतत्व का वेत्ता है ॥१००॥

आ प्रमाणे पोताना मनभां निचार करीने जे सौजे जे आणुं डे-आ तपस्वी अजेय शक्तिवाणा छे, उन मार्गगामी छे, उन सूत्रथी विपरीत प्ररूपणा करवावाणा नथी. अने धर्म तत्तने आखुनार छे. ॥१००॥

अतोऽस्त्वयं सत्यनिरूपकत्वात्, भवाब्धितो नौखि तारकत्वात् ।

हितोपदेशदृष्टवशाच्च पूज्यो गुरुर्गरीयानिति तैश्च सर्वैः ॥१०१॥

निश्चित्य तस्यांघ्रियुगं प्रपूज्य निवेदयात्सासुरिदं तदैव ।

आज्ञास्य संघे भवतु प्रमाणमित्थं च तेषामजनिष्ट घोषः ॥१०२॥

अर्थ-सत्य के निरूपक होने से, संसाररूपी समुद्र से नौका के समान पार करने वाले होने से एवं हितकारक उपदेश के दाता होने से ये हम लोगों के बहुत बड़े गुरु हैं ऐसा सबने निश्चय किया और निश्चय करके यही अभिप्राय श्री लोकाशाह मुनि को वंदन नमस्कार करके निवेदन किया. तथा संघ में अब इनकी आज्ञा प्रमाण भूत मानी जावेगी ऐसी घोषणा करदी. ॥१०१-१०२॥

सत्यनुं निरूपाणु करवावाणा होवाथी संसाररूपी समुद्रथी नौकानी जेभ पार पमाड-नारा होवाथी अने हितकर उपदेश आपवावाणा होवाथी तेओ आभारा महान् गुरु छे. जेभ सौजे नकि क्युं. अने नकी करीने जेअ हकीकतनुं श्रीलोकाशाह मुनिने वंदना करीने निवेदन क्युं. तथा संघभां जेवे तेभनी आज्ञा प्रमाणरूप मानवाभां आवशे तेभ अहेसत करी. ॥१०१-१०२॥

जयोऽस्तु पूज्याङ्घ्रियुगस्य लोकाशाहस्य साधोश्च महोदयस्य ।

धर्मोत्सवानंदितमानसानां यो मानवानां गुस्तामुपेतः ॥१०३॥

सद्ग्रथानयोगेन तपस्यया वा यः प्राप सूत्रस्य रहस्य सस्यम् ।

तद्देशानाव्याजवशाच्च भोक्तुं प्रत्येकजीवं च ददाति नित्यम् ॥१०४॥

अर्थ-पूज्यपाद मुनिराज लोकाशाह महाराज की जय हो जो धर्मोत्सव से आनंदित मनवाले मनुष्यों के गुरु हुए हैं । जिन्होंने धर्मध्यान के प्रभाव से अथवा तपस्या के बल से सूत्रों का यथार्थरहस्य=निचोडरूपी धान्य प्राप्त कर लिया है और अपनी धर्मदेशना के बल से जो प्रत्येक जीव के लिये नित्य वितरण कर रहे हैं ॥१०३-१०४॥

पूज्यपाद मुनिराज लोकाशाह महाराजकी जय थाव ज्यो धर्मोत्सवथी आनंदित मनवाणा मनुष्योना युर् अन्या छे. जमणे धर्मध्यानना प्रभावथी अथवा तपस्याना अणथी सूत्रोनु यथार्थ रहस्य-निचोडरूपी धान्य प्राप्त करेस छे. अने पोतानी धर्मदेशनाना अणथी ज्यो करेक एवो माटे नित्य वहेथी रखा छे. ॥१०३-१०४॥

यस्य ज्ञाने न मान्यं वचसि बहुतमा मिष्टता शिष्टताङ्गे,

वृत्तौ चित्ते च साम्यं परिहितनिरता सद्गुणौघे च मैत्री,

शत्रौ मित्रे सुवर्णे मणिगणबहुले धाम्नि वा श्मशाने,

रागद्वेषौ, जनानां भवतु मुनिवरो घासिलालो हिताय ॥१०५॥

अर्थ-जिनके ज्ञान में मन्दता नहीं है, वचन में बहुत अधिक मिष्टता है, शरीर में शिष्टता है, वृत्ति में समानता है, चित्त में दूसरे जीवों की भलाई करने का चाव है, गुणों में जिनके परस्पर में मित्रता है, तथा जिन्हें शत्रु में मित्रमें, सुवर्ण में, मणि बहुल स्थान में और स्मशान में न, राग है और न द्वेष है, ऐसे वे मुनिवर घासीलाल महाराज मनुष्यों के लिये हितकारक हों ॥१०५॥

जेना ज्ञानमा मंदता नथी, वचनमा धरणी वधारे मिठास छे, शरीरमा शिष्टपणु छे, वृत्तिमा सरप्पापणु छे, चित्तमा अन्य एवोनी लवार्थ करवानी लावना छे, गुणोमा परस्पर जेभने मित्रता छे. तथा जेभने शत्रुमा, मित्रमा, सोनामा, मणियोवाणा स्थानमा, अने स्मशानमा राग नथी. तेम द्वेष पणु नथी. जेवा जे मुनिवर धासीलाल महाराज मनुष्योनु हितकरनार थाव. ॥१०५॥

एकोनत्रिंशतायुक्ते वैक्रमीये शुभावहे ।

द्विसहस्रमिते वर्षे कृष्णेऽष्टम्यां तिथौशुभे ॥१०६॥

वैशाखे षासि पक्षे च सर्गोऽयं च महोज्ज्वलः
त्रयोदशभिधः पूर्णो विद्या गूर्वनुकम्पया ॥१०७॥

अर्थ-विक्रम संवत् २०२९ में वैशाखमास के कृष्णपक्षमें अष्टमी के दिन धर्माचार्य की अनुकम्पासे यह १३ वां सर्ग समाप्त हुआ है ॥१०६-१०७॥

विक्रम संवत् २०२८ना वैशाख मासना कृष्णपक्षनी आठमने दिवसे धर्माचार्यनी अनुकम्पाथी आ तेरमे सर्ग समाप्त थथे. ॥१०६-१०७॥

कामं ते जगतीह मेऽसमगुणा प्रथयन्त्ववज्ञां जनाः,
तेभ्यो नास्ति भयं ममाल्पमपि यल्लोकस्य भिन्ना रुचिः ।
वर्तन्ते तु गुणानुरागहृदया ये धीधनाः समगुणाः,
तेऽवश्यं पस्वीक्ष्य मे श्रममिमं तुष्यन्ति नो संशयः ॥१०८॥

अर्थ-भले ही इस जगत में वे लोग कि जो असम गुण वाले हैं मेरी अवज्ञा करे मुझे उनसे थोडासा भी भय नहीं है. क्यों कि लोगों की रुचि एकसी नहीं होती है भिन्नर होती है. परन्तु जिनका हृदय गुणों के अनुराग से भरा हुआ है ऐसे बुद्धिमान् जन मुझे यह विश्वास है कि वे मेरे इस परिश्रम को देखकर अवश्य ही संतुष्ट होंगे ॥१०८॥

बले आ जगतमां अे दोडि डे जेओ असम गुणुवाणा छे, तेओ भारी अवज्ञा करे, तेमनाथी भने जरा पणु डर नथी डेमडे दोडिनी र्थी अेकसरथी होती नथी. जुडी जुडी होय छे. परंतु जेमतुं हृदय गुणुवाणा अनुरागथी बरेस छे. अेवा विचारशील मनुष्ये भने अे पात्री छे डे-तेओ भारी आ परिश्रमने जेअने जेस संतोष पावसे. ॥१०८॥

यावद्राजति शासनं जिनपते र्यावच्च गंगाजलं,
यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
तावद्राजतु मत्कृता कृतिरियं व्याख्यायमानाऽङ्गिनाम्
प्राज्ञानां विदुषां सभासु सततं मे भावनैवेदृशी ॥१०९॥

अर्थ-जबतक इस भूमंडल पर जिनेन्द्र देव का शासन चमकता रहे, गंगा जल बहता रहे एवं चंद्र और सूर्य आकाश में चलते रहे तबतक मेरी यह कृति विद्वान् पुरुषों की सभा में पढ़ी जाकर चमकती रहे. यही मेरी भावना है ॥१०९॥

ज्यां सुधी आबूअं डण उपर एनेन्द्रदेवतुं शासन यमकतुं रहे त्यां सुधी भारी आ
रयना विद्वानोनी सखाभां वंयाधने यमकती रहे अेव भारी बावना छे. ॥१०६॥

श्री महताबचन्द्रस्य दिल्लीनगरवासिनः ।

उपरोधान्मयाऽऽख्यं महाकाव्यमिदं मुदे ॥११०॥

अर्थ-दिल्लीनगर निवासी श्री महताबचन्द्रजी के आग्रह से मैं यह महा-
काव्य रचा है अतः यह उन्हें आनन्दप्रद हो. ॥११०॥

दिल्ली नगर निवासी श्रीमहेताबचन्द्रजीना आग्रहथी में महाकाव्यनी रयना करी
छे. तेथी आ तेभने आनंददायक बनो. ॥११०॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर श्रीवासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषामुवादसहिते

लोकाशाह चरिते त्रयोदशः सर्गः समाप्तः ॥ १३ ॥



अथ चतुर्दशः सर्गः प्रारभ्यते-

यस्याङ्गकान्तिं प्रविलोक्य चन्द्रो वितन्द्रितः सन् चकितो बभूव ।
चिह्नच्छलेनैव यदङ्घ्रिसेवा परोऽथ जातस्तमहं नमामि ॥१॥

अर्थ-जिसके शरीर की कान्ति को निरख कर चन्द्रमा चकित हो गया और इसी कारण वह तन्द्रा से रहित होकर चिह्न के छल से उनके चरणों की सेवा में तत्पर बना ऐसे उस प्रभु को-चन्द्रप्रभुभगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

जैना शरीरनी कान्तिने जेधने चंद्रमां यकित थई गया अने तेथी ज ते तन्द्रा रहित थधने चिह्नना पडानाथी तेमना चरणोनी सेवामां तत्पर अन्या. जेवा जे प्रभुने-चन्द्रप्रभु भगवानने हुं नमस्कार करूं छुं. ॥१॥

अथैकदा धर्मसभां वरिष्ठो ह्यधिष्ठितो भव्यजनैः सनाथाम् ।

नक्षत्रवृन्दैःसहितां दिवं स शशीव कान्त्या शुशुभे यमीशः ॥२॥

अर्थ-एक दिन की बात है कि लोकाशाह महाराज भव्यजनों से युक्त अपनी धर्मसभा में विराजमान थे उस समय वे अपनी कान्ति से ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों नक्षत्रों से सहित आकाश में चन्द्रमण्डल ही विराज मान हैं ॥२॥

जेक दिवस लोकाशाह महाराज भव्यजनोथी युक्त पोतानी धर्मसभामां विराजमान होता. ते सभये तेज्या पोतानी कान्तिथी जेवा जल्लता होता के-अथे नक्षत्रोनी साथे आकाशमां चंद्रमंडल विराजमान छे. ॥२॥

अज्ञानपंके पतितान् निमग्नान् विलोक्य जीवान् करुणार्द्रचित्तः ।

भास्वद्विवेको जिनधर्मवेत्ता जगाद तत्त्वं स हिताय तेभ्यः ॥३॥

अर्थ-अज्ञान रूपी कीचड़ में पड़े हुए एवं फसे हुए जीवों को देखकर इनका चित्त दया से गीला हो जाता था. अतः ये उनके हित के निमित्त उन्हें तत्त्व का-जिससे उनका हित हो सके-ऐसा उपदेश देते; ये जिनधर्म के विशेष ज्ञाता थे और इसीसे इनका चिवेक सदा जाग्रत रहता था. ॥३॥

अज्ञानरूपी दीयडमां पडेला अने इसायेला जेवोने जेठने तेमनुं चित्त दयाथी द्रवित थध जतुं छतुं. तेथी तेज्या तेमना हित माटे तेमने तत्त्वना के जेनाथी तेज्याहुं हित साधि शक्य जेवो उपदेश आपता होता. तेज्या जिन धर्मने विशेष प्रकृतथी जल्लताश होता. अने तेथी ज तेमना चिवेक सदा जाग्रत रहेतो छतो. ॥३॥

माः ! माः ! सदस्याः शृणुतावधानाज्जिनेन्द्रदेवैर्यदगादि तत्त्वम् ।
अज्ञानपद्मापहरं तदूचे दुष्कर्मतापापहराय सम्यक् ॥४॥

अर्थ-ये कहते-हे हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र देव ने जो तत्त्व कहा है उसे तत्त्व कहा है उसे आपलोग ध्यान से सुनिये. क्योंकि प्रभु के द्वारा कहा गया यह तत्त्व अज्ञानरूपी पंकका हरण करने वाला है. अतः उसे मैं दुष्कर्मों के ताप को दूर करने के निमित्त अच्छी तरह से कहता हूँ ॥४॥

तेजो कहेता-हे सव्यजो ! जिनेन्द्रदेवे ने तत्त्व कहेल छे, तेने आप सौ ध्यान-पूर्वक सांभणो. डेभके प्रभुजे कहेल आ तत्त्व अज्ञानरूपी काठवने दूर करवावाणुं छे, तेथी दुष्कर्मना तापने दूर करवा आटे ते हूँ तमेने सारी शीते कडुं छुं. ॥४॥

सौभाग्यमेतद्भवतां यदाप्तं मनुष्यजन्मैतदतीव पुण्यात् ।

लभ्यं नचैतच्च कषायदग्धं भवेद्यथास्याच्च तथा विधेयम् ॥५॥

अर्थ-यह आप लोगों का परम सौभाग्य है जो अत्यन्त पुण्य से प्राप्त होने योग्य यह मनुष्य जन्म आप महानुभावों ने प्राप्त किया है. अब आपको ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे यह कषायों द्वारा दग्ध-नष्ट न किया जा सके ॥५॥

जे आपसौनुं परम सौभाग्य छे, डे ने अत्यंत पुण्यथी प्राप्त करवा योग्य आ मनुष्यजन्म आप महानुभावोजे प्राप्त करेख छे. हवे आपसौजे जेवो ने यत्न करेवो जेभजे डे जेथी आ कषायोथी नाश न करी सकाय. ॥५॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।

सत्योक्ति रेषा हितकाम्ययास्तश्चारित्रधर्मो हृदि धारणीयः ॥६॥

अर्थ-शास्त्रों का अध्ययन करके भी मनुष्य मूर्ख होते हैं-विद्वान् नहीं कहलाते विद्वान् तो वही कहलाते हैं जो क्रियावान् हैं । ऐसी जो यह उक्ति है सो वह सत्य है. अतः जो आत्महित करने के अभिलाषी हैं उनका कर्तव्य है कि वे चारित्र धर्म का पालन करें. इसके बिना आत्महित नहीं हो सकता. आत्महित साधना ही सच्ची विद्वत्ता है ॥६॥

शास्त्रोनुं अध्ययन करीने पणु मनुष्य मूर्ख रहे छे. अर्थात् विद्वान् कहेवाता नथी. विद्वान् तो जेने कहेवाय छे डे जेजो क्रियावान् होय छे. आ प्रमाणुनुं ने आ कथन छे. ते सत्य न छे. तेथी ने आत्महित करवाना छेच्छुक छे, तेमनुं कर्तव्य छे डे तेजो

चारित्र्य धर्मनुं अवश्य पालन करे तेना शिवाय आत्महित साधि शक्यतुं नथी. आत्म-
हित साधयुं अत्र साय्नी विद्वत्ता छे. ॥६॥

चारित्र्यधर्मेण विहीनबोधो कर्मणि दग्धु न च शक्तिशाली ।
यथा तथा बोधविहीन एषोऽपि तानि हन्तुं न च हन्त शक्तः ॥७॥

अर्थ-जिस प्रकार चारित्र्य से रहित बोध कर्मों को नहीं जला सकता है, उसी प्रकार बोध रहित चारित्र्य धर्म भी कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता है ॥७॥

अत्र चारित्र्य विनाशे बोध कर्मोनि आणी शक्यते नथी. अत्र प्रमाणे बोध विनाशे
चारित्र्य धर्मं पशु कर्मोनि नाश करी शक्यते नथी. ॥७॥

यथा हि कश्चित्स्त्वनेकबोध विशिष्टशिष्टोऽपि नरो न याति ।
क्रियां विना कूपनिर्गमनकायस्तत्पारमत्रापि तथैव बोध्यम् ॥८॥

अर्थ-जैसे किसी व्यक्ति को तैरने का ज्ञान तो है, पर जब वह किसी
कुए में गिर पड़ता है तो वह केवल उस ज्ञान मात्र से कुएसे बाहर नहीं निकल
सकता कुए से बाहर निकलने के लिये ज्ञान को क्रियान्वित करना होता है
इसी प्रकार अकेला ज्ञान कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता है, चारित्र्यरूप
क्रिया से युक्त हुआ ही वह कर्मों को जला सकता है, नष्ट कर सकता है ॥८॥

अत्र बोध व्यक्तिने तरवानुं ज्ञान तो छे, पशु ज्यारे ते डोर्छ कुवांमां पडी अयते
अ डेवण अ ज्ञानमात्रथी कुवांमांथी अहार नीकणी शक्यते नथी, कुवांमांथी अहार आववा
भाटे ज्ञानने क्रियायुक्त करवुं पडे छे. अत्र रीते अकलुं ज्ञान कर्मोनि नाश करी शक्यतुं
नथी. तेने चारित्र्य क्रियाथी युक्त करवाथी अ ते कर्मोनि आणी शक्ये छे. अर्थात् नाश
करी शक्ये छे. ॥८॥

एवं क्रियामात्रविधानदक्षस्तज्ज्ञानरिक्तोऽपि न कोऽपि तस्मात् ।
पारं प्रयातुं भवति क्षमोऽतो न यत्नमात्रं खलु सिद्धि हेतुः ॥९॥

अर्थ-इसी प्रकार जो केवल क्रिया करने में ही लगा हुआ है पर वह
उस क्रिया के यथार्थ बोध से रहित है तो ऐसा वह व्यक्ति भी केवल
क्रियामात्र से जैसे कुए से पार नहीं हो सकता है उसी प्रकार केवल
क्रिया से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है. ॥९॥

अन्य रीते के डेवण किया करनामां न लागेला छे, परंतु ते अे कियाना पथार्थ बोध विनाने छे. अेवी ते व्यक्ति पणु डेवण किया मात्रथी नम कुवाभांथी पार थवातुं नथी अन्य प्रमाणे डेवण कियाथी सिद्धि प्राप्त थर्छ शकती नथी. ॥८॥

ज्ञानं च यत्नश्च परस्परं द्वौ सन्तौ स्वकार्यस्य विधानदर्शौ ।

चक्रेण नैकेन रथः प्रयाति तद्वच्च सर्वत्र च धार्यप्रार्यैः ॥१०॥

अर्थ-ज्ञान और किया दोनों साथ २ हों तभी इनसे कार्य बनता है जैसे एक पहिये से रथ नहीं चलता, उसी तरह अकेले ज्ञान से या अकेले चारित्र से कार्य नहीं बनता है ऐसा हे सज्जनो ! आपको निश्चय करना चाहिये ॥१०॥

ज्ञान अने किया अने साथे साथे होय तयारे न तेनाथी कार्य साधि शकय छे. नम अेक पैडाथी गाडु यात्री शकतुं नथी, अन्य प्रमाणे अेकला ज्ञानथी अथता अेकला चारि-त्रथी कार्य सिद्ध थर्छ शकतुं नथी. तेम हे सज्जनो ! आपे निश्चयपूर्वक समजवुं. ॥१०॥

“ज्ञानक्रियाभ्यां खलु मोक्ष” एषः, महोपदेशो जिनधर्मधर्म-

ज्ञानं प्रमाणं वितथो न बाधा विवर्जितो भव्यजनैःसुसेव्यः ॥११॥

अर्थ-ज्ञान और किया से मोक्ष होता है यह जिन धर्म के मर्म को जानने वालों का जो महोपदेश है वह प्रमाण है क्यों कि इसमें किसी भी तरह से बाधा नहीं आती है. अतः वह झूठा नहीं है. भव्यजनों को यह उपदेश अच्छी तरह सेवनीय है-वन्दनीय है ॥११॥

ज्ञान अने कियाथी मोक्ष साधि शकय छे. आ अन धर्मना भर्भने अणुनाराअेनो न महोपदेश छे, तेन प्रमाण छे, केमके तेमां डार्छ प्रकारनी बाधा उपस्थित थती नथी तेथी ते कथन बुहुं नथी. सव्यजनोअे आ उपदेश सारी रीते सेववो अेछअे. अर्थात् वन्दनीय छे. ॥११॥

औष्ण्यं यथा वारि निमित्तयोगात्संजायते नैव तथापि तच्च ।

तस्य स्वरूपं परभावजन्यत्वतो गते तस्य लयोपलम्भात् १२॥

अर्थ-जिस प्रकार पानी में अग्नि के निमित्त उष्णता आजाती है पर वह उसका स्वरूप नहीं है. क्योंकि वह पर के निमित्त से वहां उत्पन्न हुई है अतः आगन्तुक होने से वह निमित्त के हटजाने पर हटजाती है. ॥१२॥

अथ पाणीमां अग्निना कारणे उष्णता आवी अथ छे पशु अये तेनो स्वभाव नथी, डेमडे ते अन्यना निमित्तथी त्यां आवेल छे. तेथी ते आगन्तुक डोवाथी अये निमित्तना डूर थवाथी ते डूर थर्थ अथ छे. ॥१२॥

शैत्यं जले तस्य च तत्स्वरूपं काले क्वचित्तन्न विनाशमेति ।

उष्णत्वभावेऽपि च तस्य भावः स्वरूपतस्तत्र समस्ति नो चेत् ॥१३॥

प्रक्षिप्तमेतत्कथमग्निमिद्धं विध्यापयेत्तर्कणयेति साध्यम् ।

यतो न भावो ह्यसत्श्च नाशः सतो न कुत्रापि भवेत्प्रथार्यम् ॥१४॥

अर्थ-जल में शीतलता है, अतः यह शीतलता ही उसका स्वरूप है वह स्वरूप उसका जब जलमें अग्नि के निमित्त से उष्णता आती है तब भी स्वरूप की अपेक्षा उस में विद्यमान रहता है. यदि ऐसा न माना जावे तो वही गरम पानी जब जलती हुई अग्नि पर डाला जाता है तो वह उस जलती हुई अग्नि को क्यों बुझा देता है. इस तरह के तर्कसे यही सिद्ध होता है कि अग्नि का स्वभाव शीतलता है क्यों कि असत्पदार्थ का उत्पाद और सत्पदार्थका सर्वथा विनाश कहीं पर भी नहीं होता है। ऐसा मानना चाहिये ॥१३-१४॥

पाणीमां उडुके छे, तेथी अये शीतपशुं अये तेनो गुणु छे. अये तेनो गुणु अयारे पाणीमां अग्निना निमित्तथी उष्णपशुं आवे छे, तयारे पशु अये गुणु तेमां रहे अये छे. अये अथ मानवामां न आवे तो अये गरम पाणी अणता अग्नि पर नाथवामां आवे तयारे ते अये अणता अग्निने डेम अलावी नाथे छे? आ प्रमाणेना तर्कथी अये सिद्ध थाय छे डे अलने स्वभाव शीतलता छे, डेमडे-असत्पदार्थनो उत्पाद अने सत्पदार्थनो सर्वथा विनाश कयांय थतो नथी. तेम मानवुं अये ॥१३-१४॥

प्राज्ञैस्तश्चोक्तमिदं हि शक्तिः स्वतोऽसती हन्त न कर्तुमन्यैः ।

पार्येत बुद्धेति निमित्तयोगात् स्वरूपनाशो नहि शंकनीयः ॥१५॥

अर्थ-इसलिये बुद्धिमानोंने ऐसा कहा है कि जिस पदार्थ में जो शक्ति नहीं है वह किसी भी कारणकलाप से वहाँ नहीं की जा सकती है. ऐसा समझकर निमित्त के योग से स्वरूप का विनाश स्वीकार नहीं करना चाहिये. ॥१५॥

तेथी अये बुद्धिमानोअये अये कहुं छे डे अये पदार्थमां अये शक्ति नथी ते डोई पशु कारणु समूडथी तेमां करी शकती नथी. तेम समञ्जने निमित्तना योगथी स्वदपनो विनाश स्वीकारवो न अये ॥१५॥

स्वरूपनाशे न पदार्थसत्ता भवेद् प्रसङ्गः खलु शून्यतायाः

तस्यां च सत्यां न च जीवसिद्धिस्तथाच जातेनुवेदत् क एवम् ॥१६॥

अर्थ—यदि ऐसा ही माना जावे कि निमित्त के योग से स्वरूप का नाश हो जाता है तो ऐसी मान्यता में किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्रसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है अतः शून्यता का ही प्रसङ्ग प्राप्त होगा. इस शून्यता के होने पर जीव की सिद्धि होगी नहीं तो फिर ऐसा निमित्त मिलने पर स्वरूप का नाश हो जाता है” कहने वाला ही कौन होगा. ॥१६॥

जे अर्थ ७ मानवामां आवे डे—निमित्तता योगथी स्वरूपतो नाश थर्ध अथ अये मान्यताथी डोष पणु पदार्थनी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध थर्ध शकती नथी. तेथी शून्यपणुतो ७ प्रसंग उपस्थित थशे. अये शून्यताना डोषाथी अथनी सिद्धि थशे नही तो पछी अयेवुं 'निमित्त' भणवाथी स्वरूपतो नाश थर्ध अथ छे. पछी डेहेनार ७ डोषाणु थशे ? ॥१६॥

अतोऽकूनुले सति तन्निमित्ते भावस्वरूपं निजकार्यकारि ।

तदेव तस्य प्रतिकूलतायां तिरोहितं सद्विपरीतवृत्तिः ॥१७॥

अर्थ—अतः यह मानना चाहिये—कि यदि अनुकूल निमित्त मिल जाता है तो पदार्थ का स्वरूप अपने ही अनुरूप कार्य करता है और यदि निमित्त प्रतिकूल मिल जाता है तो पदार्थ का स्वरूप ऐसा हो जाता है कि वह अपने अनुकूल कार्य नहीं कर पाता है. प्रत्युत स्वभाव से विपरीत ही कार्य होता है. ॥१७॥

तेथी अर्थ मानवुं जेथी अर्थ डे—जे अनुकूल निमित्त भणी अथ तो पदार्थनुं स्वरूप पोताने अनुकूल कार्य करी शक छे. जे निमित्त प्रतिकूल भणी अथ तो पदार्थनुं स्वरूप अयेवुं थर्ध अथ छे डे—ते पोताने अनुकूल कार्य करी शकता नथी, परंतु स्वभावथी उदरु ७ कार्य थाय छे. ॥१७॥

अनिष्टसंयोगदशावशोऽयं यदा भवेदस्य तदा स्वभावे ।

तिरोहिते तद्विकृतेश्च भावात्—नितान्त दुःखी समजायता सौ ॥१८॥

अर्थ—जब यह प्राणी अनिष्ट संयोग की दशा से पराधीन होता है तब इसके स्वभाव में तिरोहिति या विकृति आ जाती है. इस कारण यह अत्यन्त दुःखी होता रहता है. ॥१८॥

अथारे आ प्राणी अनिष्ट संयोगनी दशाथी पराधीन थाय छे, तथारे तेना स्वभावमां तिरोहिति अथवा विकृति आवी अथ छे, तेथी ते अत्यन्त दुःखि थता रहे छे. ॥१८॥

तदात्तरौद्रण वशीकृतोऽसावनिष्टसंयोगवशोत्थितेन ।

निरन्तरं तत्परिहारमिच्छन्नहो स्वरूपं स्मरतीति नायम् ॥१९॥

अर्थ-क्योंकि यह अनिष्ट संयोग के वश से जायमान आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों के वश में हो जाता है अतः यह निरन्तर उसके परिहार करने की चिन्ता में लग जाता है और अपने स्वरूप को भूल जाता है ॥१९॥

उभे ते अनिष्ट संयोगना वश थवाथी थनाश आर्त्त अने रौद्रअे ये ध्यानेने वश थय अय छे. तेथी ते उभेशां तेने दूर करवानी चिन्तामां लागी अय छे. अने पोताना स्वशपने भूली अय छे. ॥१९॥

दुश्चिन्तनात्कर्मचयं स बध्नन्, निरन्तरं चित्तमलीमस्त्वात् ।

संसारसिन्धौ च निमज्जतीह दुःखानि भुङ्क्ते च शतानि नित्यम् ॥२०॥

अर्थ-उस समय जो इसकी विचार धारा होती है वह शुभ नहीं होती, किन्तु अशुभ ही होती है. अतः यह जीव उस अशुभ चिन्तन से निरन्तर अशुभ कर्मों का बंध किया करता है. क्यों कि उस त्रिचार धारा से इसका मन मलिन बन जाता है. इस तरह यह संसार सागर में ही डूबा रहता है और सैकड़ो दुःखों को भोगा करता है. ॥२०॥

ते सभये अनी अे विचारधारा होय छे, ते शुभ होती नथी. परंतु अशुभ होय छे, उभे अे विचारधाराथी तेनुं मन मदीन थई अय छे, तेथी ते आ संसार सागरमां अ डूबेव रहे छे, अने से कडे दुःखेने भोगव्या करे छे. ॥२०॥

सम्यक्त्वलाभो न भवेच्च यावत्तावन्न जीवस्य भवाप्तिच्छेदः ।

अतो भवच्छेदचिकीर्षया तत्सम्यक्त्वरत्नं नियमेन धार्यम् ॥२१॥

अर्थ-जब तक जीवको सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है तबतक उसके संसार को प्राप्ति का विनाश नहीं होता १. अतः यदि दुःखों से छूटने की इच्छा है-संसार के विनाश करने की भावना है-तो नियम से सम्यक्त्वरूप रत्न को धारण करो. ॥२१॥

अ्यां सुधी अवने सम्यक्त्वने लाभ थतो नथी त्यां सुधी तेने संसारनी प्राप्तिने नाश थतो नथी. तेथी अे दुःखेथी छूटवानी इच्छा होय, संसारने विनाश करवानी आवना होय तो निश्चयथी सम्यक्त्वश्च रत्नने धारण करे. ॥२१॥

देवे गुरौ धर्मधियश्च धर्मे याऽस्ति प्रतीतिर्भववारिणी सा ।

खड्गस्थिताम्भोवन्निश्चला सैवास्तीह सम्यक्त्वमिति प्रधार्यम् ॥२२॥

अर्थ-धर्म बुद्धि वाले जीव की देव, धर्म और गुरु पर जो तलवार की धार के पानी के समान अडिग प्रतीति-विश्वास है वही सम्यक्त्व है. यह प्रतीति ही जीव के संसार को हटाने वाली है ऐसा पक्का समझना चाहिये. ॥२२॥

धर्म बुद्धिवाला जवान्नी देव, धर्म अने गुरु पर जो तलवारनी धारना पाणी सरभी जो अडिग प्रतीति-विश्वास है अने सम्यक्त्व है. अने प्रतीति जो जवाने संसारथी मुक्त करवनारी है, तेम निश्चयपूर्वक समझवुं ओधये. ॥२२॥

मुक्त्यङ्गनासद्गनि गन्तुभीहा यद्यस्ति ते रत्नमिदं गृहाण ।

तद्वासधिष्ण्यस्य यतस्तदेतन्निः श्रेणिकाऽऽद्या च दृढाह्यनर्घ्या ॥२३॥

अर्थ-हे आत्मन् ! यदि तुम मुक्तिरूपी अङ्गना के महल में जाना चाहते हो. तुम इस रत्न को ग्रहण करो. क्यों कि यह उसके निवास भवन की सब से पहिली मजबूत कीमती सीढी है ॥२३॥

हे आत्मा ! जो तुं मुक्तिरूपी अंगनाना भेदेषमां जवा आढतो हो तो तुं आ रत्नने प्रवेशु कर, केभेडे-आ तेना निवास भवननी सौथी पडेदी अने मजबूत निसरथी है. ॥२३॥

सम्यक्त्वलाभेन विना न बोधे कृत्ते च सम्यक्त्वमथाञ्जतीति ।

सम्यक्त्वसंस्पर्शनमात्रतो हि जीवः परीतं स्वभवं करोति ॥२४॥

अर्थ-सम्यक्त्व की प्राप्ति के विना ज्ञान में एवं चारित्र में निर्दोषता नहीं आती है जिस जीव ने सम्यक्त्व का एक बार भी स्पर्शकर लिया है ऐसा जीव अपने संसार को परिमित कर लेता है ॥२४॥

सम्यक्त्वनी प्राप्ति विना ज्ञान अने चारित्रमां निर्दोषपथुं आवतुं नथी. जो जवाने सम्यक्त्वने ओकवार पथु स्पर्श करी दीथी है, अवेो जवाने पोताना संसारने परिमित करी ले है. ॥२४॥

सम्यक्त्वशुद्धः खलु जीव एषः न दुष्कुलं गच्छति नाल्पमायुः ।

बन्धाति तिर्यग्गति मेति नापि श्वभ्रं न दारिद्र्यदशावशः स्यात् ॥२५॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन से शुद्ध हुआ यही जीव मर कर दुष्कुल में जन्म नहीं लेता है, अल्प आयु का बन्ध नहीं करता है. न मरकर तिर्यग्गति में जाता है- और न नरकगति में जाता है । न यह दरिद्री होता है ॥२५॥

सम्यग्दर्शनथी शुद्ध थयेव आनं एव भरीने हीनकुलोमां अन्य थारणु करता नथी. अन्य आयुनेो अंध करता नथी. भरीने तिर्यंगतिमां जता नथी. तथा नरकगतमां पणु जता नथी तथा हरिद्री यता नथी. ॥२५॥

सम्यक्त्वमाण्यैव जना भवं स्वं कुर्वन्ति धन्याः सफलं सुरैस्ते ।

भवन्ति पूज्याश्च परत्रलोके स्वर्गं गताः सर्वसुखं लभन्ते ॥२६॥

अर्थ-सम्यक्त्व को जिन जीवों ने प्राप्त कर लिया है वे अपने-अपने को सफल कर लेते हैं और वे ही धन्यवाद के पात्र हैं ऐसे जीव परलोक में देवों द्वारा पूजे जाते हैं और स्वर्गीय समस्त सुख उन्हें प्राप्त होते हैं ॥२६॥

ज एवोअे सम्यक्त्व प्राप्त करी बीधेव छे, तेअे पोताना बनने सकण अनावी वे छे, अने तेअे ज धन्यवादाने पात्र छे. अेवा एवो परलोकां रडेवाथी पूजय छे. अने स्वर्गना सधणा सुअे तेभने प्राप्त थाय छे. ॥२६॥

मिथ्यात्वदोषेण कलङ्कितात्मा जीवो नरत्वेऽपि पशूयते सः ।

सम्यक्त्वयुक्तश्च नरायते स पशुः पशुत्वेऽपि दृशो ब्रह्मत्वम् ॥२७॥

अर्थ-मिथ्यात्व रूपी दोष से जिसकी आत्मा कलङ्कित है ऐसा जीव मनुष्य होने पर भी पशु के जैसा है और जो सम्यक्त्व से युक्त है परं वह पशु है तब भी वह मनुष्य के जैसा है. यही सम्यग्दर्शन का महत्त्व है. ॥२७॥

मिथ्यात्वर्पी दोषथी जेनो आत्मा कलङ्कित छे, अेवो एव मनुष्य होवा छतां पणु पशुसमान ज छे, अने जेअे सम्यक्त्वथी युक्त होय पणु ते पशु होय तो अणु मनुष्यना जेवो ज छे. अेज सम्यक्त्व दर्शननु महत्त्व छे. ॥२७॥

मोक्षस्य बीजं च भवाङ्कुरस्य विनाशकं दर्शनमेव शुद्धम् ।

विज्ञाय भव्यैः सततं विधेयो यत्नोऽस्य लब्धौ भविषिः प्रकृष्टः ॥२८॥

अर्थ-मोक्ष का बीज-प्रधान कारण-एवं भवाङ्कुर-मिथ्यादर्शन का नाशक यह सम्यग्दर्शन ही है ऐसा जानकर संसार के जीवों को इसकी प्राप्ति के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करते रहना चाहिये. ॥२८॥

मोक्षनुं थी अर्थात् प्रधान कारण अने भवाङ्कुर-मिथ्यादर्शननेो नाश करनार आ सम्यग्दर्शन ज छे. तेकुं समअेने संसारना एवोअे तेनी प्राप्ति भटे वधारेमां वधारे प्रयत्न करता रहेवुं ओधअे. ॥२८॥

सर्वासु तावद्गतिषु प्रलभ्यं प्रलभ्यते प्राणभृताऽथ तेन ।

आसन्न भव्येन च संज्ञिनैष जीवेन सम्यक्त्वमिदं पवित्रम् ॥२९॥

अर्थ-प्राप्त करने योग्य यह सम्यग्दर्शन पर्याप्त संज्ञी, आसन्न भव्य पंचेन्द्रिय जीवों को चारों गतियों में प्राप्त होता है. ॥२९॥

प्राप्त करवा योग्य या सम्यग्दर्शन पर्याप्त, संज्ञी, आसन्न भव्य पंचेन्द्रिय होने वाले गतिमां प्राप्त थाय छे. ॥२९॥

संसारभोगेषु न तृप्तिरस्य जीवस्य तावच्च भवेच्च यावत् ।

उदेति नेदं भवच्छेदकारि स्वान्ते निशान्ते मणिदीपिकेव ॥३०॥

अर्थ-इस जीव को संसार के भोगों से तब तक तृप्ति नहीं होती कि जब तक भव का भेद करने वाला यह सम्यक्त्व गृह में मणिदीपक के समान हृदय में उत्पन्न नहीं हो जाता है ॥३०॥

या होने संसारना भोगेथी त्यां सुधी निवृत्ति थती नथी उे अ्यां सुधी भवना भेद करनार आ सम्यक्त्व धरमां मणिना दीपानी भाइक हृदयमां उत्पन्न थतुं नथी. ॥३०॥

अनाद्यनन्तो भव एष तस्य नाऽपि येनेदमनर्घ्यरत्नम् ।

नावाप्स्यते संसृति संततीनां, विच्छेदने दातृसमं यतोऽदः ॥३१॥

अर्थ-संसार की परम्परा को छेदने में अत्यन्त तीक्ष्ण कुठार के जैसे इस अमूल्य सम्यग्दर्शन रत्न को जिसने प्राप्त नहीं किया है और आगे भी जो इसे प्राप्त नहीं करेगा ऐसे जीव का संसार कभी भी सान्त नहीं हो सकता है ॥३१॥

संसारती परंपराने छेदनामां अत्यंत तीक्ष्ण-धारदार कुठाडा केवा आ अमूल्य सम्यग्दर्शनरत्नने जेथे प्राप्त करेन नथी. अने आगण पशु जे तेने प्राप्त करेने नहीं जेवा होने संसार क्यारेथ पशु सान्त थछ शकतो नथी. ॥३१॥

प्राप्तं तदेतत्सलु रक्षणीयं दोषैरतीचारचयैश्च भव्यैः ।

एभिर्यथेदं मलिनं भवेन्नो तथैव कृत्यं करणीयमत्र ॥३२॥

अर्थ-हे भव्यो ! यदि सम्यग्दर्शन तुम्हें प्राप्त हो गया हो तो तुम २५ दोष ५ पांच अतिचारों से बचाकर इसे रखना और ऐसा ही कार्य करना कि जिससे यह इनके द्वारा मलिन न किया जा सके. ॥३२॥

हे भव्यशुभो । जे तेमोने सम्यग्दर्शन प्राप्त थछ गयुं होय तो तेमे रथ द्वाप अने प पांय अतिशारीथी अयावीने तेने सम्पजे अने अयुं न कार्य करवुं दे जथी आ तेनाथी भलीन न थर्थ अय. ॥३२॥

वाचंयमानां सदुपासनाभि नित्यं तदेतत्परिशोधणीयम् ।

आहारदानादिविशिष्टकृत्यैः भज्यैश्च पुष्टं परिवर्धनीयम् ॥३३॥

अर्थ-मुनिराजों की नित्य निर्दोष उपासनाओं से भव्य जीव को इस सम्यग्दर्शन को पुष्ट करते रहना चाहिये और उन्हें आहार दान आदि देकर पुष्ट हुए इस सम्यग्दर्शन की वृद्धि करते रहना चाहिये ॥३३॥

मुनिराजोनी हमेशां निर्दोष उपासनाओथी भव्य शुभो अ सम्यग्दर्शनने पुष्ट करता रहेवुं जेधजे अने तेमने आहारदान विगरे आपीने पुष्ट थथेअ आ सम्यग्दर्शननी वृद्धि करता रहेवुं जेधजे. ॥३३॥

सम्यक्त्वलाभान्न परोऽस्ति लाभः, सम्यक्त्वस्तान्न परं च रत्नम् ।

सम्यक्त्वबन्धोर्नपरोऽस्ति बन्धुः सम्यक्त्वमेवास्ति विपत्तिविघ्नः ॥३४॥

अर्थ-सम्यक्त्व के लाभ समान और कोई लाभ नहीं., सम्यक्त्वरूपी रत्न के सिवाय और कोई रत्न नहीं है, सम्यक्त्वरूपी बन्धु के सिवाय और कोई बन्धु नहीं है. इस जीव की विपत्ति का नाशक यदि कोई है तो वह एक सम्यक्त्व ही है ॥३४॥

सम्यक्त्वना लाभ समान थीजे डोछ लाभ नथी. सम्यक्त्वथी रत्न शिवाय थीजुं डोछ रत्न नथी, सम्यक्त्वथी बन्धु शिवाय थीजे डोछ बन्धु नथी आ शुभनी विपत्तिनो नाश करनार जे डोछ होय तो ते अडे सम्यक्त्व न छे. ॥३४॥

अस्या भवन्नैव यदीह लाभः किमन्यलाभैर्बहुभिः कृतैः स्यात् ।

यतश्च ते संसृति वर्धका हि नैतत्तदल्पीकरणे क्षमत्वात् ॥३५॥

अर्थ-हे आत्मन् ! यदि इस सम्यक्त्व का लाभ नहीं हुआ तो किये गये अन्य लाभों से क्या. क्योंकि ये तो तेरे संसार के बढ़ाने वाले हैं और यह सम्यक्त्व तेरे संसार का कम करने वाला है. ॥३५॥

हे आत्मन् जे आ सम्यक्त्वनो लाभ न थाय तो करवाभां आवेला थीअ लाभोथी शुं ? डेभडे-जे तो तारा संसारने वधारवावाणा छे. अने आ सम्यक्त्व तारा संसारने कम करनार छे. ॥३५॥

सम्यक्त्वतुल्यं नहि किञ्चिदस्ति श्रेयस्त्रिकाले भुवनत्रये च
भूतं न भावीति विचार्य भव्यैरेतद् यथास्याच्च तथैव लभ्यम् ॥३६॥

अर्थ-सम्यक्त्व के समान तीन कालमें और तीनलोकमें इस जीव का हितकारक न कोई हुआ है न होगा और न है. ऐसा विचार कर भव्य जीवों को जैसे भी बने वैसे इसे प्राप्त करना चाहिये. ॥३६॥

सम्यक्त्वना सरथुं त्रष्टे काणमां अने त्रष्टे वोकमां आ जवनुं छितसायक काठ थयुं नथी, थशे नछीं अने छे पशु नछीं आभ विचारीने लव्य जवोअने जम अने तेम ते भेणवपुं जेठिअ. ॥३६॥

एतद्विना ये गमयन्ति जन्म स्वीयं सुदुष्प्रापिदं ह्यनर्घम् ।
ते मर्त्यलोके क्षितिभारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥३७॥

अर्थ-इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किये बिना जो अपने कीमती दुर्लभ मनुष्य जन्म को व्यतीत कर रहे हैं वे इस मर्त्यलोक में पृथ्वी के भाररूप ही हैं और मनुष्य के रूपमें वे मृगकी तरह इधर उधर घूमते फिरते हैं ॥३७॥

आ सम्यग्दर्शननी प्राप्ति कयां विना जेअो पोताना कीमती अने दुर्लभ जन्मने वीतानी हे छे, तेअो आ मृत्युवोकमां पृथ्वीना भाररूप ज छे. अने मनुष्यना रूपमां तेअो मृगवानी जम आभतेम घूमता रहे छे. ॥३७॥

चिन्तामणिं प्राप्य स वायसाली मुद्गायनार्थं क्षिपति प्रमत्तः ।
एतद्विना यो नरजन्म मूढो व्यर्थं च निष्कासयतीन्द्रियार्थः ॥३८॥

अर्थ-जो मनुष्य इन्द्रियार्थ होकर-इन्द्रियों के विषयों को ही सबकुछ समझकर सम्यग्दर्शन के बिना अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ निकाल देता है- गवां देता है- वह प्रमाद पतित हुआ मूर्ख प्राणी चिन्तामणी रत्न को प्राप्त करके मानों उसे कौबों के उड़ाने के लिये ही फेंकता है ॥३८॥

जे भाषुस इन्द्रियार्थ थअने अर्थात् इन्द्रियोना विषयोने ज अधुं ज समजने सम्यग्दर्शन विना पोताना मनुष्यना जन्मने व्यर्थ गुभावी हे छे. ते प्रमाद पतित थयेअ मूर्ख प्राणी चिन्तामणि रत्नने प्राप्त करीने अष्टे तेने कागडाने उडाडवा भाटे ज ईंकी हे छे. ॥३८॥

एतन्नरत्वं बहुदुर्लभं तत्ततोऽपि सम्यक्त्वमतीव वित्त ।
अपूर्वलब्धात्खलु दुर्लभं तलब्ध्वा भवं भोः सफलं कुलध्वम् ॥३९॥

अर्थ-हे भक्त्यो ! मनुष्य होकर भी उसमें मनुष्यता बहुतदुर्लभ है, उसमें अत्यन्त दुर्लभ है वह सम्यक्त्व । क्योंकि यह अभीतक भी इस जीव को प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये इसे प्राप्त कर अपने भव को सफल करलो ॥३९॥

हे भक्त्यो ! मनुष्य थरने पशु तेनामां मनुष्यपशुं दुर्लभ छे, तेमां पशु आ सम्यक्त्व अत्यंत दुर्लभ छे, केमडे-आ अत्यार सुधी पशु आ छवने प्राप्त थयेव नथी, तेथी तेने भेजवीने पोताना भवने सक्ष्ण करी वे। ॥३९॥

सप्ताष्टमानुष्यभवान् गृहीत्वा जीवः स्वनिर्वाणगृहं प्रयाति ।

एतत्प्रयावन्महती प्रतिष्ठा स्रोत्थानकृत्येऽस्य समाप्यमेतत् ॥४०॥

अर्थ-इसके प्रभाव से जीव मनुष्य भवसंबन्धी सात आठ भवों को लेकर अन्त में निर्वाणरूपी गृह में प्रवेश कर लेता है । अतः आत्मा के उत्थानरूपी कार्य में इसकी बहुत-प्रतिष्ठा-इज्जत है, अतः इसे अवश्य २ अच्छी तरह से प्राप्त करना चाहिये ॥४०॥

तेना प्रभावथी छव मनुष्यभव संबन्धी सात-आठ भवोने सधने छेवटे पोताना निर्वाणरूपी गृहमां प्रवेश करे छे, तेथी आत्माना उत्थानरूपी कार्यामां तेनी धरुणी न प्रतिष्ठा थाय छे, तेथी तेने अक्षर अक्षर सारी रीते प्राप्त करी लेवुं जेधये, ॥४०॥

धन्यास्त एवात्र धृतं स्वकंठे यैः रत्नमेतन्महनीयकीर्ति ।

त्रैलोक्यचूडामणयो भवन्ति यस्माच्च महतोऽस्य महान् प्रभावः ॥४१॥

अर्थ-वे ही जीव धन्य है कि जिन्होंने इस पूजनीय कीर्तिवाले रत्न को सम्यक्त्व-को अपने कंठमें धारण किया है क्योंकि इसके धारण करने से जीव तीन लोक का चूडामणि बन जाता है, सच है वह अपने में महान् है अतः इसका प्रभाव भी महान् है ॥४१॥

अथ छवने धन्य छे, के जेणे आ पूजनीय कीर्तिवाणा रत्नने अर्थात् सम्यक्त्वने पोताना कंठमां धारण करेव छे, केमडे तेने धारण करवाथी छव त्रये लोकने चूडामणि बनी अथ छे, आयुं न छे के-ते आपणुमां महान् छे, तेथी तेनो प्रभाव पशु महान् छे, ॥४१॥

जीवादि तत्त्वस्य यथा स्वरूपं बोधस्तथा तस्य तदेव सम्यग्-

ज्ञानं समाहुः सकलज्ञभक्ताः सम्यक्त्वपूर्वं खलु जायतेऽदः ॥४२॥

अर्थ-जीवादि नौ तत्त्वों का जैसा स्वरूप है उनका उसी तरह से जो जानना होता है वही सम्यग्ज्ञान है ऐसा सर्वज्ञ के भक्तोंने कहा है, यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है ॥४२॥

अत्रादि न च तत्त्वानुं ज्ञेयुं स्वरूपं च, तेने ज्ञेय रीते आशुवुं ते सम्यग्ज्ञानं च. तेम सर्वज्ञाना लक्ष्मिणे उद्देश्ये च. आ सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं पूर्वकं थाय च. ॥४२॥

दोषत्रयेणैव विशुद्धमेतत्-अज्ञाननाशोऽस्य फलं च साक्षात् ।

परंपरातश्च भवत्युपेक्षो पादानहानं गदितं जिनेन्द्रैः ॥४३॥

अर्थ-यह सम्यग्ज्ञान तीन दोषों से-संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है. इसका साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है. और परंपराफलहान, उपादान और उपेक्षा है. ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है ॥४३॥

आ सम्यग्ज्ञान त्रयु दोषोथी जेटवे डे संशय, विपर्यय, अने अनध्यवसायथी रक्षित होय च. तेनुं साक्षात्क्षण अज्ञाननी निवृत्ति च छे. अने परंपराफलहान, उपादान, अने उपेक्षा छे. अम जनेन्द्रदेवनी आज्ञा छे. ॥४३॥

अस्यास्ति भेदद्वयमित्यमत्र प्रत्यक्षमेकं ह्यपरं परोक्षम् ।

मतिश्रुतं ज्ञानमिदं परोक्षं शेषं ह्यवध्यादि परोक्षमिन्नम् ॥४४॥

अर्थ-इस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं-(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष. इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष हैं. शेष-अविधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान-प्रत्यक्ष हैं ॥४४॥

आ सम्यग्ज्ञानना ये लेद छे. (१) प्रत्यक्ष अने (२) परोक्ष तेभां मतिज्ञान अने श्रुतज्ञान आ ये ज्ञान परोक्ष छे. आदीना अविधि, मनःपर्यय अने केवलज्ञान ये त्रयु ज्ञान प्रत्यक्ष छे. ॥४४॥

प्रत्यक्षभेदे द्विविधत्वमेकस्मिन्नस्ति साकल्यमथान्यभेदे ।

वैकल्यमेतद्विषयाश्रितं हि न शुद्धयपेक्षं च समत्वतोऽस्याः ॥४५॥

अर्थ-प्रत्यक्ष के भेदरूप जो अविधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान हैं सो इनमें सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं. इनमें एक केवलज्ञान ही सकल प्रत्यक्ष है. और अविधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं. इन ज्ञानों में जो ऐसी व्यवस्था करने में आई है वह इनमें विशदता की कमी के कारण करने से नहीं आई है किन्तु विषयग्रहण करने की अपेक्षा से ही आई है । इन तीनों ज्ञानों में विशदता एकसी है विषय ग्रहण करने में ही अन्तर है ॥४५॥

प्रत्यक्षना लेदरूप च अविधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अने केवल ज्ञान छे, ते तेभनाभां सकलप्रत्यक्ष अने विकलप्रत्यक्ष जेवा ये लेद छे. तेभां जेक केवलज्ञान च सकलप्रत्यक्ष छे.

अने अवधिज्ञान अने मनःपर्यावज्ञान अे ये ज्ञान विकल प्रत्यक्ष अे. अे ज्ञानोमां अे अेवी व्यवस्था करवामां आवी अे, ते तेमां विशदपरशुनी कमीना करणुे करवामां आवी नथी. परंतु विषयग्रहणुे करवानी अपेक्षाथी अे आवी अे. आ वणुे ज्ञानोमां विशदता अेकसरणी अे. विषय ग्रहणुे करवामां अे अंतर अे. ॥४५॥

अक्ष्णोति जानाति तदक्ष आत्मा प्रतीत्य तं ज्ञानमिदं ह्यवध्या- ।

दि जायतेऽतो गदितं प्रबुद्धैः प्रत्यक्षशब्दस्य च वाच्यताऽत्र ॥४६॥

अर्थ-जो पदार्थों को जानता है उसका नाम अक्ष है. ऐसा अक्ष आत्मा कहा गया है इस आत्मा मात्र की सहायता से ही अवधि आदि तीन ज्ञान उत्पन्न होते हैं इसलिये ज्ञानियों ने इन्हें प्रत्यक्ष कहा है ॥४६॥

अे पदार्थने अणुे अे तेनुं नाम अक्ष अे. अेवो अक्ष आत्माने कहेल अे. आ आत्मा मात्रनी सहायताथी अे आ अवधि विगेरे वणुे ज्ञान उत्पन्न थाय अे. तेथी ज्ञानीयोअे तेने प्रत्यक्ष कहेल अे. ॥४६॥

मतिश्रुतं ज्ञानयुगं हृषीकैरनीन्द्रियेणैव च जायतेऽतः

उक्तं परोक्षं यदपेक्षते स्वो-त्पत्तौ परं नास्ति समक्षसख्यम् ॥४७॥

अर्थ-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष हैं. क्योंकि ये दोनो पांच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते हैं-तात्पर्य इसका यह है कि मतिज्ञान पांच इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान केवल मन से उत्पन्न होता है. अतः जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रखता है उसकी मित्रता प्रत्यक्ष से नहीं होती है-अर्थात् ऐसा वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना गया है. ॥४७॥

मतिज्ञान अने श्रुतज्ञान आ ये ज्ञान परोक्ष अे. केभडे अे अने पांच इन्द्रियो अने मनथी उत्पन्न थाय अे. आनुं तात्पर्य अे अे के-मतिज्ञान पांच इन्द्रिय अने मनथी उत्पन्न थाय अे. श्रुतज्ञान केवण मनथी उत्पन्न थाय अे. तेथी अे ज्ञान पोतानी उत्पत्तिमां अन्यनी अपेक्षा राभे अे. तेनी मित्रता प्रत्यक्षथी थती नथी. अर्थात् अेवुं ते ज्ञान प्रत्यक्ष मानवामां आवेल नथी. ॥४७॥

लोकप्रतीत्याऽत्र भवेत्कथं चेत्प्रत्यक्षशब्दव्यवहारवृत्तिः ।

एवं च सत्यामिति नैव वाच्यं तथा प्रवृत्तेरुपचारवृत्त्या ॥४८॥

अर्थ-यदि कोई यहां पर ऐसी शंका करे कि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुए ज्ञान को लोक प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष कहा गया है फिर

आप इसे परोक्ष क्यों कहते हो ? तो इसका उत्तर ऐसा है कि इन्द्रिया-
दिकों से जन्य हुए ज्ञान को जो प्रत्यक्ष लोक में कहा जाता है वह उपचार
से ही कहा जाता है ॥४८॥

जे 'इन्द्रियो' अने 'मनो' शंका करे 'इन्द्रिय' अने 'मनो' उत्पन्न थयेस ज्ञानने
दोषप्रतीति अनुसार प्रत्यक्ष कहेवामां आवेस छे, तो पछी आप तेने परोक्ष केम कहे छे ?
तो तेने उत्तर जेवो छे 'इन्द्रियादिकी' उत्पन्न थयेस ज्ञानने दोषमां प्रत्यक्ष कहेवामां
आवे छे, ते उपचारथी ज तेम कहेवामां आवे छे ॥४८॥

हृषीकजन्ये खलु बोधमात्रे समस्तरूपेण न वर्ततेऽदः

नैर्मल्यमुक्ताऽस्ति परोक्षताऽत्र तथापि तत्तत्र समस्ति देशात् ॥४९॥

अर्थ-इन्द्रियों द्वारा जितना भी ज्ञान होता है उसमें सब में पूर्णरूप में
निर्मलता-विशदता नहीं रहती है अतः वह परोक्ष ही कहा गया है फिर
भी इन्द्रियजन्य ज्ञान में देशरूप से-आंशिकरूप से निर्मलता रहती है ॥४९॥

'इन्द्रियो' जे कंठ ज्ञान थाय छे, ते अधिमां पूर्ण रीते निशङ्कपण्युं आवतुं नथी, तेथी
तेने परोक्ष कहेवामां आवेस छे, तो पछी इन्द्रियथी थनास ज्ञानमां देशपण्यथी आंशिक
रीते निर्माणपण्युं होय छे ॥४९॥

तदिन्द्रियानिन्द्रियजन्यबोधे देशत्वतो निर्मलतावशाच्चि

प्रत्यक्षता सांख्यवहारिकीति प्रोक्ताजिनाज्ञाकुशलैर्महद्भिः ॥५०॥

अर्थ-इन्द्रियों एवं मन से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में एकदेश
निर्मलता है. इस कारण उसमें जिनाज्ञा में कुशल महान् पुरुषोंने-जैनदा-
र्शनिकोंने सांख्यवहारिकी प्रत्यक्षता कही है ॥५०॥

'इन्द्रियो' अने 'मनो' जे ज्ञान थाय छे, जे ज्ञानमां जेक देशथी निर्माणपण्युं छे, तेनुं
कारण तेमां ज्ञानाज्ञामां कुशल महापुरुषोऽने-जैनदर्शनादिकांसां सांख्यवहारिकी प्रत्यक्षता
कही छे ॥५०॥

ननूक्तमेतन्महदद्भुतं यत्प्रयास्य साधो ! प्रतिभाति मह्यम् ।

अतीन्द्रियाभ्यक्षमिहास्ति शुद्धं अपंभवित्वान्न च तस्य सिद्धिः ॥५१॥

अर्थ-हे साधो ! आपने जो ऐसा कहा है कि अतीन्द्रिय-इन्द्रियों की
सहायता के बिना केवल आत्मा से ही उत्पन्न होने वाला-प्रत्यक्ष है सौ आपका
यह कथन अनौत्पन्न प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा प्रत्यक्षतो कोई है ही नहीं,
क्योंकि उसकी तो सिद्धि ही नहीं होती है ॥५१॥

हे साधो ! आपे जे अणुं कहुं छे के-अतिन्द्रिय-ईन्द्रियोनी सहायता विना केवण आत्माथी ज उत्पन्न थनार् ज्ञान प्रत्यक्ष छे. तो आपनुं अे कथन अनोणुं ज्ञाय छे. केभडे अणुं प्रत्यक्ष तो डोर् छे ज नही. केभडे तेनी तो सिद्धि ज थती नथी. ॥५१॥

एतद्वचोयुक्तिविहीनमेव प्रमाणतस्तस्य च संस्थितत्वात् ।

नो चेत्कथं स्यादखिलज्ञसिद्धिस्तस्य प्रसिद्धेश्च तस्य सिद्धिः ॥५२॥

अर्थ-सो ऐसा कहना युक्ति रहित ही है. क्यों कि प्रमाण से अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सिद्धि होती है. यदि ऐसा बात नहीं मानी जावे तो फिर सर्वज्ञ की सिद्धि ही नहीं हो सकती. अतः जब सर्वज्ञ है तो उसका ज्ञान अतीन्द्रिय है-इन्द्रियजन्य नहीं है. इस तरह सर्वज्ञ की प्रसिद्धि से उस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है ॥५२॥

तो अेभ कहेवुं ते युक्तिशून्य छे. केभडे प्रमाणथी अतीन्द्रिय प्रत्यक्षनी सिद्धि थाय छे. अे अे बात मानवासं न आवे तो पछी सर्वज्ञनी सिद्धि ज न थर् शके तेथी अ्यारे सर्वज्ञ छे, तो तेभनुं ज्ञान अतीन्द्रिय छे अर्थात् इंद्रिय जन्य नथी. आ रीते सर्वज्ञनी प्रसिद्धिथी अे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षनी सिद्धि थाय छे. ॥५२॥

ये सन्ति सूक्ष्मान्तरिताः पदार्थाः दिग्विप्रकृष्टाश्च शिखीव सर्वे ।

अध्यक्षगम्या अनुमेयतो हि ते कस्यचिद्विश्वविशोऽथ सिद्धिः ॥५३॥

अर्थ-सूक्ष्मान्तरिता दिग्विप्रकृष्टाश्च पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् शिखिवत्” सूक्ष्म-परमाणु आदि, अन्तरित-राम रावण आदि और दिग्वि-प्रकृष्ट-सुमेरु पर्वत आदि किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं” क्यों कि ये अग्नि आदि की तरह अनुमेय हैं. इस तरह से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है ॥५३॥

“ सूक्ष्मान्तरिता दिग्विप्रकृष्टाश्च पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् शिखिवत्” सूक्ष्म-परमाणु विगेरे, अन्तरित रामरावणु विगेरे तथा दिग्विप्रकृष्ट-सुमेरु पर्वत विगेरे डोर्छने तो प्रत्यक्ष छे, केभडे तेअे अग्नि विगेरेनी भाडक अनुमेय छे. आ रीते सर्वज्ञनी सिद्धि थर् जय छे. ॥५३॥

सर्वज्ञबोधो यदि चेन्द्रियोत्थः स्यात्सत्कथं विश्वपदार्थवेत्ता ।

स इन्द्रियाणां यत् एव योग्ये स्वकीयविषये ग्रहणत्वशक्तेः ॥५४॥

अर्थ-सर्वज्ञ का ज्ञान यदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ माना जावे वह सकल पदार्थों को युगपत् ग्रहण करने वाला नहीं हो सकता. क्यों कि इन्द्रियों अने योग्य विषयों को ही ग्रहण करने की शक्ति वाला होती है ॥५४॥

सर्वज्ञतुं ज्ञान ओ इन्द्रियोथी उत्पन्न थयेल मानवामां आवे तो ते सकल पदार्थानि ओकसाथे ग्रहण करी शकता नथी. डेमडे-इन्द्रियो पोताने योअ्य विषयाने न ग्रहण करवानी शक्तिवाणी होय छे. ॥५४॥

अतश्च सिद्धं ह्यखिलज्ञबोधोऽनीन्द्रियोऽशेष पदार्थवित्त्वात् ।

तदन्यथा स्वीकरणे च तस्य अभाव एवात्र भवेत्प्रसक्तः ॥५५॥

अर्थ-अतः ऐसा ही मानना चाहिये कि सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है अनैन्द्रियक है. तभी वह विश्व के समस्त पदार्थों का वेत्ता है. इस मान्यता से विपरीत भ्रान्तता में उसका अभाव ही प्रसक्त होता है ॥५५॥

तेथी अेवुं न मानवुं ओई अे डे सर्वज्ञतुं ज्ञान इन्द्रियजन्य नथी अनैन्द्रियक छे. त्यारे ते विधना सधणा पदार्थी अणुकार छे. आ मान्यताथी बुद्धी मान्यतामां तेने अभाव न करण छे. ॥५५॥

रागादिदोषाः प्रलयंगता हि यस्यात्मनो विश्वविदेव सोऽस्ति ।

तस्योपदेशाद्भूवि मानवैः स्वकल्याणमार्गोऽवगतो ध्रुवं स्यात् ॥५६॥

अर्थ-रागादिक दोष जिस आत्मा के अपुनर्भव रूप से नष्ट हो गये हैं वहीं जगत्पूज्य सर्वज्ञ है. इसके उपदेश से ही संसार में मनुष्यों को अपने कल्याण मार्ग का ज्ञान नियम से होता है ॥५६॥

न आत्माना रागादिदोषो करी उत्पन्न न थाय अे रीते नाश पाभ्या होय अेन न गत्पूज्य सर्वज्ञ छे. तेभना उपदेशथी न संसारमां मनुष्येने पोताना कल्याण मार्गुं ज्ञान नियमथी थाय छे. ॥५६॥

निर्दोषता यत्र समस्ति तत्र युक्त्यागमाभ्यामविरोधिवाक्त्वम् ।

सदोषता यत्र समस्ति तत्र युक्त्यागमाभ्यां च विरोधिवाक्त्वम् ॥५७॥

अर्थ-जहां पर निर्दोषता वहीं पर युक्ति और आगम से अविरोधिवचनता है और जहां पर सदोषता है वहीं पर युक्ति और आगम से विरोधिवचनता है ॥५७॥

अ्यां निर्दोषपणुं होय त्यां न युक्ति अने आगमना विशेष विनाउं वचनपणुं छे. अने अ्यां सदोषपणुं छे, त्यां न युक्ति अने आगम विशेषी वचनपणुं छे. ॥५७॥

वक्तुः प्रमाणाद्वचने च तस्य प्रामाण्यमित्थं ह्यवगम्य सम्यक् !

श्रद्धाविशिष्टैर्भविमिश्च भूत्वा तत्रैकनिष्ठा सहितैश्च भाव्यम् ॥५८॥

अर्थ-वक्ता की प्रमाणता से ही उसके वचनों में प्रमाणता आती है ऐसा समझकर भव्य जीवों को उनके वचनों में पूर्ण श्रद्धा वाले होना चाहिये, और वहीं पर एक निष्ठावाले होना चाहिये ॥५८॥

वक्ताना प्रमाण्यप्युथी तेना वयनोभां प्रमाण्यप्युं आवे छे. अेवुं समञ्जते लव्य छेतेतेना वयनोभां पूर्युं श्रद्धावाणा थवुं जेईअे अने त्यां अेक निष्ठावाणु थवुं जेईअे. ॥५८॥

इत्थं मुनेस्तस्य ववो निशम्य उपस्थिता सा जनता जहर्ष ।

शक्त्या च भक्त्या व्रतमाददात् स्वभवस्य साफल्यकृते तदैव ॥५९॥

अर्थ-इस प्रकार उन मुनि महाराज के उपदेश को सुनकर के उपस्थित जनता बहुत प्रसन्न हुई और उसी समय उसने अपने मनुष्यभव को सफल बनाने के लिये उनसे अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार व्रतोंको ग्रहण किया. ॥५९॥

अे रीते अे मुनिमहाराजना उपदेश ने सांभलीने त्यां छानर थयेअे जनता धरणी अ प्रसन्न थई अने अेअ समथे तेणु पोलाना मनुष्य लवने सङ्ग अनाक्का मटे तेणु पोलानी शक्ति अने लक्ति प्रमाणे व्रताने अलणु कर्या. ॥५९॥

संगीतनादैश्च जना यथा वा वीणानिनादैश्च कुरङ्गवृन्दाः ।

मृदङ्गनादैः सुभद्रास्तथा सा व्याख्यानतोऽभून्मुदिताऽस्य साधोः ॥६०॥

अर्थ-संगीतध्वनि से जिस प्रकार मनुष्य मुदित होते हैं, वीणा के शब्दों से हिरणों की टोली प्रसन्न होती है और मृदङ्गों की आवाज से जिस प्रकार बीरों में जोश जगता है उसी प्रकार इन मुनिराज के व्याख्यानसे जनता आनंदित हुई. ॥६०॥

संगीतध्वनिथी जेम मनुष्य लषित थाय छे, वीणाना शब्दोथी छरणुअे प्रसन्न थाय छे, तथा मृदङ्गाना अवाजथी जेम वीर पुरोभां अेश आवे छे. अेअ रीते अे मुनि-महाराजना व्याख्यानथी जनता धरणी अ लषित थई. ॥६०॥

सर्वेऽपि संसारिजनाः सुखस्य बद्धस्पृहाः सन्ति न कोऽपि दुःखम् ।

समीहतेऽनेकविधं प्रयत्नं प्रकुर्वते ते च तदर्थमेव ॥६१॥

अर्थ-जितने भी संसार के प्राणी हैं वे सब ही सुख को चाहते हैं दुःख को कोई नहीं चाहता है. और जितने भी वे अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं वे सब सुख के लिये ही करते हैं ॥६१॥

संसारमां नष्टया प्राप्नुयो छे, ते अथा न सुप्पनी याडना करे छे. दुःप्पनी याडना केधनुं करतुं नथी. अने नष्टया तेज्जा प्रयत्नो करे छे, ते अथा सुप्प भाटे न करे छे. ॥६१॥

परन्तु यत्नेऽपि कृतेऽपि सौख्यं निराकुलं ते न समाप्नुवन्ति ।
संवर्द्धते प्रत्युत जायमाने लाभेऽथ लाभे बृहदाकुलत्वम् ॥६२॥

अर्थ-परन्तु यत्न करने पर वे निराकुल सुख प्राप्त नहीं करपाते हैं प्रत्युत जैसा २ उन्हें लाभ होता रहता है वैसी २ वहां बड़ी चढी आकुलता ही देखी जाती है ॥६२॥

परंतु यत्न करवा छतां तेज्जा निराकुल सुप्प प्राप्त करी शकता नथी. प्रत्युत जेभ जेभ तेभने लाभ थतो रहे छे, तेभ तेभ बधीबधी आकुलता न देखव मां आवे छे. ॥६२॥

पञ्चेन्द्रियार्थान् सुखलामबुद्ध्या संसारणिस्तान् सततं भजन्ते ।
अतृप्तिभाजां च मरुस्थलस्थानां रुग्णाभिव दुर्दशा स्यात् ॥६३॥

अर्थ-संसारी जीव सुख प्राप्त होने की बुद्धि से उन २ पांचों इन्द्रियों के विषयों का निरन्तर सेवन करते हैं परन्तु उन्हें उनसे संतोष नहीं मिलता, अतः अतृप्त हुए इन जीवों की मारवाड के मृगों की जैसी दुर्दशा होती है ॥६३॥

संसारी जेवो सुप्प प्राप्त करवानी छच्छाथी ते ते पांचे इन्द्रियोना विषयोनुं निरंतर सेवन करे छे. परंतु तेभने तेनाथी संतोष भणतो नथी. तेथी अतृप्त थयेला जे जेवोनी मारवाडना मृगोना जेवी दुर्दशा थाय छे. ॥६३॥

उदन्यया शुष्कमुखारविन्द्र यथा कुरङ्गः शमितं पिपासाम् ।
जलस्य बुद्ध्यैव च याति पातुं मत्त्वा सरस्तां मृगतृष्णिकां वै ॥६४॥

अर्थ-जिस प्रकार प्यास से जिसका मुखकमल कुम्हला रहा है ऐसा मृग अपनी प्यास को शान्त करने के लिये मृगतृष्णा को-मरुमरीचिका को-यह जलाशय है ऐसा मानकर जल की बुद्धि से पीने के लिये जाता है ॥६४॥

जेभ तरशथी जेतुं सुप्प सुकार्छ रहे छे जेवा मृगो पोतानी तरशने शांत करवा भाटे मृगतृष्णा-मरुमरीचिका-जंजवानी जणने आ जलाशय छे, तेभ मानीने जलनी बुद्धिथी ते पीवा भाटे जय छे. ॥६४॥

परन्तु नाम्भोलभते स यत्ने कृतेऽपि घर्मेण सुदीर्घतप्तः ।
प्राणान् विमुक्त्वैव महार्त्तभावा प्रयाति कुत्सां नरकादि योनिम् ॥६५॥

अर्थ-परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह पानी नहीं पाता है और बहुत समय से धूप से तपा हुआ वह महान् आर्त्त परिणामों से प्राणों को छोड़कर नरकादि निर्धर्मों चला जाता है ॥६५॥

परन्तु प्रयत्न करवा छतां पशु तेने प्राणी भणतुं नथी. अने लांभा समयथी तापथी तपेक्ष ते भोटा आर्त्त परिष्णुभोथी प्राणुनो त्याग करीने नरकादि तिर्यग्भोमां आख्या अथ छे. ॥६५॥

यत्रास्ति यत्तत्र भवेदवाप्तिस्तस्यान्यथाचेच्च मिलेत्कथं तत् ।

संसारिणो मोहवशंगतत्वात् वस्तु स्वरूपं न विचारयन्ति ॥६६॥

अर्थ-जो चीज जहां होती है वह वहां मिलती है और जो जहां नहीं है वह वहां नहीं मिलती है परन्तु संसारी प्राणी मोह के आधीन है. इसलिये वह इस वस्तु स्वरूप को नहीं विचारता है. इसका तात्पर्य ऐसा है कि मोह आत्मा की विचारधारा को विपरीत बना देता है अतः जो जहां नहीं है वह वहां है ऐसी वृत्ति जीव को हो जाती है इसलिये वह परपदार्थों में सुख पाने की कामना से उन्हें अपनाता है-॥६६॥

जे थीज न्यां होय छे, ते त्यां ज भणे छे, अने जे न्यां न होय ते त्यां भलती नथी. परन्तु संसारी प्राणी मोहने आधीन छे. तेथी ते आ वस्तु स्वरूपने विचारता नथी. तेनुं तात्पर्य अयुं छे जे-भोड आत्मानी विचारधाराने विपरीत बनावी दे छे. तेथी जे न्यां नथी ते त्यां छे, अवी जवनी वृत्ति थरि अथ छे, तेथी ते पर-पदार्थोमां सुभ भणववानी कामनाथी तेने अपनावे छे. ॥६६॥

यथा कुरङ्गा मृगतृष्णिकासु धावन्ति प्राणांश्च परित्यजन्ति ।

तथैव भोगेषु विलीनचित्ताः स्वजीवनं हन्त विसर्जयन्ति ॥६७॥

अर्थ-जैसे मृग मृगतृष्णा में चकर काटते हैं और अपने प्राणों की अहुति दे देते हैं वैसे ही भोगों में लवलीन चित्तवाले ये प्राणी दुःख की बात है कि अपने जीवन को विसर्जित कर देते हैं ॥६७॥

जम मृग अंजवाना जगनी पाछण अकरे यडे छे, अने पोताना प्राणुनी आहुती आपी दे छे. तेज प्रमाणे भोगोमां लीन चित्तवाणा आ प्राणियो अहेनी बात छे जे पोताना जवनने वेडरी नापे छे. ॥६७॥

यथा मृगा नैव मरीचिकायां जलं लभन्ते प्रलयं प्रयान्ति ।

तथैव भोगेषु सुखेच्छयेमे रक्ता लभन्ते न सुखं म्रियन्ते ॥६८॥

अर्थ-जैसे मृग मरीचिका में जल तो नहीं पाते हैं और मर जाते हैं वैसे ही भोगों में सुख की इच्छा से आसक्त हुए ये संसारी प्राणी सुख तो नहीं पाते हैं और समाप्त हो जाते हैं-अपनी पर्याय की. इति श्री कर देते हैं ॥६८॥

जम जलवाना जणमां प्राणी तो मगनुं नथी अने पोते मरी जय छे. जेज प्रभाणु भोगोमां सुषनी इच्छिथी आसक्त थयेला आ संसारी प्राणी सुष पाभता नथी. अने पोते न समाप्त थई जय छे. अर्थात् पोतानी पर्यायनी ईतीश्री करे छे. ॥६८॥

सुखार्थिभिर्विघ्नपरंपराया विघातकं मन्मथनाशकंच ।

हृषीकचेष्टाङ्कुशतुल्यरूपं तपोऽथ कल्याणकरं सुसेव्यम् ॥६९॥

अर्थ-इसलिये जो सच्चे सुख के अभिलाषी हैं उन्हें विघ्न परंपरा को नाश करने वाले, मन्मथ का मान मर्दन करने वाले एवं इन्द्रियों की वृत्ति के लिये अङ्कुश के जैसे तप का कि जो कल्याण का कारण है सेवन अवश्य करना चाहिये ॥६९॥

तेथी जेओ साथी सुषने इच्छिनाश छे तेणु विघ्न परंपरानो नाश करनाश, मन्मथनुं मानमर्दन करवावाणा अने इन्द्रियोनी वृत्ति भाटे अङ्कुश जेवा तपनुं के न कल्याणनुं कारणु छे. तेनुं अवश्य सेवन करवुं जेईअ. ॥६९॥

यथा द्वाग्निर्देहति ह्यरण्यं अम्भोधरो नाशयति क्षणंतम् ।

प्रभञ्जनस्तं च निरस्यतीह तपस्तथा हन्ति च कर्मवृन्दम् ॥७०॥

अर्थ-जिस प्रकार वन की अग्नि वन नष्ट कर देती है-जलादेती है-मेघ द्वावाग्नि को नष्ट कर देता है-बुझा देता है-और मेघ को पवन नष्ट कर देता है उसी प्रकार तपस्या कर्मसमूह को नष्ट कर देता है ॥७०॥

जम वननो अग्नि समअ वननो नाश करे छे. अर्थात् आणी दे छे. मेघ द्वाग्निनो नाश करे छे. अर्थात् ओसवी नापे छे. अने मेघनो पवन नाश करे छे. जेज रीते तपस्या कर्मसमूहनो नाश करे छे. ॥७०॥

निर्वाणमार्गे खलु संस्थितानां कृतं तपो विघ्नविदारकं स्यात् ।

नान्यत्ततः शुद्धिविधायकं तत्त्रियोगशुद्ध्या परिशीलनीयम् ॥७१॥

अर्थ-मुक्ति के मार्ग में रहे हुए मोक्षाभिलाषियों के विघ्नों का नाश करने वाला उनके द्वारा किया गया एक तप ही है । और कोई नहीं है । इसलिये मन वचन एवं काय की शुद्धि पूर्वक उस तप का अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिये ॥७१॥

मुक्तिना मार्गभां रहेला मोक्षाबिलाषियोना विधेना नाश करावना तेज्ये अरेल
अक तप न छे. अन्ये डोळ नथी. तेथी मन, वचन अने कायनी शुद्धिपूर्वक अे तपना
अभ्यास सारी रीते करवो ज्ये. ॥७१॥

तपस्यया साधुजनो रुणाद्धि कर्मागमद्वारमनेकरूपम् ।

पूर्वस्थितानां च शनैः शनैः स देशेन तेषां वितनोति नाशम् ॥७२॥

अर्थ-तपस्या के द्वारा ही साधुजन कर्मों के आने के द्वारों को रोक देता
है-मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-इन अनेक द्वारों को
बन्द कर देता है, और पूर्वसंचित हुए कर्मों का धीरे २ थोडे रूप में विनाश
करता जाता है ॥७२॥

तपस्याथी न साधुजन कर्मोने आववाना द्वारोने रोकी दे छे. मिथ्यादर्शन, अविरति,
प्रमाद, कषाय, अने योग आ प्रकारना अनेक द्वारोने बन्ध करी दे छे. अने पूर्वसंचित
करेला कर्मोना धीरे धीरे थोडा थोडा विनाश करता अय छे. ॥७२॥

इत्थं च पूर्वस्थितकर्मणां सः समूहनाशं विदधाति नूनम् ।

प्रयाति लोकाग्रविराजमानं सिद्धालयं क्षायिकभावजुष्टः ॥७३॥

अर्थ-इस तरह पूर्वसंचित कर्म जब उसके समूल नाश को प्राप्त हो जाते
हैं तब वह जीव क्षायिक भावों से युक्त हुआ लोक के अग्रभाग में स्थित
सिद्धालय में विराजमान हो जाता है ॥७३॥

आ प्रमाणे पूर्वसंचितकर्म ज्यारे तेना समूल नाशने प्राप्त थ्ये अय छे, त्यारे ते
अक्षायिकभावोथी युक्त थ्येने लोकना अग्रभागभां रहेल सिद्धालयभां विराजमान
थ्ये अय छे. ॥७३॥

दुष्टाष्टकर्मक्षजातसम्यक्त्वाद्यैर्गुणैस्तत्र विराजमानाः ।

ते सन्तु सिद्धा जननादि हिना भवाब्धिसंशोषण हेतवोमे ॥७४॥

अर्थ-दुष्ट अष्ट कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए सम्यक्त्वादि गुणों से सिद्धि
स्थान में विराजमान वे सिद्ध भगवान् जो कि पुनर्जन्म आदि से रहित हो
चुके हैं संसाररूपी समुद्र के शोषण होने में मुझे हेतुभूत बनें ॥७४॥

दुष्ट अष्ट कर्मोना क्षयथी उत्पन्न थयेला सम्यक्त्वादि गुणोथी सिद्धिस्थानभां विराज-
मान अे सिद्धभगवान् के अे पुनर्जन्म विगेथी रहित थयेला छे. तेज्ये संसाररूपी समुद्रना
शोषण करवाभां बने कारणरूप अने. ॥७४॥

यह अपने स्वरूप से एक द्रव्य है. यहां पर ऐसी, आशंका नहीं करनी चाहिये-कि जब आकाश द्रव्य एक है तो फिर लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद रूप इसे क्यों कहा है-कारण कि द्रव्यात्मना आकाश द्रव्य एक ही भेद रूप है-परन्तु उसके जितने भाग में जीवादिक द्रव्य बसते हैं-उतने स्थान-भाग को लोकाकाश कहा गया है-और जहां केवल आकाश ही आकाश है-कोई दूसरा द्रव्य नहीं है-उस भाग को अलोकाकाश कहा गया है ॥१००॥

श्रुति सधना द्रव्येभ्यो स्थानं ज्ञेयं रक्षेत्. अर्थात् रक्षेत्. ये द्रव्यतुं नाम आकाश छे. आ आकाश अभूत् छे. रूप, रस, गंध अने स्पर्श आ गुणो वगैरतुं छे. तेना ये लेहा छे. अंक लोकाकाश अने अलोकाकाश, ते पोताना स्वरूपथी अंक द्रव्य छे. अही अवी शंका करवी न अहे अके-अथारे आकाशद्रव्य अंक छे, तो पछी लोकाकाश अने अलोकाकाश अना ये लेहात्मक तेने केम कहेल छे? कारणके-द्रव्यात्मना तो आकाश-द्रव्य अंक न लेहइ छे. परंतु तेना अटला भागोमां श्रुतिक द्रव्य वसे छे, अटला स्थान-भागने लोकाकाश कहेल छे. अने अयां केवण आकाश न आकाश छे. अन्य कोई द्रव्य नथी. अे भागने अलोकाकाश कहेवामां आवेल छे. ॥१००॥

द्रव्यपर्यायरूपः कालोऽपरमार्थ एष परिणामा- ।

यैश्च क्रियापरत्वापरत्व चिह्नैः समधिगम्यः ॥१०१॥

अर्थ-द्रव्य की-जीव और पुद्गल की जो नवीन-जीर्ण आदि रूप अवस्थाएं हैं-उनकी समय घड़ी आदि रूप जो स्थिति है-वही जिसका स्वरूप है-वह द्रव्य पर्यायरूप अपरमार्थ-व्यवहार-काल है. यह परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व इन चिह्नों से जाना जाता है. ॥१०१॥

द्रव्यनी -श्रुत अने पुद्गलनी अे नवीं श्रुति विगरे प्रकारनी अवस्था छे. तेनी समय घड़ी विगरे प्रकारनी स्थिति छे. अे न अतुं स्वरूप छे. ते द्रव्यपर्यायरूप अपरमार्थ-व्यवहार काण छे. आ परिणाम, क्रिया, परत्व अने अपरत्व अे चिह्नोथी अणुवामां आवे छे. ॥१०१॥

व्यवहारकालहेतुः निश्चयकालोऽथ वर्तनारूपः ।

आद्यन्ताभ्यां हीनोऽमूर्तो नित्यश्च तद्द्रव्यम् ॥१०२॥

अर्थ-निश्चय काल व्यवहार काल का कारण है और इसका लक्षणवर्तना है. यह निश्चय काल आदि और अन्त से रहित है. अमूर्तिक है, नित्य है. व्यवहार काल का यह द्रव्यरूप है और व्यवहार काल इसको विभावरूप पर्याय है ॥१०२॥

निश्चयकाण व्यवहारकाणुं कारणुं छे. अने तेषुं लक्षणुं वर्तना छे. आ निश्चयकाण विगेरे आदि अने अंतविनाना छे. अभूर्तिक छे, नित्य छे. व्यवहारकाणना अे द्रव्यरूप छे. अने व्यवहारकाण तेना विभावरूप पर्याय छे. ॥१०२॥

धर्माधर्माकाशा मूर्तिकजीवास्तथा च कालश्च ।

षडिमानि द्रव्याणि हि शास्त्रे भणितानि जिनदेवैः ॥१०३॥

अर्थ-धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, काल, पुद्गल और जीव ये ६ द्रव्य शास्त्र में जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये हैं ॥१०३॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, काण, पुद्गल अने ज्व आ छ द्रव्यो शास्त्रभां अने-दरेवे कहेला छे. ॥१०३॥

धर्माधर्माकाशा भेदविहीना न पुद्गलो जीवः ।

कालश्च निष्क्रियः सः, धर्माधर्मो नमश्चेति ॥१०४॥

अर्थ-धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य ये तीन एक २ द्रव्य हैं अर्थात् इनके भेद नहीं है। पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य और काल ये भेदवान् द्रव्य हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार द्रव्य निष्क्रिय हैं-गति आदि क्रिया से रहित हैं ॥१०४॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, अने आकाशद्रव्य, अे तेषुं अेक अेक-द्रव्य छे. अर्थात् तेना अन्य भेदा नथी. पुद्गल द्रव्य ज्वद्रव्य अने काण अे भेदवाणा द्रव्यो छे. तथा धर्म अधर्म आकाश अने काण अे चार द्रव्यो निष्क्रिय छे. अर्थात् गति विगेरे क्रिया विनाना छे. ॥१०४॥

तौ जीवपुद्गलौ द्वौ क्रियावन्तौ विभावपर्यायौ ।

स्वीयं रूपं मुक्त्वा विविधां क्रियां च हा ! तनुतः ॥१०५॥

अर्थ-जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं. क्यों कि ये विभावपर्याय से परिणत हो जाते हैं. उस समय ये अपने २ स्वरूप को छोडकर अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हैं ॥१०५॥

ज्व अने पुद्गलो क्रियावान् छे. उभे अे विभाव पर्यायथी परिणत थम अथ छे. अे समये अे पोतपोताना स्वरूपने छोडीने अनेक प्रकारनी क्रियाओ करे छे. ॥१०५॥

भवति कदाचित्क्रोधी, निमित्तमामाद्य जायते मानी ।

मायावी लोभी वा भोगी पंचेन्द्रियैर्मतः ॥१०६॥

अर्थ-पंचेन्द्रियों द्वारा मत्त हुआ यह जीव निमित्त पाकर कदाचित् क्रोधी, दाचित् मानी, कदाचित् मायी कदाचित् लोभी और कदाचित् भोगी न जाता है ॥१०६॥

पंचेन्द्रियो द्वारा भक्त थयेक आ छव निमित्त पाभीने डोईवार डोधी, डोईवार मानी, डोईवार माथी, डोईवार दोषी अने डोईवार भोगी यनी अय छे. ॥१०६॥

पुद्गलपरमाणुरपि हि सूक्ष्मस्निग्धगुणयुगप्रदेशोऽपि ।

द्वयादि प्रदेशरूपं लभतेऽयं स्कन्धपर्यायम् ॥१०७॥

अर्थ—रूक्ष और स्निग्ध गुणों से युक्त हुआ एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु भां दो आदि प्रदेशों वाले स्कन्ध पर्याय को प्राप्त करता है. ॥१०७॥

रूक्ष अने स्निग्ध गुणोधी युक्त थयेक अेक प्रदेशी पुद्गल परमाणु पणु थे विगेरे प्रदेशोनाणा स्कंध पर्यायने प्राप्त करे छे. ॥१०७॥

इदमस्यैवं भूतं परिणमनं तावदस्ति पर्यायः ।

पंचगुणाढ्यस्याणोः विभावनाम्ना समाख्यातः ॥१०८॥

अर्थ—पांच गुणों से युक्त—एक रूप, रस, एक गंध और अविरोधी दो स्पर्श सहित—परमाणु का जो इस तरह का परिणमन है सो यही उसकी विभाव पर्याय है ॥१०८॥

पांचगुणोधी युक्त—अेकरूप, अेकरस, अेकगंध अने अविरोधि थे स्पर्श सहित—परमाणुनुं ने आ प्रमाणुनुं परिणमन छे, तो अेन अेनी विभाव पर्याय छे. ॥१०८॥

संसारमुक्त भेदाज्जीवा द्विविधा जिनागमे कथिताः ।

आद्ये च त्रसस्थावरभेदाद्द्विविधत्वतायाति ॥१०९॥

अर्थ—संसारी जीव और मुक्त जीव के भेद से जिनागम में दो प्रकार के जीव कहे गये हैं। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो तरह के हैं ॥१०९॥

संसारी छव अने मुक्त छवना भेदधी छनागमभां थे प्रकारना छे कहेवाभां आंया छे, संसारी छव त्रस अने स्थावरना भेदधी थे प्रकारना छे. ॥१०९॥

पृथिव्यप्तेजोवायु वनस्पति भेदतः पञ्चधा सन्ति ।

एक स्पर्शनवन्तो जीवा एकेन्द्रियास्तत्र ॥११०॥

अर्थ—पृथिवी, अपू, तेज, वायु और वनस्पति के भेद से स्थावर—एकेन्द्रिय—जीव पांच प्रकार के हैं। इनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ॥११०॥

पृथिवी, अपू, तेज, वायु अने वनस्पतिना भेदधी स्थावर अेकेन्द्रिय छव पांच प्रकारना छे, तेने डेवण अेक स्पर्श इन्द्रिय न होय छे. ॥११०॥

द्वे स्तः स्पर्शनरसने यस्य संजायते द्वीन्द्रियप्राणी ।

कृम्यादयो यथैते त्रसजीवा सन्ति तद्विक्ताः ॥१११॥

अर्थ-स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां जिस जीव के होती हैं वह द्वीन्द्रिय जीव त्रस जीव होता है-जैसे कृमी आदि; एकेन्द्रिय जीव के सिवाय द्वीन्द्रियादिक जीव त्रस जीव कहे गये हैं ॥१११॥

स्पर्शन અને રસના એ બે ઈન્દ્રિયો ને જીવને હોય છે, તે એવા દ્વીન્દ્રિય ત્રસ જીવો હોય છે. જેમકે કીડા વિગેરે એકેન્દ્રિય જીવો સિવાય દ્વીન્દ્રિયાદિ જીવને ત્રસ જીવ કહેવામાં આવે છે. ॥૧૧૧॥

घ्राणाधिके इमे द्वे यस्य स्त स्त्रीन्द्रियो ध्रुवं भवति ।

यूकादयो यथैते त्रस जीवाः सन्ति सर्वेऽपि ॥११२॥

अर्थ-स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां जिस जीव के होती हैं वह नियमतः तेइन्द्रिय जीव है जैसे कि जू वगैरह. तीन इन्द्रिय वाले जीव सब ही त्रस होते हैं ॥११२॥

સ્પર્શન, રસના અને ઘ્રાણ એ ત્રણ ઈન્દ્રિયો ને જીવને હોય છે, તે નિશ્ચયથી તે-ઈન્દ્રિય જીવ છે. જેમકે જૂ વિગેરે આ ત્રણ ઈન્દ્રિયવાળા બધા જીવો ત્રસ હોય છે. ॥૧૧૨॥

पूर्वोक्तानीमानि च भवन्ति जीवस्य नेत्रसहितानि ।

यस्य चतुरिन्द्रियःस यथा मिलिन्दादयो जीवाः ॥११३॥

अर्थ-नेत्र इन्द्रिय सहित ये पूर्वोक्त इन्द्रिया जिस जीवके होती हैं वह चौइन्द्रिय जीव है. जैसे भ्रमर आदि जीव. ॥११३॥

નેત્ર ઈન્દ્રિયની સાથે આ પૂર્વોક્ત ત્રણ ઈન્દ્રિયો ને જીવને હોય તે ચો ઈન્દ્રિય જીવ છે. જેમકે ભ્રમરા વિગેરે જીવો. ॥૧૧૩॥

कर्णाधिकानीमानि भवन्ति जीवस्य यस्य स ज्ञेयः ।

पञ्चेन्द्रियो यथा नरनास्कदेवास्तिर्यञ्चश्च ॥११४॥

अर्थ-जिस जीव के कान सहित पूर्वोक्त चार इन्द्रियां होती हैं वह पंचेन्द्रिय जीव है. जैसे-मनुष्य, नारकी, देव और तिर्यञ्च. ॥११४॥

જીવને કાન સહિત પૂર્વોક્ત ચાર ઈન્દ્રિયો હોય તે પંચેન્દ્રિય જીવ છે. જેમકે-મનુષ્ય, નારકી, દેવ અને તિર્યંચ ॥૧૧૪॥

अमनस्का समनस्का जीवास्तु ते पंचेन्द्रिया द्विविधाः ।

मनसो रहिताः प्रथपास्तेन युता भवन्ति ते परमाः ॥११५॥

अर्थ-जिस जीव के मन सहित पूर्वोक्त चार इन्द्रियां होती हैं वह पंचेन्द्रिय जीव है. जैसे-मनुष्य, नारकी, देव और तिर्यञ्च. ॥११५॥

જીવને મન સહિત પૂર્વોક્ત ચાર ઈન્દ્રિયો હોય તે પંચેન્દ્રિય જીવ છે. જેમકે-મનુષ્ય, નારકી, દેવ અને તિર્યંચ ॥૧૧૫॥

अर्थ-पञ्चेन्द्रिय जीव अमनस्क-असंज्ञी और समनस्क-संज्ञी-ऐसे दो प्रकार के होते हैं जिनके मन नहीं होता वे अमनस्क और जिनके मन होता वे समनस्क हैं ॥११५॥

पञ्चेन्द्रियत्व अमनस्क-असंज्ञी अने समनस्क-संज्ञी तेषु ये प्रकारना होय छे. जेने मन न होय ते अमनस्क अने जेने मन होय तेज्जो समनस्क इहेवाय छे. ॥११५॥

आस्रव बंधो पुण्यं पापं कर्मात्मनश्च संयोगात् ।

भवति च मोक्षान्तास्ते भावा आत्मोत्थ शुद्धयैव ॥११६॥

अर्थ-आस्रव, बंध, पुण्य और पाप ये चार कर्म और आत्मा-जीव के-संयोग से होते हैं. तथा मोक्षान्तभाव-संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये तीन तत्त्व आत्मा की शुद्धि-कर्म और आत्मा के संयोग रूप विनाश से उत्पन्न होते हैं ॥११६॥

आस्रव, बंध, पुण्य अने पाप आचार कर्म अने आत्मा-जीवना संयोगथी थाय छे. तथा मोक्षान्तभाव संवर, निर्जरा अने मोक्ष आ त्रयु तत्त्व आत्मानी शुद्धि-कर्म अने आत्माना संयोगरूप विनाशथी उत्पन्न थाय छे. ॥११६॥

जीवा जीवविशेषाश्च नव तत्त्वानि वित्त भोः ।

अतः स्वरूपमेतेषां संक्षेपात्कथयाम्यहम् ॥११७॥

अर्थ-जीव एवं अजीव के ही ये नव तत्त्व-जीव, अजीव पुण्य, पाप आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष-विशेषरूप हैं. इसलिये मैं अब संक्षेप से इनका स्वरूप कहता हूँ ॥११७॥

जीव अने अजीव ते नव आ नव तत्त्व-जीव, अजीव, पुण्य पाप आस्रव, संवर बंध निर्जरा अने मोक्षरूप छे. तेथी हवे हुं संक्षेपरूपी तेनुं स्वरूप कहुं छुं. ॥११७॥

आत्मनि येन भावेन ज्ञानावृत्त्यादि कर्मणाम् ।

भवत्यागमनं ज्ञेयः, आस्रवो द्विविधो हि सः ॥११८॥

अर्थ-आत्मा में जिन भावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का आगमन होता है वह आस्रव तत्त्व है. यह दो प्रकार का है- ॥११८॥

आत्माभां जे आवेथी ज्ञानावरणु त्रिगेरे कर्मोनुं आगमन थाय छे. ते आस्रव तत्त्व छे. ते ये प्रकारतुं छे. ॥११८॥

मिथ्यादृग्गादि भावा ये भावास्रवतया मताः ।

तैरावृतो यतो जीवः कर्षति कर्मपुद्गलान् ॥११९॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन से युक्त हुआ जीव कर्म होने योग्य पुद्गलों को—कर्मणवर्गणाओं को—खींचता है. सो ये ही जीव के भाव सादास्रव रूप हैं ॥११९॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय अने योगधी युक्त थयेस एव कर्म थवाने योग्य पुद्गलवाने—कार्मणु वर्गणुआने भेजे छे. तो अने एवना भावास्रवश्च भावे छे. ॥११९॥

युग्मम्—

तेषां निमित्तमासाद्य जास्रतन्त्यत्र पुद्गलाः ।

ये, ते द्रव्यास्रवास्तेषां भुक्तान्नपरिपाकवत् ॥१२०॥

विभागो जायते ज्ञानावरणादिरनेकधा ।

तत्र स्थितिर्नुभागश्च कषायात्संपतत्यसौ ॥१२१॥

अर्थ—उन योगआदि कों के निमित्त को लेकर जो कर्मपुद्गलों का आना होता है वह द्रव्यास्रव है. इनका ज्ञानावरणादिरूप विभाग खाये गये आहार के परिपाक की तरह होता है ज्ञानावरणादि कर्मों में जो स्थिति बंध और अनुभाग बन्ध होता है वह कषाय से होता है ॥१२०-१२१॥

अे योग विगेरेना निमित्तने लउने अे कर्म पुद्गलो आवे छे, ते द्रव्यास्रव छे. तेना ज्ञानावरणादिरूप विभाग आनामां आवेना आहारना परिपाकनी भाइक थाय छे. ज्ञानावरणादि कर्मोमां अे स्थिति अंध अने अनुभाग अंध डोय छे, तेकषायथी थाय छे. ॥१२०-१२१॥

एक क्षेत्रावगाही यः कर्मजीवप्रदेशयोः ।

संबंधः स समाख्यातः बन्धःसोऽस्ति चतुर्विधः ॥१२२॥

अर्थ—कर्म एवं जीव के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही जो संबंध है. वह बन्ध है, यह बंध चार प्रकार का कहा गया है. ॥१२२॥

कर्म अने एवना प्रदेशोना अे अेक क्षेत्रावगाही संअंध छे, ते अंध छे. अे अंध चार प्रकारना कडेनामां आवेस छे. ॥१२२॥

प्रकृत्याख्यः प्रदेशाख्यो बन्धो योगात्प्रजायते ।

मूलरूपेण बन्धस्य द्रव्यभावादुद्विरूपता ॥१२३॥

अर्थ—मन, वचन और काय के हलन चलनरूप योग से प्रकृतिबन्ध एवं प्रदेश बंध ऐसे ये दो बन्ध होते हैं, मूलरूप से बन्ध के द्रव्यबन्ध और भाव-बन्ध ऐसे दो भेद हैं ॥१२३॥

मनः, वयन अने कायना उल्लसन्त्यल्लसन्रूप योग्यी प्रकृतिबंध अने प्रदेशबंध अने आये अन्ध थाय छे. भूणरूपी अन्धना द्रव्यबंध अने सावबंध अने ये लेद थाय छे. ॥१२३॥

रागद्वेषादि भावोत्थ कर्मणात्मा प्रबध्यते ।

भावबन्धस्तदेवासौ द्रव्यबंधस्ततोऽपरः ॥१२४॥

अर्थ—जिन राग द्वेष आदिरूप विभावों के द्वारा उत्पन्न हुए कर्मोंके साथ जो आत्मा का बंधना है वह भावबन्ध है. द्रव्यबन्ध इससे भिन्न है। आत्मा के साथ जो कर्मबंधते हैं उस बंधने में आत्मा के राग द्वेष आदिरूप भाव कारण होते हैं। विना इनके हुए कर्मों का बंधन नहीं होता है। अतः ऐसे भाव ही भावबंध हैं और इनके होने पर जो पौद्गलिक कर्मबंधते हैं वे द्रव्य बंध हैं ॥१२४॥

ज रागद्वेष विगेरे विभावो द्वारा उत्पन्न थयेला कर्मोनी साथे आत्मानुं जे बंधन छे ते सावबंध छे. द्रव्यबंध तेनाथी बुदु छे. आत्मानुनी साथे जे कर्म बंधाय छे, जे बंधनामां आत्मानुना रागद्वेष विगेरे आवो कारणु होय छे. ते थया विना कर्मोनी बंध थयो नथी, तेथी अने साव जे सावबंध छे. अने जे थाय तयारे जे पौद्गलिक कर्म बंधाय छे. ते द्रव्य बंध छे. ॥१२४॥

यथा दुग्धाम्भसोर्बन्धस्तथा कर्मात्मनोरपि ।

स चान्योन्य प्रवेशात्मा तथापि स्वस्थिति पृथक् ॥१२५॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध और पानी आपस में एक दूसरे के साथ मिल हिल जाते हैं उसी प्रकार कर्म और आत्मा के प्रदेश आपस में एक दूसरे के साथ हिल मिल जाते हैं. परन्तु मिल जाने पर भी ये अपनी स्वरूप सत्ता नहीं छोडते हैं पृथक् २ ही रहते हैं ॥१२५॥

जम दूध अने पाणुी परस्पर अकपीअनी साथे उणीमणी जय छे, जेन प्रभाणु कर्म अने आत्मानु प्रदेशो परस्परमां अकपीअनी साथे उणीमणी जया छतां पणु तेआ पोताना स्वरूपनी सत्ता छोडता नथी, अलग अलग ज रहे छे. ॥१२५॥

कर्मास्त्रनिरोधो यः संवरः कथिनो बुधैः ।

सोऽपि द्विप्रकारोऽस्ति द्रव्यभावप्रभेदतः ॥१२६॥

अर्थ—कर्मों के आने का रुकजाना इसका नाम संवर है. यह संवर भी द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से दो प्रकारका है। ॥१२६॥

कर्मानुं आगमन रोकार्थं भवुं तेनुं नाम संवरं छे. आ संवरं पशु द्रव्यसंवरं अने
भावसंवरना लेदधी ये प्रकारनुं छे. ॥१२६॥

आत्माना येन भावेन कर्मास्त्रनिरोधनम् ।

जायते सैव विज्ञेयो भावाख्यः संवरो ध्रुवम् ॥१२७॥

अर्थ—आत्माके जिन भावों से कर्मों का आना रुकजाता है वही आत्माका
परिणाम भाव संवर है— ॥१२७॥

आत्माना के भावोथी कर्मानुं आगमन रोकार्थं अथ छे. अथ आत्मानुं परिणाम
भावसंवर छे. ॥१२७॥

कर्माणि निरुध्यन्ते तान्येव द्रव्यसंवरः ।

निर्जरा संचितानां तु तेषां देशोनसंक्षयः ॥१२८॥

अर्थ—कर्मों का आना इसका नाम द्रव्य संवर है तथा संचित हुए कर्मों का
थोडा थोडा करके जो झरना है. क्षय होना है—उसका नाम निर्जरा है ॥१२८॥

कर्माना आगमननुं नाम द्रव्यसंवर छे, तथा संचित थयेला कर्मानुं थोडुं थोडुं
थकने अरुं थाय छे. अटवे के क्षय थाय छे. तेनुं नाम निर्जरा छे. ॥१२८॥

निर्जरा द्विविधा प्राक्ता द्रव्यभावप्रभेदतः

सविपाका विपाकावनयोरस्त्यभिधान्तरम् ॥१२९॥

अर्थ—द्रव्यनिर्जरा और भाव निर्जरा के भेद से निर्जरा भी दो प्रकार कही
गई है इनमें ज्ञानावरणादि कर्मों की जो निर्जरा है वह द्रव्य निर्जरा है और
आत्मा के जिन भावों से यह निर्जरा होती है वह भावनिर्जरा है. सविपाक
एवं अविपाक इन्हीं दोनों के नामान्तर हैं । द्रव्यनिर्जरा का नाम सविपाक
और भावनिर्जरा का नाम अविपाक निर्जरा है ॥१२९॥

द्रव्य निर्जरा अने भावनिर्जरा लेदधी निर्जरा पशु ये प्रकारनी कहेनामां
आवी छे. तेमां ज्ञानावरणादि कर्मानुं के निर्जरा छे, ते द्रव्यनिर्जरा छे. अने
आत्माना के भावोथी आ निर्जरा थाय छे, ते भावनिर्जरा छे. सविपाक अने अविपाक
अ आ येना नामान्तर छे. द्रव्य निर्जरांनुं नाम सविपाक निर्जरा अने भाव निर्जरांनुं
नाम अविपाक निर्जरा छे. ॥१२९॥

प्रतिसद्वयं कर्माणि क्षयंति संवरं विना ।

सविपाका न जीवस्य प्रोक्ता सेयं हितावहा ॥१३०॥

अर्थ-संवर के बिना प्रतिसमय जो कर्मों की निर्जरा होनी रहती है वह सविपाक निर्जरा है. इससे जीव का हित नहीं होता है ॥१३०॥

संवर बिना प्रतिसमये न कर्मोनी निर्जरा भवति रहे छे, ते सविपाक निर्जरा छे. तेनाथी छवनुं हित भवतुं नथी. ॥१३०॥

संवरादया तपोभिश्च कर्मणां या तु जायते ।

निर्जरा साऽविपाकाऽथ सैव प्रोक्ता हितावहा ॥१३१॥

अर्थ-संवर के परिपूर्ण जो निर्जरा कर्मों की नाना प्रकार के तपश्चरण से होती है वही अविपाक निर्जरा है. और यही निर्जरा जीव के हित की साधक-मुक्ति प्रदान करने वाली है. ॥१३१॥

संवरथी न अनेक प्रकारना कर्मोनी परिपूर्ण निर्जरा तपश्चरणथी थाय छे, ते अविपाक निर्जरा छे. अने अने निर्जरा छवनी हितसाधक-मुक्ति आपनारी छे. ॥१३१॥

सर्वेषां कर्मणां तावत् आत्यन्तिकक्षयो मतः ।

मोक्षःसोऽपि द्विविधःस्यात् द्रव्यभावप्रभेदतः ॥१३२॥

अर्थ-समस्त कर्मों का जो आत्यन्तिक क्षय है वह मोक्ष है. यह मोक्ष द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष के भेद से दो प्रकार का है ॥१३२॥

समस्त कर्मोनी न आत्यन्तिक क्षय छे, ते मोक्ष छे. आ मोक्ष द्रव्यमोक्ष अने भावमोक्षना भेदथी ये प्रकारना छे. ॥१३२॥

आत्मनो यः परिणामः कर्मक्षयकारकः ।

ज्ञेयोऽथभावमोक्षः स कर्मच्युतिश्चनोऽपरः ॥१३३॥

अर्थ-आत्मा का जो परिणाम ज्ञानावरणादिरूप कर्मों के क्षय का कारण होता है वही परिणाम भाव मोक्ष है. तथा ज्ञानवरणादि कर्मों का जो आत्मा से पृथक् हो जाना है वह द्रव्यमोक्ष है. ॥१३३॥

आत्मानुं न परिणाम ज्ञानावरणादिरूप कर्मोना क्षयतुं कारणु होय छे, अने परिणाम भाव मोक्ष छे, तथा ज्ञानावरणादि कर्मोनुं न आत्माथी अलग थर्थ नवुं छे, ते द्रव्यमोक्ष छे. ॥१३३॥

कर्मणां बंधसातत्यात् तेषामथ सदोदयात् ।

अभावः कथमेतेषां भवेन्मोक्षोऽपि वा कथम् ॥१३४॥

अर्थ—शंका-संसार जीव के कर्मों का बंध सदा होता रहता है और उनका उदय भी निरन्तर होता रहता है. तो फिर उनका अभाव कैसे हो सकता है कि जिससे जीव की मुक्ति हो सके. ? ॥१३४॥

शंका—संसार जीवने कर्मों का बंध सदा थतो रहे छे. अने तेना उदय पणु निरन्तर थतो रहे छे, तो पणु तेना अभाव केवी रीते थय शके छे, के बन्धी जीवनी मुक्ति थई शके ? ॥१३४॥

नैवं वाच्यं यथा शत्रुं क्षीणावस्थां गतं बली ।

हन्ति भव्यस्तथा हीयमानस्थित्यनुभागकम् ॥१३५॥

कर्मनाशयति भव्यः शुद्धः सन् परिनिर्घृत्ति ।

प्राप्नोति जायते जन्मजगमरण दूमगः ॥१३६॥

अर्थ—ऐसा नहीं कहना चाहिये—क्यों कि जिस प्रकार क्षीणावस्था प्राप्त शत्रु को बली नष्ट कर देता है उसी प्रकार हीयमान स्थिति और अनुभाग वाले कर्मों को भव्य जीव नष्ट कर देता है और शुद्ध होता हुआ वह फिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है. एवं जन्म, जरा, मरण से बहुत दूर—सर्वथा रहित हो जाता है ॥१३५-१३६॥

अ रीते कडेवुं न अर्थअ-केभके के प्रभाणु क्षीणावस्था प्राप्त शत्रुना पणवान् नाश करे छे. अण प्रभाणु हीयमान् स्थिति अने अनुभागवाणा कर्मोंना लव्य जीव नाश करी के छे. अने शुद्ध थयेलने पाछे निर्वाणने प्राप्त करी ले छे. तथा जन्म, जरा, मरणथी धणुा दूर सर्वथा रहित थई अथ छे. ॥१३५-१३६॥

शुभ भावयुतो जीवः कर्मपुण्यमुपार्जयन् ।

अशुभाद्विस्तो भूत्वा मोक्षमार्गमुपश्नुते ॥१३७॥

अर्थ—शुभ भावों से युक्त हुआ जीव पुण्य कर्म को उपार्जित करता है और अशुभ से विरक्त होकर वह मोक्षमार्ग की उपासना करने में लग जाता है. शुभ उपयोग रूप परिणाम का नाम शुभ भाव है—तथा—चोक्त मन्त्र—

“उद्गम मिथ्यात्व विषं, भावयदृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्, भाव नमस्कार तो “ज्ञाने युक्तो भव सदापि” । पंच महाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्, दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपः सिद्धिविधौ कुरुयोगम्” ॥१३७॥

शुभ भावोंथी युक्त थयेल जीव पुण्य कर्म प्राप्त करे छे. अने अशुभथी विरक्त थईने ते मोक्ष मार्गनी उपासना करवाभां लागी अथ छे. शुभ उपयोगरूप परिणाम

भक्तुं नाम शुभभाव छे. 'तथाचोक्तमन्यत्र' "उद्भवमिथ्यात्वविषं, भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्, भाव नभस्कार तो 'ज्ञाने युक्तो भव सदापि" पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्, दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपः सिद्धिविधौ कुरुद्योगम्" ॥१३७॥

पुण्यं पापं च हेयं स सम्यग्दृष्टिस्तु मन्यते ।

कथं स्यात्पुण्यकृत्येऽयं सादरो ब्रूहि मे गुरो ! ॥१३८॥

अर्थ-शंका-सम्यग्दृष्टि तो पुण्य और पाप को हेय-छोडने योग्य मानता है तो फिर वह पुण्य कार्यमें आदर सहित कैसे होगा ? आप गुरुदेव ! कहिये ॥१३८॥

शंका--सम्यग्दृष्टि तो पुण्य अने पापने हेय-छोडवा योग्य माने छे, तो पछी ते पुण्यकार्यमां आदरयुक्त कवी रीते थशे ? ते आप गुरुदेव ! कहे. ॥१३८॥

शृणुतावत्प्रवक्ष्यामि संक्षेपाच्च तवोत्तरम् ।

शंकोद्भूतायतस्ते स्यान्निरस्ताऽशांति दायिनी ॥१३९॥

अर्थ-गुरुदेव ने कहा-सुनो-मैं तुम्हें संक्षेप से इसका उत्तर देता हूँ इससे अशांति उत्पन्न करने वाली तुम्हारी शंका दूर हो जावेगी. ॥१३९॥

गुरुदेव कहे छे-सांभणो हुं तमोने संक्षेपथी आनो उत्तर आपुं छुं, तेनाथी अशांति उत्पन्न करवावाणी तमारी शंका दूर थशे. ॥१३९॥

यथा कश्चिद्विवाहार्थी कन्या संबन्धिनोजनान् ।

सत्करोति तथा चायं गुर्वाचार्यान् सुसेवते । १४०॥

अर्थ-जिस प्रकार विवाह का अर्थी पुरुष कन्या पक्षके सम्बन्धियों का सत्कार करता है उसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि मोक्षाभिलाषी होता हुआ भी गुणस्तवन आदि द्वारा निर्दोष चारित्र्य पालन करने वाले गुरुदेव आचार्यादिकों की भक्ति करता है. यह सब पुण्य कार्य है ॥१४०॥

ब्रह्म विवाहनी कामनावाणा अर्थी पुरुष कन्या पक्षना संबन्धियोने सत्कार करे छे. अने प्रमाणे आ सम्यग्दृष्टि मोक्षेच्छु थधने पणु गुणस्तवन विगरेथी निर्दोष चारित्र्युं पालन करवावाणा गुरुदेव आचार्योनी भक्ति करे छे. आ तमामे पुण्य कार्य छे. ॥१४०॥

रत्नत्रयं च मोक्षस्य कारणं गदितं जिनैः ।

व्यवहारनयाज्जीवो निश्चयात्तत्रयात्मकः ॥१४१॥

अर्थ-मोक्ष का कारण जो रत्नत्रय कहा गया है वह व्यवहार नय से ही कहा गया है निश्चय नय से नहीं, क्यों कि निश्चय नय से इनतीनों

से ओतप्रोत हुआ आत्मा ही-रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्ष का कारण कहा गया है ॥१४१॥

भोक्षतुं कारणुं के रत्नत्रय कहेल्ले छे, ते व्यवहार नयथी अ कहेवामां आवेल्ले छे, निश्चय नयथी नही, डेभडे निश्चय नयथी आ वल्लेथी आतप्रोत थडने आत्मा अ-रत्नत्रय-मय आत्मा अ भोक्षतुं कारणुं कहेवामां आवेल्ले छे. ॥१४१॥

श्रद्धानं तत्त्वानां जीवादीनां तदेव सम्यक्त्वम् ।

तस्मिन् सत्येव यतो ज्ञानं संजायते सम्यक् ॥१४२॥

अर्थ-जीवादिक तत्त्वों का जो श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है इसके होने पर ही ज्ञान में समीचीनता आती है. ॥१४२॥

ज्वादि तत्वानुं के श्रद्धान छे, अज सम्यग्दर्शन छे, ते होय तोअ ज्ञानमां समीचीनपणुं आवे छे. ॥१४२॥

पंचविंशतिदोषैश्च विहीनं दर्शनं मतम् ।

निर्मलं भवनाशाय समर्थं जायते हि तत् ॥१४३॥

अर्थ-दोषों से रहित सम्यग्दर्शन निर्मल माना गया है ऐसा वह सम्यग्दर्शन ही जन्म रूप संसार के नाश करने में समर्थ होता है ॥१४३॥

पथीस दोष विनानां सम्यग्दर्शने निर्माण मानेल्ले छे, अणुं अ सम्यग्दर्शन अ अ-मरूप संसारना नाश करवामां समर्थ थाय छे. ॥१४३॥

दुरभिनिवेशविहीनं सम्यग्ज्ञानं स्वपर व्यवसायि ।

सविकल्पं भेदैः स्वैर्मतिश्रुतादिभिरनेकविधम् ॥१४४॥

अर्थ-संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप जो दुरभिनिवेश है उस से रहित जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है. यह सम्यग्ज्ञान स्व और पर का व्यवसाय करने वाला होता है-सविकल्प होता है और मतिज्ञान आदि अनेक भेदों वाला होता है ॥१४४॥

संशय विपर्यय अने अनध्यवसायरूप के दुरभिनिवेश छे, तेना विनानुं के ज्ञान छे, अणुं सम्यग्ज्ञान छे. आ सम्यग्ज्ञान स्व अने परना व्यवसाय करवावाणुं होय छे. अर्थात् सविकल्प होय छे. अने मतिज्ञान विगेरे अनेक भेदवाणुं होय छे. ॥१४४॥

अशुभक्रिया निवृत्तिः शुभक्रियायां च जायते सुरतिः ।

सम्यक् चारित्रं तत् गदितं शास्त्रे महामुनिभिः ॥१४५॥

अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप जो अशुभ क्रियाएं हैं उनसे जो जीव की निवृत्ति है एवं शुभ क्रियाओं में-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में-जो जीव की प्रवृत्ति है उसका नाम सम्यक् चारित्र है ऐसा शास्त्र में महामुनियों ने कहा है ॥१४५॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील अने परिग्रह रूप के अशुभ क्रियाओं के, तेनाथी जवनी निवृत्ति थवी अने शुभ क्रियाओंमें अस्तेय के अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अने अपरिग्रहमें जवनी के प्रवृत्ति थवी तेनु नाम सम्यक् चारित्र के. अ प्रभाषे शास्त्रोभां महामुनियोके कहेल के. ॥१४५॥

तद् द्विविधं निर्दिष्टं मुनिश्रावकवृत्तभेदतस्तत्र ।

मुनिवृत्तं तत्सकलं श्रावकवृत्तं तु देशचारित्रम् ॥१४६॥

अर्थ-मुनिचारित्र और श्रावक चारित्र के भेद से वह चारित्र दो प्रकार है. इनमें मुनि चारित्र सकल चारित्र और श्रावक का चारित्र देश चारित्र है ॥१४६॥

मुनियारित्र अने श्रावक यारित्रना लेहथी यारित्र के प्रकारनुं के, तेभां मुनियारित्र सकलयारित्र अने श्रावकनुं यारित्र देशयारित्र के. ॥१४६॥

हिंसादीनां पापानां संत्यागो मनोवचः कायैः ।

कृतकारितानुमतिभिः यावज्जीवं भवेत्सकलम् ॥१४७॥

अर्थ-हिंसादि पांचों पापों का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौ कोटियों से जो अच्छी तरह त्याग किया जाता है वही सकल चारित्र है- ॥१४७॥

हिंसा त्रिगेरे पापोने मन, वचन काय, अने कृतकारित अने अनुमोदन आ नौ कोटिथी के सारी रीते त्याग करवाभां आवे तेने के सकल यारित्र कहे के. ॥१४७॥

एतेषां पापानां देशत्यागोऽस्ति देशचारित्रम् ।

चारित्रं खलु धर्म भवति निवृत्तिस्ततस्तेषाम् ॥१४८॥

अर्थ-इन पापों का एक देश से जो त्याग है वह देश चारित्र है चारित्र ही धर्म है क्यों की पापों की निवृत्ति इसीसे होती है-॥१४८॥

आ पापोने अके देशथी के त्याग देश यारित्र के. यारित्र के धर्म के. उभके-पापोनी निवृत्ति तेनाथी के थाय के. ॥१४८॥

कर्मणां संचितानां च क्षयस्तावत्तस्म्ययां ।
 नव्यानां च निरोधः स्यात् संवरेण हितैषिणा ॥१४९॥
 इत्यवगम्य बुधैर्भान्यं स्वात्मकल्याणकांक्षिभिः ।
 रत्नत्रयार्जने नित्यं सावधानैः स्वशक्तितः ॥१५०॥

अर्थ-संचित कर्मों का क्षय तपस्या से होता है और नये २ कर्मों के आस्रव का रुकना हितैषी संवर से होता है ऐसा समझकर अपने आत्मकल्याण की इच्छावाले भव्यजनों द्वारा अपने शक्ति के अनुसार रत्नत्रय की प्राप्ति करने में सदा सावधान रहना चाहिये. ॥१४९-१५०॥

संचित कर्मों का क्षय तपस्याથી થાય છે. અને નવા નવા કર્મોના આસ્રવનું રોકાવું હિતૈષી સંવરથી થાય છે. તેમ સમજીને પોતાના આત્મકલ્યાણની ઈચ્છાવાળા ભવ્યજનોએ પોતાની શક્તિ પ્રમાણે રત્નત્રય પ્રાપ્ત કરવામાં સદા સાવધાન રહેવું એમ છે. ॥૧૪૯-૧૫૦॥

पूर्णे च तस्मिन् स भवाद्विमुक्तः संजायते सैव च मुक्तिरस्य ।
 मुक्तिं गतो नैव भवं कदापि गृह्णाति तत्रैव स साद्यनन्तः ॥१५१॥

अर्थ-रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने पर वह जीव इस संसार से छूटजाता है- यही इस जीव की मुक्ति है. मुक्त हुआ जीव फिर कभी संसार में नहीं आता है. वह तो वहीं पर सादि होता हुआ भा अनन्त हो जाना है. ॥१५१॥

રત્નત્રય પૂર્ણ થઈ ગયા પછી એ જીવ આ સંસારથી છુટી જાય છે. એજ આ જીવની મુક્તિ છે. મુક્ત થયેલ જીવ તે પછી ક્યારેય સંસારમાં આવતો નથી. એ તે ત્યાં જ સાદિ થઈને અનંત થઈ જાય છે. ॥૧૫૧॥

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवोलोके ।

संसारिणां जनानां सततं श्रेयः प्रकुर्वन्तु ॥१५२॥

अर्थ-समस्त संसारी जीवों का अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु महाराज सदा कल्याण करते रहें ॥१५२॥

સાધના સંસારી જીવોનું અર્હન્ત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સર્વ સાધુમહારાજ સદા કલ્યાણ કરતા રહે. ॥૧૫૨॥

मूलोत्तरैर्गुणैः सन्तो लसन्तो भूमिमण्डलम् ।

चन्द्रवदुज्ज्वलैः स्वीयैरुपदेशैः पुनन्तु ते ॥१५३॥

अर्थ-मूल गुण और उत्तर गुणों से सुशोभित संयमी मुनि चन्द्रमण्डल के जैसे उज्ज्वल अपने उपदेशों द्वारा इस भूमण्डल को पवित्र करते रहें ॥१५३॥

भूगणु अने उत्तर गुणोथी सुशोभित संयमी मुनि चन्द्रमण्डल जेवा उज्ज्वल पोताना उपदेशो द्वारा आ भूमण्डलने पवित्र करता रहे. ॥१५३॥

धर्मोपदेशं च तदीयमित्थं श्रुत्वा सभा सा भृशमादधेऽथ ।

आनन्दकन्दं बहुभक्तिभारं नतागता तत्पदयोर्निपत्य ॥१५४॥

अर्थ-इस प्रकार गुरुदेव के धर्मोपदेश को सुनकर वह धर्मसभा बहुत अधिक आनंदित हुई और भक्ति के भार से झुककर उनके चरणोंकी बन्दना करके चली गई ॥१५४॥

आ प्रभाषे गुंरुदेवना धर्मोपदेशने सांभलीने ते धर्मसभा धणी जे आनंदित थध. अने भक्तिना भारथी नमीने तेमना यरणोनी वंदना करीने स्वस्थाने गर्ध. ॥१५४॥

एहो नत्रिंशता युक्ते द्विसहस्रे शुभे ह्यदः ।

विक्रमाब्देऽधिके मासे वैशाखे पूर्णतां गतम् ॥१५५॥

अर्थ-यह लोकाशाह महाकाव्य विक्रम संवत् २०२९ के वैशाख के द्वितीय-मासमें पूर्ण किया गया है ॥१५५॥

आ लोकाशाह महाकाव्य विक्रम संवत् २०२९ना द्वितीय वैशाख मासमां पूर्ण करवाभां आवेल छे. ॥१५५॥

घासिलाला मुनीन्द्रास्ते सन्तः सन्तु हितावहाः ।

यच्छुभ प्रेरणां प्राप्य निर्मितं चरितं ह्यदः ॥१५६॥

अर्थ-वे मुनिराज घासिलाल महाराज सब के हितकारक हों कि जिनकी शुभ प्रेरणा से यह चरित्र निर्मित किया गया है ॥१५६॥

जे मुनिराज घासिलाल महाराज सौना हितकारक थाव के जनी शुभ प्रेरणाथी आ चरित्रनु निर्माण करवाभां आवेल छे. ॥१५६॥

यद् दत्त द्रव्य साहाय्यात् कार्यमेतत् समाप्तिम् ।

जाते ते चन्द्रान्ता महतावा महोदयाः ॥१५७॥

अर्थ-यह महाकाव्य का निर्माण कार्यश्री महतावचन्द्र के द्वारा की गई द्रव्य की सहायता से समाप्त हुआ है ॥१५७॥

आ महाकाव्यनु निर्माणकार्य महतावचन्द्रे करेल द्रव्य सहायताथी थयेल छे. जे हवे समाप्त थाय छे. ॥१५७॥

कामं ते जगतीह मेऽसमगुणा प्रथयन्त्ववज्ञां जनाः ,
 तेभ्यो नास्ति भयं ममाल्पमपि यल्लोकस्य भिन्ना रुचिः ।
 वर्तन्ते तु गुणानुसगहृदया ये धीधनाः समगुणाः ,
 तेऽवश्यं परिवीक्ष्य मे श्रममिमं तुष्यन्ति नो संशयः ॥१५८॥

अर्थ-भले ही संसार में मेरे गुणों को सहन नहीं करने वाले जन मेरी निन्दा करे. इसकी मुझे थोड़ी सी भी चिन्ता नहीं है. क्योंकि मनुष्योंकी प्रकृति भिन्न रहती है. परन्तु जो सज्जन हैं वे तो मेरे इस परिश्रम को देखकर अवश्य ही संतुष्ट होंगे-इसमें कोई संदेह की बात नहीं है ॥१५८॥

आ संसारमां मारा शुषुणे सधन न करवावाणा मनुष्ये मारी निंदा बले करे, तेनी मने नरासरणी पशु चिंता नथी. उमके माणुसोनी प्रकृति बुद्धी बुद्धी होय छे. परंतु न्नेआ सज्जनो छे, तेआ तो मारा आ परीश्रमने ओधने नर प्रसन्न थशे. तेमां कंठेन संशय न्णुं नथी. ॥१५८॥

यावद्राजति शासनं जिनपतेर्यावच्च गंगाजलम् ,
 यावच्चंद्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
 यावद्वा कविकोविदाः बहुविदो राजन्ति भूमण्डले ,
 तावत्काव्यमिदं मया सुगचितं लसतान्मनोमंदिरे ॥१५९॥

अर्थ-जबतक जिनेन्द्र देव का शासन और गंगा का जल है जबतक चन्द्र एवं सूर्य आकाश में चमकते हैं तथा जबतक कविजन बहुश्रुतजन इन भूमिमण्डल पर विराजते हैं-तबतक मेरे द्वारा रचा गया यह महाकाव्य हर एक प्राणी के मनोमंदिर में चमकता रहे ॥१५९॥

ज्यां सुधी जनेन्द्रदेवतुं शासन मने गंगानुं न्ण विद्यमान रहेशे, ज्यां सुधी चंद्र मने सूर्य आकाशमंडलमां चमकता रहेशे, तथा ज्यां सुधी कविजनो, बहुश्रुतजनो, आ भूमंडलमां विराजमान रहेशे त्यां सुधी में रचेल आ महाकाव्य इरेक प्राणीना मनमंदिरमां चमकतुं रहे जेअ अबिलाषा छे. ॥१५९॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर श्रीघासीलाल व्रति विरचिते हिन्दीगुर्जरभाषानुवादसहिते

लोकाशाह चरिते चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ॥ १३ ॥

लोकाशाहचरितम् संपूर्णम् ॥



